प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी
मुद्रक—महतावराय, नागरीमुद्रण, काशी
प्रथम संस्करण सं० २०१० वि०, २००० प्रतियाँ
मूल्य ६)

माला का परिचय

जोधपुर के स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसादजी मुंसिफ इतिहास और विशेषतः मुसलिम-काल के भारतीय इतिहास के बहुत बड़े ज्ञाता और प्रेमी थे, तथा राजकीय सेवा के कामों से वे जितना समय बचाते थे, वह सब वे इतिहास का अध्ययन और खोज करने अथवा ऐतिहासिक ग्रंथ लिखने में ही लगाते थे। हिंदी में उन्होंने अनेक उपयोगी ऐतिहासिक ग्रंथ लिखे हैं जिनका हिंदी संसार ने अच्छा आदर किया।

श्रीयुत मुंशी देवीप्रसाद की बहुत दिनों से यह इच्छा थी कि हिंदी में ऐतिहासिक पुस्तकों के प्रकाशन की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस कार्य के लिए उन्होंने ता० २१ जून १९१८ को ३५०० रुपया अंकित मूल्य और १०५०० रु० मूल्य के बंबई बंक लि० के सात हिस्से सभा को प्रदान किए थे और आदेश किया था कि इनकी आय से उनके नाम से सभा एक ऐतिहासिक पुस्तकमाला प्रकाशित करे। उसी के अनुसार सभा यह 'देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला' प्रकाशित कर रही है। पीछे से जब बंबई बंक अन्यान्य दोनों प्रेसीडेंसी बंकों के साथ सम्मिलित होकर इंपीरियल बंक के रूप में परिणत हो गया, तब सभा ने बंबई बंक के हिस्सों के बदले में इंपीरियल बंक के चौदह हिस्से, जिनके मूल्य का एक निश्चित अंश चुका दिया गया है, और खरीद लिए और अब यह पुस्तकमाला उन्हीं से होनेवाली तथा स्वयं अपनी पुस्तकों के बिक्री से होनेवाली आय से चल रही है। मुंशी देवीप्रसाद का वह दान-पत्र काशी नागरीप्रचारिणी सभा के २६ वें वार्षिक विवरण में प्रकाशित हुआ है।

भगवत्-प्रार्थना

१

परब्रह्मानन्दे सकल सुरवन्द्ये स्वरसतः
क्षतद्वन्द्व-मन्दाकृतिदनुजकन्दाङ्कुरहरे ।
श्रियः कन्दे नन्दात्मज उदितचन्द्र-स्मितमुखे
मुकुन्दे स्पन्दो मे भवतु मनसो द्वन्द्वविरतेः ॥

—सदानन्द

२

सत्यानन्ताचिन्त्य-शक्त्येकपक्षे
सर्वाध्यक्षे भक्तरक्षातिदक्षे ।
श्रीगोविन्दे विश्व-सर्गादिकन्दे
पूर्णानन्दे नित्यमास्तां मतिर्मे ॥

—बलदेव विद्याभूषण

—:※:—

वक्तव्य



भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान के प्रेमियों के सामने 'भागवत संप्रदाय' नामक नवीन ग्रंथ प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। मैंने दो तीन वर्ष पूर्व पटना विश्वविद्यालय में राम-दीन सिंह रीडरशिप व्याख्यानमाला के अंतर्गत 'वैष्णव धर्म के इतिहास तथा सिद्धांत' के ऊपर कतिपय व्याख्यान दिये थे। उसी समय वैष्णव संप्रदायों के सिद्धांतों के अनुशीलन का भी अवसर प्राप्त हुआ था। उसी अध्ययन का फल इस ग्रंथ में प्रस्तुत किया जा रहा है। 'भागवत संप्रदाय' में 'भागवत' शब्द का प्रयोग मैंने वैष्णव-सामान्य के व्यापक अर्थ में किया है, किसी संकुचित तथा विशिष्ट अर्थ में नहीं। मेरा अभिप्राय इस भारतभूमि के भिन्न भिन्न प्रांतों में पनपने वाले प्रधान वैष्णव संप्रदायों के ऐति-हासिक विकास तथा तात्त्विक सिद्धांतों का एक सामान्य विव-रण प्रस्तुत करना है। वैष्णव संप्रदायों के विभिन्न प्रांतों में इतने अवांतर प्रभेद हैं कि उन सबका विवेचन एक दुरूह व्यापार है। इसलिए मैंने उन्हीं संप्रदायों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है जिनकी साहित्यिक सम्पत्ति अभिनंदनीय है तथा जिनका भारत के धार्मिक इतिहास में विशेष महत्त्व है। प्रायः समग्र

भारत में फैलने वाले महनीय वैष्णवमतों की यहाँ समीक्षा पाठकों को मिलेगी। संप्रदायों की पृष्ठभूमि में विद्यमान ग्रंथों का भी अध्ययन इस ग्रंथ के आरंभिक तीन परिच्छेदों में किय गया है।

मैंने इस ग्रंथ में संप्रदायों के उदय तथा अभ्युदय क विवेचन ऐतिहासिक दृष्टि से किया है और प्रत्येक संप्रदाय तत्त्वज्ञान तथा साधना पद्धति का विवेचन पर्याप्त छानबी से साथ करने का उद्योग किया है। आज भी संप्रदा के अनुयायी अपने साधना-संबंधी सिद्धांतों को छाती छिपाये हुए फिरते हैं। वे उन्हें नितांत गोप्य तथा रह मानते हैं। न उन्हें बतलाने के ही लिए उद्यत हैं, न तत्संबद्ध ग्रं को प्रकाशित करना ही चाहते हैं। ऐसी दशा में उनके साधन मार्गीय तथ्यों की गवेषणा बड़ी ही कंटकपूर्ण सिद्ध हुई है। मैं यथाशक्य प्रयत्न किया है कि प्रामाणिक तथ्यों का ही विवर दिया जाय तथा निर्मूल तथ्यों का विवरण कहीं न हो, परंतु इ प्रयत्न में सफलता तथा विफलता का निर्णय विज्ञ आलोचकों ऊपर छोड़ देना उचित होगा।

साधक-शिरोमणि महामहोपाध्याय पूज्यपाद पण्डित गोपीनाथ कविराज जी। उनके मौलिक लेखों तथा मौखिक उपदेशों से मैंने बहुत कुछ तत्त्व-ज्ञान की बातें सीखी हैं। उनके लिए मैं उनका चिरऋणी तथा नितान्त आभारी हूँ। उन्हें धन्यवाद देने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं।

संप्रदाय के प्रवर्तक कतिपय आचार्यों के चित्र भी यहाँ दिये गये हैं। ये चित्र नितांत प्रामाणिक हैं तथा तत्तत्संप्रदाय में बड़ी आस्था तथा निष्ठा से पूजार्ह माने जाते हैं। भिन्न भिन्न स्थानों से इनका संग्रह यहाँ किया गया है।

स्वामी रामानंद जी के जीवनचरित्र को अंकित करनेवाली 'प्रसंग पारिजात' नामक एक नवीन पुस्तक की पूरी हस्तलिखित प्रति सभा में हाल में सगृहीत की गई है। उस का पूरा विवरण यहाँ षष्ठ परिच्छेद के अन्त में परिशिष्टरूप से दिया जा रहा है। इसके लिए मैं खोज विभाग के कार्यकर्ता श्रीजुयाल जी का अनुगृहीत हूँ। निंबार्क मत तथा राधावल्लभीय मत के विषय में कतिपय आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करने के लिए मैं क्रमशः वृंदावनवासी वेदांताचार्य पण्डित व्रजवल्लभ शरण जी तथा बाबा हितदास जी का विशेष आभार मानता हूं। ग्रंथ के प्रकाशन कार्य में अनेक प्रकार की सहायता देने के लिए मैं अपने चिरंजीवी पुत्र गौरीशंकर उपाध्याय, एम० ए, शास्त्री तथा गोपाल शंकर उपाध्याय तथा पुत्री मालती देवी को शुभ आशीर्वाद देना उचित समझता हूं जिन्होंने प्रेस के लिए कापी तैयार करने में, प्रूफ संशोधन में तथा अनुक्रमणिका बनाने में विशेष परिश्रम किया है।

अंत में मैं इस ग्रंथ को अखिलरसामृतमूर्ति रसिक-शिरोमणि श्री निकुंजविहारी के चरणारविन्दों में भक्तिगद्गद हृदय से समर्पित कर अपने परिश्रम को सफल मानता हूँ।

अमदविषयमङ्घ्रिं भाव-गम्यं प्रपन्नान्
अमृतममरवर्यानाशयत् सिन्धुमथ्यम्।
कपट-युवतिवेषो मोहयन् यः सुरारीन्
तमहमुपसृतानां कामपूरं नतोऽस्मि॥

निर्जला एकादशी
सं० २०१०
२३—६—५३
काशी

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

विषय　　पृष्ठ

विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

परिशिष्ट

—०—

भागवत संप्रदाय

(१)

वैष्णव धर्म की महत्ता

(१) उदार दृष्टि
(२) अहिंसा का शंखनाद
(३) कलात्मक अभिव्यक्ति
(४) 'भक्तिरस' का अविर्भाव
(५) विजय गाथा
(६) साहित्य पर प्रभाव



भारतवर्ष धर्मप्राण देश है। यहाँ का वायुमंडल धर्म की पुकार से गूँजता है। यहाँ की पृथ्वी के कण-कण में धर्म की भावना भरी पड़ी है। इसी लिए इसे हम 'धर्मप्रधान' न कह कर 'धर्मप्राण' कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं। यह अत्यंत प्राचीनकाल से नाना धर्मों तथा धार्मिक संप्रदायों का क्रीड़ा-निकेतन बना हुआ है। भारत-मही पर पनपने वाले वैदिक धर्म को अवांतर शाखाओं में दो ही मुख्य हैं—शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म। इन दोनों धर्मों ने अपनी उदार शिक्षा, उच्चतम आदर्श तथा उन्नत तत्त्वज्ञान के द्वारा भारतवर्ष का बड़ा ही कल्याण संपन्न किया है।

धर्म का पर्यवसान आचारशिक्षण में है। वह धर्म, जो सदाचार की शिक्षा पर आग्रह नहीं करता, अपने महत्त्वपूर्ण अभिधान के धारण की क्षमता ही नहीं रखता। इसीलिए आचार धर्म का मुख्य अंग गिना गया है—आचारः प्रथमो धर्मः। जिस धर्म के अनुयायियों में सदाचार की उपलब्धि कम होती है, वह धर्म उतना महत्त्वशाली नहीं माना जा सकता। धर्म के माहात्म्य तथा गौरव मापने की एक तुला है जिसे हम 'सामाजिक उन्नतिकरण' के नाम से पुकार सकते हैं। किसी भी धर्म को प्रभावशाली बतलाते समय हमें उसके रूप तथा प्रभाव को इसी

कसौटी पर भली भाँति कसने की आवश्यकता होती है। जो धर्म मानवसमाज के जीवन-स्तर को उदात्त बनाने में कृतकार्य होता है, उसकी हीन संकीर्ण प्रवृत्तियों को हटाकर उसमें उदार, उन्नत तथा विशाल भावनाओं के उदय में समर्थ होता है वह बिना संदेह महनीय धर्म माना जाता है। जो धर्म मानवहृदय में सौंदर्य तथा माधुर्य भावों की वृद्धि कर उसे सरस, रसस्निग्ध तथा विकसित बनाता है वह निःसंशय महिमामय धर्म की पदवी धारण करता है। जो धर्म मानव के भौतिक जीवन की उपेक्षा न करके उसके आध्यात्मिक जीवन के साथ संपूर्ण सामंजस्य उपस्थित करता है वह अवश्यमेव उदात्त धर्म गिना जाता है। तात्पर्य यह है कि जो धर्म मानव के भीतर मानवता के समस्त गुणों का उदय कर उसे पूर्ण मानव बनाता है उसका हम जगतीतल पर जीवन को विशाल, उदार तथा स्निग्ध बनाने के प्रधान साधक होने के हेतु विशेष रूप से आदर करते हैं। इस कसौटी पर कसे जाने पर हमें वैष्णव धर्म भारतवर्ष के विभिन्न धर्मों में ही नहीं, प्रत्युत संसार के धर्मों में, नितांत उदात्त तथा महत्त्वशाली प्रतीत होता है; इसमें संदेह करने का लेशमात्र भी अवकाश नहीं है।



१—उदार दृष्टि

वैष्णव धर्म उदारता का प्रतीक है। एक तो वैदिक धर्म स्वयं उदार धर्म है और उसमें भी वैष्णव धर्म तो और भी उदार है। वैष्णव धर्म की दृष्टि सदा ही औदार्य से मंडित रही है। इसका उपजीव्य ग्रंथ (श्रीमद्भगवद्गीता) भारतीय साहित्य में अपनी समन्वय दृष्टि के लिए सदा से विख्यात रहा है। वैष्णव धर्म को वर्णाश्रम धर्म में पूर्ण आस्था है, परंतु फिर भी वह भक्ति के राज्य में, उपासना के क्षेत्र में, सबका समान अधिकार मानता है। कर्मकांड के अनेक विधानों में शूद्र अधिकार से वंचित रखा गया है, परंतु भक्ति के राज्य में वह ब्राह्मणादिकों के समान ही सच्चा तथा पक्का अधिकारी माना गया है। वैष्णव धर्म भक्ति प्रधान धर्म है—और भक्ति का संबंध मानव हृदय से है। मानव हृदय की एकता सर्वदा उद्घोषित की गई है। फलतः वैष्णव धर्म किसी भी मानव को भगवत्प्रेम से वंचित रखने के लिए उद्यत नहीं है। उसका द्वार समभावेन सबके लिए सर्वदा उन्मुक्त है।

इतिहास इस औदार्य दृष्टि का सर्वथा परिचायक है। बाहर से आनेवाली अनेक विदेशी जातियों को वैष्णव धर्म के अंतर्गत स्थान मिला। वे वैष्णव धर्म में घुल-मिलकर पूर्ण भारतीय बन गईं। यवनों के लिए भी वैष्णव धर्म ने अपना द्वार जब खोल रखा था, तब यह कहना विशेष महत्त्व नहीं रखता कि वह भारतवर्ष तथा एशिया की विभिन्न जातियों के प्रवेश के लिए सदा मुक्तद्वार था। श्रीमद्भागवत ने इस प्रसिद्ध पद्य में उन विभिन्न जातियों का—जैसे हूण, आंध्र, पुलिंद, पुल्कस, आभीर, यवन, खस आदि का—नामोल्लेख भगवान् विष्णु के आश्रय ग्रहण से शुद्धि प्राप्त करनेवाली जातियों में बड़े आग्रह के साथ किया है—

किरात - हूणांध्र - पुलिंद - पुल्कसा
आभीर - कङ्का यवना खशादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः
शुध्यंति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥
(भागवत स्कंध २, अ० ४, श्लो० १८)

विदेशी जातियों के वैष्णव धर्म में दीक्षित होने तथा उसका प्रकृष्ट अनुरागी बनने की घटना का परिचय हमें प्राचीन भारतीय इतिहास से, विशेषतः शिलालेखों से, सप्रमाण मिलता है। इस प्रसंग में परम भागवत 'हेलियोडोरस' नामक यवन-दूत की चर्चा नितांत उचित है। वह पश्चिमोत्तर प्रदेश के ग्रीक शासक एण्टि-अलकिडास का दूत बनकर विदिशामंडल के राजा काशीपुत्र भागभद्र के दरबार में आया था और यहीं उसने भगवान् विष्णु की पूजा के निमित्त गरुड़ध्वज का स्थापन किया था।[1] इस शिला-लेख में 'हेलियोडोरस' अपने नाम के साथ भागवत की उपाधि धारण करता है। इससे स्पष्ट है कि वह वैष्णव धर्म में सर्वतो भावेन दीक्षित हो गया था। यह उदार दृष्टि वैष्णव धर्म को महत्त्वपूर्ण बनाने में प्रथम हेतु है।

—❀—

२—अहिंसा का शंखनाद

आधुनिक भारतीय समाज में पवित्रता का जो वायुमंडल उपलब्ध होता है, आतर शौच तथा बाह्य शौच का जो पर्याप्त परिचय हमें मिलता है इसका श्रेय हमें वैष्णव धर्म को देना चाहिए। इस भव्य भारतवर्ष के प्रांगण में वैष्णव धर्म ने ही

---

१ द्रष्टव्य-बेसनगर शिलालेख

सर्वप्रथम अहिंसा का शंखनाद फूँका था जिसका अनुकरण कर जैन तथा बौद्धधर्मो ने कालांतर में इतनी ख्याति प्राप्त की। इस धर्म के ऐतिहासिक वृत्त से परिचित न होने के कारण ही पाश्चात्य विद्वानों ने तथा उनके अनुयायी भारतीय विद्वानों ने भी अहिंसा मंत्र के प्रचार का श्रेय सर्वप्रथम बौद्ध धर्म को और तदनंतर जैन धर्म को प्रदान किया है। इस निर्देश का हेतु उनका भागवत धर्म से अपरिचय ही है। वे लोग प्रथमतः बौद्धधर्म के सिद्धांतों से परिचित हुए। अतः इस धर्म का ही वैशिष्ट्य अहिंसा मंत्र का प्रचार माना गया। परंतु जब प्रबल युक्तियों के आधार पर जैन धर्म की बौद्ध धर्म से पूर्वभाविता निःसंदेह सिद्ध हो गई, तब यही धर्म इस श्रेय का अधिकारी माना जाने लगा। परंतु ऐतिहासिक तथ्य यह है कि वैष्णवधर्म ने ही वैदिकधर्म के भीतर से ही सर्वप्रथम वेद के हिंसामय यज्ञों के विरुद्ध विरोध का झंडा ऊपर उठाया। वैष्णवधर्म पूर्ण रीति से वैदिक है, परंतु वैदिक कर्मकांड की उपयोगिता मानते हुए भी हम यहाँ हिंसाप्रधान यज्ञों के प्रति विरोध भावना पाते हैं।

महाभारत के नारायणीयोपाख्यान (शांतिपर्व, ३३६ अध्याय) में भागवतधर्म के अनुयायी राजा उपरिचर का आख्यान इस प्रसंगमें विशेष महत्त्व रखता है। राजा ने वैदिक यज्ञ किया, परंतु इस यज्ञ में यवों के द्वारा ही आहुति प्रदान की गई। अश्वमेध यज्ञ में पशु के आलम्भन का ही विधान है, परंतु राजा ने अश्वमेध में भी पशुघात नहीं किया, क्योंकि वह स्वभावतः 'अहिंस्र' तथा शुचि था—

संभृताः सर्वसंभारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैवं स्थितोऽभवत्॥

(शान्ति पर्व ३३६।१०)

भगवान् ने स्वयं वैष्णव धर्म के सिद्धांत बतलाते हुए ब्रह्मादिक देवों से उसी देश में रहने की शिक्षा दी थी जिसमें वेद, यज्ञ, तप, सत्य तथा दान अहिंसा धर्म से संयुक्त होकर प्रचलित हों—

> यत्र वेदाश्च यज्ञाश्च तपः सत्यं दमस्तथा
> अहिंसाधर्म-संयुक्ताः प्रचरेयुः सुरोत्तमाः
> स वो देशः सेवितव्यो..............॥८९॥
>
> (शान्ति पर्व, ३४० अ०)

इसी अहिंसा के पक्षपाती होने के कारण ही सांख्य-योग का संबन्ध भागवत धर्म के साथ माना गया है। इन दोनों दर्शनों का संबंध भागवत धर्म के साथ महाभारत में ही स्वीकृत नहीं है, प्रत्युत जैन दार्शनिक गुणरत्न ने भी 'षड्दर्शन समुच्चय' की टीका में इन दर्शनों के अनुयायियों को 'भागवत' नाम से उल्लिखित किया है। गुणरत्न जैन ग्रंथकार थे। उनका उल्लेख इसका प्रमाण है कि वैदिक परंपरा से बाहर भी यह संबंध मान्य तथा प्रामाणिक माना जाता था। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि पशुयाग के विषय में दो प्रकार के मत हैं—मीमांसक मत तथा सांख्य मत। (१) मीमांसकों का मत यह है कि पशुयाग श्रुति-संमत होने के कारण कर्तव्य कर्म है, यजमान की दृष्टि से भी तथा पशु की दृष्टि से भी। यजमान को तो अदृष्टफल या अपूर्व की सद्यः प्राप्ति हो जाती है तथा पशु भी यज्ञ में हिंसित होने पर पशुभाव को छोड़ कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के बिना ही देवत्व को सद्यः प्राप्त कर लेता है। अतः दोनों दृष्टियों से पशुयाग उपादेय है।

(२) सांख्य मत—इसके अनुसार पशुयाग में हिंसा अवश्य-मेव होती है; पशु को प्राण वियोग की असह्य यंत्रणा भोगनी ही

पड़ती है। अतः इस क्लेशदान के कारण समग्र पुण्य में से किंचित् पुण्य घट जाता है—इतनी हिंसा होने से पुण्य की समग्रता नहीं रहती। व्यासभाष्य (२।१३) में इसका नाम है—'आवापगमन'। सांख्याचार्य पंचशिख का यही मत था। एतद्-विषयक उनका सूत्र है—स्यात् स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायालम्। कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गतः स्वर्गेऽपि अपकर्षमल्पं करिष्यति। इसी तथ्य के अनुसार सांख्ययोग की दृष्टि में समस्त यम नियमों में 'अहिंसा' ही मुख्य सार्वभौम धर्म है। यह बात ध्यान देने की है कि सत्य तथा अहिंसा के पारस्परिक विरोध के अवसर पर 'अहिंसा' की ही विधि मानी गई है।

'अहिंसा' भागवत धर्म का मुख्य सिद्धांत है। इस धर्म की विशिष्टता यही है कि पूर्ण वैदिक होकर भी यह अहिंसायाग का पक्षपाती है। मेरी दृष्टि में जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म ने अहिंसा-सिद्धांत का ग्रहण भागवतों से ही किया है। इस प्रकार वर्तमान समय में भारतीय समाज में शुचिता तथा पवित्रता की भावना जगाने में तथा अहिंसा मंत्र के 'अहिंसा परमो धर्मः' उद्घोष करने में वैष्णव धर्म की प्रभुता सर्वातिशायिनी है।

—❀—

३—कलात्मक अभिव्यक्ति

भारतीय समाज में कला का स्थान सदा से महत्त्वपूर्ण तथा गौरवमय माना गया है। भारतीय कला भारतीय संस्कृति का एक सुंदर संदेश-वाहक बन कर अपने भव्य रूप की संपत्ति से संपन्न है। आध्यात्मिकता की छाप उसके ऊपर इतनी है कि उपयोगी कलायें भी इस रूप से विहीन नहीं हो सकी हैं। महाकवि भवभूति की मर्मभरी वाणी कला के विषय में कह रही है—

मंगल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गंगेव च ॥

कला वही है जो मनोहर होते हुए भी जगत् की मंगल साधिका है। मनोहरत्व तथा मंगल-संपन्नता का जहाँ भी योग होता है वहीं कला का अपना रूप है। जगत् में कला की मंजुल प्रतीक है—जननी तथा जाह्नवी। रमणीय रूप की संपत्ति से संपन्न जननी में जितनी मधुरिमा का भार रहता है, उतना ही अपने संतान के शाश्वत कल्याण की कामना मूर्तिमती बन कर हमें पद पद पर आश्वासन, आवर्जन तथा आह्लादन किया करती है। जाह्नवी का जीवन तथा रूप मंगल तथा माधुर्य का अनुपम संमिलन है। जब प्रातः काल प्राची के तिलक-रूप सूर्य की सुनहली किरणें प्रसन्नसलिला भागीरथी के वक्षःस्थल पर कमनीय क्रीड़ा का विस्तार करती हैं तब पिघले हुए सोने की ढलकती धारा किस सौंदर्योपासक के हृदय में आध्यात्मिक सौंदर्य की छटा नहीं छलकाती? रजनी की मस्ती में जब सुधाकर की रश्मियाँ अठखेलियाँ करती हुई गंगा की सेज पर रजत की चादर बिछाती हैं, तब किस खूसट का भी हृदय इस दृश्य से पिघल नहीं उठता? गंगा जगती का हार तथा शृंगार ही नहीं है, प्रत्युत कल्याण की

कल्पवल्ली है और मांगल्य की मधुमय अभिव्यक्ति है। वह व्यवहार की संपादिका है तथा अध्यात्म की आह्लादकर्त्री है। भारतवर्ष में कला का भी यही रूप है। सच्ची कला वही है जो प्राणियों के हृदय को आकर्षण करने की क्षमता रखती है तथा साथ ही साथ उनका परम शाश्वत मंगल साधन करती है। इस कला के ऊपर वैष्णवधर्म का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ा है। यह तो विवाद-रहित तथ्य है कि भारतीय कला धर्म के महनीय आधार पर खड़ी है तथा धार्मिक भावना से अनुप्राणितता उसकी अपनी विशिष्टता है। भारत के नाना धर्मों के भीतर वैष्णव धर्म की कलात्मक अभिव्यक्ति जितनी मंजुल तथा मनोज्ञ हुई है उतनी किसी अन्य धर्म की नहीं।

मूर्तिकला पर वैष्णव प्रभाव

वैष्णव मंदिर का निर्माण, तक्षणकला के भीतर मूर्तियों की रचना तथा चित्रों का विरचन वैष्णव धर्म की भावना से ओत-प्रोत है। प्राचीन भारत में गुप्त सम्राटों के स्वर्णयुगके इस वैष्णव प्रभाव की मात्रा तत्कालीन गुप्त कला में प्रचुर रूप से दृष्टिगोचर होती है। गुप्तवंशीय सम्राट् भगवान् विष्णु के पादारविंद के रसिक मधुकर थे, इसका स्पष्ट प्रमाण उनकी 'परम भागवत' की उपाधि ही नहीं देती, प्रत्युत उस समय की नाना ललित कलाओं का विलास इसका सुंदर साक्ष्य उपस्थित करता है। गुप्त कालीन मूर्ति कला के ऊपर वैष्णव प्रभाव का एक दिग्दर्शन ही यहाँ कराया जा सकता है। विष्णु के नाना रूपों की तथा उनके नाना अवतारों की मूर्तियाँ इतनी मधुरिमा के साथ प्रस्तुत की गई हैं कि कला का पारखी उन्हें देखकर आत्मविस्मृत हो जाता है और अतृप्त नेत्रों से उनकी सुंदरता निरख कर भी वह नहीं अघाता।

झाँसी जिले में स्थित देवगढ़ नामक स्थान पर शेषशायी विष्णु की सुन्दर प्रतिमा उपलब्ध होती है। भगवान विष्णु शेष के चिक्कण देह पर लेटे हुए हैं। शिर पर किरीट, कानों में कुंडल, गले में हार तथा वनमाला तथा हाथों में कंकण शोभायमान हैं। पैरों की ओर लक्ष्मीजी भगवान् का पादसंवाहन करती हुई दीख पड़ती हैं। उनके समीप दो आयुध पुरुष खड़े हैं। नाभि से निर्गत कमल के ऊपर आसन जमाये ब्रह्माजी की मूर्ति है जो अपने वाम हस्त में कमंडलु धारण किये हैं। यह अनंतशायी विष्णु की नितांत कलापूर्ण प्रतिमा है। इसी प्रकार विष्णु के अवतारों में वराह आदि नाना अवतारोंकी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। भिलसा के समीप उदयगिरिकी गुहाकी दीवाल पर वाराह की एक विशाल मूर्ति मिलती है। इस मूर्ति का पूरा शरीर मनुष्य की आकृति का है, केवल मुख वाराह का दिखलाया गया है। 'भू वाराह' या 'आदिवाराह' की संज्ञा से विख्यात इस मूर्ति का निर्माण कमनीय कला की कोमल अभिव्यंजना का परिणाम है। इसी समय बंगाल की मूर्तिकला के ऊपर भी वैष्णव धर्म का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है। राजशाही जिले के 'पहाड़पुर' नामक स्थान की खुदाई से मिली हुई मूर्तियाँ इसका प्रमाण हैं। यहाँ मंदिर की दीवालों पर प्रस्तर की अनेक मूर्तियाँ अंकित हैं जिनमें रामायण तथा महाभारत की कथाओं के अतिरिक्त कृष्ण-चरित संबंधी नाना लीलाएँ प्रदर्शित की गई हैं। अन्यत्र भी राधाकृष्ण का मूर्तिविधान कम कमनीय नहीं है, परंतु पहाड़पुर के शिल्पकारों का राधाकृष्ण का अंकन नितांत मनोज्ञ तथा मधुरिमासंपन्न है। भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन संबंधी नाना घटनाओं का यहाँ अंकन दीख पड़ता है। कृष्ण का जन्म, बालकृष्ण को गोकुल लाना, गोवर्द्धन धारण तथा यमलार्जुन का भेदन—आदि घटनाएँ बड़ी

सजीवता से दिखलाई गई हैं। गुप्तकाल के अनंतर उत्तरी भारत के नाना स्थानों में भगवान् विष्णु के विशाल मंदिरों के निर्माण का कार्य हुआ और उनमें विष्णु की तथा उनके अवतारों के भव्य विग्रहों की रचना की गई[1]। गुप्तकाल में वैष्णवधर्म का प्रचुर प्रचार था। वह राजधर्म माना जाता था। गुप्त सम्राट अपने 'परम भागवत' की उपाधि का उल्लेख करते गौरव तथा महत्त्व का बोध करते थे। इसीलिए तत्कालीन शिलालेखों में विष्णु की प्रशंसनीय स्तुति उपलब्ध होती है। स्कंदगुप्त के जूनागढ़ लेख में विष्णु की यह स्तुति कितनी प्रांजल भाषा में की गई है—

श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां
त्रिदशपतिसुखार्थं यो बलेराजहार।
कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः
स जयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः॥

पाल तथा सेन युग

पाल तथा सेन युग (८ शतक—११ शतक) में भी भारत के पूर्वी प्रदेश में वैष्णव मूर्तियों का प्राचुर्य उपलब्ध होता है। मूर्तिशास्त्र की जानकारी के लिए अग्निपुराण तथा पद्मपुराण में नितांत उपादेय सामग्री उपलब्ध होती है। इन पुराणों में विष्णु के २४ रूपों का वर्णन मिलता है। विष्णु की चार भुजाओं में चार आयुध वर्तमान रहते हैं और इन आयुधों की विभिन्न स्थिति के कारण ही रूपों में भी भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

---

१ द्रष्टव्य-प्रोफेसर वासुदेव उपाध्याय—गुप्त साम्राज्य का इतिहास भाग २, पृ० २७०—२७२

कुछ विलक्षण मूर्तियाँ भी इस काल में मिलती हैं—(१) त्रैलोक्य-मोहन विष्णु की भुजाएँ संख्या में आठ हैं तथा (२) हरिशंकर नामक विष्णु-मूर्ति के मुख ४ होते हैं तथा भुजायें २० होती हैं और इन भुजाओं में भिन्न भिन्न बीस आयुध रहते हैं। विष्णु के ये दोनों रूप तो अपवाद-स्वरूप हैं। नियमतः विष्णु की चार ही भुजायें होती हैं, परंतु इनमें स्थित आयुधों की विलक्षणता के कारण ये मूर्तियाँ अनेक नामों से पुकारी जाती हैं। चतुर्व्यूह—(१) वासुदेव, (२) संकर्षण, (३) प्रद्युम्न, (४) अनिरुद्ध की उपासना इस युग में प्रचलित थी। इस लोकप्रियता का प्रमाण इन मूर्तियों की बहुलता है। विष्णु मूर्तियों में भी वासुदेव की मूर्ति ही विशेष भावेन मिलती है। वासुदेव मूर्ति की विशेपता है—

ऊपरी दक्षिण हाथ में गदा धारण;
निचले दक्षिण हाथ में पद्म धारण;
ऊपरी वामहाथ मे चक्र धारण;
निचले वामहाथ में शंख धारण;

यही मूर्ति जब गदा के स्थान पर हल तथा चक्र के स्थान पर मूसल धारण कर लेती है तब यह हो जाती है संकर्पण की मूर्ति। इसी प्रकार स्थान-विनिमय तथा अस्त्र-विनिमय के कारण यही मूर्ति प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध की प्रतीक बन जाती हैं। विष्णु की ये मूर्तियाँ पूर्वी भारत के नाना स्थानों पर उपलब्ध होती हैं। दशावतारों में मूर्तिकला की दृष्टि से तीन अवतार मुख्य हैं—वाराह, नरसिंह तथा वामन। वाराह की मूर्ति का प्रचलन गुप्त-काल में भी विशेपरूप से था, क्योंकि इसके नाना भेदों—भू

वाराह, आदि वाराह, श्वेत वाराह—की सत्ता उस समय स्थान स्थान पर मिलती है[1]।

बिहार तथा बंगाल के इतिहास में एकादश शतक बुद्धधर्म के प्रति विरोध तथा विद्वेष के कारण भागवत धर्म के प्रचार का महनीय युग है। इसका प्रमाण है उपलब्ध विष्णु प्रतिमा की बहुलता तथा लोकप्रियता। एकादश तथा द्वादश शतक में प्रस्तुत मूर्तियों में सबसे अधिक मूर्ति वासुदेव की ही मिलती है, कृष्ण की नहीं। परंतु १५ शतक तथा उससे पीछे के शतकों में राधाकृष्ण की मूर्तियों की प्रचुरता है और इसका मुख्य कारण चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा तथा वैष्णवधर्म का पुनरुद्धार है।

चित्रकला पर वैष्णव प्रभाव

मध्ययुगी चित्रकला के ऊपर वैष्णव धर्म का इतना अधिक प्रभाव है कि इस युग में दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध दृष्टि-गोचर होता है। भगवान श्रीकृष्णचंद्र की ललित लीलाओं का अंकन कलावंतों ने अपनी तूलिका से इतनी सुंदरता से किया है तथा उसमें रंगों की कलाबाजी दिखलाई गई है कि समग्र चित्र दर्शकों के नेत्रों के सामने एक मंजुल कलात्मक वस्तु के रूप में उपस्थित हो जाता है। उस युग में नाना प्रकार की चित्रशैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें 'राजपूत कलम' तथा 'काँगड़ा या पहाड़ी कलम' की ख्याति अपने चारु वैचित्र्य के लिए विशेष रूप से थी। इन दोनों शैलियों के विकास तथा श्रीसंपन्नता के ऊपर वैष्णव

---

१ इन मूर्तियों के विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य R. D. Banerjee—Eastern Indian School of Mediaeval Sculpture pp. 101—109.

धर्म की छाप पड़ी हुई है। श्रीराधाकृष्ण के चित्रों में इतनी मंजुलता, इतनी रुचिरता तथा इतनी सफाई है कि भक्तों के नेत्रों के सामने उनके आराध्यदेव का मनोज्ञ रूप अपनी स्वाभाविक भव्यता के साथ झटिति उपस्थित हो जाता है। राधाकृष्ण की लीलाओं का विषय ही विशाल है तथा हृदयावर्जक है। जिस प्रकार मध्ययुगीन यूरोप की चित्रकला के ऊपर रोमन कैथलिक धर्म का प्रचुर प्रभाव लक्षित होता है, उसी प्रकार भारतवर्ष के मध्ययुग में वैष्णव धर्म का विस्तृत तथा विशाल प्रभाव तत्कालीन चित्रकला के ऊपर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

हिमाचल चित्रकला

पहाड़ी तथा काँगड़ा शैली की चित्रकला का उचित नाम होना चाहिए हिमाचल चित्रकला, क्योंकि यह शैली हिमाचल के अंचल में ही पनपी तथा समृद्ध बनी। राजपूत शैली इससे कहीं प्राचीन है। हिमाचल कला का स्वर्णयुग था १८ वीं शताब्दि। काँगड़ा के राजा संसारचंद्र (१७७४ ई०—१८२३ ई०) पहाड़ी चित्रकला के लिए उसी प्रकार संवर्धक हुए जिस प्रकार समुद्रगुप्त तथा विक्रमादित्य गुप्तकाल के पूर्व युग में। इस चित्र-शैली का ध्रुवबिंदु सुंदर नारी है। नारी का जो बारहमासी तथा अष्टयाम जीवन वर्तमान है उसी के ताने-बाने से इस चित्रशैली का सुंदर पट बुना है। जिस आनंद का साहित्यिक चित्रण रीति कालीन कवियों ने—सूरदास से लेकर बिहारी तक ने—शब्दमय मूर्त्ति के द्वारा किया है उसी का रंगीन चित्र इस युग के चित्र-कारों ने अपनी तूलिका से प्रस्तुत किया है। मानव जीवन को स्वर्गोपम बनाने का प्रधान साधन प्रेम है और इसी प्रेम की अनुभूति के बिना मानव जीवन एक निःसार मरुभूमि जैसा बीहड़

बन जाता है। यह प्रेम भक्ति का आशीर्वाद पाकर ही उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाता है। प्रेमी दंपती की अपनी स्वार्थ-भावना होती ही नहीं ; वह तो दूसरे के लिए जीवित रहता है और इसी लिए वह विश्वमानव का एक प्रतीक होता है। प्रेम की अभि-व्यंजना हिमाचल चित्रकला का मुख्य उद्देश्य है।

रसिक शिरोमणि श्री कृष्ण तथा राधिका की भक्तिभावना से अनुप्राणित होने के कारण ही यह चित्रशैली इतनी मधुर है तथा भव्य भावों की उद्भाविनी है। इस शैली की भाषा ही है—राधा-कृष्ण की लीला, किशोर-किशोरी का शृंगारमय जीवन और यह भाषा मानवमात्र के लिए समभावेन सुलभ तथा सुबोध है। वैष्णवधर्म ने काव्यकला तथा चित्रकला को ऐसी रसमयी अनुभूति प्रदान की है कि दोनों का वैभव खिल उठता है। वैष्णव कवि की काव्यमाधुरी को ही वैष्णव चित्रकारों ने अपनी तूलिका से अंकित कर एक भौतिक आधार प्रदान किया है जो नितांत समुज्ज्वल, जीवंत तथा अनुरंजक है। तथ्य यह है कि वैष्णवधर्म के प्रभाव के कारण यह चित्रशैली भावुकता तथा सहृदयता का आकर है। इस शैली में स्वाभाविकता के साथ कल्पना का भी सुंदर समन्वय हुआ है। इसलिए आलो-चकों की मान्य सम्मति है कि गुप्तकाल के अनंतर पहाड़ी शैली में ही भारतीय चित्रकला ने बहुत ऊँची उड़ान ली। हमारे जीवन के मधुर पक्ष से संबद्ध ऐसा कोई विषय नहीं जिसका रमणीय चित्रण इसके कलावंतों ने नहीं किया। यह है वैष्णव-धर्म की कलात्मक अभिव्यक्ति का एक संक्षिप्त चित्रण[1]।

---

१ हिमाचल चित्रकला के विशेष वर्णन के लिए देखिए—

४—भक्तिरस की उद्भावना

भक्ति भावना का पूर्ण विकाश वैष्णव धर्म की अन्यतर विशिष्टता है। 'भक्ति' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस धर्म के शास्त्रीय ग्रंथों मे बड़े ही पुंखानुपुंख रूप से किया गया है। भक्ति-शास्त्र का जितना प्रामाणिक विवरण वैष्णव ग्रंथकारों ने किया है, उतना किसी अन्य धर्मावलंबी ने किया है, इसमें हमें संदेह है। वैष्णव भक्तों की दृष्टि में मुख्यतम रस भक्तिरस ही है, अन्य रस तो इसी प्रकृतिभूत रस की विभिन्न विकृतियाँ हैं। अन्य आलंकारिक देव-विषया रति अर्थात् भक्ति को भाव के अंतर्गत मानकर तज्जन्य आनन्द की गणना हीन कोटि में किया करते थे, परंतु वैष्णवों ने, विशेषतः गौडीय वैष्णवों ने, भक्ति को भाव-दशा से ऊपर उठाकर केवल रसदशा में ही नहीं माना है, प्रत्युत इसे सब रसों से श्रेष्ठ, प्रधान अथवा प्रकृति-रस माना है। भक्ति का ही उत्कृष्टतम रूप मधुर भाव के नाम से भक्तिसंसार में प्रख्यात है। इसके विवेचन के लिए रूप गोस्वामी कृत हरिभक्तिरसामृतसिंधु तथा उज्ज्वल नीलमणि पांडित्य तथा वैदग्ध्य गुणों से मंडित होने से नितांत मननीय हैं।

इस प्रकृष्ट भक्ति भावना का रहस्य मेरी दृष्टि में भगवत्तत्त्व के स्वरूप में अंतर्निहित है। भगवत्तत्त्व के दो रूप होते हैं—ऐश्वर्य तथा माधुर्य। ऐश्वर्य भावना में भगवान् कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थ हैं। वे हमारे सर्व-शक्तिशाली ईश्वर हैं और

(क) डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का एतद्विषयक लेख कल्याण, हिंदू-संस्कृति-अंक, सन् १९५० जनवरी; पृ० ७११-७१४।

(ख) राय कृष्णदास—भारत की चित्रकला पृ० १६२-१६८।

भक्त लोग उनके दास हैं। इस भावना में बड़े अदब के साथ विधि विधानों को मानते हुए शिष्टाचार की पद्धति से उनके पास जाना पड़ता है। परंतु माधुर्य भावना में भगवान् हमारे प्रियतम हैं, उच्चतम प्रेम के पूर्ण आधार हैं तथा भक्त उनके प्रेम को चाखनेवाला नाना प्रकार की प्रियतमा है। इस माधुर्य भाव की भक्ति का अवसर वैष्णवजनों को प्राप्त हुआ भगवान् रसिक-शिरोमणि श्री कृष्ण की उपासना के प्रसंग में। इसीलिए वैष्णव शास्त्रों में भक्ति के जिस रूप का मंजुल विश्लेषण किया गया है उसका दर्शन भी अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

५—वैष्णवधर्म की विजय गाथा

भारतवर्ष के चतुर्दिक्–पूरब से पश्चिम तक तथा उत्तर से लेकर दक्षिण तक–प्रत्येक प्रांत में वैष्णव धर्म का प्रसार तथा प्रचार संपन्न हुआ था। इसने इस प्रकार भारत की अधिकांश जनता के आचरण, शील तथा सदाचार के ऊपर अपना भव्य प्रभाव जमाया, यह कम महत्त्व की बात नहीं है। परंतु हमारा वैष्णव धर्म भारतवर्ष की चहारदीवारी के भीतर ही कभी सीमित तथा संकुचित नहीं रहा। उल्लासपूर्ण भारतीयों की विजय वैजयंती के साथ वैष्णवधर्म ने भी अपना क्षेत्र विस्तृत किया, वह उन स्थानों पर पहुँचा जहाँ वीर भारतीयों ने अपने नये नये उपनिवेश स्थापित किये। वैष्णवधर्म के प्रसार की यह गौरवमयी गाथा किस भारतीय के हृदय को उल्लसित नहीं बनाती? वह युग ही दूसरा था, संघर्ष के उस समय में अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के प्रसार की लगन प्रत्येक भारतवासी के नसों में रक्त की धारा उत्तेजित किया करती। इसी लालसा की पूर्ति ने ब्राह्मण तेज तथा क्षात्र बल का आश्रय लेकर वैदिक

धर्म की वैजयंती उन सुदूर, समुद्र से पृथक्कृत, देशों में फहरा दिया जो आजकल 'ग्रेटर इंडिया' बृहत्तर भारत के नाम से ऐतिहासिकों में विख्यात है।

बृहत्तर भारत के द्वीपों तथा प्रदेशों में भारतीय उपनिवेशों की स्थापना विशेषतः गुप्तकाल में संपन्न हुई। सामान्य परिचय तथा यातायात की घटना ईस्वी सन् के प्रथम शती से ही आरंभ होती है। विभिन्न प्रांतों में हिंदुओं का प्रदेश तथा उपनिवेश स्थापन विभिन्न शतियों से संपन्न हुआ, परंतु चतुर्थ शतक के आरंभ काल तक अर्थात् गुप्तों के अभ्युदय काल के पूर्व ही हम इन द्वीपों में वैदिक धर्मावलंबी राजाओंको अपना शासन दृढ़तया स्थापित करते पाते हैं। जावा की एक दंतकथा के अनुसार प्रथम हिंदू राज्य की स्थापना ५६ ईस्वी में हुई थी। जावा सम्वत् के आरंभ का समय है ७८ ईस्वी जिस समय शक संवत् का प्रारम्भ भारत में हुआ। सुमात्रा के सर्वप्राचीन हिंदू राज्य का नाम है श्रीविजय जिसकी स्थापना चतुर्थशतक ईस्वी के पहिले ही हुई थी। श्रीविजय राज्य की अभिवृद्धि का समय सप्तम शतक का अंत काल है जब इसने मलयु (आधुनिक जंबी) नामक हिंदूराज्य को अपने में सम्मिलित कर अपने देशों की वृद्धि कर ली थी। सबसे पूर्वी द्वीप बोर्नियों में भारतीय संस्कृति का आरंभ चतुर्थ शतक के पहिले ही संपन्न हो चुका था क्योंकि इसी युग के चार संस्कृत लेखों से पता चलता है कि राजा कुण्डुङ्ग (कौण्डिन्य) के पौत्र तथा अश्ववर्मा के पुत्र राजा मूलवर्मा ने यूपों की स्थापना कर विशाल याग का समारंभ किया था जिसका नाम था बहुसुवर्णक तथा जिसमें ब्राह्मणों को वप्रकेश्वर क्षेत्र में बीस सहस्र धेनु दक्षिणा के रूप में दी गई थीं। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि ईस्वी के चतुर्थ शतक तक

हिंदुओं ने बोर्नियो द्वीप के पूर्वी भाग में अपना राज्य स्थापित कर लिया था तथा यागमय वैदिक धर्म का प्रचलन उस देश में अच्छी तरह से हो चुका था।

बाली द्वीप में आज भी हिंदू संस्कृति का भव्य रूप हमें कम आश्चर्य चकित नहीं करता जब समग्र देश ने मुसलमान धर्म स्वीकार कर अपने को यवनमय बना लिया है। प्राचीन औपनिवेशिक हिंदू धर्म के स्वरूप का सच्चा अनुशीलन प्रस्तुत करने का श्रेय इसी लघुकाय द्वीप को प्राप्त है। यहाँ ब्राह्मण पंडितों के द्वारा समग्र धार्मिक कृत्यों का विधान संपन्न कराया जाता है। बाली में पंडितों की संज्ञा है पदंड। इन पदंडों के मुख में निवास कर रहा है एक विशाल संस्कृत साहित्य जिसका संरक्षण वे बिना एक अक्षर समझे ही बड़े प्रेम तथा समधिक श्रद्धा से आज भी कर रहे हैं। संस्कृत भाषा के एक वर्ण से भी अनभिज्ञ इन पदंडों का मस्तिष्क सचमुच एक विचित्र पेटिका है जिसमें वेद, उपनिषद्, तथा स्तोत्रों से संबद्ध अनेक ग्रंथ तह पर तह रखे गये उपलब्ध होते हैं। आज से सत्तरह साल पहिले फ्रेंच विद्वान् डा० सिल्वाँलेवी ने इन मुखस्थ ग्रंथों को स्वयं लिपिबद्ध कर 'बालिद्वीपग्रंथाः' के नाम से प्रकाशित किया (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज नं० ६७, १९३३)। इनमें से कतिपय संस्कृत ग्रंथों का मूल भारतीय संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध होता है, परंतु अन्य ग्रंथों का निर्माण इसी द्वीप के प्राचीन पंडितों के द्वारा किया गया था। इन स्तोत्रों की भाषा विशुद्ध संस्कृत है जिनमें अपाणिनीय प्रयोगों का सर्वथा अभाव है। बिना समझे किसी अपरिचित भाषा के इतने ग्रंथों को अपनी स्मृति के पटल पर ही निबद्ध रखना सचमुच एक आश्चर्य-जनक घटना है। अपने धार्मिक कृत्यों में बालि के पदंड आज

भी गायत्री का प्रयोग करते हैं, परंतु न तो वे उसके नाम से परिचित हैं और न अर्थ से। भारतीय संस्कृति के अध्ययन की इतनी जीवन्त सामग्री अन्य द्वीपों मे उपलब्ध नहीं होती।

(१) जावा—इन द्वीपपुंजों में शैव धर्म की प्रधानता व्यापक रूप से विद्यमान थी। वैष्णवधर्म शैवधर्म से गणना में द्वितीय होने पर भी जीवन स्तर पर प्रभाव की दृष्टि से सर्वथा अद्वितीय ही रहा। बृहत्तर भारत के मुख्य प्रांतों में विशिष्ट राजवंशों में वैष्णव धर्म का सम्मान तथा आदर शैव मत की अपेक्षा कहीं अधिक तथा विस्तृत था। जावा में भगवान विष्णु, उनकी शक्ति लक्ष्मी तथा उनके वाहन गरुड़ की मूर्तियों का निर्माण कलात्मक दृष्टि से भी नितांत स्पृहणीय तथा श्लाघनीय है। लक्ष्मी अपनी चार भुजाओं के साथ अंकित की गई हैं और इन भुजाओं में वे कमल, धान की बाली, माला आदि धारण करती हैं। विष्णु-वाहन गरुड़ की मूर्ति जावा में बहुतायत से पाई जाती है। विष्णु के नाना अवतारों की मूर्तियाँ यहां उपलब्ध होती हैं जिनमें मत्स्य, वाराह, नरसिंह, राम तथा कृष्ण की मूर्तियाँ विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। विष्णु के आयुधभूत शंख, चक्र, गदा तथा पद्म का पृथक् रूप से अंकन भी हमें वहाँ मिलता है। वैदिक धर्म के नाना देवताओं के विग्रहों से मंडित विशालकाय मंदिर भारत तथा जावा की संवलित कला के कमनीय उदाहरण माने जाते हैं। इस प्रसंग में प्रंबानन घाटी के लारा-जोंगरंग का बृहदाकार मंदिर इस संवलित कला का मनोज्ञतम तथा रमणीयतम दृष्टांत है। इसकी रचना ईस्वी सन् के नवम शतक में हुई थी। इसके तीन मुख्य मंदिरों में मध्यमंदिर में भगवान् भूतभावन महादेव की प्रतिष्ठा है, उत्तर में विष्णुविग्रह का प्रतिष्ठान है तथा दक्षिण में ब्रह्मा जी विराजमान हैं। इस प्रकार हम

इसे 'त्रिदेव मन्दिर' भलीभाँति कह सकते हैं, परंतु प्राधान्य है महादेव मंदिर का ही जो विशालता, अलंकार-विधान तथा सौंदर्य में सबसे अप्रतिम है। इसके भीतर रामायण-संबंधी दृश्य अंकित हैं जो बयालीस पट्टों में अंकित किये गये हैं। इनमें रामजन्म से आरंभ कर लंका-विजय तक की घटनाएँ बड़ी सुंदरता से अंकित की गई हैं। इन प्रतिच्छायाओं के ऊपर ही लारा जोंगरंग के मंदिरों की सुषमा तथा भव्यता आश्रित मानी जाती है। कला दृष्टि से यह भास्कर्य अप्रतिम माना जाता है। कांबोज के अंकोरवाट की तुलना में यह भास्कर्य-कला कहीं अधिक मनोज्ञ तथा कमनीय मानी जाती है। इसमें रामायण की घटनावली का अंकन इतनी कलाबाजी, सूक्ष्मता तथा विशदता से किया गया है कि प्रतीत होता है कि ये दृश्य द्रष्टा के नेत्रों के सामने अपनी भव्य झाँकी दिखला रहे हों। कई शताब्दी के अनंतर पूर्वी जावा के 'पनतरण' नामक स्थान में भी सुंदर मंदिरों का निर्माण हुआ परंतु मध्य जावा के प्रंबानन की कला की दृष्टि से इनका स्थान निम्नतर तथा हीनतर है। इनमें भी हमें वैष्णव धर्म का प्रभाव लक्षित होता है। बेल्हन नामक स्थान में विष्णु की एक उदात्त तथा मधुर मूर्त्ति है जिसमें औदार्य तथा शांतिभाव का विचित्र मिश्रण है। परंतु कला-विशारदों की संमति है कि यह देवता के रूप का चित्रण नहीं है, प्रत्युत एक व्यक्ति की यथार्थता-संपन्न अभिव्यक्ति है। यह ऐरलंग (११ शतक) नामक विख्यात राजा की आकृति से इतना मिलता जुलता है कि यह उसी की प्रतिकृति माना जाता है। जो कुछ भी तथ्य हो, इतना तो हम निःसंदेह कह सकते हैं कि जावा के सामाजिक जीवन तथा कलात्मक चित्रण में वैष्णव धर्म का विपुल प्रभाव स्पष्टतः अंकित है।

(२) चम्पा के इतिहास में भी वैष्णव धर्म की मान्यता कम नहीं दीख पड़ती। यहाँ भी विष्णु के अवतारों की मूर्तियाँ पाई जाती हैं जिनमें राम और कृष्ण के शौर्यमंडित चरित का चित्रण विशेष रूप से उपलब्ध होता है। कृष्ण की समग्र प्रसिद्ध घटनावली यहाँ अंकित की गई है—विशेषतः गोवर्धन-धारण तथा कंसवध का दृश्य। विष्णु अनेक नामों के द्वारा अभिहित किये गये हैं यथा पुरुषोत्तम, नारायण, हरि तथा गोविंद। उनकी शक्ति लक्ष्मी, पद्मा तथा श्री के नाम से चम्पा की मान्य देवी मानी जाती हैं तथा विष्णु का वाहन गरुड़ चम्पा में एक लोकप्रिय पक्षी माना जाता है तथा उसकी मूर्ति अनेक स्थानों में मिलती है।

(३) स्याम (थाइलैंड) में प्रधानतः बौद्धधर्म ही राज्यधर्म के रूप में स्वीकृत किया गया है। प्राचीनकाल में बुद्धधर्म के प्रभाव में आने से उसके अनेक राजा बुद्ध भगवान् के अष्टांगिक मार्ग के प्रशस्त पथिक थे और आज भी वह देश तथागत के सिद्धांतों का ही अनुयायी है। तथापि इस देश में भी विष्णुधर्म के प्रति श्रद्धा तथा सम्मान की भावना कम नहीं है। चौदहवीं शती के मध्यकाल में (१३५० ई०) सुवनपुनी या ओटंग के राजा ने अजुथिआ (अयोध्या) नामक नवीन राजधानी की स्थापना की और 'रामाधिपति' के नाम से स्वतंत्र राजा बनकर राज्य करने लगा। अयोध्या के राज्य ने कम्बोज देश के एक बड़े भाग पर अपना अधिकार जमाया परंतु बर्मी राजाओं के आक्रमण के कारण उसे विशेष हानि हुई और चार सौ वर्षों के अनंतर वह राजधानी के गौरव से वंचित हो गया। इस प्रकार बौद्धप्रधान देश में राम और अयोध्या अज्ञात तथा अपरिचित अभिधान नहीं हैं।

(४) कंबोज देश (कंबोडिया) में भी वैष्णवधर्म को शैव-धर्म के समान ही मान्यता प्राप्त थी। इस देश के महनीय महीपालों ने भगवान् विष्णु के प्रति अपनी असीम भक्ति तथा अपार श्रद्धा का प्रदर्शन शिलालेखों में तथा विशालकाय मंदिरों में भली भाँति किया है। अन्य देशों की अपेक्षा इस देश ने भारतीय संस्कृति का ग्रहण विशेष रूप से किया था। अतः वैष्णव ग्रंथों के विपुल प्रचार से हमें कोई आश्चर्य नहीं प्रतीत होता। यहाँ के हिंदू मंदिरों में रामायण, महाभारत तथा पुराणों के प्रतिदिन प्रवचन की व्यवस्था की गई थी। इन ग्रंथों के अनुशीलन से प्रभावित होकर वैष्णव काव्यों की विशेष रचना नवम तथा दशम शतियों में सपन्न हुई। यहाँ के मानी राजन्यों में सूर्यवर्मा द्वितीय (१११३ ई०–११४५ ई०) का नाम इस प्रसंग में विशेष महत्त्व रखता है जिसकी अगाध सौंदर्यानुराग और विष्णुभक्ति का उज्ज्वल उदाहरण 'अँगकोरवाट' का विख्यात कंबोज मंदिर है। इस मंदिर की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।[1] यह भारतीय तथा कंबोज कला के परस्पर मिश्रण का अतीव उज्ज्वल दृष्टांत माना जाता है। यह विशालकाय मंदिर परिखा से वेष्टित है जो चौड़ाई में लगभग ७०० फीट है। इसे पार करने के लिए एक परम रमणीय सेतु बाँधा गया है जो सप्तशिरस्क नागों की स्तंभ-पंक्ति पर स्थित ३६ फीट चौड़ा है। भीतर जाने पर विशाल गैलरियोंमें प्रभावशाली सम्राटोंकी, उनकी चामरग्राहिणी सेविकाओं से आवृत रमणीय रानियों की, महामहिम मंत्रियों की

१—द्रष्टव्य-वेदव्यास रचित 'कम्बोडिया का हिंदू उपनिवेश' पृ० २४२–पृ० २५३; R. C. Mazumdar : Hindu Colonies the Far East. पृ० १८६–१८८

तथा प्रभावसंपन्न सेना-नायकों की प्रतिच्छायायें इतनी सजीवता से अंकित की गई हैं कि वे दर्शकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव उत्पन्न कर देती हैं। मुख्य मंदिर में भारतीय वैष्णव साहित्य को अंकित करनेवाली प्रतिच्छायाओं की प्रधानता है जिनमें रामायण, महाभारत और हरिवंश के दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं। आरंभ में हम कुरुक्षेत्र की समर-स्थली को पाते हैं जहाँ लड़ते हुए योधाओं की अगली पंक्ति में गीता के वक्ता-श्रोता कृष्ण और अर्जुन विराजमान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के जीवन से संबद्ध लगभग चार प्रतिच्छायायें और हैं, परंतु रामकथा से संबद्ध ग्यारह घटनाओं का अंकन यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वैष्णव दृश्यों का यह प्राधान्य तथा साथ ही राजा का, जो ऐतिहासिक गैलरी में केंद्रस्थ व्यक्ति है, 'परम विष्णुलोक' का पारमार्थिक नाम हमें इसी निष्कर्ष पर पहुंचाता है कि यह अँग-कोरवाट निश्चय ही विष्णु मंदिर है; इसमें संदेह का लेश भी नहीं है। राम की प्रतिच्छायाओं में उल्लेखनीय दृश्य हैं विराध राक्षस की मृत्यु, राम का सुवर्ण मृग के पीछे दौड़ना, राम सुग्रीव की मैत्री, सुग्रीव वालि का मल्लयुद्ध, हनुमान् का लंका में सीता की खोज, लंका का समर-क्षेत्र तथा भयानक संग्राम तथा अंत में पुष्पक विमान के द्वारा राम का अयोध्या-प्रत्यावर्तन। इनमें से प्रथम छः दृश्य मध्य जावा में उपलब्ध प्रंबानन मंदिर (नवम शतक) में अंकित राम प्रतिच्छायाओं से विशेष मिलते हैं। कला पारखी जनों ने इन दोनों विष्णु मंदिरों में अंकित रामायण की घटनाओं की परस्पर तुलना की है। उनकी दृष्टि में दोनों की अपनी निजी विशेषतायें हैं, यद्यपि कई बातों में वाल्मीकीय रामायण का अनुसरण न करने पर भी प्रंबानन का रामायणीय अंकन कहीं अधिक कलात्मक माना जाता है। अँगकोरवाट का

स्वष्टा प्रकृति की भाँति शून्यता से घृणा करता है। यदि कहीं थोड़ा भी स्थान उसे रिक्त मिलता है तो वह किसी न किसी पौधे या पक्षी की प्रतिकृति बैठा देता है जिससे प्रभाव में न्यूनता आ जाने पर भी वह पूरा दृश्य आलोकित हो उठता है।

अँगकोरवाट वैष्णवधर्म की संसार को महती कलात्मक देन है। यह संसार के गण्यमान्य कलासंपन्न मंदिरों से अपना विशिष्ट स्थान रखता है। मंदिर की सजावट उसकी महनीय समष्टि के अनुरूप ही है। सर्वत्र सीढ़ियों के सिरों पर बृहत्काय सिंह तथा वीथिकाओं के पार्श्वों में बहुशिरस्क सर्प स्थित हैं। दीवारों की सजावट में आढ्यता है तथा तक्षणों में लालित्य है। दीवारों पर कोनों में स्थित स्वर्गीय चेतोहारिणी अप्सरायें अपने वक्षःस्थल की पीनता तथा रत्नाभरणों की प्रचुरता से दर्शक की दृष्टि मोह लेती हैं। ऐसे प्रचुर कला-सपन्न मंदिर के विस्तृत निर्माण की प्रेरणा तथा स्फूर्ति जिस वैष्णव धर्म से मिली उस धर्म के सांस्कृतिक महत्त्व का अंकन किस प्रकार किया जा सकता है?

(५) बालिद्वीप में हिंदूधर्म का आज भी उतना ही बोल-बाला है जैसा कभी प्राचीन काल में था। यवनों के प्रबल आक्रमणों ने बालिद्वीप की हिंदू जनता का बाहरी धर्म परिवर्तन तो अवश्य कर दिया है, परंतु उनका हृदय आज भी हिंदूधर्म की प्रगाढ़ भक्ति से ओत-प्रोत है। पूरे द्वीप में हिंदू संस्कृति अपने विशुद्ध रूप में आज भी विराजमान है। वहाँ के पदण्डों की चर्चा हम पीछे कर आये हैं जो आज भी वहाँ के निवासियों के धार्मिक उत्सवों तथा संस्कारों के कर्ता तथा विधाता हैं। बालि में अनेक हिंदू देवताओं की उपासना प्रचलित है जिनमें भगवान्

विष्णु की भक्ति विशेष महत्त्व रखती है। विष्णु की स्तुति में बालि में दो स्तोत्र प्रसिद्ध हैं जिनमें एक तो विशुद्ध भारतीय 'विष्णुपञ्जर' स्तोत्र है और उदात्त संस्कृत गद्य में निबद्ध दूसरा 'विष्णुस्तव' बालि के पदण्डों के पांडित्य तथा प्रतिभा का प्रकृष्ट प्रतिनिधि है। विष्णुपञ्जर स्तोत्र हमारे यहाँ विशेष प्रसिद्ध है जिसमें विष्णु से नाना रूपों में रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। उदाहरण के लिए दो-तीन पद्य उद्धृत किये जाते हैं[1]—

पादौ रक्षतु गोविन्दो जंघाभ्यां च त्रिविक्रमः।
ऊरुन्तं केशवो रक्षेद् रक्षेद् गुह्यं तथा हरिः॥
उदरं पद्मनाभश्च कटिं चैव जनार्दनः।
नाभिकमच्युतो रक्षेत् पृष्ठं रक्षतु माधवः॥

बालिद्वीप में एक नितांत साहित्यिक 'विष्णुस्तव' नामक गद्यात्मक स्तोत्र उपलब्ध होता है जो भाषा तथा भाव उभय दृष्टियों से विशेष महत्त्वशाली, प्रौढ़ तथा प्रांजल है। इस श्लाघनीय स्तुति का प्रवाह देखिए—

ॐ नमोऽस्तु पुरुषोत्तमाय परमरिपु-पर-पुर-हरण-पराक्रमाय [illegible] -ललित-[illegible] च जाग्रत-सुप्त-तूर्य चतुर्भुजाय नारायणाय नरसिंह-वामनाय नारायणार्दनाय नरगदायुद्धे [illegible] -सुदर्शनायुधाय दैत्यदानवयक्ष-राक्षस-[illegible] च गन्धर्वमनुष्योरग-सुरविद्याधर-ऋषि प्रभृति [illegible] च परमरिपुगणगणार्जुन-धेनुक-प्रलम्ब-केशरानिष्टक

1. [illegible] (बड़ौदा, गायकवाड़ सं० सीरीज नं० ६७) पृ० [illegible]।

सेनिगजयल तरगमिस-सृगालादि-निधनाय च पुरुषोऽनन्तसमुद्राश्रयः खगवरचरेन्द्रः श्रीप्रियो धनदप्रियो वैश्रवणाङ्कोऽस्मान् रक्षतु अस्मान् गोपायतु स्वाहा।

इस स्तोत्र का अनुशीलन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि बालि द्वीप में नारायण के मुख्य अवतारों का ज्ञान, विशेषतः कृष्ण तथा उनकी विपुल लीलाओं की जानकारी, सर्वत्र प्रचलित था। इस स्तोत्र की रचना बालि में ही प्रतीत होती है, क्योंकि इसका मूल रूप भारतवर्ष के संस्कृत साहित्य से अब तक उपलब्ध नहीं है। भाषा की प्रौढ़ता के कारण यह स्तव स्तोत्र साहित्य का एक समुज्वल हीरक माना जा सकता है।

भगवान् नारायण की पत्नी श्रीदेवी के नाम से बालि में विशेषतः प्रसिद्ध हैं, परंतु उनके विषय में नवीन कल्पना भी दृष्टि-गोचर होती है। श्रीदेवी धानकी देवता है। इसीलिए वह श्रीताण्डुली अथवा धान्यराशी के नाम से विख्यात हैं—

श्रीताण्डुली महादेवी श्रीमत्कमलशोभिता
ददासि मे महाभोग्यं सर्वद्रव्यहितं धनम् ॥

श्रीदेवी शालि के समान कमनीय रूपवाली मानी जाती हैं। चावल के समान उनका शरीर स्निग्ध तथा चिकना होता है—

श्री शालिकान्तरूपा त्वं स्निग्धगात्रं च ताण्डुलम्।
ददाति मे सदा चित्रं सौभाग्यं लोकपूजितम् ॥

बालि निवासियों का यह दृढ़ विश्वास है कि श्रीदेवी का संबंध धान्य की उत्पत्ति तथा खेती के साथ मुख्य रूपेण है। इस विषय में एक पौराणिक कथा भी प्रसिद्ध है जिसमें विष्णु के उपवन में स्नानासक्ता श्री-देवी का किसी दैत्य द्वारा हरण किये जाने का वृत्तांत है। श्रीदेवी की मृत्यु के अनंतर उनके शरीर से

प्रगीत मुक्तकों के प्राचुर्य का रहस्य इसी व्यापक प्रभाव के भीतर छिपा हुआ है। वात्सल्य तथा शृंगार की नाना अभिव्यक्तियों के चारु चित्रण से हमारा साहित्य जितना सरस तथा रसस्निग्ध है उतना ही वह कोमल तथा हृदयावर्जक है भक्त हृदय की नम्रता, सहानुभूति और आत्मसमर्पण की भावना से।

यह साहित्यिक प्रभाव भारतवर्ष की प्रत्येक प्रांतीय भाषा के ऊपर पड़ा है। इन भाषाओं का सुंदरतम साहित्य वही है जो भागवत भावनाओं से स्पंदित, उत्साहित तथा स्फुरित होता है। इन भाषाओं में वैष्णव साहित्य ही सबसे अधिक उत्कृष्ट, सरस तथा हृदयानुरंजक है। भारतवर्ष के इतिहास का मध्ययुग भक्ति-भावना के उपबृंहण तथा परिवर्धन का युग है। फलतः समग्र भारतवर्ष में १६ वीं तथा १७ वीं शताब्दी में लिखित साहित्य भक्तिभाव से पूरित ही नहीं है, प्रत्युत वह नितांत स्निग्ध, रसपेशल तथा समधुर है। वैष्णव साहित्य भारतवर्षीय साहित्य का सर्वोज्ज्वल तथा उत्कृष्ट साहित्य है। ललित गीति, गायनों तथा पदावली साहित्य के उदय का यही काल है।

हिंदी पाठक उत्तरीय भारत में पनपने वाले साहित्य के उदय की गतिविधि से अधिक परिचित हैं, परंतु दक्षिण भारत के साहित्य से उनका परिचय नितांत स्वल्प है। इसीलिए यहाँ दक्षिण भारतीय भाषा साहित्य के ऊपर वैष्णव प्रभाव का सामान्य परिचय विशेषतः दिया जा रहा है। तामिल, तेलगु, कन्नड़ तथा मलयालम के साहित्य में वैष्णव साहित्य का उतना ही प्राधान्य तथा महत्त्व है जितना बंगला, आसामी, उड़िया, मराठी, गुजराती तथा हिंदी साहित्य में। वैष्णव साहित्य निःसंदेह इन साहित्यों का हृदय माना जा सकता है।

तमिळ

तमिळ साहित्य में शैव साहित्य की प्रधानता है। 'शैव सिद्धांत' नामक शैवदर्शन की एक विशिष्ट धारा का द्रविड़ देश उद्गमस्थान है। यह सिद्धांत मुख्यतया द्वैतप्रधान है और इस सिद्धांत के प्रतिपादक आगमों की विशेष सत्ता तमिल साहित्य में है। तथापि आळवारों की पदरचना तमिलभाषा में ही निबद्ध हुई है। समस्त अलवार तमिल-भाषा-भाषी थे। इन लोगों ने अपने हृदय के भावों की अभिव्यक्ति जिन पदों के द्वारा की है वे तमिळ साहित्य में विशेष मान्य हैं। श्रीवैष्णव लोग तो इन पदों को 'द्रविड़ वेद' के नाम से पुकारते हैं तथा इनकी पवित्रता में असीम श्रद्धा रखते हैं। जैसे वैदिक मन्त्रों का उपयोग भगवान की पूजा अर्चा के समय किया जाता है वैसे ही इन पदों का भी प्रयोग ऐसे शुभ अवसर पर दक्षिण के वैष्णव मंदिरों में आज भी किया जाता है।

सुप्रसिद्ध अलवार विष्णुचित्त स्वामी रचित 'दिव्यप्रबन्ध' के केवल छः पद्य उदाहरण के निमित्त यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। इस प्रसंग का अर्थ यह है कि यशोदाजी कृष्णचन्द्र को नाना पुष्पों से भूषित कर उनकी शोभा देखना चाहती हैं। इसलिए वे कृष्ण को पुकार रही हैं कि वत्स, आवो और इन सुगंधित फूलों को पहनो। इस दशक की बड़ी ख्याति तथा लोकप्रियता है। आज भी वैष्णव मन्दिरों में भगवान को पुष्पसमर्पण के अवसर पर द्रविड़ भक्त लोग इन पदों को गद्गद कण्ठ से गा कर भगवान को फूल चढ़ाते हैं। यहाँ मूल तमिळ पद्य के साथ उसका संस्कृत तथा हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जाता है।

आनिरै मेयूक्क नीपोदि अरुमरुन्दावदरियाय् ॥
कानहमेल्लाम् तिरिन्दु उनूकरियतिरुमेनिवाड ॥

पानैयिल् पाल्पक्कहिप्पत्तादारेलाम् शिरिप्प ❀
तेनिनितिनियपिराने ! शेणुपहप्पूच्चूट्टवाराय् ॥१॥

श्लो० ॥ गास्संचारयितुं प्रयासि नहि वेत्स्यात्मप्रभावं हरे !
कान्तारे बहु संचरन् बत ! वपुर्ग्लानिं समासीदसि ।
भाण्डे चूषसि दुग्धमित्यहह भो मित्रैतर्हस्यसे
पीयूषादपि भोग्य चम्पकसुमं वोढुं समागच्छतात् ॥१॥

हे कृष्ण ! अपने दिव्य शरीर की कोमलता को थोड़ा भी न जानते हुए स्वयं जंगल में गाय चराने के लिए जाते हो। बारंबार घूमने से तुम्हारा सुंदर मुख अत्यंत म्लान हो रहा है। घर में रह कर तुम बरतन में रखे हुए दूध को पी जाते हो। इसलिए शत्रु लोग तुम को हंसते हैं। वे भले हंसे, परंतु आपकी समस्त चेष्टायें हमारे आनंद के लिए होती हैं। अमृत से भी अधिक भाग्यशाली कृष्ण, मैं तुम्हारे मस्तक पर चंपक फूल अर्पित कर रहा हूँ। उसे धारण करने के लिए तुम आओ ॥१॥

[illegible] ❀
[illegible] पिरन्दाय् ❀
[illegible] ❀
[illegible] ॥२॥

श्लो० ॥ [illegible]
[illegible] ।
[illegible] प्रभो
[illegible] ॥२॥

श्रीरंगम् में शेष की शय्या पर सोनेवाले कृष्ण, इस सुगंध से युक्त मल्ली की माला पहनने के लिए तुम चले आओ ॥२॥

मचोदुमाळिहैयेरि मादर्हळ् तम्मिडम् पुक्कु ❀
कचोदु पट्टैकिळित्तु काम्बुतिहिलवै कीरि ❀
निचलुम् तीमैहळ् शेय्वाय् नीळ्तिरुवेङ्गडत्तेन्दाय् ❀
पच्चैत्तमनहत्तोदु पादिरिप्पूच्चूट्टवाराय् ॥ ३ ॥

श्लो० ॥ आरुह्य प्रसभं महत्तरगृहप्रासाददेशादिषु
प्राप्य स्त्रीजनतान्तिकम् शिथिलयन् तच्चोलचेलाविकम् ।
नित्यं दुश्चरितोत्सुक ! क्षितिधरे शेषाभिधे सन् प्रभो !
वोढुं सद्दमनं च पाटलसुमं स्वामिन् समागच्छ भोः ॥३॥

हे कृष्ण, ऊँचे महलों के ऊपर जहाँ जहाँ स्त्रियाँ निवास करती हैं । उन उन स्थानों के पास जाकर उनके कञ्चुक वस्त्र को तुम ढीला कर देते हो । इस प्रकार की दुश्चेष्टाओं के लिए तुम नित्य उत्सुक रहते हो । शेषाचल के शिखर पर निवास करने-वाले भगवन्, तुम दमनक तथा पाटल फूल को पहनने के लिए यहाँ आओ ॥ ३ ॥

तेरुविनूकणिनिळवाय्च्चिमार्हळैत्तीमै शेय्यादे ❀
मरुवुम् मदनकमुम् शीमालैमणङ्कमळ्किन्न ❀
पुरुवम् करुकुळलूनेत्तिप्पोलिन्द मुहिलूकन्नुपोले ❀
उरुवमळहिय नम्बि उहन्दिवैशूट्ट नीवाराय् ॥ (४)

श्लो० ॥ स्थित्वा वीथिषु बालगोपललनागोष्ठीषु दुश्चेष्टितं
स्वैरं मा कुरु नीलकेशललितभ्रूरम्यफालोज्ज्वल ।
भास्वन्मेघशिशूपमेय सुषमासंपूर्ण कृष्ण प्रभो
वोढुं सौरभसंभृतं दमनकं श्रीपल्लवं चाव्रज ॥ (४)

हे सर्वाङ्गसुन्दर, मेघशावक के समान श्यामल, किशोर कृष्ण, व्रज की गलियों में बालिकाओं के साथ मनमानी दुष्ट कर्मों का आचरण मत करो। दमनक तथा मरुवकोळुंद नामक श्रीपल्लव को पहनने के लिए कृपया इधर तो आवो ॥ ४ ॥

पुळ्ळिनैवाय् पिळन्दिट्टाय् पोरुकरियिन् कोम्बोशित्ताय् ❀
कळ्ळवरक्किमूक्कोडु कावलनैत्तलैकोण्डाय् ❀
अळ्ळिनीवेण्णेय् विळुङ्ग अञ्जादडियेनडिरोन् ❀
तेळ्ळियनीरिलेळुन्द शेङ्कळुनीर्शूट्टवाराय् ॥५॥

श्री ॥ वक्त्रं दैत्यबकस्य दीर्णमतनोः दन्तं गजस्याहरः
राक्षस्याः किल नासिकां व्युदसृजः रक्षःपतिं चावधीः ।
नाथ ! त्वां नवनीतजग्धिसमये निर्भीरह प्राहरं
तत्त्वास्तां विमलाम्बुनिर्गतमिदं कह्लारमुत्तंसय ॥५॥

हे भगवन्, तुम्हारा एक एक चरित्र अत्यन्त मनोहर होता है तथा साथ साथ अत्यन्त भयानक भी होता है। बकासुर के मुख को तुमने फाड़ा था। कुवलयापीड हाथी के दाँत को तुमने तोड़ा था। राक्षसी के नाक काट कर तुमने राक्षसपति रावण को मारा था। परन्तु तुमको मैंने चोरी से मक्खन खाने के समय पर मारा था। इस बात पर आप तनिक भी ध्यान न दें। कल्हार फूल पहनने के लिए तुम यहाँ आवो ॥ ५ ॥

एरुदुहळोडु पोरुदि एदुमुलोवाय् काण्नम्बि ❀
करुदियतीमैहळ् शेय्दु कञ्जनैक्कालकोडु पायन्दाय् ❀
तेरुविनूकण् तीमैहळ् शेय्दु शिक्कन मल्लर्हळोडु ❀
पोरुदुवरुहिन्न पोन्ने पुन्नैप्पूच्चूट्टवाराय् ॥ ६ ॥

युद्धं दारुणमातनन्य वृषभैः गात्रे विरक्तो निजे
स्वच्छन्दं च विचेष्टसे चरणतः कंसं प्रहृत्याहरः।
रथ्यायां कटुचेष्टितानि कलयन् मल्लैस्समं युद्धम-
प्याधायागत ! हेमरम्य शिरसा पुंनागपुष्पं वह ॥६॥

हे कृष्ण, तुमने बैलों के साथ घोर युद्ध किया था (नीला देवी के साथ विवाह करने के निमित्त)। अपने शरीर की रक्षा पर तनिक भी बिना ध्यान दिये तुम स्वच्छन्द चेष्टा करते हो। तुमने पाद के प्रहार से कंस को मार डाला। मथुरा की गलियों में कटु चेष्टित करते हुए तुमने मल्लों के साथ युद्ध किया। सुवर्ण के समान स्पृहणीय शरीरवाले कृष्ण, पुन्नागफूल को पहनने के लिए आवो ॥६॥

तेलुगु

तेलुगु साहित्य का सबसे सुंदर भाग वही है जो वैष्णव भक्ति के द्वारा प्रभावित तथा स्पंदित होता है। तेलुगु भक्ति-साहित्य का अत्यंत सुंदर तथा लोकप्रिय ग्रंथ है महाकवि पोताना (१४००—१४७५ ई०) रचित भागवत पुराण का अनुवाद। यह अनुवाद नहीं है, प्रत्युत स्वतंत्र काव्य ग्रंथ है जो मात्रा में मूल ग्रंथ से कहीं अधिक बढ़ चढ़कर है। इसके 'गजेंद्र-मोक्ष' तथा रुक्मिणी कल्याण' मानव हृदय के भावों की अभि-व्यंजना में सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य माने जाते हैं। पोताना ने निर्धनता में जीवन बिताया, परंतु उसने किसी राज दरबार का आश्रय स्वीकार कर अपने आत्मा का हनन नहीं किया। पोताना का तेलुगु भागवत भक्ति—रस से स्निग्ध ही नहीं है, प्रत्युत साहित्यिक चमत्कार से भी नितांत पूर्ण है। विजयनगर के अधी-श्वर महाराज कृष्णदेवराय (१५०६ई०—१५३० ई०) तथा अच्युतराय

का राज्यकाल तेलुगु तथा कन्नड़ साहित्य का स्वर्णयुग है। कवियों के आश्रय देने वाले ये महाराज स्वयं वीणापाणि शारदा के उपासक थे। कृष्णदेव राय का 'विष्णुचित्तीय' काव्य विष्णुचित्त अलवार तथा गोदा के प्रसिद्ध वैष्णव कथानक का रसमय प्रबंध है जो मानव हृदय की कमनीय अभिव्यक्ति के साथ साथ साहित्यिक चमत्कार का भंडार है। इनके दरबार के अष्टरत्नों (अष्ट दिग्गजों) में से महाकवि पेद्दना तथा तिम्मन्ना ने वैष्णव काव्यों का प्रणयन किया है। पेद्दना को अपनी विशिष्टता के कारण 'आंध्र कविता पितामह' की उपाधि से कृष्णदेवराय ने ही मंडित किया था। इनका 'मनुचरित्र' भाषा के सौंदर्य तथा भावों की अभिव्यक्ति उभय दृष्टियों से श्रेष्ठ काव्य माना जाता है। तिम्मन्ना का 'पारिजात हरण' श्रीकृष्णचंद्र के जीवन की एक विख्यात घटना को लेकर निर्मित रसमय काव्य है। विज्ञ आलोचकों की दृष्टि में यह काव्य तेलुगु भाषा के उत्कृष्ट माधुर्य का सूचक है तथा सुकुमारभावों की अभिव्यंजना में एकदम बेजोड़ है। इस प्रकार तेलुगु साहित्य का सुवर्णयुग वैष्णव भक्ति से स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण कर इतना उदात्त, महनीय तथा महत्त्वशाली हो सका है।

भीष्म पितामह ने भगवान् कृष्ण की प्रशस्त स्तुति की है। इस प्रसंग के दो चार पद्य नीचे दिये जाते हैं—

हयरिंखा - मुख - धूलि - धूसर - परिन्यस्तालकोपेतमै
रय-जात श्रम-तोय-बिन्दु-युतमै राजिल्लु नेम्मोमुतो।
जयमुं पार्थनु किच्चु वेड्क नतिना शस्त्राहतिं जाल नो
च्चियु, वोरिंचु महानुभावु मदिलो जिंतिंतु नश्रांतमुन्।

आशय–भगवन्, घोड़ों के खुरोंसे उठने वाली धूलि के कारण आप के केश धूसर हो गये हैं। पार्थके रथ हाँकने में आप ने जो अधिक परिश्रम किया है उस के कारण पसीने की बूँदों से आप का ललाट शोभित हो रहा है। इस युद्ध में पार्थ को विजय देने की इच्छा से आप अपने ऊपर शस्त्र का प्रहार सहकर भी स्वयं युद्ध कर रहे हैं। ऐसे आप के रूप को मैं अपने चित्त में अश्रांत भाव से नित्य चिंतन करना चाहता हूँ।

२

भगवन्, आपका मुखमंडल माधुर्य का परम निकेतन है—

त्रिजगन्मोहन-शीलकान्ति-दनुवुद्दीपिप आभात नी-
रज-बन्धु-प्रभ-मैन-चेलमुं पयिन् रेजिल्ल नीलालक-
व्रज-संयुक्त मुखारविंद-मति-सेव्यं बै विजृंभिप मा-
विजयुं जेरेडु वन्नेकाडु मदिलो ना वेशिंचु नेल्लप्पुडुन् ॥

(दनु = तनु; आभात = प्रभात; पयिन्=ऊपर; मा विजयुं = हम लोगों को विजय देने के लिए; वन्ने काडु = चित्रविचित्र कार्य करने वाले; नेल्लप्पुडुन् = सदा सर्वदा)

आशय—तीनो जगत् को मोहित करने वाले शील तथा कांति से आपका शरीर उद्दीप्त हो रहा है। प्रातः काल खिलनेवाले कमलों के बंधु दिवाकर की प्रभा के समान आप का पीताम्बर चम चम चमक रहा है। नीले केश पाश के बिखरने से आप का मुखार-विंद अत्यंत शोभित हो रहा है। हम लोगों को विजय देने के लिये आप सदा उद्युक्त हैं तथा नाना प्रकार के चित्रविचित्र कार्य करने वाले हैं। ऐसे आप को मैं अपने चित्त में सर्वदा चिंतन किया करता हूँ।

३

कुंती की स्तुति

श्री कृष्णा यदुभूषणा नरसखा श्रृंगाररत्नाकरा
लोकद्रोहि-नरेन्द्र-वंशदहना लोकेश्वरा देवता-
नीक-ब्राह्मण-गोगणार्तिहरणा निर्वाणसंधायका
नीकुन् ओक्केद दुंपवे भवलतल् नित्यानुकम्पानिधी ॥

इस संस्कृतगर्भित स्तुति का तात्पर्य है कि हे नाना विशेषणों से विभूषित भगवान्, इस संसाररूपी लता के काट डालने के लिए मैं सदा आपको प्रणाम करता हूँ। आप सर्वदा दया के निधान हैं। आप की कृपा से यह संसार-रूपी वृक्ष छिन्न भिन्न हो जावेगा।

कन्नड

कन्नड साहित्य का आरंभ होता है जैन-धर्म-विषयक काव्यों तथा आख्यानों से। लिंगायत (वीरशैव) मतावलंबी कवियों ने अपनी रचनाओं से इसे पुष्ट किया (१२ शतक से लेकर १५ शतक तक), परंतु कन्नड़ साहित्य का सुवर्ण युग वैष्णव कवियों की सुंदर रचनाओं तथा मनोहर प्रतिभासम्पन्न काव्यों का परिणत फल है। श्री रामानुजाचार्य तथा मध्वाचार्य—वैष्णव मत के दोनों आचार्यों ने कन्नड़ देश को अपने धर्म प्रचार का केन्द्र बनाया। फलतः १६ वें शतक के आरंभ से कन्नड़ साहित्य में वैष्णव काव्यों का निर्माण आरंभ हुआ जो इस साहित्य का नितांत महत्त्वशाली काल है। आलोचकों की दृष्टि में वैष्णव कवियों की कृपा से कन्नड़ भाषा अपने मध्यकालीन रूप को छोड़ कर अर्वाचीन भाषा के रूप में परिणत होती है।

इस युग में कुमार-व्यास (मूलनाम नारणप्पा) ने महाभारत का, कुमार वाल्मीकि ने रामायण का तथा चाटु विट्ठलनाथ ने भागवत का (रचना काल १५३० ई०) कन्नड़ भाषा में अनुवाद कर वैष्णव साहित्य को अग्रसर किया, परंतु कन्नड़ देश के गाँव गाँव में घूम घूम कर कृष्ण—लीला तथा भगवन्नाम के प्रचार करने का श्रेय है उन वैष्णव संतों को जो 'दास' के नाम से साहित्य में विख्यात हैं। उन्हें स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली मध्वाचार्य के उपदेश से तथा चैतन्य महाप्रभु के १५१० ई० के आसपास दक्षिण भारत की यात्रा में किये गये कीर्तनों तथा भजनों से। इन दासों की रचना 'दास पदावली' (दासर पदगलु) के नाम से विख्यात है। इनमें दो संतों की मधुर पदावली कन्नड़ साहित्य का प्राण है।

इनमें सबसे प्रसिद्ध थे पुरंदर दास जो पण्ढरपुर में ही रहकर भगवान् विट्ठलनाथ की स्तुति में अपने कमनीय पद गाया करते थे। अच्युतराय के समय में ये विजयनगर में आये थे, परंतु इनकी मृत्यु पंढरपुर में ही भगवान् विट्ठल के कीर्तन तथा भजन में दिन बिताते १५६४ ईस्वी में हुई। कनकदास इनके समसामयिक संत थे। ये जाति से नीच गड़ेरिया थे, परंतु मध्वमत के आचार्य व्यासराय की कृपा से वैष्णवधर्म की दीक्षा प्राप्त कर इतने बड़े संत हुए। इनके अतिरिक्त विट्ठलदास, वेंकटदास, विजयदास तथा कृष्णदास की इस विषय में विशेष प्रसिद्धि है। इन संतों की पदावली भावों की दृष्टि से नितांत सहज, स्वाभाविक तथा सरस है। इनके सुंदर गायन सुनने से श्रोताओं के हृदय में एक विचित्र आकर्षण होता है।

मलयालम

मलयालम भाषा का साहित्य सामान्यरूप से १३ वें शतक से आरंभ होता है। इस शतक की मान्य पुस्तक है 'रामचरित' जिसकी रचना त्रावनकोर के तत्कालीन महाराजा ने की। इसके तथा तत्कालीन अन्य ग्रंथों के ऊपर तमिळ साहित्य का प्रभाव विशेष रूप से लक्षित होता है, परंतु इसके अनंतर संस्कृत भाषा तथा साहित्य का प्रभाव इतने व्यापक रूप से पड़ा कि आज ७५ प्रतिशत संस्कृत भाषा के शब्द यहाँ उपलब्ध होते हैं। मल्याली साहित्य में कृष्ण से संबद्ध काव्यों का प्राचुर्य है। शायद उतना अधिक कृष्ण-साहित्य किसी अन्य दक्षिणी भाषा में उपलब्ध नहीं होता। १५ वें शतक में चेरुस्सेरी नंबूद्री ने संस्कृतमिश्रित मल्याली भाषा में 'कृष्णगाथा' नामक भक्तिरस-प्रधान काव्य का निर्माण किया। तुंजन कवि का भागवत (रचनाकाल १६ शतक) इस साहित्य में नितांत प्रसिद्ध है। पोन्तान् भी इसी युग के कवि हैं जिनका प्रभाव इस देश में गोसाईं तुलसीदास के समान ही व्यापक तथा महत्त्वशाली है। इस प्रकार मल्याली साहित्य में भी वैष्णव काव्यों—विशेषतः कृष्ण काव्यों का—प्रचार तथा प्रसार अपेक्षाकृत सुन्दर और व्यापक है। यहाँ केवल एक उदाहरण दिया जा रहा है।

कण्णनां उण्णिये काणुमार - आकणं
कारोलि - वर्णने काणुमार - आकणं।
किंकिणी-नादं उळ् केळ्क् कुमार-आकणं।
कीर्तनं चोल्लि पुकळ्तु मार-आकणं।
कुम्मिणि - प्पैतळे काणुमार - आकणं।
कूनुकळ् - ओरोन्नु केळ्क्कुमार-आकणं।

केल्पेरं प्पैंलळे काणुमार - श्राकणं ।
केळिकळ - श्रोरोन्नु केळ्क्कुमार श्राकणं ।
कैवल्य - मूर्तिये काणुमार - श्राकणं ।
कोञ्च लोद-श्रन्मोळि केळ्क्कुमार-श्राकणं ।
कौतुक प्पैतळे काणुमार - श्राकणं
कंसारि नाथने काणुमार - श्राकणं
कण्ड् कण्ड् उळळं तेकियुमार - श्राकणं

ऐ मेरे प्यारे कृष्ण, मैं चाहता हूँ कि मैं तुम्हारा दर्शन करूँ।

ऐ मेघ के समान साँवले कृष्ण, ऐ श्यामसुंदर, मैं तुम्हारा दर्शन चाहता हूँ।

तुम्हारी करधनी की रुनझुन मैं सुनना चाहता हूँ।

ऐ मंत्रो के द्वारा कीर्तित कृष्ण, मैं तुम्हारी स्तुति करना चाहता हूँ।

ऐ प्यारे बाल कृष्ण, मैं तुम्हारा मोहनी रूप देखना चाहता हूँ।

तुम्हारे नाना प्रकार की ललित क्रीड़ाओं को सुनना चाहता हूँ

ऐ हृष्ट-पुष्ट बालकृष्ण मैं तुम्हारा मोहिनी रूप देखना चाहता हूँ।

तुम्हारी सब लीलाओं को मैं सुनना चाहता हूँ।

मोक्ष देने वाली मूर्ति को मैं कब अपने नेत्रों से देखूँगा?

तुम्हारी तोतली बोली को मैं सुनना चाहता हूँ।

ऐ कौतुकजनक बालक, तुम्हारे दर्शन की मुझे बड़ी लालसा है।

हे नाथ, हे कंस-मर्दन, कब मैं तुम्हें देखूँगा?

ऐसे साँवलिया को बारबार देखकर देखकर मैं अपने हृदय को पवित्र करना चाहता हूँ।

कि करब वारिद मेहे।
इह नव यौवन विरहे गमाओव,
कि करब से पिया लेहे॥
भणइ 'विद्यापति' शुन वर-युवती,
अब नहि होत निराशे।
सो ब्रज-नंदन हृदय—आनन्दन,
झटिते मिलब तुय पाशे॥

———

हिन्दी

किते दिन हरि-सुमिरन विनु खोए।
पर-निन्दा रसना के रसकरि, केतिक जनम विगोए।
तेल लगाइ कियौ रुचि-मर्दन, वस्तर मलि मलि धोए।
तिलक बनाइ चले स्वामी ह्वै, विषयिनि के मुख जोए।
काल बलीतैं सब जग काँप्यौ, ब्रह्मादिक हूँ रोए।
'सूर' अधम की कहौ कौन गति, उदर भरे, परि सोए।

—❀—

(२)

वेद में विष्णु

(१) भक्ति का रूप
(२) वेद में देवता तत्त्व
(३) वेद में भक्ति का उद्गम
(४) वेद में 'विष्णु' का स्वरूप

प्र तद् विष्णुः [illegible]

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणे-

ष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥

—ऋ० वे० १।१५४।२

मनुष्य ही इस विशाल विश्व का केंद्रबिंदु है। उसी की लक्ष्यसिद्धि के लिए विश्व के समस्त व्यापार प्रवृत्त होते हैं। मनुष्य के ही कल्याण साधन के लिए संस्कृति जागती है, सभ्यता पनपती है तथा धर्म उदित होता है। जगत् के नाना प्राणियों में समधिक चेतना तथा स्फूर्ति से संवलित होने के कारण ही मानव की इतनी महत्ता है। संकीर्ण धर्मानुयायी ही धर्म का क्षेत्र मानव-जीवन की पारलौकिक भावनाओं के ही साथ करते है। भारतीय धर्म नितांत उदार है। वह केवल परलोक को ही धर्म का क्षेत्र नहीं बतलाता, प्रत्युत उसका साक्षात् संबंध इहलोक से भी जोड़ता है। धर्म वह साधु साधन है जो प्राणियों के ऐहिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस को सद्यः सिद्ध करता हैं—यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।

मानव हृदय की तीन ही मुख्य प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनका नैयायिकों के मंतव्यानुसार क्रमिक रूप है—जानाति, इच्छति, यतते। मनुष्य किसी वस्तु को प्रथमतः जानता है, तदनंतर उसकी इच्छा करता है और अंत में यत्न करता है उसकी प्राप्ति के लिए। मनोविज्ञान की दृष्टि से कह सकते हैं मनुष्य में तीन पक्ष होते हैं—क्रिया पक्ष, बुद्धि पक्ष तथा हृदय पक्ष, कर्म, ज्ञान तथा भक्ति। अंग्रेजी शब्दावली में ये तीनों हकार या 'एच' से आरंभ होते हैं—हैण्ड, हेड और हार्ट। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से किसी भी धर्म के ये ही तीन पक्ष हो सकते हैं। देश-कालानुसार किसी धर्म में इनमें से एक की प्रधानता रहती है और

दूसरे धर्म में किसी दूसरे की, परंतु प्रत्येक धर्म में, चाहे वह सभ्य जाति का हो, या असभ्य जाति का धर्म हो, इन तीनों में से किसी एक की सत्ता रहती अवश्य है। उदाहरण के लिए पाश्चात्य देशों के धर्मों पर दृष्टिपात कीजिए। हिब्रू में क्रिया-पक्ष की प्रधानता है और ईसाई धर्म में हृदय-पक्ष की। ज्यू लोग इस संसार को नाना देवताओं की क्रीडाभूमि समझते थे जिनमें से अनेक देवता स्वभावतः शांत, उदार तथा मनुष्यों के उपकारी होते हैं, परंतु अन्य देवता उग्र, भयानक तथा मानवों के खून के प्यासे होते हैं। अपने अभ्युदय का अभिलाषी साधक इन देवताओं की नाना उपादेय वस्तुओं से पूजा-अर्चा करना अपना परम कर्तव्य मानता है। इसीलिए हिब्रू धर्म में कर्मकाण्ड का प्राधान्य है—क्रिया-पक्ष की प्रबलता है। इसके विपरीत ईसाई मजहब में हृदय पक्ष का हम अस्तित्व पाते हैं। ईसा मसीह का प्रधान उद्देश्य था मानवों को प्रेमदान, मनुष्यों में पारस्परिक प्रेम तथा मैत्री की शिक्षा। उन्होंने अपने धर्म का हृदय थोड़े शब्दों में ही निचोड़ कर रख दिया है। मेरा अभिप्राय उनके 'शैलोपदेश' है जिसे अंग्रेजी में 'सर्मन आन दि माउण्ट' कहते हैं[१]। वे उन धार्मिकों की खिल्ली उड़ाते हैं जो केवल अपने पड़ोसी को ही प्रेम करने की तथा अपने शत्रुओं को घृणा करने की शिक्षा देते हैं। वे पर्वत-शिखर पर आरूढ़ होकर अपने धर्म का रहस्य इन रमणीय शब्दों में प्रतिपादित करते हैं—

I say unto you. Love your enemies, bless them that curse you, do good to them that

---

१ द्रष्टव्य St. Matthew का Gospel, परिच्छेद ५।

hate you, and pray for them which despitefully use you and persecute you (sec. 44)

अर्थात् अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो; जो तुम्हें अभिशाप देते हों उन्हें धन्यवाद दो तथा जो तुम्हें घृणा करते हैं उनकी भलाई करो।

जीसस के अनुसार पूर्णता पाने का यही मार्ग है—प्रेम का साधन तथा मैत्री का विधान[१]—

Be ye therefore perfect, even as your Father which is in heaven is perfect (Sec. 54, Chapter V).

इस प्रकार क्रिश्चियन धर्म में हृदयपक्ष की प्रधानता है।

वैदिक धर्म में तीनों प्रकारकी प्रवृत्तिवाले मानवोंके अभ्युत्थान तथा कल्याण के निमित्त इस त्रिविध पक्ष का रमणीय विधान है। इसीलिए मार्गों की दृष्टि से वैदिक धर्म में तीनों का एक साथ विधान उपलब्ध होता है—कर्ममार्ग का, ज्ञानमार्ग का तथा भक्तिमार्ग का। आध्यात्मिक विकास की नाना श्रेणियों में अंतर्मुक्त होनेवाले मनुष्यों को हम स्थूल रूप से इन्हीं तीनों के भीतर रख सकते हैं। प्रकृति की भिन्नता के कारण अधिकारी भेद से इन त्रिविध मार्गों का मानव जीवन में उपयोग होता है। उपयोग है तीनों का, परंतु अपने अपने स्थान में, विशिष्ट प्रकार

---

१ जानकारों से बतलाने की जरूरत नहीं कि ईसा का यह उपदेश महाभारत तथा धम्मपद के इस प्रख्यात पद्य की ईसाई प्रतिध्वनि है—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलीकवादिनं॥

—धम्मपद १७।३

के मानवों के संग में। इन तीनों मार्गों की आध्यात्मिक उन्नति में व्यवस्था कर वैदिक धर्म ने अत्युदार सार्वभौम तत्त्व का उन्मीलन किया है। इस प्रकार उपयोगी होने पर भी तीनों में भक्ति की भावना नितांत सूक्ष्म, सुबोध तथा सार्वजनीन है।

धार्मिक तत्त्वों के अनुशीलन करने पर प्रत्येक धर्म के तीन क्षेत्र दिखलाई पड़ते हैं[1]—(१) आप्त शब्द जिसका शासन कर्म तथा कतिपय अंशों तक बुद्धि पर भी पाया जाता है; (२) बुद्धि जिसके द्वारा मार्ग का तथा गन्तव्य स्थान का निश्चय किया जाता है; (३) हृदय जिसके प्रभाव में आकर लोग अपने मार्ग को प्रकाशित करते हुए चलते हैं। इन क्षेत्रों के अन्तर्मुक्त उपासकों की भी इसी कारण तीन प्रकार की श्रेणी होती है। शब्दानुयायी शासनपक्षी शुष्क धार्मिक की दृष्टि में धर्म राजा है जिसके सामने वह विधि—विधान तथा नियमों का पालन करता हुआ डरता डरता जाता है। बुद्धिमार्गी उपासक के लिए धर्म गुरु है जिसके सामने वह शिष्य के समान शंका का समाधान करता हुआ विनीत वेष में उपस्थित होता है। इन दोनों से भिन्न होता है हृदय-पक्षी उपासक जिसके लिए धर्म लालन-पालन करने वाला प्यार पुचकार करने वाला पिता होता है। इस पक्ष में साधक अत्यत घनिष्ठ तथा प्रेमपूरित संबंध पाकर विभिन्न आश्वासन तथा आह्लाद का अनुभव करता है। भक्त साधक धर्म के सामने भोले भाले बच्चे की तरह जाता है, उसके हृदय में धर्म के लिए वास्तव स्नेह होता है। वह धर्म को प्यार करता है और धर्म उसे प्रेम करता है। पहिले किए गये समीक्षण से दोनों का सामञ्जस्य प्रस्तुत करने वाले आलोचकों के लोचन

---

[1] पं० रामचंद्रशुक्ल—सूरदास पृ० १ तथा २

खोलने की जरूरत नहीं कि आप्त-शब्दानुयायी धार्मिक कर्म कांड का उपासक होता है; बुद्धिपक्षी ज्ञान-कांड का साधक होता है तथा हृदयपक्षी भक्तिमार्ग का सेवक होता है।

—:❀:—

१—भक्ति

सुगमता तथा सार्वजनीनता के कारण ही भक्ति पंथ का विपुल प्रचार धार्मिक जगत् में विद्यमान है। भक्ति के द्वारा भक्त भगवान् के साथ अपना रागात्मक संबंध स्थापित करता है। महर्षि शांडिल्य के कथनानुसार भक्ति का लक्षण है—सा परानुरक्तिरीश्वरे (शांडिल्य सूत्र संख्या २)। ईश्वर में पर अनुराग, उत्कृष्ट प्रेम ही भक्ति है। अनुरक्ति के परत्व या उत्कृष्टत्व का निदर्शन क्या है ? निरतिशयत्व अर्थात् वह अनुराग जिससे अधिक अनुराग का नितांत अभाव होता है। भागवत पुराण के कथनानुसार प्रेम निरतिशय होने के अतिरिक्त निर्हेतुक, निष्काम तथा निरंतर होने पर ही भक्ति शब्द के द्वारा अभिहित किया जा सकता है—

> अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।
>
> (भाग० ३। २९। १२)

भक्ति में पूर्ण निष्कामता होनी चाहिए। यदि भक्त भगवान् के सामने दरिद्र के समान गिड़गिड़ाकर केवल अपनी क्षुद्र उदर-दरी की पूर्ति के लिए प्रार्थना करता है तो वह वास्तव भक्त नहीं कहा जा सकता। वह तो वैदिक काम्य कर्मों के उपासक के समान 'अर्थार्थी' भक्त अर्थात् हीन कोटि का भक्त माना जाता

है। विना ज्ञानसंपन्नता हुए निष्कामता मनुष्य में आ नहीं सकती। इसीलिए ज्ञानी भक्त ही वास्तव भक्त है। क्योंकि 'ज्ञानी' पुरुष केवल कर्तव्य बुद्धि से ही परमेश्वर में प्रेम करता है। भागवत के मन्तव्यानुसार—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥
(भाग० १।७।१०)

अर्थात् वे मननशील विद्वान जिनकी बाहरी वृत्ति बिलकुल बंद हो गई है, जो आत्मा में ही—अपने में आप—रमण किया करते हैं, जिनकी सब ग्रंथियाँ खुल गई हैं, जो सर्वथा मुक्त हैं, भगवान् विष्णु में अहेतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि जगत् के हृदय का आकर्षण करने वाले हरि में स्वभाव से ही ऐसे मनोरम, कल्याणकारी गुण विद्यमान रहते हैं।

सच पूछिए तो सच्चे भक्ति का अधिकारी आत्माराम मुनि ही होता है। ऐसा भक्त भक्त-वत्सल अशेष-कल्याण-गुणाकर भगवान् का नितांत विशुद्ध तथा निष्काम प्रेम का आदरणीय अधिकारी होता है। भक्त का आनंद भक्त ही जानता है। श्रीमद्भागवत के शब्दों में—

निष्किञ्चना मय्यनुरक्त-चेतसः
शान्ता महान्तोऽखिलजीव-वत्सलाः।
कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्
तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥
(भाग० ११।१४।१७)

भगवान् श्री कृष्ण का कथन है कि मुझमें अनुरक्तचित्त, परिग्रहशून्य, शांत, सब प्राणियों पर दया करनेवाले तथा अभि-

मानरहित भक्त निरपेक्षों को प्राप्त होने वाले जिस सुख को भोगते हैं, उसको वे ही जानते हैं। वह किसी दूसरे के जानने में नहीं आ सकता।

यह परानुरक्तिरूपा भक्ति साधनरूपा भी है तथा साध्यरूपा भी है। उपाय भी है और स्वयं उपेय भी है। प्राप्ति का साधन भी है तथा प्राप्तिरूपा भी है।

२—दैवततत्त्व

२—यह भक्ति भावना की भिन्नता के कारण भिन्न भिन्न देवताओं के साथ की जा सकती है। जब इसका केन्द्रविंदु या मूल आधार भगवान् विष्णु होते हैं, तब यह विष्णु-भक्ति कहलाती है और इसका साधक वैष्णव माना जाता है। पश्चिमी विद्वानों की यह मान्यता है कि वेद में बहुदेवतावाद (पालीथीजम) का साम्राज्य है तथा ये देवता भौतिक जगत् के प्राकृतिक दृश्यों के अधिष्ठातामात्र हैं। इन पश्चात्यों के मानस पुत्र हमारे अधिकांश नवीन शिक्षामंडित पंडित भी इसी धारणा को अभी तक अपनी छाती से चिपकाये हुए हैं. परंतु यह धारणा नितांत भ्रांत है तथा बालू की भीत के समान निराधार तथा निरवलंब है। तथ्य वही है जो निरुक्तकार यास्क ने अपने गौरवमय ग्रंथ के दैवत कांड (सप्तम अध्याय) में देवता के स्वरूप—विवेचन में कहा है :—

> माहाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
> एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति (७।४।८, ९)

इस जगत् के मूल में एकही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होने से 'ईश्वर' तथा नितांत महनीय एवं बृहत् होने से 'ब्रह्म' कहलाती है। वह एक है, अद्वितीय है। उसी एक देदीप्यमान देवता की विविध रूपों में नाना

प्रकारों से स्तुति की जाती है। एकही आत्मा के अन्य देवता प्रत्यंगमात्र हैं। प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता है, एकही नियंता है, एकही देवता वर्तमान है; अन्य देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकासमात्र है—केवल विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। ऐतरेय आरण्यक ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है—"एकही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग 'उक्थ' में किया करते हैं, यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग 'महाव्रत' नामक याग में'—

> एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त, एतमग्नौ आध्वर्यवः,
> एतं महाव्रते 'छन्दोगाः'—ऐत० आर० ३।२।३।१२[1]

अनंत की मुद्रा से अंकित अनंत कर्ता की अनंत सृष्टि में सब कुछ ही अनंत है। अनन्ता वै लोकाः। भारतीय आध्यात्मिकों की दृढ़ धारणा है—लोक अनंत है, यह विश्व अनत है। इस तत्त्व की आश्चर्यजनक पुष्टि कर रहा है पाश्चात्य विज्ञान। आप लोगों में से बहुतों को इस प्रसंग में प्रौढ़ वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स का यह कथन याद आये बिना न रहेगा कि इस पृथ्वीतल पर नदियों के किनारे जितने गणनातीत बालुका-कण सूर्य की प्रभा में चमकते रहते हैं, संख्या में उनसे अधिक वे लोक हैं जिनसे यह विशाल ब्रह्मांड परिपूर्ण है। भारतीय अध्यात्मवेत्ता यह जानते थे कि किसी तत्त्वविशेष के लिए 'इदमित्थं' इस प्रकार से आग्रह करना केवल अज्ञता है। इस

---

१ इस आरण्यक श्रुति का स्पष्ट अनुवाद महाभारत के भीष्मस्तवराज में उपलब्ध होता—

> यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे।
> यं विप्रसंघा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥

अनंत लोकों का संचालन, उपबृंहण तथा परिवर्धन करनेवाली जो अलौकिक शक्ति है, वह एक है, अद्वितीय है, असीम है, अखंड है। इस नानात्मक जगत् के भीतर एकत्व की प्रथम परख वैदिक कवियों की निजी विशेषता है।

वैदिक परिभाषा में प्रजापति के दो रूप हैं—(१) निरुक्त और (२) अनिरुक्त। निरुक्त या शब्दभावापन्न रूप परिमित होने से मर्त्यभावापन्न है, परन्तु अनिरुक्त रूप या शब्दातीत रूप ही अमृत-स्वरूप तथा सदा अनुप्राणित रहने वाला है। इस सत्य का एक पक्ष यह भी है कि जिस एक तत्त्व का परिचय हमें किसी नाम या रूप से हो सकता है उसी के अनेक नाम-रूप संभव हैं। वैदिक धर्म का यही मूल तत्त्व है—एक देवतावाद। वही एक देवता वेद की विभिन्न संहिताओं में विभिन्न नामों के द्वारा अभिहित किया गया है तथा विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया है। उसके दो रूप हैं—सत्तात्मक तथा निषेधात्मक, धनात्मक तथा ऋणात्मक। वेद में इन दोनों रूपों का वर्णन अनेक बार अनेक प्रकारों में उपलब्ध होता है। अथर्ववेद इस मौलिक तत्त्व को स्कम्भ तथा उच्छिष्ट संज्ञाओं से अभिहित कर उसके द्विविध रूप की ओर संकेत कर रहा है। स्कम्भ है सत्तात्मक रूप तथा उच्छिष्ट है निषेधात्मक रूप। स्कम्भ का अर्थ है आधार। जगत् के समग्र पदार्थों को उसी के आश्रय में निवास करने के कारण तथा उसकी सत्ता से अनुप्राणित होकर अपनी सत्ता जमाये रखने के कारण वह एक सामान्य तत्त्व 'स्कम्भ' सबका आधारभूत देव या ब्रह्म कहलाता है:—

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्च यत् ॥

—अथर्व १०।८।२

अन्य मंत्र में इसी तथ्य की सूचना है—

> यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
> यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यर्पिताः।
> स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।
>
> —वही १०।७।१२

'उच्छिष्ट' का अर्थ है बचा हुआ, अवशिष्ट पदार्थ। दृश्य प्रपंच के निषेध करने के अनंतर जो अवशिष्ट रह जाता है वही है उच्छिष्ट अर्थात् बाध-रहित परब्रह्म। ब्रह्म की इस रूप की अभिव्यक्ति अनेक उपनिषदों में की गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् इसीलिए उस परमतत्त्व को 'नेति' 'नेति' शब्दों से पुकारता है—

> अथात आदेशो नेति नेति (बृह० उप० २।३।११)
> नेह नानास्ति किञ्चन (,, ४।२।२१)

उच्छिष्ट की महिमा वर्णनातीत है। उच्छिष्ट पर नामरूप अवलंबित रहता है, उच्छिष्ट के ऊपर लोकों का आश्रय है, उच्छिष्ट के भीतर ही इंद्र तथा समस्त विश्व सम्यक्‌रूप से आहित रहता है, निविष्ट रहता है—

> उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
> उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥
>
> —अथर्व ११।६।१

प्रसिद्ध पुरुषसूक्त में वही तत्त्व 'पुरुष' के नाम से अभिहित किया गया है। 'पुरुष' का अर्थ है पुरि शेते पुरुषः अर्थात् शरीर रूपी पुर में रहने वाला व्यक्ति। विश्व की सृष्टिकर वह प्रजापति इसमें प्रवेश कर लेता है। इसीलिए वह 'पुरुष' की संज्ञा प्राप्त करता है। यही पुरुष जगत् के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य—

तीनों कालों में वह वर्तमान रहता है जिसकी द्योतना यह विख्यात मंत्र कर रहा है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।

(ऋग्वेद १०।६०।२)

यह मूल तत्त्व नाना रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। ऋग्वेद का स्पष्ट कथन है कि एक ही इंद्र अर्थात् ऐश्वर्यशाली देवता अनेक रूपों में अपनी शक्तियों से प्रकट हो रहा है—

इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते

अस्यवामीय सूक्त के महर्षि दीर्घतमा औचथ्य ने इस विश्व-व्यापिनी त्रैकालिकी परिभाषा का आविष्कार कर इसी महार्घ सत्य की ओर संकेत किया है कि इंद्र, वरुण, मित्र, अग्नि, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा आदि एक ही तत्त्व के अनेक नाम हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु—
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ॥
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ० १।१६४।४६, अथर्व ९।१०।२८)

एक अव्यक्त तत्त्व की नाना अभिव्यक्तियाँ किस प्रकार संपन्न होती हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में रेखागणित का दृष्टांत दिया जा सकता है। रेखा गणित का मूल तथ्य है बिंदु। यही बिंदु नाना प्रकार के संकोच-विकाश से, प्रसारण तथा आकुञ्चन से कभी सरल रेखा, कभी तिर्यक् रेखा, कभी वृत्त और कभी त्रिभुज का रूप धारण करता रहता है। परंतु गणितज्ञों के कल्पनानुसार यह बिंदु बहुत-कुछ अनिर्देश्य है। बिंदु वह वस्तु है जो नियत स्थान तो रखता है, परंतु उसका कोई परिमाण—

अन्य मंत्र में इसी तथ्य की सूचना है—

> यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
> यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यर्पिताः ।
> स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ।
>
> —वही १०।७।१२

'उच्छिष्ट' का अर्थ है बचा हुआ, अवशिष्ट पदार्थ। दृश्य प्रपंच के निषेध करने के अनंतर जो अवशिष्ट रह जाता है वही है उच्छिष्ट अर्थात् बाध-रहित परब्रह्म। ब्रह्म की इस रूप की अभिव्यक्ति अनेक उपनिषदों में की गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् इसीलिए उस परमतत्त्व को 'नेति' 'नेति' शब्दों से पुकारता है—

> अथात आदेशो नेति नेति (बृह० उप० २।३।११)
> नेह नानास्ति किञ्चन („ ४।२।२१)

उच्छिष्ट की महिमा वर्णनातीत है। उच्छिष्ट पर नामरूप अवलंबित रहता है, उच्छिष्ट के ऊपर लोकों का आश्रय है, उच्छिष्ट के भीतर ही इन्द्र तथा समस्त विश्व सम्यक्‌रूप से आहित रहता है, निविष्ट रहता है—

> उच्छिष्टे नामरूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।
> उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥
>
> —अथर्व ११।६।१

प्रसिद्ध पुरुषसूक्त मे वही तत्त्व 'पुरुष' के नाम से अभिहित किया गया है। 'पुरुष' का अर्थ है पुरि शेते पुरुषः अर्थात् शरीर रूपी पुर में रहने वाला व्यक्ति। विश्व की सृष्टिकर वह प्रजापति इसमें प्रवेश कर लेता है। इसीलिए वह 'पुरुष' की संज्ञा प्राप्त करता है। यही पुरुष जगत् के अतीत, वर्तमान तथा भविष्य—

यह विश्व जिस अधिष्ठान पर अवलंबित है, जिससे यह उत्पन्न हुआ, जिसके कारण यह उत्पन्न हुआ, जो स्वयं यह विश्वरूप है तथा जो इस लोक, और परलोक से भी परे है, उत्कृष्ट तथा पृथक् है, वही है भगवान् स्वयंभू।

यही एक देवता भारतवर्ष में अंगीकृत की गई है। विष्णु इसी परम तत्त्व की एक विशिष्ट अभिव्यक्ति हैं।



३—भक्ति का उद्गम

भारतवर्ष भक्तिरस से स्निग्ध है। भक्ति की मधुर धारा से उसका प्रत्येक प्रांत आप्यायित है। इस भारतवर्ष में भक्ति का उद्गम कब और कहाँ हुआ? इसका अब विचार किया जायगा। इस प्रश्न की चर्चा रहस्य से शून्य नहीं है। जब से पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय साहित्य तथा धर्म से परिचय पाया, तब से उनमें से बहुतों का आग्रह रहा है कि भारत में भक्ति की कल्पना ईसाई धर्म की देन है। पाश्चात्य जगत् में कर्मप्रधान यहूदी धर्म की तुलना में ईसाई धर्म में प्रेम की प्रचुरता अवश्यमेव एक ध्यानगम्य वस्तु है। ईसाई मत का मूल सिद्धांत है—भगवान् का अटूट प्रेम या भगवान् की भक्ति। पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि संसार के इतिहास में ईसाई मत में ही सर्वप्रथम भक्ति का उदय हुआ और वहीं से यह भारतवर्ष में भी प्रविष्ट होकर सर्वत्र प्रचारित हुई। भारत भक्ति की कल्पना के लिए ईसाई मत का ऋणी बतलाया जाता है। परंतु इस प्रश्न की समीक्षा करने पर यह पाश्चात्य मत नितांत निर्मूल, निराधार तथा अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

डा० भंडारकर ने गुरु परंपरा की छान बीन करके इनका समय ई० सन् ११६२ के आस पास माना है ।[1] और नवीन विद्वानों की दृष्टि में यही इनका प्राचीनतम काल है। परंतु केवल गुरुपरंपरा के आधार पर काल निर्णय करना बिना अन्य सहायक तथा पोषक सामग्री के नितांत भ्रामक है। गुरुपरंपरा बीच बीचमें छिन्न-भिन्न भी हुआ करती है। अतः ठीक ठीक पीढ़ियोंका पता नहीं चलता। दूसरे एक पीढ़ी के लिए कितने वर्षों का समय माना जाय? इसका भी निर्णय करना नितांत दुष्कर है। निम्बार्कानुयायी पंडितों का कथन है कि हमारे आचार्य योगाभ्यासी होने के कारण विशेष दीर्घजीवी थे तथा दो सौ तीन सौ वर्षों की आयु उन्हें प्राप्त थी। फलतः इसी आधार पर हम किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते।[2]

हमारी दृष्टि में यह संप्रदाय वैष्णव संप्रदायों से प्राचीनतम प्रतीत होता है। निम्बार्क-कृत वेदांतभाष्य (वेदांत पारिजात सौरभ) बड़ा ही संक्षिप्त है और इसमें किसी के मत का खंडन नहीं है, केवल अपने द्वैताद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन ही लघ्वक्षरों में किया गया है। भाष्य का यह रूप निःसंदेह इसकी प्राचीनता का द्योतक है। यह संप्रदाय स्वभावतः मंडनप्रिय होने के कारण किसी

---

१ भंडारकर—वैष्णविज्म शैविज्म० पृ० ८७।

२ विद्याभूषण श्री ब्रजवल्लभ शरण वेदांताचार्य जी ने अनेक पुष्ट प्रमाणों से इस मत की प्राचीनता सिद्ध करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। द्रष्टव्य गीताधर्म (काशी, नव०तथा दिस० १६४८) पृ० ६२४-६३०। उद्योग बहुत अच्छा है, परंतु स्थान स्थान पर संदिग्ध होने से प्रमाण ... नहीं है।

से शास्त्रार्थ के लिए विशेष रूप से नहीं उलझता। कम से प्राचीन भाष्य तथा वृत्तियों की यही दशा है।

इस संप्रदाय की प्राचीनता के विषय में भविष्य पुराण यह पद्य भी उद्धृत किया जाता है जिसमें एकादशी के निर्ण के अवसर पर निम्बार्क का मत उद्धृत किया गया है और अ शय आदर प्रदर्शन के लिए वे 'भगवान्' शब्द के द्वारा अभि किये गए हैं—

> निम्बार्को भगवान् येषां वाञ्छितार्थफलप्रदः।
> उदय-व्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे॥

इस पद्य को कमलाकर भट्ट ने अपने 'निर्णय सिंधु' में और भट्टोजि दीक्षित ने भी में भविष्य-पुराणीय कह कर सादर उल्लिखित किया है।[1]

निम्बार्क के चार शिष्य बतलाए जाते हैं—

(१) श्री निवासाचार्य—आप प्रधान शिष्य थे। इनका निवास-स्थान मथुरा जिला गोवर्धन से कोस दूर (श्री राधाकुण्ड) ललितासंगम पर माना जाता है। जन्म तिथि वसंत पंचमी। ग्रंथ-(१) 'वेदांत कौस्तुभ' नामक शारीरक मीमांसा भाष्य। (मुद्रित) (२) लघुस्तवराज सभाष्य (मु०)। ख्याति-निर्णय, पारिजात कौस्तुभ भाष्य तथा रहस्य-प्रबंध नामक ग्रंथों का निर्देश मिलता है, परंतु अभी तक ये अप्राप्य हैं।

(२) औदुम्बराचार्य—वासस्थान कुरुक्षेत्र के पास। मुख्य

---

१ द्रष्टव्य श्री संकर्षणशरणदेव रचित 'वैष्णवधर्म सुरद्रुममंजरी' पृ० १२४–१३०

ही शिष्य परंपरा थी, परंतु इनसे दो धारा हो जाती है—प्रधान शाखा मे सुंदर भट्टाचार्य। दूसरी शाखा में व्रजभूषण देवाचार्य।

सुंदर भट्टाचार्य—निंबार्क मत के प्रौढ़ दार्शनिक माने जाते हैं। देवाचार्य जी के शिष्य। गुरु के जाह्नवी ग्रंथ पर 'सेतु' नामक विस्तृत व्याख्यान प्रस्तुत किया। प्रथम तरंग चतुःसूत्री तक प्राप्त तथा मुद्रित; शेष अलभ्य। आचार्य-रचित ग्रंथ सं० ४ तथा ५ पर प्रामाणिक पांडित्यपूर्ण व्याख्यायें लिखीं।

केशव काश्मीरी—ये इस संप्रदाय में नितांत प्रौढ दिग्विजयी विद्वान हुए हैं। इनके ग्रंथ संप्रदाय की अतुल संपत्ति हैं। इनके ग्रंथ हैं—

(१) **तत्त्वप्रकाशिका**—गीता का निंबार्क मतानुयायी भाष्य (मु०)।

(२) **कौस्तुभप्रभा**—वेदांत कौस्तुभ का नितांत पांडित्य-पूर्ण व्याख्यान जिसमें परमत का खण्डन बड़ी युक्तियों के साथ साग्रह किया गया है। (मु०)

(३) **प्रकाशिका**—दशोपनिषद् पर भाष्य जिसमें केवल 'मुण्डक' का भाष्य प्रकाशित है, शेष अभी अलब्ध हैं।

(४) **भागवत टीका**—केवल वेदस्तुतिका भाष्य उपलब्ध तथा प्रकाशित।

(५) **क्रमदीपका**—सतिलक (मु०)।

इनके देशकाल का भलीभाँति परिचय नहीं मिलता। सुनते हैं इन्होंने तीन बार दिग्विजय कर 'दिग्विजयी' की उपाधि प्राप्त की थी। काश्मीर में अधिक दिनों तक निवास करने के कारण

काल (१२६६ ई०-१३२० ई०) के समकालीन माने जा
कहते हैं कि मथुरा के किसी मुसलमान सूबेदार के आ-
नुसार एक फकीर ने लाल दरवाजे पर एक मंत्र टाँक
जिसके प्रभाव से जो भी हिंदू उधर से निकलता उसकी शि
कट जाती और वह मुसलमान बन जाता। काश्मीरीजी सूच
पाकर उस स्थान पर अपने शिष्यों के साथ पहुँचे और अ
प्रभाव से उस यंत्र को व्यर्थ बना डाला। ये मथुरा
ध्रुवटीले पर निवास करते थे। इनके अन्तर्धान का स्थान मथुरा
में नारदटीला है जहाँ इनकी समाधि बनी हुई है। इनका
जन्मोत्सव ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी को मनाया जाता है। इनके एक
शिष्य संकर्षणशरणदेव ने 'वैष्णवधर्मसुरद्रुममञ्जरी' की रचना
की थी जिसमें इस मत की श्रेष्ठता तथा व्रतादि का वर्णन है।
काश्मीरीजी के विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

> वागीशा यस्य वदने हृत्-कञ्जे श्री हरिः स्वयम्
> यस्यादेशकरा देवा मन्त्रराजप्रसादतः ॥

नाभादासजी ने इसके पूर्वोक्त चमत्कार तथा सर्वत्र दिग्विजय
की सूचना में यह छप्पय लिखा है—

> कासमीर की छाप पाय तापन जगमंडन
> दृढ हरि-भक्ति-कुठार आनमत विटप विहंडन।
> मथुरा मध्य मलेच्छ बदल करि बर बट जीते
> काजी अजित अनेक देखि परचे भय भीते।
> विदित बात संसार सब संत साखि नाहिन दुरी।
> श्री 'केशवभट' नरमुकुट मणि जिनकी प्रभुता बिस्तरी ॥

(छप्पय ७५

श्रीभट्ट

आप केशव काश्मीरी जी के अंतरंग शिष्य थे। इनके गुरुदेव भगवान् के ऐश्वर्य भाव के उपासक थे, तो ये माधुर्य मकरंद के सच्चे मधुव्रत थे। आप माधुर्यरसोपासक थे और नित्य-विहारी श्री राधामाधव जी की दिव्य लीलाओं के आनंद में सदा विभोर रहते थे। आपने ही निंबार्कीय आचार्यों में सर्व-प्रथम ब्रजभाषा में कविता की और इसीलिए इनका 'जुगलसतक' आदिवानी के नाम से संप्रदाय में विख्यात है। इनके यथार्थ समय का पता नहीं चलता। जुगलसतक के रचना काल के द्योतक दोहे का रूप भिन्न भिन्न मिलता है—

> नैन बान पुनि राम ससि, गिनौ अंक गति बाम।
> जुगल सतक पूरन भयौ संवत् अति अभिराम॥

यही यदि शुद्ध पाठ हो तो ग्रंथ का रचनाकाल १३५२ संवत् (=१२९५ ई०) ठहरता है, परंतु सभा में उपलब्ध हस्त-लिखित प्रति में 'राम' के स्थान पर 'राग' पाठ मिलता है जिसके कारण इसका निर्णय काल तीन सौ वर्ष पीछे १६५२ संवत् में चला जाता है। इसकी भाषा उतनी प्राचीन नहीं है कि यह १३वीं शती की रचना माना जाय।

श्रीभट्ट जी पहुँचे हुये भक्त थे। भगवान् की रासलीला का आनंद उनके जीवन को दिव्य बनाये हुये था। अपनी मधुर साधना की झाँकी वे अपने ही सुंदर शब्दों में दिखला रहे हैं—

> सेव्य हमारे श्रीप्रिय प्यारे वृंदाविपिन–विलासी।
> नंदनँदनवृषभानु–नंदिनी-चरन अनन्य उपासी॥
> मत्त प्रनय बस सदा एक रस विविध निकुंज निवासी।

इनकी कविता ऊँचे दर्जे की है। भक्ति से सिक्त हृद
उद्गार कोमल पदावली के माध्यम द्वारा प्रकट होकर ि
हृदय को रससिक्त नहीं बनाता ? जुगल सरकार के उपा
श्रीभट्ट जी की कविता की मधुरिमा इसीलिए हमें किसी ि
आनंद का आस्वाद देती है। एक दो पद ही उदाहरण के लि
पर्याप्त होंगे—

जुगल किसोर हमारे ठाकुर।
सदा सर्वदा हम जिनके हैं, जनम जनम घर जाये चाकर॥
चूक परें परिहरै न कबहूँ सबही भाँति दया के आकर।
जै श्रीभट्ट प्रगट त्रिभुवन में प्रनतनि पोषत परम सुधाकर॥

भींजत कब देखौं इन नैना।
स्यामा जू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना।
स्यामा-स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियौ कछु मैं ना॥
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि ते घिरि आई जल सेना॥

सुनते हैं श्रीभट्ट जी ने अपने इन्हीं लोचनों से वर्षाकाल में भींजते हुए श्यामा-श्याम को देख कर इस पद की रचना की थी। इनकी उदात्त भक्तिभावना से प्रेरित होकर ही नाभादास ने ठीक ही लिखा है—

मधुर-भाव संवलित ललित लीला सुवलित छवि।
निरषत हरषत हृदय प्रेम बरषत सुकलित कवि॥
भव निस्तारन हेत देत दृढ़ भक्ति सबनि नित।
जासु सुजसु ससि उदै हरत अति तम भ्रम सुभचित॥
आनंदकंद श्रीनंदसुत श्री वृषभानुसुता-भजन।
श्रीभट्ट सुभट प्रगट्यो अघट रस रसिकन-मन-मोद-घन॥

हरिव्यास जी

आप श्रीभट्टजी के अंतरंग तथा प्रधान शिष्य थे। आपका जन्म गौड़ ब्राह्मण कुल में हुआ था। वर्षों तक तपस्या तथा भजन के उपरांत योग्यता-संपन्न होने पर गुरु जी ने इन्हें अपना शिष्य बनाया। नाभादास जी ने इनकी उत्कट वैष्णवता, उद्दाम भक्तिभावना का वर्णन करते हुए लिखा है कि इन्होंने देवीजी को वैष्णवी दीक्षा दी थी। पंजाबप्रांत के किसी 'गढ़यावल' नामक ग्राम में देवी के बलिनिमित्त एकत्र निरीह बकरों को देखकर इनके हृदय में दया का भाव इतना उमड़ा कि स्वयं देवी का स्वप्न पाकर राजा ने ही इनसे वैष्णवी दीक्षा नहीं ली, बल्कि देवी ने भी[1]। आज भी उधर वैष्णवी देवी के यहाँ जीवों का बलिदान नहीं होता।

गुरु के आज्ञानुसार इन्होंने युगलशतक के ऊपर एक विस्तृत भाष्य लिखा जो 'महावानी' के नाम से विख्यात है। जुगल-सतक के दोहों में जो भाव संक्षेपमें वर्णित हैं उन्हीं का कमनीय विस्तार इनके गेय पदरूपी भाष्य में उपलब्ध होता है। ये सर्वप्रथम उत्तर भारतीय संप्रदायाचार्य माने जाते हैं। इनके

---

१ खेचर नर की शिष्य निपट अचरज यह आवै
विदित बात संसार संतमुख कीरति गावै।
बैरागिन के वृंद रहत संग स्याम सनेही।
ज्यों जोगेस्वर मध्य मनो सोभित बैदेही।
श्रीभट्ट चरन रज परसि कै सकल सृष्टि जाकी नई।
श्रीहरिव्यासतेज हरि-भजन-बल देवी को दीक्षा दई॥

[illegible]

पहिले आचार्य दाक्षिणात्य बतलाये जाते हैं। ये
संप्रदाय के भीतर 'रसिक-संप्रदाय' नामक शाखा के
भगवान् श्रीकृष्ण के शृंगारी रूप की उपासना ही इस
सर्वस्व है। अत्यन्त प्रभावशाली होने के कारण इस शाखाके
लोग 'हरिव्यासी' के नाम से प्रख्यात हैं।

इनका समाधि-स्थान मथुरा में 'नारद टीला' है जहाँ
जी की मूर्ति विराजमान है। इनका जन्मोत्सव कार्तिक ब
द्वादशी को मनाया जाता है। इनके संस्कृत ग्रंथों में नाम हैं
(१) सिद्धांतरत्नाञ्जलि—दशश्लोकी की बृहत् टीका (मु०)
(२) प्रेम भक्तिविवर्धिनी—निंबार्क अष्टोत्तरशत नाम की टीका
(मु०), (३) तत्त्वार्थपंचक (लि०) (४) पंचसंस्कार-
निरूपण (लि०)।

इनके प्रधान १२ शिष्य हुए जिनके नाम पर संप्रदाय के १२
द्वारे (अर्थात् शाखायें) चले—(१) स्वभूदेवाचार्य, (२)
वोहितदेवाचार्य (२) मदन गोपाल देवाचार्य, (४) उद्धव
देवाचार्य, (५) बाहुबल देवाचार्य, (६) परशुराम देवाचार्य,
(७) गोपाल देवाचार्य, (८) हृषीकेश देवाचार्य, (९) माधव
देवाचार्य, (१०) केशव देवाचार्य, (११) गोपाल देवाचार्य,
(१२) मुकुंददेवाचार्य।

इनके समय का अंदाजा लगाया जा सकता है। इनकी
आँठवीं पीढ़ी में प्रसिद्ध कवि रसिकगोविंद हुए[1] जिन्होंने
जिन्होंने अपने गोविंदानंदघन नामक ग्रंथ की रचना १८५८

---

१ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—रसिकगोविंद और उनकी कविता
पृ० १३

संवत् के वसंत पंचमी को की[1] (=१८०१ ई०) । यदि एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष का समय मान लिया जाय, तो हरिव्यास जी का समय उनसे २०० वर्ष पहिले अर्थात् १६०० ई० के आसपास होना चाहिए । इस प्रकार हरिव्यास जी महात्मा तुलसीदास जी के समकालीन ठहरते हैं। इनके गुरु श्रीभट्टजी का समय इस पद्धति से १५५० के आसपास होना चाहिए।

महावाणी—हरिव्यास देव जी की एकमात्र हिंदी रचना है और नितांत उत्कृष्ट रचना है। गुरु श्री भट्टजी के आदेशानुसार इन्होंने इस 'महावाणी' को उनके 'युगल शतक' के भाष्य रूप में लिखा है। इसमें राधाकृष्ण की नित्य विहारलीला का बड़ा ही मार्मिक, तलस्पर्शी, हृदयग्राही वर्णन किया गया है। वर्णन भक्तकवि की अनुभूति की सरस वर्णनमयी अभिव्यक्ति है। पदों की भाषा कोमल व्रजभाषा है। पढ़ने से प्रतीत होता है कि हरिव्यास देव जी इन अलौकिक लीलाओं का स्वतः साक्षात्कार कर ही इसे लिख रहे हों। यह पदावली लिखी हुई दिव्य मानसिक दशा में-भावावेश में जिसमें कवि विषय के साथ तादात्म्य स्थापन कर उसमें नितांत लीन हो जाता है। यह माधुर्य की खानि है तथा राधा और सर्वेश्वर की दिव्य लीलाओं की माधुरी की पूर्ण प्रकाशिका है।

श्री महावाणी में पाँच सुख हैं—सेवा, उत्सव, सुरत, सहज

---

१   ८   ५   ८   १
वसु सर वसु ससि अंक गनि दिन पंचमी वसंत ।

तथा सिद्धांत। सेवासुख में नित्यविहारी श्री राधाकृष्ण अष्टयाम-सेवा पदों द्वारा वर्णित है। सखी-भावावेश में तन्मय होकर एक रूप से श्री श्यामा श्याम की अष्टप्रहर सेवा में नि रहने का ही नाम 'सेवा-सुख' है। उत्सव-सुख में नाना प्रकार नैमित्तिक उत्सवों से उत्पन्न आनंद की झलक है। सुरतसुख अनुसार नित्यविहारी श्री राधा-कृष्ण परस्पर एक एक के सुरत सागर में निमग्न रहते हैं—यह रस की चरम परिपक्व दशा है। सहजसुख में स्वाभाविक प्रेमावस्था में आनंद-विभोर होने का सुंदर वर्णन है। परस्पर एक दूसरे के पास रहने पर भी वियोग के भय से कभी विह्वलता है, कभी भावावेश में निमग्न होते हुए अत्यंत शीघ्रता से मिलने के लिए अधीरता है। सिद्धांत-सुख स्वभाव से ही अत्यंत गंभीर है। इसमें वैष्णव सिद्धांतों का जैसे उपास्य तत्त्व, धामतत्त्व, सखी-नामावली आदि का गूढ़ वर्णन है। इस सिद्धांत के अनुसार अपार माधुर्य की मूर्ति, सौंदर्य-रसामृत मूर्ति श्री सर्वेश्वर कृष्णचंद्र ही एकमात्र परात्पर तत्त्व हैं। निराकार, शुद्ध चैतन्य निर्गुण ब्रह्म तो इस नित्यविहारी जी के चिदंशमात्र हैं। वृंदावन धाम में ये ही सर्वेश्वर अपनी आह्लादिनी शक्तिरूपा श्री राधारानी के साथ नित्यविहार का सुख अनुभव करते हैं। स्वयं श्रीकृष्ण के द्वारा अराधना किए जाने के कारण ही आह्लादिनी शक्ति 'राधा' पद से वाच्य मानी जाती है। इनका कभी वियोग नहीं होता। शक्ति तथा शक्तिमान् के नित्य संबंध के समान युगलसरकार सर्वदा ही एक साथ विहार करते हैं तथा आनंद-सागर में संतत निमग्न रहते हैं। महावाणी का यही विषय है।

हरिव्यास देव जी मधुरभाव के उपासक थे। कवित

अपना नाम 'हरिप्रिया' रखते थे। उदाहरण के लिये एक - दो पद नीचे दिए जा रहे हैं।[1]—

विलसौ दोउ लाल मेरे हियसदन सुखसने।
सुरत रसलीन अँग - अँग नागर नवल
कमल की माल लह लही डहडह तने।
मुकुट की लटक अरविंद पद परसिनी
सरसनी समर अद्भुत सुआनँद घने।
'श्री हरिप्रिया' ललित उर सो मिली झिलमिली
दिलमिली दीपति दुति जोर जोवन जने॥

राधाकृष्ण की अद्वैतता का यह कितना मधुर वर्णन है—

सदा सर्वदा जुगल इक, एक जुगल तन धाम।
आनँद अरु अहलाद मिलि, विलसत द्वै द्वै नाम॥
एक स्वरूप सदा द्वै नाम।
आनँद के अहलादिनि स्यामा अहलादिनि के आनँद स्याम
सदा सर्वदा जुगल एक तन एक जुगल तन विलसत धाम।
'श्री हरिप्रिया' निरंतर नितप्रति कामरूप अद्भुत अभिराम॥

श्री राधिका के रूप वर्णन मे हरिप्रिया जी की अद्भुत प्रतिभा झलकती है—

जयति जय राधिका रसिक रस मंजरी
रसिक सिरमौर मोहन विराजैं।

---

१ विशेष उदाहरणों के लिए देखिए—
विहारीशरण रचित 'निम्बार्क माधुरी' पृ० ३२—६८
(वृंदावन, सं० १९९७)

रसिकिनी रहसि रसधाम वृंदाविपिन
रसिक रसरसी सहचरि समाजै ॥
रसिक - रस - प्रेम सिंगार रँग रँगि रहे
रूप आगार सुखसार साजै ।
मधुर माधुर्य सौंदर्यता वर्य पर
कोटि ऐश्वर्य की कला लाजै ॥
चातिकी कृष्ण की स्वाति की वारिदा
वारिधा रूप - गुन गर्विता जै ।
मदन मद मोचिनी रोचिनी रतिकला
रतन मनि कुंडला जगमगा जै ॥

निम्बार्कमतावलंबी कवियों में श्री हरिव्यास देवजी का वही स्थान है जो वल्लभमतानुयायी कवियों में सूरदास जी को प्राप्त है। दोनों ही हिंदी-कविता-कामिनी के कलेवर को शोभित करने वाले दो रत्न हैं तथा अपने भक्तिसंप्रदाय के जाज्वल्यमान हीरक हैं।

परशुरामाचार्य

हरिव्यासजी के १२ शिष्यों में से सबसे अधिक प्रख्यात शिष्य आचार्य परशुरामजी थे। ये आदिगौड ब्राह्मण कुल में उत्पन्न श्रीवासुदेवजी के पुत्र थे। बाल्यकाल में ही माता पिता से हीन होने पर ये हरिव्यासजी के शरण में आ गये और उनके शिष्य हो गये। गुरुजी की इनके ऊपर अपार कृपा थी और उनके गोलोक सिधारने पर ये ही उनके उत्तराधिकारी हुए।

सुनते हैं कि एक बार अजमेर के पास किसी सलीमशाह नामक फकीर को इन्होंने युद्ध में परास्त किया। वह इनकी

सिद्धियों के सामने नतमस्तक हो गया। युद्ध का स्थान परशुराम-पुरी के नाम से विख्यात है जहाँ इन्होंने सर्वेश्वरजी का विशाल मन्दिर बनवाया। पुष्करक्षेत्र में इनके द्वारा पुनरुद्धारित यही आचार्यपीठ (परशुरामपुरी, सलेमाबाद, किशनगढ़ राज्य) सम्प्रदाय का आज सर्वप्रधान पीठ माना जाता है। यहीं इनकी समाधि है जिस पर के शिलालेख से पता चलता है कि श्री पर-शुरामदेव के पट्टशिष्य श्रीहरिवंशदेवाचार्य ने समाधि के निकट एक मन्दिर बनवाया। शिलालेख का समय है १६८९ वि० (=१६३२ ई०) जिससे पूर्व इनकी मृत्यु समझनी चाहिए। ये तुलसीदासजी के समकालीन प्रतीत होते हैं।

ये व्रजभाषा के बड़े भारी कवि प्रतीत होते हैं। इनके १२ ग्रन्थों का पता हाल की खोज में चलता है। ये निर्गुणवादी और सगुणवादी दोनों विचारधाराओं से प्रभावित हुये जान पड़ते हैं। इन्होंने कबीर की तरह निर्गुण ब्रह्म पर भी कवितायें की हैं। कृष्णभक्त होने से सगुण उपासना तो इनकी निजी सम्पत्ति थी। इसीलिए अधिक ग्रन्थ सगुणभक्ति मार्ग के संबंध में ही हैं। इनके चार ग्रंथ (१) तिथि लीला, (२) बारलीला, (३) बावनी लीला तथा (४) विप्रमतीसी विषय और नाम-साम्य के विचार से कबीर के कहे जाने वाले इन्हीं नाम वाले ग्रंथों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। (५) 'नाथ लीला' में महात्माओं तथा दिव्य पुरुषों के नाथांत नाम गिनाये गये हैं। (६) 'पदावली' में व्रजलीला तथा भगवान् की अनन्य भक्ति का वर्णन है, (७) रोग रथनाम लीला निधि (परमतत्त्व का विवेचन); (८) साँच निषेध लीला (ईश्वर चिंतन की सारता तथा अन्य कृत्यों की व्यर्थता का वर्णन)। (९) हरिलीला (भगवान् की लीला का दर्शनिक विवेचन) १० लीलासमझनी

(विश्व के प्रपंच का रूपदर्शन) ११ नक्षत्र लीला (नक्षत्रों का दार्शनिक विवेचन) १२ निज रूप लीला (भगवान् के रूप का विवेचन) १३ निर्वाण (संसार में त्याग तथा भगवद्-भक्ति का उपदेश)—ये ही इनके उपलब्ध समस्त ग्रंथ हैं। इन्हीं का एकत्र संग्रह 'परशुराम सागर' के नाम से विख्यात है।

कविता में उपदेश की प्रधानता है। राजस्थान के निवासी होने के कारण भाषा में राजस्थानी का पर्याप्त मिश्रण है। कबीर के समान हिंदू तथा मुसलमानों में ऐक्यभाव उत्पन्न करनेवाली कवितायें इन्होंने कही हैं।

माई रे का हिंदू का मुसलमान जो राम रहीम न जाणा रे।
हारि गये नर जनम वादि जो हरि हिरदै न समाणा रे॥
जठरा अगिनि जरत जिन राख्यो गरभ संकट गँवाणा रे।
तिहि और तिन तज्यौ न तोकूं तैं काँहे सु भुलाणा रे॥

भक्तिपरक पदों की भाषा अधिक मधुर तथा सुंदर है—

गोविंद मैं वंदीजन तेरा।
प्रात समै उठि मोहन गाऊँ तौ मन मानै मेरा।
कर्तम करम भरम कुल करणी ताकी नाहि न आसा।
करूँ पुकार द्वार सिर नाऊँ गाऊँ ब्रह्म विधाता।
'परसराम' जन करत वीनती सुणि प्रभु अविगत नाथा[1]॥

बीहड़ राजस्थान में निवास करते हुए परशुराम जी ने जंगली लोगों को भगवान् का भक्त बनाया; हिंसा से उनकी वृत्ति रोकी तथा वैष्णव धर्म में दीक्षित किया। उनके इस व्यापक प्रभाव का संकेत नाभादास जी ने अपने एक छप्पय में किया है—

१ इनके ग्रंथों से उद्धरण के लिए द्रष्टव्य नागरी प्रचारिणी पत्रिका

१० ० २—३४०.

ज्यों चंदन को पवन नींब पुनि चंदन करई ।
बहुत काल तम निविड़ उदय दीपक ज्यों हरई ॥
श्रीभट पुनि हरिव्यास संत मारग अनुसरई ।
कथा कीरतन नेम रसनि हरिगुन उच्चरई ।
गोबिन्द भक्ति गदरोग गति तिलक दाम सद बैद हद ।
जंगली देस के लोग सब श्री परसुराम किये पारषद ॥

यहाँ प्रधान आचार्यों का ही वर्णन है। पूरी प्रामाणिक आचार्य परंपरा के लिए देखिए:—

(१) अनंतराम देव शर्मा—आचार्य परंपरा स्तोत्र ।

(२) पं० किशोरदास जी—आचार्य परंपरा परिचय; प्रकाशक पं० रामचंद्र दास, वृंदावन सन् १९३६ ।

निंबार्क संप्रदाय ने हिंदी साहित्य का बड़ा ही उपकार किया है। इस मत के माननेवाले कवियों ने हिंदी में प्रशस्त काव्यों की रचना कर हमारे साहित्य को महती प्रतिष्ठा दी है। ब्रजकाव्य वैष्णव काव्य है। अष्टछाप की प्रधानता के कारण हमारी यह साधारण मान्यता है कि ब्रजसाहित्य की अभिवृद्धि में वल्लभाचार्य के संप्रदाय ने ही सबसे अधिक कार्य किया है, किंतु निंबार्क मत का भी कार्य इस विषय में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। निंबार्क कवियों में भी अष्टछाप से टक्कर लेने वाले अनेक कवि विद्यमान हैं, परंतु दुःख है कि विशेष अनुसंधान के अभाव में निंबार्क कवियों की काव्यप्रतिभा के जौहर अभी तक सहृदय आलोचकों के सामने नहीं आये। जो रचनायें अभी तक प्रकाश में आई हैं वे कम महत्त्वशाली नहीं हैं।

निंबार्क कवियों के काव्य माधुर्य तथा सरसता की दृष्टि से [illegible] से घटकर नहीं है। राधाकृष्ण की ललित लीलाओं के

वर्णन में वे अपनी तुलना नहीं रखते। वल्लभमतानुयायी कवियों का विशेष चमत्कार कृष्ण की बाललीलाओं के विशद वर्णन में तथा शृंगाररस की मधुर अभिव्यंजना में दृष्टिगोचर होता है, परंतु निंबार्क कवि के राधाकृष्ण की अष्टयाम सेवा के पद अपनी भावभंगी में तथा कमनीयता में एकदम बेजोड़ हैं—इस अनुपमेयता का रहस्य शृंगार-भावना में अंतर्निहित है। निंबार्क कवि राधाकृष्ण की शृंगार लीला का ही एकदम उपासक है, उधर वाल्लभकवि बालकृष्ण की माधुरी पर रीझता है। इसीलिए कृष्णभक्ति से मुग्ध होने पर भी दोनों में यह सूक्ष्म अंतर प्रतीत होता है। हिंदी के हमारे परिचित महाकवि बिहारी लाल, केशवदास, घनानंद,[1] रसिक गोविंद,[2] रसखान सभी निंबार्क मतानुयायी वैष्णव कवि हैं। इनके अतिरिक्त रूपरसिक देव जी, वृंदावन देवजी, गोविंददेवजी, नागरीदास जी, शीतलदासजी आदि अनेक भक्त कवियों ने अपने कमनीय काव्यों के द्वारा व्रजमाधुरी का सर्वस्व प्रस्तुत किया है तथा साथ ही साथ भगवान् कृष्णचंद्र के विमल यश का गायन कर अपने को कृतकृत्य बनाया है। अतः निम्बार्क मत के कवियों की पूरी छानबीन इस विषय में नितांत अपेक्षित है।[3]

---

१ घनानंद की निम्बार्क परंपरा के लिए द्रष्टव्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—घनानंद कवित्त [भूमिका; द्वितीय सं०]

२ द्रष्टव्य बलदेव उपाध्याय—रसिकगोविंद और उनकी कविता; प्र० बलिया नागरीप्रचारिणी सभा।

३ इस विषय में श्लाघनीय कार्य किया है ब्रह्मचारी बिहारीशरण

स मत के कवियों का

निम्बार्कीय कवियों के एक दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं।

तब तौ छवि पीवत जीवत हे अब सोचनि लोचन जात जरे।
हित पोस के तोषतु प्रानपले बिललात महादुख दोष भरे।
घन आनँद मीत सुजान बिना सबही सुख साज समाज टरे।
तब हार पहार से लागत हे, अब आनि के बीच पहार परे।
—घनानंद

देखो सुंदरता की सीवाँ।
जमुना-तीर कदम की छहियाँ दै ठाढ़े भुज ग्रीवाँ॥
वह बंसी वह मधुर-मधुर सुर गावत राग उचारी।
वह मोहन वह ब्रज को सजनी वह मोहनी महारी॥
दुरी कुंज दै ओट लखौ री धन्य प्रहर पल घरी।
'रूपरसिक' वह स्याम सुँदर वह राधे रूप भरी॥
—रूपरसिक।

३—सिद्धान्तविवेचन

(क) भेदाभेद का ऐतिहासिक परिचय

आचार्य निंबार्क ब्रह्म तथा जीव के संबंध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के प्रतिपादक हैं। उनकी मान्य संमति में जीव अवस्था-भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। भारतीय दार्शनिक जगत् में यह भेदाभेद सिद्धांत नितांत प्राचीन है।

जीवनचरित तथा उनके काव्यों का समीक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। ग्रंथ बड़े परिश्रम से लिखा गया है। संग्रहकर्ता हमारे धन्यवाद के भाजन हैं। प्रकाशक—वृंदावन, सं० १९९७।

शंकराचार्य के पहले ही नहीं, अपि तु बादरायण के पूर्व भी इस मत के पोषक आचार्य विद्यमान थे। बादरायण से पूर्व आचार्य औडुलोमि तथा आचार्य आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। औडुलोमि के मत में अवस्थाविशेष से ब्रह्म-जीव में भिन्नत्व तथा अभिन्नत्व की उभयविधि कल्पना संघटित होती है। संसारदशा में नानात्मक जीव तथा एकात्मक ब्रह्म में नितांत भेद है, परंतु मुक्तिदशा में चैतन्यात्मक होने से जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं (ब्र० सू० १।४।२१)। आचार्य आश्मरथ्य का सिद्धांत है कि कारणात्मना जीव तथा ब्रह्म की एकता है, परंतु कार्यात्मना दोनों की अनेकता है, जिस प्रकारकारणरूपी सुवर्ण की एकता बनी रहने पर भी कार्यरूप कटक, कुंडलादिरूपमें दोनोंमें भिन्नता रहती है (ब्र० सू० १।४।२०)। 'श्रुतिप्रकाशिका' के रचयिताके कथन से प्रतीत होता है कि आश्मरथ्य के भेदाभेद को परवर्ती काल में यादवप्रकाश ने ग्रहण कर पुष्ट किया। निंबार्क के साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने अपने 'वेदांतकौस्तुभ' में काशकृत्स्न को भी भेदाभेदी बतलाया है (तदेवं मुनित्रयमतद्वारा प्रसंगात् भेदाभेद-प्रकारो भगवता दर्शितः १।४।२२) पर शंकराचार्य के कथनानुसार ये अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं (तत्र काशकृत्स्नीयं मतं श्रुत्यनुसारीति गम्यते १।४।२३ शां० भा०)।

भर्तृप्रपञ्च—आचार्य शंकर से पूर्व वेदांताचार्यों में भर्तृप्रपञ्च भेदाभेद सिद्धांत के पक्षपाती थे। आचार्य ने उनके मत का उल्लेख तथा खंडन बृहदारण्यक के (२।३।६, २।५।१, ३।४।२, ४।३।३०) भाष्य में किया है। इनका मत है कि परमार्थ एक भी है तथा नाना भी है—ब्रह्मरूप में एक है और जगद्रूप में नाना है। जीव नाना तथा परमात्मा का एकदेशमात्र है।

तः धर्म तथ दृष्टि के

से जीव का नानात्व औपाधिक नहीं है, अपितु वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर समुद्र-तरंग-न्याय से द्वैताद्वैत है। जिस प्रकार समुद्ररूप से समुद्र की एकता है, परंतु विकाररूप तरंग, बुद्बुद आदि की दृष्टि से वही समुद्र अनेक है—नानात्मक है। आचार्य ब्रह्म के परिणाम मानते हैं। यह परिणाम तीन प्रकार से निष्पन्न होता है—(१) अंतर्यामी—जीवरूप में, (२) अव्याकृत—सूत्र विराट् तथा देवतारूप में (३) जाति तथा पिंडरूप में। जीव और जगत् की सत्ता भी काल्पनिक न होकर वास्तविक है। साधनापक्ष में वे ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी हैं। कर्मजन्य फल अनित्य है, परंतु ज्ञान के द्वारा विमलीकृत कर्म से आत्यंतिक श्रेय की उपलब्धि अवश्य ही होती है। फलस्वरूप मोक्ष भी दो प्रकार का माना गया है—(१) इसी शरीर के ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर उत्पन्न मुक्ति को अपरमोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं जो 'जीवन्मुक्ति' के समान है। (२ ब्रह्म साक्षात्कार के अनंतर देहपात होने पर जीव की ब्रह्मभावापत्ति को 'पर मोक्ष' [श्रेष्ठमुक्ति] कहते हैं जिसमें जीव अविद्यानिवृत्ति के संपन्न होने पर ब्रह्म में लय प्राप्त कर लेता है। जान पड़ता है कि भर्तृप्रपंच के मत से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अविद्या की पूर्णनिवृत्ति नहीं होती, क्योंकि जीव तब तक देह के साथ संबंध रखता है। परंतु परा-मुक्ति की दशा में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति होने पर वह ब्रह्म में सर्वतोभावेन लीन हो जाता है। इनके मत से परमात्मा तथा जीव में अंशांशिभाव अथवा एकदेशएकदेशिभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण-पूर्व आचार्यों की भेदाभेदपरंपरा का अनुसरण भर्तृप्रपंच ने अपने ग्रंथों में किया है।

भास्कर—शंकरोत्तर युग के वेदांताचार्यों में भास्कर का नाम

२ ... :ज ने वेदार्थसंग्रह (पृ० १४–१५) में, उदय-

नाचार्य (६८४ ई०) ने न्यायकुसुमांजलि में और वाचस्पति ने भामती में इनके मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय अष्टमशतक मानना चाहिए। इनके मत में ब्रह्म सगुण, सलक्षण, बोधलक्षण और सत्यज्ञानानंत लक्षण है। चैतन्य तथा रूपांतर-रहित अद्वितीय है। प्रलयावस्था में समस्त विकार ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म कारणरूप में निराकार तथा कार्यरूप में जीवरूप और प्रपञ्चमय है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ भोग्यशक्ति तथा भोक्तृशक्ति होती हैं (२।१।२७ भास्करभाष्य)। भोग्यशक्ति ही आकाशादि अचेतन जगत्‌रूप में परिणत होती है। भोक्तृशक्ति चेतन जीवरूप में विद्यमान रहती है। ब्रह्म की शक्तियाँ पारमार्थिक हैं, वह सर्वज्ञ तथा समग्र शक्तियों से संपन्न है[1]।

भास्कर ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। जैसे सूर्य अपनी रश्मियों का विक्षेप करता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी अनंत और अचिंत्य शक्तियों का विक्षेप करता है[2]। ब्रह्म के स्वाभाविक परिणाम से ही यह जगत् है। भास्कर का स्पष्ट मत है कि निरवयव पदार्थ का ही परिणाम होता है, सावयव का नहीं। अच्युतस्वभाव तन्तु का परिणाम पट है तथा अच्युतस्वभाव आकाश से वायु उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अच्युतस्वभाव ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः

---

१ ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वाभाव्यात्। यथा क्षीरं दधिभावाय अम्भो हिमभावाय न तु तत्राप्याञ्चनमाधारभूतं च द्रव्यमपेक्ष्यते।
—२।१।२४ भा० भा०।

२ अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत्॥
—भ० ० ०

से जीव का नानात्व औपाधिक नहीं है, अपितु वास्तविक है। ब्रह्म एक होने पर समुद्र-तरंग-न्याय से द्वैताद्वैत है। जिस प्रकार समुद्ररूप से समुद्र की एकता है, परंतु विकाररूप तरंग, बुद्बुद आदि की दृष्टि से वही समुद्र अनेक है—नानात्मक है। आचार्य ब्रह्म के परिणाम मानते हैं। यह परिणाम तीन प्रकार से निष्पन्न होता है—(१) अंतर्यामी—जीवरूप में, (२) अव्याकृत—सूत्र विराट् तथा देवतारूप में (३) जाति तथा पिंडरूप में। जीव और जगत् की सत्ता भी काल्पनिक न होकर वास्तविक है। साधनापक्ष में वे ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी हैं। कर्मजन्य फल अनित्य है, परंतु ज्ञान के द्वारा विमलीकृत कर्म से आत्यंतिक श्रेय की उपलब्धि अवश्य ही होती है। फलस्वरूप मोक्ष भी दो प्रकार का माना गया है—(१) इसी शरीर के ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर उत्पन्न मुक्ति को अपरमोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं जो 'जीवन्मुक्ति' के समान है। (२ ब्रह्म साक्षात्कार के अनंतर देहपात होने पर जीव की ब्रह्मभावापत्ति को 'पर मोक्ष' [श्रेष्ठमुक्ति] कहते हैं जिसमें जीव अविद्यानिवृत्ति के संपन्न होने पर ब्रह्म में लय प्राप्त कर लेता है। जान पड़ता है कि भर्तृप्रपंच के मत से ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अविद्या की पूर्णनिवृत्ति नहीं होती, क्योंकि जीव तब तक देह के साथ संबंध रखता है। परंतु परा-मुक्ति की दशा में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति होने पर वह ब्रह्म में सर्वतोभावेन लीन हो जाता है। इनके मत से परमात्मा तथा जीव में अंशांशिभाव अथवा एकदेशएकदेशिभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण-पूर्व आचार्यों की भेदाभेदपरंपरा का अनु-सरण भर्तृप्रपंच ने अपने ग्रंथों में किया है।

भास्कर—शंकरोत्तर युग के वेदांताचार्यों में भास्कर का नाम

मोक्ष का साधन है। ब्रह्म भिन्नाभिन्न है। भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं, पर यादव उपाधिवाद नहीं मानते। ये परिणामवादी हैं तथा जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करते हैं।

यादव के लगभग सौ वर्ष के अनंतर निंबार्क का जन्म हुआ और इन्होंने भेदाभेद के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। भास्कर तथा यादव के सिद्धांत लुप्तप्राय से हो गये हैं, परंतु निम्बार्क का कृष्णोपासक संप्रदाय भक्तिभाव का प्रचार करता हुआ आज भी भक्तजनों के विपुल समादर का भाजन बना हुआ है।

(ख) निंबार्क-पदार्थमीमांसा

निंबार्क-संमत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज मत के अनुरूप है। चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका स्वरूप ज्ञानमय है।

जीव इंद्रियों की सहायता बिना, इंद्रियनिरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है और 'प्रज्ञानघनः' 'स्वयं जोतिः' तथा 'ज्ञानमयः' आदि शब्दों का जीव के विषय में प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। जीव ज्ञान का आश्रय—ज्ञाता भी है। अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में इसी प्रकार है[1], जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है तथा प्रकाश का आश्रय भी है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान तथा गुणभूत ज्ञान

---

१ ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।
दशश्लोकी १.

स्वतंत्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य परिणामो व्यवस्थाप्यते। स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति—२।१।१४ भा० भा०)। जीव अणुरूप है तथा ब्रह्म का अग्निविस्फुलिंगवत् अंश है। यह जीव ब्रह्म से अभिन्न है तथा भिन्न भी। इन दोनों में अभेदरूप स्वाभाविक है, भेद उपाधिजन्य है (स च भिन्नाभिन्नस्वरूपः अभिन्नरूपं स्वाभाविकम्, औपाधिकं तु भिन्नरूपम्—२।३।४३ भा० भा०)। उपाधि के निवृत्त हो जाने पर भेदभाव छूट जाता है—यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्मरूप में स्थिति है। कार्यकारणों में भी यह भेदाभेद संबंध रहता है। समुद्ररूपेण एकत्व है, तरङ्गरूपेण नानात्व है। भास्कर ने १।१।४ के अपने भाष्य में इस सिद्धांत का स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

> कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
> हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥

भास्कर मुक्ति के लिए ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद को मानते हैं। शुष्क ज्ञान से मोक्ष का उदय नहीं होता, परंतु कर्म-संवलित ज्ञान से। उपासना या योगाभ्यास के बिना अपरोक्षज्ञान का लाभ नहीं होता। इन्हें सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति दोनों अभीष्ट हैं।

यादव—ये भी भेदाभेदवादी हैं। यदि ये रामानुज के गुरु यादवप्रकाश से अभिन्न हों, तो इनका समय ११वीं शताब्दी का अंतिम भाग होगा। रामानुज ने 'वेदार्थ-संग्रह' (पृ० १५) में, वेदांतदेशिक ने 'परमतभङ्ग' में और व्यासतीर्थ ने 'तात्पर्य-चंद्रिका' में इनके मत का उल्लेख किया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र और गीता पर भेदाभेदसम्मत भाष्य का निर्माण किया था। ये निर्गुण-

मोक्ष का साधन है। ब्रह्म भिन्नाभिन्न है । भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं, पर यादव उपाधिवाद नहीं मानते। ये परिणामवादी हैं तथा जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करते हैं।

यादव के लगभग सौ वर्ष के अनंतर निंबार्क का जन्म हुआ और इन्होंने भेदाभेद के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। भास्कर तथा यादव के सिद्धांत लुप्तप्राय से हो गये हैं, परंतु निम्बार्क का कृष्णोपासक संप्रदाय भक्तिभाव का प्रचार करता हुआ आज भी भक्तजनों के विपुल समादर का भाजन बना हुआ है।

(ख) निंबार्क-पदार्थमीमांसा

निंबार्क-संमत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज मत के अनुरूप है। चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका स्वरूप ज्ञानमय है।

जीव

इंद्रियों की सहायता विना, इंद्रियनिरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है और 'प्रज्ञानघनः' 'स्वयं जोतिः तथा 'ज्ञानमयः' आदि शब्दों का जीव के विषय में प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। जीव ज्ञान का आश्रय—ज्ञाता भी है। अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल में इसी प्रकार है[1], जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है तथा प्रकाश का आश्रय भी है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान तथा गुणभूत ज्ञान

---

१ ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः।
दशश्लोकी १.

यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न ही हैं, तथापि इन दोनों में धर्म-धर्मिभाव से भिन्नता है।

(१) जीव कर्ता है। प्रत्येक दशा में जीव में कर्तृत्व का सद्भाव है। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य है, परंतु मुक्त हो जाने पर भी कर्तृत्व की सत्ता जीव में श्रुतिप्रतिपादित है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" 'स्वर्गकामो यजेत्'—आदि श्रुतियाँ जिस प्रकार संसार-दशा में आत्मा में कर्तृत्व प्रतिपादित करती हैं, उसी प्रकार 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत', 'शांत उपासीत' आदि श्रुतियाँ मुक्तावस्था में भी उपासना की प्रतिपादिका होने से उक्त आत्मा को कर्ता बतलाती हैं[1]।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र न हो कर ईश्वर पर आश्रित रहता है। अतः चैतन्यात्मक तथा ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष व्यावर्तक गुण रहता है—नियम्यत्व। ईश्वर नियंता है। जीव नियम्य है। ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी यह ईश्वर के आश्रित रहता है।

जीव परिमाण में अणु तथा नाना है। वह हरि का अंशरूप है। अंश शब्द का अर्थ अवयव या विभाग नहीं है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है (अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः—२।३।४२ पर कौस्तुभ)। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है अतः वह अंशी है। जीव उसका शक्तिरूप है। अतः वह अंश-रूप है। अघटनघटनापटीयसी गुणमयी प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूतज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता

---

१ कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्। ब्र० सू० २।३।२२। पर 'पारिजातसौरभ'।

है[1] (वेदांतरत्नमञ्जूषा पृ० २०–२३) । बद्ध जीव मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) तथा बुभुक्षु (विषयानंद का इच्छुक) भेद से दो प्रकार का है। मुक्त जीव भी नित्यमुक्त (अनंतादि भगवत्पार्षद) तथा मुक्तरूप से दो प्रकार का होता है।

(२) अचित् चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं। यह तीन प्रकार का होता है[2] (१।१।१ पर वेदांतकोस्तुभ)—(१) 'प्राकृत'—महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत्। (२) 'अप्राकृत'—प्रकृति के राज्य से बहिर्भूत जगत्, जिसमें प्रकृति का संबंध किसी भी प्रकार से नहीं है जैसे भगवान् का लोक जिसकी श्रुतियों में 'परम व्योमन्' 'विष्णुपद' 'परमपद' आदि भिन्न भिन्न संज्ञायें हैं। (३) 'काल'—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है। जगत् के समस्त परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है। काल जगत् का नियामक होने पर भी परमेश्वर के लिये नियम्य ही है। काल अखंडरूप है। स्वरूप से वह नित्य है, परंतु कार्यरूप से अनित्य है। काल का कार्य औपाधिक है। इसके लिए सूर्य की परिभ्रमणरूप क्रिया उपाधि है।

(३) ईश्वर—निंबार्क के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुणरूप से की गई है। वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित

---

१ अनादिमायापरियुक्तरूपं त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात्—दशश्लोकी २

२ अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
माया प्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र।

यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न ही हैं, तथापि इन दोनों में धर्म-धर्मिभाव से भिन्नता है।

(१) जीव कर्ता है। प्रत्येक दशा में जीव में कर्तृत्व का सद्भाव है। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य है, परंतु मुक्त हो जाने पर भी कर्तृत्व की सत्ता जीव में श्रुतिप्रतिपादित है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवेच्छतं समाः" 'स्वर्गकामो यजेत्'—आदि श्रुतियाँ जिस प्रकार संसार-दशा में आत्मा में कर्तृत्व प्रतिपादित करती हैं, उसी प्रकार 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत', 'शांत उपासीत' आदि श्रुतियाँ मुक्तावस्था में भी उपासना की प्रतिपादिका होने से उक्त आत्मा को कर्ता बतलाती हैं[1]।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतंत्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है। अतः चैतन्यात्मक तथा ज्ञानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष व्यावर्तक गुण रहता है—नियम्यत्व। ईश्वर नियंता है। जीव नियम्य है। ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी यह ईश्वर के आश्रित रहता है।

जीव परिमाण में अणु तथा नाना है। वह हरि का अंशरूप है। अंश शब्द का अर्थ अवयव या विभाग नहीं है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है (अंशो हि शक्तिरूपो ग्राह्यः—२।३।४२ पर कौस्तुभ)। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है अतः वह अंशी है। जीव उसका शक्तिरूप है। अतः वह अंश-रूप है। अघटनघटनापटीयसी गुणमयी प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूतज्ञान संकुचित हो जाता है। भगवान् के प्रसाद से जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता

शरीर संबंध रहने पर भगवद्भावापत्ति असंभव है। इसीलिए निंबार्कमत में भी जीवन्मुक्ति की कल्पना मान्य नहीं है ('दशश्लोकी' के ९ पद्य पर वेदांतरत्नमजूषा)।

४—साधनतत्त्व

भक्तों के लिए भगवान् श्री कृष्णचंद्र की चरणसेवा छोड़ कर अन्य उपाय नहीं है। कृष्णचंद्र ही परमेश्वर के रूप हैं जिनकी वंदना ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता किया करते हैं। उनकी शक्तियाँ अचिंतनीय हैं जिनके बल पर वे भक्तों का क्लेश दूर कर देते हैं। कृष्ण ही परम उपास्य देवता हैं—

नान्या गतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादि-वंदितात्।
भक्तेच्छयोपात्त-सुचिन्त्य-विग्रहा—
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात्।
(दशश्लोकी, श्लोक ८)

तस्मात् कृष्ण एव परो देवः, तं ध्यायेत् तं रसेत् तं भजेत् तं यजेत् ओं तत् सदिति (दशश्लोकी टीका—हरिव्यास, पृ० ३६)

कृष्ण की प्राप्ति का साधन है—भक्ति, जो पाँच भावों से पूर्ण कही जाती है—शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल। उज्ज्वल रस के भक्त हैं गोपी तथा राधा। वल्लभ तथा चैतन्य मत के अनुसार इस मत में उज्ज्वल अथवा मधुर भाव को उत्कृष्टता दी गई है। निंबार्क ने युगल उपासना के साथ भगवान् की माधुर्य तथा प्रेमशक्ति रूपा राधा की उपासना पर जोर ... क वे राधा में ही भक्तों की सफल कामनाओं के

पूर्ण करने की शक्ति मानते हैं।[1] निंबार्क मत से ही राधा की प्रधानता देनेवाले राधावल्लभी तथा हरिदासी मतों का उद्गम वृंदावन में संपन्न हुआ।

निंबार्कमत की साधना-पद्धति

इस मत में आराध्यदेव हैं सर्वेश्वर श्रीकृष्ण तथा उनकी आह्लादिनी शक्ति हैं श्री राधा। राधा के स्वरूप का विवेचन इस संप्रदाय के शास्त्रीय ग्रंथों में विशेष रूप से किया गया है। श्री निंबार्काचार्य ने राधा जी को 'अनुरूप सौभगा' माना है अर्थात् उनका स्वरूप कृष्ण के अनुरूप ही है। जैसे वे सर्वेश्वर हैं, वैसी राधिका भी सर्वेश्वरी हैं। संमोहन-तंत्र में इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि क्रीडा के निमित्त एक ही ब्रह्म से दंपतिभाव से दो विग्रह उत्पन्न हुए—राधा और कृष्ण (तस्माज्ज्योतिरभूद् द्वेधा राधा-माधवरूपकम्)। पुराणों में लीलारूप से राधाकृष्ण का दांपत्यभाव अंगीकृत किया गया है, परंतु यह केवल समझाने के ही लिए है। वस्तुतः लौकिक दांपत्य से यह नितांत विलक्षण है। जैसे शक्ति और शक्तिमान् में अविनाभाव संबंध मान्य होता है वैसे ही राधा और कृष्ण में भी यह संबंध विद्यमान रहता है। भागवत के अध्ययन से भी कृष्ण का गोपियों के साथ आत्मा-आत्मीय भाव एवं बिंब-प्रतिबिंब भाव प्रकट

---

१ अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम्।
सखी-सहस्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्ट-कामदाम्॥
(—)

होता है[1]। प्रतिबिंब सदा बिंब के अधीन रहता है और उसे छोड़ कर वह एक क्षण के लिए भी पृथक् नहीं रहता। ऐसी दशा राधा की कृष्ण के साथ है। राधा तथा कृष्ण का अपृथक् सिद्ध संबंध है। राधा (आत्मा) और कृष्ण (आत्माराम) का यही तादात्म्य संबंध आचार्यों को यहाँ मान्य है।

श्रीभागवत से साक्षात् रूप से इस सिद्धांत का समर्थन होता है। भागवत का वचन 'अनपायिनी भगवतः श्रीः साक्षादात्मनो हरेः'—कृष्ण तथा श्री के अविनाभाव संबंध का सूचक है। श्री के दो रूप वेदों में कहे गये हैं[2]—श्री तथा लक्ष्मी। इनमें श्री का आविर्भाव वृषभानुकन्या राधा के रूप में हुआ था और लक्ष्मी का रुक्मिणी के रूप में। वैष्णवशास्त्र की मान्यता है कि भगवान् के रूप के साथ साथ श्री भी अपना नाना रूप ग्रहण किया करती हैं।[3] देवलोक में वह देवी के रूप में प्रकट होती हैं और मनुष्यलोक में मानुषी के रूप में। कृष्ण रूप के आविर्भाव के साथ श्री के भी इस मनुष्यलोकमें दो रूप हुए। इन दोनों में से राधिका ही श्रेष्ठ है। इस विषय में श्रुति तथा पुराणों के

---

१ रेमे रमेशो व्रजसुंदरीभिर्यथाऽर्भकः स्वप्रतिबिंब-विभ्रमः।

—भाग० १०।३३।१७

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावती-र्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥

—भाग० १०।३३।२०

२ श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे। पुरुषसूक्त

३ देवत्वे देवदेहेयं मानुषत्वे तु मानुषी।
विष्णोर्देहानुरूपां च करोत्येवात्मनस्तनुम्॥

मतों में ऐकमत्य है। 'ऋक् परिशिष्ट' राधा और कृष्ण के अभेद का प्रतिपादन करता है तथा दोनों में भेद देखनेवाले साधक को मुक्ति का निषेध करता है—

राधया सहितो देवो माधवेन च राधिका।
योऽनयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति ॥

ब्रह्म वैवर्त,[1] बृहद् गौतमीयतंत्र, ब्रह्मसंहिता, संमोहन तंत्र आदि समस्त ग्रंथों में इसी सिद्धांत का विस्तृत तथा स्पष्टतर प्रतिपादन हमें उपलब्ध होता है।

राधा का स्वकीयात्व—राधा के परकीयात्व की कल्पना केवल गौडीय वैष्णवों में ही मुख्यतया है। इस सिद्धांत के उद्भावक आलोचकों की दृष्टि में श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती ही माने जाते हैं जिन्होंने 'उज्ज्वल नीलमणि' की टीका में इस मत का समर्थन किया है। प्राचीन आचार्य इस कल्पना के नितांत विरोधी हैं। श्री जीव गोस्वामी राधा के स्वकीयात्व के ही समर्थक हैं। 'राधाकृष्णार्चन दीपिका' में उनका स्पष्ट कथन है कि अवतार-लीला में जहाँ कहीं श्री राधा के परकीयात्व का आभास मिलता है, वह किसी रसविशेष के पोषणार्थ ही समझना चाहिए। निम्बार्क संप्रदाय के संस्कृत कवि (जयदेव) तथा कुछ भाषाकवि (श्री वृंदावन देवाचार्य आदि) का राधा का अभिसारवर्णन परकीयात्व का सूचक नहीं है, अपितु बाल्य-कालीन लीलापरक है जो सहज स्वकीया का ही हो सकता है। अतएव राधिका को कृष्ण की स्वकीया पटरानी मानना ही न्याय-

---

१ लक्ष्मीर्वाणी च तत्रैव जनिष्येते महामते।

संगत है। राधिका कृष्ण की विवाहिता थीं। अवतार-लीला में राधा का विवाह ब्रह्मवैवर्त तथा गर्गसंहिता के प्रमाणों से सिद्ध है। राधा के लिए 'कुमारिका' शब्द का प्रयोग अवि-वाहिता-सूचक न होकर अवस्थासूचक है। उपासना शास्त्र में किशोरावस्था तक की ही अवस्थाओं के ध्यान आदि का विधान मिलता है। फलतः कुमारी का प्रयोग किशोरावस्था का सूचक है। निष्कर्ष यह है कि नित्यलीला में नित्य संबंध के सिद्ध होने पर विवाह की चर्चा ही नहीं उठती, परंतु अवतारलीला में राधिका की विवाहलीला ही शास्त्र-सिद्ध है। पुराणों में 'छाया राधिका' की कथा अवश्य मिलती है जिसे लौकिक दृष्टि से पर-कीया कह सकते हैं। अतः राधा के परकीयात्व के आभास वाले स्थानों पर 'छाया राधा' की बात माननी चाहिए; निम्बार्क का यही मत है।

भक्ति—भक्ति के विषय में निम्बार्क मत में पर्याप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस मत में साधकों के लिए किसी विशेष भाव के स्वीकार पर आग्रह नहीं है। साधक की अभिरुचि के अनुसार वह दास्य, सख्य तथा माधुर्य को अपना कर अपनी साधना अग्रसर कर सकता है। इस मत में भक्ति, प्रपत्ति आदि का तो पर्याप्त विवरण उपलब्ध होता है, परंतु रसों का वर्णन नितांत स्वल्प तथा संक्षिप्त है। विक्रम की १५ वीं शती में होने वाले आचार्यों ने उसकी विशेष चर्चा की है। श्री हरि व्यासा-चार्य जी ने श्री निम्बार्ककृत 'वेदांत कामधेनु' (६ वें श्लोक) की सिद्धांत रत्नाञ्जलि टीका में शांत, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य इन पाँचों रसों का सुंदर परंतु संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया है। माधुर्य रस की उत्तमता सिद्ध होने का यह अर्थ न है कि अन्य रस हेय दृष्टि से देखे जाते हैं;

साधना साधक के हृदय की व्यंजना है। उसके चित्त का रुझान जिस ओर है, वह भाव उसके लिए हितकर है तथा सद्यः लाभप्रद है। इस मनोवैज्ञानिक रहस्य से परिचित आचार्यों ने साधकों के लिए किसी भावविशेष पर अधिक आग्रह करने का अनौचित्य कभी नहीं दिखलाया है। इसी लिए श्रीभट्ट जी तथा श्री हरिव्यास देवाचार्य जी ने भी, जो माधुर्य रस के ही मान्य उपासक माने जाते हैं, वात्सल्यादि भावों का भी अनुसरण किया है। 'जुगल किशोर हमारे ठाकुर' में दास्यभाव की झलक है, तो 'भींजत कब देखौं इन नैना' पद में वात्सल्य भाव की मुख्यता है। युगल जोड़ी को गोद में लिये हुए बैठे श्रीभट्ट जी का चित्र भी आप की वात्सल्य भावना के अतिशय को अभिव्यक्त कर रहा है। श्री महावानी आदि भाषा ग्रंथों में सख्य भाव की इतनी अधिकता है कि साधारण व्यक्ति यही समझे बैठा है कि निंबार्क-मत में सख्य-भाव ही अपनाया गया है।

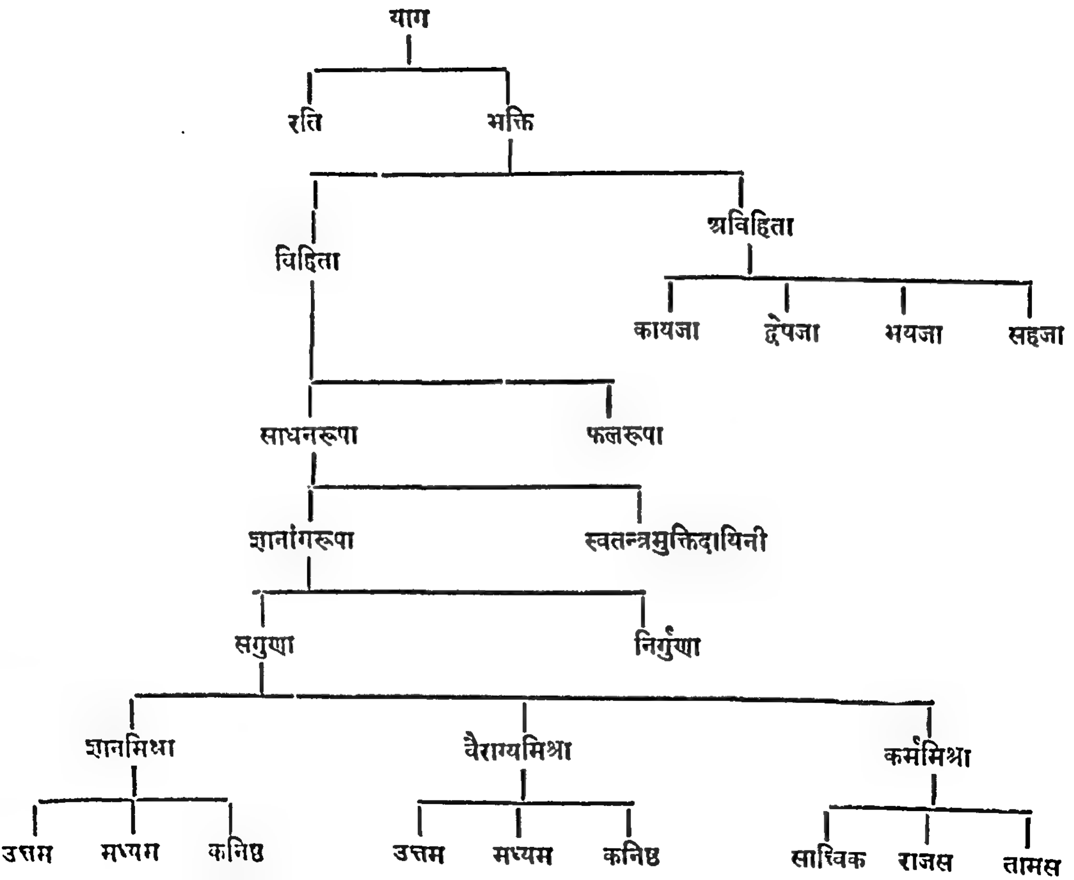
वास्तव में यह संप्रदाय प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका परा-भक्ति को ही साधनामार्ग में सर्वश्रेष्ठ मानता है। आचार्यों ने इस पराभक्ति का लक्षण भी बड़े ही सुंदर रूप से दिया है—रूपादिविषयक—इंद्रिय-वृत्तिवदनवच्छिन्नस्वाभाविक-भगवत्स्वरूप गुणादिविषयक-यावदात्मवृत्तिर्मनोवृत्तिः अर्थात् भगवान् के रूप, गुण आदि के विषय में समग्रचित्त को व्याप्त कर लेने वाली मनोवृत्ति उत्कृष्ट भक्ति है। ऐसी चित्तवृत्ति के अभ्युदय पर आग्रह है चाहे वह सख्यभाव से हो अथवा दास्य आदि किसी अन्य भाव से हो। निंबार्क मतानुयायी विद्वानों का कथन है कि मौलिक शास्त्रदृष्टि से गौड़ीय वैष्णवों की साधन-प्रणाली निंबार्कों से भिन्न नहीं है, क्योंकि वह उससे अनेकांश में गृहीत

स्वतंत्रता की भावना से प्रेरित होकर नवीन तथ्यों को अपना कर कुछ अंतर करना आरंभ कर दिया, परंतु यहाँ भी माधुर्य भाव के साथ ही साथ अन्य भाव भी अपनाये गये हैं। संप्रति निंबार्क संप्रदाय में सख्य रसपूर्वक माधुर्य रस की ओर ही सांप्रदायिक साधकों का विशेष झुकाव है।

वैष्णवों में पाँच संस्कार मुख्य हैं—ताप[1], पुण्ड्र, माला, मन्त्र और याग जिनमें याग के भीतर ही भक्ति का अंतर्भाव माना जाता है। 'सिद्धांत रत्नांजलि' में भक्ति के नाना प्रभेदों का वर्णन उपलब्ध होता है जिसका ज्ञापक चित्र नीचे दिया जाता है:—

---

१ तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो यागश्च पञ्चमः।
अमी ते पंञ्चसंस्काराः परमैकांति-हेतवः॥


याग
रति
भक्ति
विहिता
अविहिता
कायजा
द्वेषजा
भयजा
सहजा
साधनरूपा
फलरूपा
ज्ञानांगरूपा
स्वतन्त्रमुक्तिदायिनी
सगुणा
निर्गुणा
ज्ञानमिश्रा
वैराग्यमिश्रा
कर्ममिश्रा
उत्तम
मध्यम
कनिष्ठ
उत्तम
मध्यम
कनिष्ठ
सात्त्विक
राजस
तामस

५—सखी संप्रदाय

वृंदावन का सखी संप्रदाय निंबार्क मत की ही एक अवांतर शाखा है। इस शाखा का उदय स्वामी हरिदास जी के नाम से संबद्ध है। स्वामी जी प्रथमतः निंबार्कमत के ही अनुयायी थे, परंतु भगवत्प्राप्ति के लिए गोपीभाव को एकमात्र उन्नत साधन मानकर उन्होंने इस स्वतंत्र मत की प्रतिष्ठा की। इस संप्रदाय को बड़े बड़े महात्माओं ने अपने जन्म से तथा कृतियों से अलंकृत किया था तथा ब्रज-साहित्य का एक विशाल अंश हरिदासी वैष्णवों की भावुकता तथा भक्ति के विलास का सुपक्व फल है।

भक्त-सिंधु ग्रंथ के आधार पर मिस्टर ग्राउस ने इनका चरित्र यों लिखा है। हरिदासपुर के एक सनाढ्य ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ था। वंशवृत्त इस प्रकार है—ब्रह्मधीर—> ज्ञानधीर—>आशधीर—>हरिदास। आशधीर का विवाह वृंदावन के निकट राजपुर गाँव के निवासी गंगाधर की पुत्री से हुआ था। इनके जन्म संवत् के विषय में एकमत नहीं है। जन्मतिथि कोई भादो सुदी अष्टमी सं० १४४१ मानते हैं, तो कोई सं० १४८५। स्वभाव से ही विरक्त थे। पचीस वर्ष की अवस्था में ही गृहत्यागी बनकर वृंदावन में मानसरोवर पर पीछे निधुवन में रहते थे। वहीं पर उन्हें बाँकेबिहारी जी की मूर्ति मिली जिसका बहुत बड़ा मंदिर अबतक श्रीवृंदावन में विराजमान है[1]।

इस संप्रदाय के वैष्णवों ने वेदांत के किसी विशिष्ट वाद के प्रचार में अपना समय नहीं बिताया, प्रत्युत वृंदावनचंद्र की

---

१ द्रष्टव्य राधाकृष्णदास संपादित ध्रुवदासकृत 'भक्त नामावली' सभा का संस्करण १९०१ ई०, काशी) पृ० १४–१५।

सखी भाव से उपासना ही उनके साधन का एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार यह भक्ति संप्रदाय का एक साधनमार्ग है। इस संप्रदाय के विशेष प्रवर्तक थे **स्वामी हरिदास जी**। नाभादास जी ने स्वामी जी की भक्तिपद्धति के विषय में बड़े महत्त्व की बातें लिखी हैं। उनका कहना है—

> आसधीर उद्योत कर 'रसिक' छाप हरिदास की।
> जुगल नाम सौं नेम, जपत नित कुंज विहारी।
> अवलोकत रहे केलि सुखी सुख को अधिकारी।
> गान–कला–गन्धर्व स्याम–स्यामा कौं तोषैं।
> उत्तम भोग लगाय, मोर मरकट तिमि पोषैं।
> नृपति द्वार ठाढे रहैं, दर्सन आसा जास की।
> आसधीर उद्योत कर, रसिक छाप हरिदास की॥

यह छप्पय स्वामी जी की उदार मनोवृत्ति, उदात्त भक्ति-भावना तथा उन्नत कला-ज्ञान का पर्याप्त परिचायक है। स्वामीजी श्रीराधाकृष्ण के युगल रूप के उपासक थे तथा वे इनकी ललित लीलाओं का अवलोकन सखी भाव से किया करते थे तथा आनंद में मस्त रहते थे। वे गांधर्व विद्या में नितांत विचक्षण थे और संगीत के द्वारा वे श्यामा-श्याम को संतत संतुष्ट किया करते थे। उनकी कलावैदुषी की इतनी अधिक ख्याति थी कि राजा लोग भी उसके दर्शन की आशा हृदय में लिए दरवाजे पर खड़े रहते थे। नाभादास जी का यह कथन अक्षरशः सत्य है। स्वामी हरिदास जी के ही शिष्य थे वह तानसेन जिनकी तान ने अकबर जैसे गुणग्राही बादशाह को भी अपना चेला बना रखा था।

अकबर भी स्वामी जी की ख्याति सुनकर उनसे मिलने आया था। इसी घटना की ओर नाभादास जी ने ऊपर संकेत भी किया है—

नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दर्शन आसा जास की

वह राजसी ठाठबाट को छोड़कर एक साधारण जिज्ञासु के समान तानसेन के साथ स्वामी जी के दर्शन के लिए वृंदावन में आया। ये सिवाय भगवान् के और किसी को अपना संगीत सुनाते ही न थे परंतु इनका गायन सुनने की लालसा से ही अकबर आया था। फलतः एक युक्ति रची गई। तानसेन जान बूझकर गाने में गलतियाँ करने लगा जिसे सुधारने के व्याज से हरिदास जी को शुद्ध संगीत सुनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। अकबर संगीत सुनकर इतना मुग्ध हुआ कि वह इनसे कुछ माँगने के लिए हठ करने लगा। निःस्पृहता की मूर्ति हरिदास जी को राजा तथा महाराजा से माँगने की आवश्यकता ही क्या थी? परंतु इधर था बादशाह का घोर आग्रह। इस पर उन्होंने यमुना जी के टूटे घाट की ओर इशारा करते हुए कहा कि इसे इसी प्रकार की मरम्मत करा दे यदि तुम्हारा सेवा करने का हठ ही है। अकबर के आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने अपनी खुली आँखों से देखा कि घाट नीलम, पुखराज, मोती आदि अनुपम, असंख्य, अनमोल रत्नों से बना हुआ था। इन्ही रत्नों से घाट की मरम्मत करना क्या था समूचे विशाल राज्य को बेंच कर भी उपहास्यास्पद बनना था। स्वामी जी के चरणों पर वह गिर पड़ा। उसे पता चल गया कि उस कलावंत के चोले में महनीय सिद्ध महात्मा की आत्मा विलास कर रही थीं। इस सच्ची घटना से स्वामी हरिदास जी की गानविद्या में निपुणता

के साथ उनकी विरक्तता तथा निपट निःस्पृहता का परिचय आलोचकों को भली भाँति लग जाता है।

नाभादासजी ने हरिदास जी को 'आसधीर उद्योतकर' लिखा है। ये आसधीर कौन थे ? सहचरिशरण जी की 'गुरुप्रणालिका' के अनुसार आसधीर जी स्वामी जी के गुरु थे—

आसधीर गम्भीर विप्र सारस्वत स्तुति पर।
जनम अलीगढ़ मध्य मधुर बानी प्रमोद कर।
गुरु अनुकूल अतूल कूल वन निधिवन माँहीं।
सत्तर लौं तनु राखि साखि जगकी मित नाहीं॥

कहा जाता है कि ये आसधीर जी निंबार्क संप्रदाय के महात्मा हरिदेव जी के शिष्य थे। सत्तर वर्ष की आयु तक ये वृंदावन के 'निधिवन' नामक कुंज में भगवान् की पूजा में दत्तचित्त रहे।

स्वामीजी के विषय में सहचरि-शरणजी का वर्णन ध्यान-योग्य है।

श्रीस्वामी हरिदास रसिक-सिरमौर अनीहा।
द्विज सनाढ्य सिरताज सुजसु कहि सकत न जीहा॥
गुरु-अनुकंपा मिल्यो ललित निधिवन तमाल के।
सत्तरलौं तरु बैठि गनै गुन प्रिया लाल के॥

इससे स्वामी जी का सनाढ्य ब्राह्मण होना सिद्ध होता है। ये अपने गुरु आसधर के साथ ही उसी निधिवन में निवास करते थे तथा ७० वर्ष की उम्र में इनका गोलोकवास होना ज्ञात पड़ता है। कतिपय लोग आसधीर को हरिदास जी का पिता भी मानते हैं, परंतु सहचरिशरण जी के कथन से विरुद्ध होने के कारण यह उचित नहीं जँचता। आसधीर सारस्वत

ब्राह्मण कहे जाते हैं, हरिदासजी सनाढ्य ब्राह्मण। पुत्र होने पर यह भेद कैसा? संप्रदाय में स्वामी जी के ब्राह्मणवंश को लेकर आज भी विवाद चलता है। कोई सारस्वत मानता है, तो कोई सनाढ्य; परंतु यह विवाद निरर्थक तथा भ्रामक है। सिद्ध महात्माओं के विषय में इस प्रकार का वाग्जाल जल्पना ही है। आसधीर तथा हरिदास जी दोनों का जन्म अलीगढ़ के पास ही 'हरिदासपुर' नामक गाँव में हुआ था[१]। अकबर के समकालीन होने से स्वामी जी वल्लभाचार्य जी तथा अष्टछाप के कवियों के समसामयिक सिद्ध होते हैं। टट्टी संस्थान तथा उसकी गद्दी वर्तमान काल में वृज में प्रचलित है।

स्वामी हरिदास की पदावली सिद्धांत तथा विहार दोनों के विषय में मिलती है। विहारविषयक पदावली 'केलिमाला' के नाम से विख्यात है। इनकी कविता में बाहरी शाब्दिक आकर्षण का अभाव भले हो, परंतु वह अंतरंग भावभंगी से नितांत स्निग्ध तथा संपुटित है। तथ्य यह है कि हरिदासजी की पदावली गाने की वस्तु है, पढ़ने की चीज़ नहीं। इसीलिए साधारण रीति से पढ़ते समय उसमें पिंगल की त्रुटि लक्षित होती है। ऐसे सिद्ध महात्मा की रसपेशल बानी का एक दो नमूना देखिए—

कल्याण

प्रेमसमुद्र रूपरस गहिरे, कैसे लागे घाट।
बेकार्‌यौ दै जानि कहावत, जातिपनों की कहा परी बाट॥
काहू कौ सर पर्‌यौ न सूधो, मारत गाल गली-गली हाट।
कह 'हरिदास' विहारिहिं जानौ, तकौ न औघट घाट॥

---

१ गुप्तः अष्टछाप पृ० ६६।

यह पद ज्ञान की व्यर्थता तथा अनुपादेयता का सूचक है। गंभीर प्रेम-समुद्र के पार जाने के लिए ज्ञान एक बेकार उपाय है। ज्ञान (जानिपनों) में पार लगाने की क्षमता कहाँ? गली गली में गाल बजाते भले रहिए, अहंकार से युक्त किसी अभिमानी का पुरुषार्थ क्या कभी सफल हुआ है? स्वामी जी का अंतिम उपदेश है—बिहारी जी को जानो, कृष्ण की भक्ति में अपने को निछावर कर दो। मार्ग कुमार्ग को मत ताको। पार जाने की यही समर्थ नौका है—बिहारी जी की प्रेमानुगा भक्ति।

'केलिमाला' के इस कमनीय पद में श्री राधाकृष्ण की एक-रूपता का कितना सुचारु चित्र खींचा गया है—

'प्यारी जैसे तेरी आँखिन में हौं अपनपौ
देखत, तैसे तुम देखति हो किधौं नाहीं'।
'हौं, तोसौं कहौं प्यारे, आँखि मूँदि
रहौं, लाल निकसि कहौं जाहीं'।
'मोकौं निकसिबे को ठौर बताओ,
साँची कहौं, बलि जाऊँ, लागौं पाहीं'।
श्रीहरिदास के स्वामी स्यामा,
तुमहिं देखत चाहत और सुख लागत नाहीं।

आनंदकन्द की एक भव्य झाँकी लिखिए—

आज नृत्त्य टूटत है री, ललित त्रिभंगी पर।
चरन चरन पर, मुरलि अधर पर,
चितवनि बंक छबीली भुव पर।
चलहु न बेगि राधिका पिय पै
जो भई चाहति हौ सर्वोपर।

श्रीहरिदास समय जब नाँकौ,
हिलि-मिलि केलि अटल रति ध्रू पर ॥

स्वामी हरिदास जी के 'टट्टी संस्थान' के भक्त महात्माओं ने अपनी रचनाओं से व्रजभाषा के साहित्य का जो शृंगार किया है वह देखने की वस्तु है। उसके लिए चाहिए रस से स्निग्ध हृदय तथा भक्ति से पूरित भावुक विलोचन। सखीभाव की उपासना माधुर्य का भंडार है, प्रेम का आगार है तथा मधुर रस का भाण्डागार है।

स्वामी जी के प्रधान शिष्य हुए उनके मामा विट्ठल विपुल और तब से 'टट्टी संस्थान' के वैष्णवों की परंपरा आरंभ होकर वर्तमान काल तक विद्यमान है। इस गद्दी की परंपरा निम्नलिखित प्रकार से है[1]:—

१ श्री स्वामी हरिदास जी
|
२ श्री विट्ठल विपुल जी
|
३ श्री बिहारनि देव जी
|
४ श्री सरसदेव जी
|
५ श्री नरहरिदेव जी
|
६ श्री रसिकदेव जी
|
७ श्री ललितकिशोरी जी
|
८ श्री ललितमोहिनी जी

---

१ द्रष्टव्य वियोगी हरि—व्रजमाधुरी सार पृष्ठ ३८३।

९ श्री चतुरदास जी (भगवत रसिक जी इनके गुरु भाई थे)

१० श्री ठाकुरदास जी

११ श्री राधिकादास जी

१२ श्री सखीशरण (=सहचरिशरण)

१३ श्री राधाप्रसाद जी

१४ श्री भगवानदास जी (वर्तमान महंत)

भगवत रसिक

इन महात्मा का जन्म संवत् १७९५ (=१७३८ ई०) में सागर जिले के गढ़कोटा स्थान में हुआ था। टट्टी संप्रदाय के अष्टाचार्यों में से सबसे अंतिम आचार्य थे श्री ललित मोहिनी जी और इन्हीं के शिष्य भगवत रसिक जी थे। ये आरंभ में गणेश जी के उपासक थे। इनकी एकांत निष्ठा तथा अनन्य उपासना से प्रसन्न होकर गणेश जी प्रत्यक्ष हुए और श्रीकृष्ण भगवान् की प्रेमलक्षणा भक्ति 'सखीभाव' से करने के लिए उपदेश दिया। इसकी सूचना इस पद में मिलती है—

हमैं घर गुरु गनेस हैं दोनों।
जग भरि मूँड़ फिराय सीस पर मंगलकार सुभ कीनों।
आनँदघन को पद दरसायो, सुरति - रति - रस भीनों
'भगवतरसिक' लड़ैती-लालन ललित जुगल मधि कीनों॥

श्री ललित मोहिनी जी के परलोक सिधारने पर भक्त महानुभावों के अत्यंत आग्रह करने पर भी इन्होंने गद्दी का अधिकार नहीं लिया। ये जन्मभर निर्लिप्त भाव से श्री जी की सेवा में लगे रहे। इनकी रचनाओं में एक ओर तो वैराग्य का भाव भरा है और दूसरी ओर अनन्य प्रेम-रस छलकता है। इसीलिए सखी संप्रदाय के भक्त भावुक महाकवियों में उनका आसन श्रेष्ठ माना जाता है। इनकी पाँच रचनायें बतलाई जाती हैं—(१) अनन्यनिश्चयात्मक, (२) श्री नित्य विहारी युगल ध्यान, (३) अनन्य रसिकाभरण, (४) निश्चयात्मक ग्रंथ उत्तरार्ध, (५) निर्बोध मनरंजन। इनका संग्रह 'भगवत रसिक की बानी' के नाम से वर्तमान महंथ ने प्रकाशित किया है।

'रसिक' की परिभाषा कितनी सुंदर है—

जीव हंस मिलि दोय, नाम रूप गुन परिहरै।
रसिक कहावै सोय, ज्यों जल बोरैं सर्करा॥
दिया कहै सब कोय, तेल - तूल - पावक मिलै।
तमहि नसावै सोय, वस्तु मिलैं भगवत रसिक॥

ये सचमुच श्री रसिक-शिरोमणि के सच्चे रसिक भक्त थे। इसीलिए इनकी अनुभूतियों में प्रेम की तल्लीनता का यथार्थ चित्रण हमें मिलता है। श्रीकृष्ण के मुखचंद्र की ओर भक्त के नयनचकोर कितनी तन्मयता से लगे हुए हैं, इसका सरस वर्णन इस कमनीय पद में मधुर शब्दों में विन्यस्त किया गया है—

तव मुख - कमल नयन अलि मेरे।
पलक न लगत पलकु बिनु देखे
अरबरात अति फिरत न फेरे।

पान करत मकरन्द रूप रस
भूल नहीं फिर इत-उत हेरे।
भगवत रसिक भये मतवारे;
घूमत रहत छके मद तेरे ॥

सखी संप्रदाय की निजी उपासना के विषय में इनका कथन है—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगल मंत्र को जाप।
जुगल मंत्र को जाप, वेद रसिकन की बानी।
श्री वृंदावन धाम, इष्ट स्यामा महरानी।
प्रेम देवता मिले बिना सिधि होइ न कारज।
'भगवत' सब सुखदानि, प्रगट भे रसिकाचारज ॥

भगवान् श्री ब्रजनंदन के मुखचंद्र में अनुरक्त नयनचकोरों की दशा निरखने ही योग्य है—

सुत मुख चंद चकोर ये नैना।
अति आरतु अनुरागी लम्पट,
भूल गई गति पलकौं लगै ना।
अरबरात मिलिबे कौं निसुदिन
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिले ना।
'भगवत रसिक' रसिक की बातें
रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना ॥

अत्यंत ही अभिलाषा की सच्ची पहचान है। भक्त के नेत्र दिनरात रहने को सामने ही हैं, परन्तु प्रेम की तृप्ति न होने के कारण सदा यही शंका बनी रहती है कि अभी मिले हैं या नहीं।

अंतिम चरण रसिक जी ने अपने आलोचक की ओर संकेत किया है कि रसिक ही उनकी वानी का रस ले सकता है।

सहचरिशरण—ये भी अपने समय के ख्यातनामा महात्मा थे। इनका दूसरा नाम था सखीशरण। संप्रदाय के ११ वें आचार्य श्री राधिकादासजी के शिष्य तथा उत्तराधिकारी थे। समय १६ वि० शती का उत्तरार्द्ध। फुटकर पदों के अतिरिक्त इन्होंने दो स्वतंत्र ग्रंथ लिखे हैं—(१) ललित प्रकाश; (२) सरसमंजावली। इनमें ललित प्रकाश में टट्टी संप्रदाय के वैष्णवों के चरित, सिद्धांत तथा उत्सव आदि आवश्यक विषयों का प्रामाणिक वर्णन है। 'ललित प्रकाश' के गुरु प्रणालिका अंश में संप्रदाय के अष्टाचार्यों का (स्वामी हरिदास जी से लेकर श्री ललित मोहिनीजी तक) सुंदर वर्णन है तथा 'आचार्योत्सव' में आचार्यों के चरित, जन्म तथा मरण तिथि आदि ऐतिहासिक विषयों का सुंदर समावेश है। इस प्रकार यह ग्रंथ संप्रदाय तथा इतिहास उभय दृष्टियों से उपादेय तथा ग्राह्य है। इनकी कविता व्रजमाधुरी से मत्त भक्त का मार्मिक हृदयोद्गार है जिसमें बाह्य आडंबर के घटाटोप का सर्वथा बहिष्कार कर हृदयसंवेद्य भावों का चारु चित्रण है।

पीर को हटानेवाले साँवलिया वैद्य की ओर कितना मधुर संकेत है सहचरिशरणजी के इस पद्य में—

> उर में घाव, रूप सों सैंके, हित की सेज बिछावै।
> दृग डोरे सुइयाँ वर वरुनी टाँके ठीक लगावै।
> मधुर सचिक्कन अंग-अंग छवि हलुआ सरस खवावै।
> स्याम तवीब इलाज करै जब तब घायल सचुपावै॥

प्रेम के घायल के आराम पाने की व्यवस्था हमारा भक्तकवि यहाँ कर रहा है। जब श्यामसुंदर स्वयं वैद्य बनकर घायल का इलाज करेंगे तभी वह आराम पा सकता है। हृदय के घाव को रूप की आग से सेकें, प्रेम की सेज लेटने के लिए बिछाई जाय, चिकने अंगों की छबि-रूपी मीठा हलुआ खिलाया जाय; तभी रोगी को आराम पहुँच सकता है, अन्यथा नहीं। यह पद्य 'मीरा की तब पीर मिटैगी, जब वैद साँवलिया होय' का मार्मिक भाष्य प्रतीत होता है। क्या ही सुंदर व्यवस्था की गई है घायल प्रेमी को आराम पहुँचाने की !!!

जीवनलद्य की यह सरस विवेचना कितनी तथ्य तथा यथार्थ है—

> मख अमलादि पिया न पिया, सुख प्रेम पियूष पिया रे।
> नाम अनेक लिया न लिया, रति स्यामा स्याम लिया रे।
> आन सुदान दिया न दिया, वर आनँद हुलसि दिया रे।
> जप जग्यादि किया न किया, हिय पर-उपकार किया रे॥

ठीक है। सच्चा दान केवल बाहरी वस्तुओं का दान नहीं है, बल्कि हृदय में आनंद का दान है और जप यज्ञ का विधान ही सच्ची क्रिया नहीं है, प्रत्युत परोपकार ही सर्वोत्तम दान है।[1]

इसी प्रकार इस संप्रदाय के अन्य महात्माओं ने व्रज साहित्य के भंडार को अपनी कमनीय कृतियों से पूर्ण तथा सरस बनाया है।

—०—

---

१ इनकी अन्य कविताओं के लिए द्रष्टव्य वियोगी हरि—व्रजमाधुरी-सार, पृ० १८२—१६५ (तृतीय संस्करण, १६६६ वि०, प्रयाग)

(८)

श्री वल्लभ मत

(पुष्टिमार्ग)

निर्दोष-पूर्ण-गुण-विग्रह आत्मतन्त्रो
निश्चेतनात्मकशरीर-गुणैश्च हीनः ।
आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादिः
सर्वत्र च त्रिविध-भेद-विवर्जितात्मा ।

—वल्लभाचार्य

वृंदावन की पुण्य-भूमि में पनपनेवाला दूसरा वैष्णव संप्रदाय है आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैती संप्रदाय जिसने उत्तर प्रदेश, राजस्थान तथा गुजरात प्रांत को कृष्ण भक्ति की पावन धारा से आप्यायित तथा आप्लावित कर दिया था। भारत की विख्यात वैष्णव संप्रदाय-चतुष्टयी में वल्लभ संप्रदाय रुद्र संप्रदाय के नाम से विख्यात है। इस संप्रदाय के मुख्य प्रवर्तक थे विष्णु स्वामी तथा इसके मध्ययुगी प्रतिनिधि थे आचार्य वल्लभ जिन्होंने विष्णु स्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर आरूढ़ होकर उनके सिद्धांत का प्रचार किया। अतः वल्लभाचार्य के व्यक्तित्व से परिचय पाने से पहिले विष्णुस्वामी का परिचय नितांत आवश्यक है।

१—विष्णुस्वामी का परिचय

भारत के धार्मिक इतिहास में विष्णुस्वामी स्वयं एक विकट समस्या हैं जिसका उचित प्रमाणों के आधार पर अभी तक यथार्थ समाधान नहीं हो पाया है। उनका व्यक्तित्व तथा ऐतिहासिक अस्तित्व अज्ञान की गहन तमिस्रा में अभी तक अज्ञात पड़ा हुआ है। विष्णुस्वामी के देश तथा काल की यथार्थ विवेचना अभी तक नहीं हो पाई है। अनुमान की निर्बल भित्ति पर उनका परिचय अवश्य खड़ा किया गया है, परंतु यह परिचय कल्पना के आवरण को भेद कर सत्यता की भूमि पर नहीं आ

सका है। वैष्णव संप्रदाय में प्रसिद्धि है कि विष्णुस्वामी द्रविड़ देश के किसी क्षत्रिय राजा के ब्राह्मण मंत्री के सुपुत्र थे। बालकपन से ही उनकी चित्तवृत्ति अध्यात्म की ओर लगी थी। उन्होंने उपनिषदों का केवल पारायण ही नहीं किया था, बल्कि उनमें वर्णित तथ्यों को अपने व्यावहारिक जीवन में कार्यान्वित करने की उनकी दृढ़ अभिलाषा थी। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।४) में वर्णित अंतर्यामी भगवान् के साक्षात्कार करने की उनके हृदय में बड़ी इच्छा थी। उपासना के सफल न होने पर उन्होंने अन्न-जल का ग्रहण करना छोड़ दिया। सातवें दिन उनका हृदय दिव्य ज्योति से भर गया और किशोरमूर्ति वेणुवादन-तत्पर शृंगारशिरोमणि श्री श्यामसुंदर के दर्शन का अलभ्य लाभ उन्हें प्राप्त हुआ। बालकृष्ण ने स्वयं उन्हें उपदेश दिया कि 'मेरे ही दोनों रूप हैं। निराकार रूप में होने पर भी भक्तों की रक्षा तथा अपनी लीला के आस्वादन के निमित्त साकार रूप ग्रहण करता हूँ। भक्ति मेरी प्राप्ति का सबसे सुलभ तथा सुगम उपाय है।' विष्णुस्वामी की उपासना फलवती हुए। उन्होंने भगवान् श्री कृष्ण की बालमूर्ति का निर्माण करा कर प्रतिष्ठा की तथा अपने अनुयायियों को भक्ति की विमल साधना का उपदेश दिया। इस मत के सात सौ आचार्यों की बात सुनी जाती है जिनमें आचार्य विल्वमंगल एक महनीय उपदेशक थे। जिस युग में शंकर तथा कुमारिल ने ज्ञान तथा कर्मकाण्ड की महत्ता प्रतिपादित कर भारतीय धर्म का पुनरुद्धार किया, उसी काल में विल्वमंगल ने भक्ति के द्वारा मोक्षोपलब्धि के तथ्य का विपुल प्रचार किया। विष्णु स्वामी का समय युधिष्ठिर से साढ़े दो हजार वर्ष पीछे (अर्थात् विक्रम पूर्व पंचक शती) में वैष्णव लोग मानते हैं तथा विल्वमंगल का अष्टम शती में। विल्वमंगल आचार्य ने स्वप्न में

वल्लभाचार्य को विष्णुस्वामी की शरण में आने का उपदेश दिया जब वे उपदेश की कामना से साशंकचित्त हो रहे थे[1]।

नाभादास जी के इस प्रसिद्ध छप्पय के आधार पर कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी की जा सकती है—

> नाम तिलोचन शिष्य, सूर ससि सदस उजागर।
> गिरा गंग-उनहारि काव्यरचना प्रेमाकर॥
> आचारज हरिदास अतुलबल आनँद दाइन।
> तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पधित पराइन।
> नवधा प्रधान सेवा सुहृद मन वच क्रम हरिचरण रति।
> विष्णु स्वामि सम्प्रदाय दृढ़ ज्ञानदेव गम्भीर मति॥
> (छप्पय ४८)

इस संप्रदाय में त्रिलोचन, नामदेव तथा ज्ञानदेव आदि विख्यात संत पैदा हुए थे तथा वल्लभ ने इसी मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्धाद्वैतमूलक पुष्टिमार्ग चलाया। यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वशाली है। ज्ञानदेव (१२७५ ई०—१२९६ ई०) तो महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध संत हैं जिन्होंने गीता के ऊपर अपनी ज्ञानेश्वरी १२१२ शक सं० में लिखकर मराठी साहित्य का ही प्रारंभ नहीं किया, प्रत्युत अध्यात्मतत्त्व के जिज्ञासुओं के सामने एक महनीय ग्रंथ प्रस्तुत किया। अतः नाभाजी की मान्यता के अनुसार विष्णुस्वामी का समय ईस्वी की तेरहवीं सदी से प्राचीन होना चाहिए। कुछ विद्वान् वेदभाष्य के कर्ता आचार्य सायण तथा माधवाचार्य के विद्यागुरु विद्या-

---

१ संप्रदाय प्रदीप पृ० १४, ३०।

शंकर को ही विष्णु स्वामी मानते हैं[1], परंतु यह कथन काल-दृष्टि से नाभाजी के पूर्वोक्त कथन से मेल नहीं खाता। सायणाचार्य का समय चतुर्दश शतक का मध्यभाग है। अतः उनके गुरु के समय १४ शतक का आरंभ काल या १३ शतक का अंतिम काल हो सकता है। नाभाजी उन्हें ज्ञानदेव से पूर्ववर्ती मानते हैं। विद्याशंकर तथा विष्णुस्वामी की अभिन्नता प्रमाणों से पुष्ट नहीं की जा सकती। नाभाजी का ग्रंथ केवल अनुश्रुतियों के ऊपर आधारित होने से पूर्णतया प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

विष्णुस्वामी का काल निर्णय करते समय स्वर्गीय डा० रामकृष्ण भंडारकर ने पूर्वोल्लिखित नाभाजी के छप्पय के आधार पर इनका समय १३ वें शतक का आरंभ काल माना है, परंतु नाभादास जी के भक्तमाल को पूर्णतया ऐतिहासिक मानना कथमपि उचित न होगा। इस ग्रंथ में इतिहास तथा अनुश्रुति का विचित्र मिश्रण है। विशेषकर जब ज्ञानदेव विष्णुस्वामी को अपना गुरु न मानकर नाथपंथ से अपना नाता जोड़ते हैं, तब नाभादासजी का विश्वास कैसे किया जाय?

विष्णुस्वामीकी अनेक रचनायें बतलाई जाती हैं, परंतु इनमें 'सर्वज्ञसूक्त' ही एकमात्र ऐसी रचना है जो प्रमाण कोटि में अंगीकृत की गई है। श्रीधर स्वामी ने इस ग्रंथ का अत्यधिक उपयोग अपनी रचनाओं में किया है। श्रीधरी टीका में विष्णुस्वामी के कतिपय सिद्धांतोंका भी आभास मिलता है। विष्णुस्वामीके ईश्वर सच्चिदानंद स्वरूप हैं तथा वे अपनी 'ह्लादिनी संवित्' के द्वारा आश्लिष्ट हैं तथा माया उन्हीं के अधीन रहती है। ईश्वर का प्रधान अवतार नृसिंह रूप बतलाया गया है। कुछ लोग विष्णु

---

१ गौडीय दशम खंड पृ० ६२४, ६२६। गुप्त—अष्टछाप पृ० ४१

स्वामी को नृसिंह तथा गोपाल दोनों का उपासक मानते हैं। श्रीधर स्वामी नृसिंह के उपासक थे, इसका परिचय हमें भागवत की श्रीधरी टीका से भली भाँति लगता है। ऐसी दशा में श्रीधर स्वामी को विष्णुस्वामी मत के अनुयायी मानने में विशेष विप्रतिपत्ति न होनी चाहिए।

विष्णुस्वामी की समस्या सुलझाने के अभिप्राय से अनेक लोगों ने अनेक विष्णुस्वामी की कल्पना की है, परंतु इससे समस्या उलझती ही गई है। कतिपय आलोचकों की सम्मति में कम से कम तीन विष्णुस्वामी का उल्लेख मिलता है— (१) देवतनु विष्णुस्वामी (३०० ई० पू०) मथुरा से रहते थे। पिता का नाम था देवेश्वर भट्ट। इन स्वामी जी के सात सौ वैष्णव त्रिदंडी संन्यासी इस मत का प्रचार करते थे। (२) काञ्चीनिवासी राजगोपाल विष्णुस्वामी (जन्म ८३० ई०) जिन्होंने विष्णुकाञ्ची में राजगोपाल देवजी अथवा वरदराज जी की प्रसिद्ध मूर्ति की स्थापना की। विल्वमंगल इन्हीं के शिष्य थे। (३) विष्णु स्वामी—वल्लभाचार्य के उपदेष्टा पूर्वपुरुष। अतः यह निर्णय करना अत्यंत कठिन है कि विष्णुस्वामी की स्थिति किस काल में हुई।

त्रिलोचन

नाभादास जी के छप्पय में उल्लिखित त्रिलोचन नामक संत का विशेष परिचय नहीं मिलता। नामदेव के समान ये भी महाराष्ट्र के प्रख्यात संतों में अन्यतम थे; इसका परिचय हमें गुरुग्रंथ साहब (संकलन काल १६०४ ई०) में संकलित उनके अनेक पदों की भाषा से अच्छी तरह लगता है। ग्रंथ साहब में इनके कुछ

पद उद्धृत मिलते हैं जिससे इनकी विपुल ख्याति तथा लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

अंतरु मलि निरमलु नहिं कीन्हा बाहरि भेख उदासी।
हिरदै कमलु घटि ब्रहमु न चीन्हा काहे भइआ संन्यासी ॥
भरमै भूली रे गै चंदा।
नही नही चिन्हिआ परमानन्दा।
घरि घरि खाइआ पिंडु बधाइआ खिथा मुंदा माइआ।
भूमि मसाण की भसम लगाई गुर बिनु ततु नहि पाइआ ॥
काइ जपहु रे, काइ तपहु रे, काइ बिलोवहु पाणी।
लख चउरासीह जिनि उपाई सो सुमरहु निरवाणी ॥
काइ कमंडलु कापड़ीआरे अठसठि काइ फिराही।
बदति त्रिलोचनु सुनु रे प्राणी कण बिनु गाहु कि पाही[1] ॥

इस पद में बाह्य आडंबर की निंदा कर हृदय के धोने तथा निर्मल बनाने का उपदेश है। ढंग वही निर्गुनिया संतों का ही है। एक अन्यपद में (पृष्ठ ६६४) त्रिलोचन उन गँवार मानवों की निंदा करते हैं जो अपने बुरे कर्मों के फल चखते समय नारायण की निंदा किया करते हैं। वे नहीं जानते कि मनुष्य अपने भविष्य का स्वयं उत्तरदायी है। शोभन कर्मों का फल नितांत शोभन होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा ही होता है। इस पदकी भाषा मराठी है जो पंजाबी गुरुओं की कृपा से नितांत विकृत बन गई है, परंतु उसका मराठीपन आज भी शेष है। पद की एक टुकड़ी ही इस मराठीपन को सिद्ध कर रही है—

---

१ श्रीगुरु ग्रंथ साहिब, प्रकाशक सर्वहिंद सिक्ख मिशन, अमृतसर, सन् १६३७। पृ० ५२५—५२६।

दार्धाले लंकागडु उपाडीले रावण वणु
सलि विसलि आणि तोर्खीले हरि।
करम करि कछुउटी मफीटसि (?) री ॥

नाभादास के छप्पय से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विष्णुस्वामी दक्षिण भारत के, विशेषत महाराष्ट्र प्रांत के ही मान्य आचार्य थे जिनकी शिष्य परंपरा में नामदेव, त्रिलोचन तथा ज्ञानदेव जैसे महाराष्ट्र संत दीक्षित थे। परंतु नामदेव और त्रिलोचन तो निर्गुण मतानुयायी संत थे और विष्णुस्वामी सगुणोपासक आचार्य थे। ऐसी दशा में उन दोनों के साक्षात् शिष्य होने की बात तो समझ में नहीं आती। उनके सिद्धांतों का प्रभाव अनुमान-सिद्ध हो सकता है। नामदेव का व्यापक कार्य महाराष्ट्र तक ही सीमित न होकर उत्तरीय भारत में भी, विशेषतः पंजाब में भी फैला था। कुछ लोग इसीलिए अनेक नामदेवों की कल्पना करते हैं। जो कुछ भी तथ्य हो, वारकरी संप्रदाय वाले महाराष्ट्रदेशीय नामदेव के गुरु तो विसोवा खेचर नामक एक तद्देशीय ही संत थे। मालूम नहीं नाभादास ने किस आधार पर इन्हें विष्णुस्वामी के संप्रदाय के अंतर्भुक्त बताया है। नाभादास के इस उल्लेख से विष्णुस्वामी के व्यक्तित्व तथा ऐतिहासिक परिचय का विशेष पता नही चलता।

(२)

श्रीवल्लभाचार्य

श्री आचार्य-चरण के विस्तृत जीवनचरित तथा उनके साक्षात् शिष्यों का परिचय हमें इस संप्रदाय की नाना पुस्तकों से

मिलता है। श्रीवल्लभाचार्य का जन्म १५३५ सं० में वैशाख कृष्णा एकादशी को मध्य प्रांत के रायपुर जिला के चंपारन नामक स्थान में हुआ। इनके पिता माता तैलंग ब्राह्मण थे जिनके नाम थे लक्ष्मण भट्ट और एल्लमागारु। लक्ष्मण भट्ट काशी में ही हनुमान घाट पर रहते थे, परंतु यवनों के आक्रमण की आशंका से काशी छोड़ कर दक्षिण जा रहे थे, तभी रास्ते में यह घटना घटी। वल्लभ के समस्त संस्कार, शिक्षा दीक्षा, पठन-पाठन काशी में ही हुआ। गोपाल कृष्ण इनके उपास्य कुल-देवता थे। फलतः विद्यावृद्धि के साथ साथ इनकी आध्यात्मिकता में भी वृद्धि हुई और इन्होंने श्री मद्भागवत के आधार पर एक नवीन भक्ति संप्रदाय का जन्म दिया जो 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। दार्शनिक जगत् में इनका मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके जीवन की घटनायें काशी, अड़ैल (प्रयाग के यमुना पार का एक गाँव) तथा वृंदावन में घटित हुईं। राजनैतिक पुरुषों के ऊपर भी इनका व्यापक प्रभाव बतलाया जाता है। दिल्ली के बादशाह अकबर ने इनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी की तपस्या तथा आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर कालांतर में गोकुल तथा गोवर्धन की भूमि इन्हें दे दी जहाँ संप्रदाय के अंतर्गत अनेक मंदिरों का निर्माण किया गया। वल्लभाचार्य की मंत्रसिद्धि से तत्कालीन दिल्ली बादशाह सिकंदर लोदी इतना प्रभावित हुआ था कि उसने वैष्णव संप्रदाय के साथ किसी प्रकार के जोर-जुल्म न करने की मुनादी फिरवा दी थी।

वल्लभाचार्य के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वशालिनी घटना विजयनगर के महाराजा कृष्णदेव राय के द्वारा विहित 'कनकाभिषेक' है। वल्लभ ने कृष्णदेवराय की विशाल सभा में उपस्थित नास्तिकों को परास्त कर मायावाद का भी प्रामाणिक खंडन



श्रीवल्लभाचार्य

मिलता है। श्रीवल्लभाचार्य का जन्म १५३५ सं० में वैशाख कृष्णा एकादशी को मध्य प्रांत के रायपुर जिला के चंपारन नामक स्थान में हुआ। इनके पिता माता तैलंग ब्राह्मण थे जिनके नाम थे लक्ष्मण भट्ट और एल्लमागारु। लक्ष्मण भट्ट काशी में ही हनुमान घाट पर रहते थे, परंतु यवनों के आक्रमण की आशंका से काशी छोड़ कर दक्षिण जा रहे थे, तभी रास्ते में यह घटना घटी। वल्लभ के समस्त संस्कार, शिक्षा दीक्षा, पठन-पाठन काशी में ही हुआ। गोपाल कृष्ण इनके उपास्य कुल-देवता थे। फलतः विद्यावृद्धि के साथ साथ इनकी आध्यात्मिकता में भी वृद्धि हुई और इन्होंने श्री मद्भागवत के आधार पर एक नवीन भक्ति संप्रदाय का जन्म दिया जो 'पुष्टिमार्ग' कहलाता है। दार्शनिक जगत् में इनका मत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके जीवन की घटनायें काशी, अडैल (प्रयाग के यमुना पार का एक गाँव) तथा वृंदावन में घटित हुईं। राजनैतिक पुरुषों के ऊपर भी इनका व्यापक प्रभाव बतलाया जाता है। दिल्ली के बादशाह अकबर ने इनके पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी की तपस्या तथा आध्यात्मिकता से प्रभावित होकर कालांतर में गोकुल तथा गोवर्धन की भूमि इन्हें दे दी जहाँ संप्रदाय के अंतर्गत अनेक मंदिरों का निर्माण किया गया। वल्लभाचार्य की मंत्रसिद्धि से तत्कालीन दिल्ली बादशाह सिकंदर लोदी इतना प्रभावित हुआ था कि उसने वैष्णव संप्रदाय के साथ किसी प्रकार के जोर-जुलम न करने की मुनादी फिरवा दी थी।

वल्लभाचार्य के जीवन की सर्वाधिक महत्त्वशालिनी घटना विजयनगर के महाराजा कृष्णदेव राय के द्वारा विहित 'कनकाभिषेक' है। वल्लभ ने कृष्णदेवराय की विशाल सभा में उपस्थित नास्तिकों को परास्त कर मायावाद का भी प्रामाणिक खंडन



श्रीवल्लभाचार्य

किया था। यह सभा मध्वमतके आचार्य व्यासरायके सभापतित्व में हुई थी। वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन श्रुतियों तथा युक्तियों के सहारे इतनी सुंदरता के साथ किया कि विद्वानों को इनका गंभीर पांडित्य स्वीकार करना पड़ा और महाराज ने भी 'कनकाभिषेक' के द्वारा इनका विशेष सत्कार किया। इन्होंने भारतवर्ष के तीर्थों की यात्रा अनेक बार की तथा अपने मत का प्रचार किया। व्रज में भी इस प्रसंग में ये पधारे (सं० १५४९ =१४९२ ई०) तथा अंबाले के एक धनी सेठ पूरनमल खत्री ने श्रीनाथजी का एक मंदिर (१५५६ वि० = १५०० ई०) बनवा दिया। यहीं रहकर आचार्य जी ने पुष्टिमार्ग की अर्चा तथा सेवा विधि की पूर्ण व्यवस्था की। ५२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने काशीधाम में ही अपना शरीर त्याग किया (१५८७ वि०= १५३० ई०)

आचार्य चरण ने शुद्धाद्वैत सिद्धांत के प्रकाशन के लिए अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रंथों का निर्माण संस्कृत में किया जिनमें मुख्य हैं—(१) अणुभाष्य—ब्रह्मसूत्र पर भाष्य केवल अढ़ाई अध्यायों पर (२) पूर्व मीमांसा भाष्य, (३) तत्त्वदीप निबंध—(शास्त्रार्थ, सर्व-निर्णय तथा भागवतार्थ प्रकरण और उनकी टीका)। (४) सुबोधिनी—(श्री मद्भागवत की आध्यात्मिक भावापन्न गंभीर टीका और कारिकायें जो केवल प्रथम, द्वितीय तृतीय, दशम तथा एकादश स्कंधों पर ही उपलब्ध होती है) (५) षोडशग्रंथ—सिद्धांत विवेचक १६ प्रकीर्ण ग्रंथ। इनके अतिरिक्त श्रुतिगीता, गायत्रीभाष्य, भगवत्पीठिका, शिक्षाश्लोक सेवाविवरण भी इनके अन्य ग्रंथ हैं।

श्री विट्ठलनाथ गुसाईं जी—(१५७२ सं०—१६४२ सं०) आप आचार्य जी के छोटे पुत्र थे, परंतु जेठे पुत्र गोपीनाथजी

के अकाल में ही कालकवलित होने पर गद्दी के अधिकारी हुए। इनका भी बाल्य जीवन काशी, चुनार तथा अडेल में ही व्यतीत हुआ और यहीं इनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। पुष्टिसंप्रदाय की वृद्धि, विस्तार तथा व्यवस्था का सब श्रेय इन्हीं को है। ये बड़े ही विद्वान् तथा आध्यात्मिक व्यक्ति थे। फलतः अकबर से तथा इनके प्रधान दरबारी राजा टोडरमल्ल तथा राजा बीरबल से इनकी गाढ़ी मित्रता थी तथा इसी प्रभाव से वशीभूत होकर अकबर ने गोकुल तथा गोवर्धन की भूमि इन्हें भेंट कर दी थी जिससे संबद्ध दो फरमान आज भी मिलते हैं। इनसे व्रजमंडल में गाय चराने आदि कितने ही करों की माफी का बादशाही हुक्म गोसाईं जी को प्राप्त हुआ। इनकी गाढ़ विद्वत्ता तथा शास्त्रीय अनुशीलन के सूचक इनके लिखित प्रौढ़ ग्रंथ हैं। इन्होंने वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों का गूढ़ रहस्य ही नहीं समझाया, प्रत्युत नवीन ग्रंथों की रचना कर संप्रदाय की साहित्यिक श्रीवृद्धि की। इनके ग्रंथ प्रौढ़, युक्तिपूर्ण तथा विवेचना-मंडित हैं। मुख्य ग्रंथों के नाम हैं—(१) अणुभाष्य—अंतिम डेढ़ अध्यायों की रचना से ग्रंथ की पूर्ति की। (२) विद्वन्मंडन; (३) भक्तिहंस; (४) भक्ति निर्णय, (५) निबंध प्रकाश टीका, (६) सुबोधिनी-टिप्पणी (७) शृंगार-रस-मंडन।

गोपीनाथजी संप्रदाय की गद्दी पर सं० १५८७ से लेकर सं० १६२० तक विराजमान रहे।। तदनंतर उनकी मृत्यु के बाद १६२० विक्रमी में आचार्य पद पर आरूढ़ होकर इन्होंने भ्रमण कर अपने मत का विपुल प्रचार किया। विशेषतः गुजरात में वल्लभ संप्रदाय के विशेष प्रचार का श्रेय विट्ठलनाथ को ही है जिन्होंने इस कार्य के लिए छः बार गुजरात में यात्रा की तथा

भ्रमण किया। आज इस संप्रदाय में जो सेवापद्धति व्यवस्थित रूप से दृष्टिगोचर होती है उसका श्रेय गोसाईं जी को है। पुत्र-संपत्ति भी इनकी विशेष थी। इनके सात पुत्र हुए और इन सातों को भगवान् के सात रूपों की सेवा तथा अर्चना का अधिकार देकर इन्होंने संप्रदाय के विस्तार तथा परिवर्धन की सुव्यवस्था कर दी। इनके नाम गद्दियों के साथ नीचे दिए जाते हैं—

पुत्र	स्वरूप	विराजने का स्थान
(१) गिरिधर जी	श्री मथुरेश जी	कोटा
(२) गोविंदराय जी	श्री विट्ठलनाथ जी	नाथद्वारा
(३) बालकृष्ण जी	श्री द्वारिकाधीश जी	कांकरोली
(४) गोकुलनाथ जी	श्री गोकुलनाथ जी	गोकुल
(५) रघुनाथ जी	श्री गोकुलचंद्रमा जी	कामवन
(६) यदुनाथ जी	श्री बालकृष्ण जी	सूरत
(७) घनश्याम जी	श्री मदनमोहन जी	कामवन

श्री गुसाईं जी जहाँ धर्म के आचार्य, मुगलशासन के न्यायाधीश तथा शास्त्रों के प्रकांड विद्वान् थे, वहाँ व्रजभाषा के महनीय उन्नायक भी थे। व्रजभाषा की वर्तमान साहित्य समृद्धि का गौरव आप दोनों पितापुत्रों को देना चाहिए। व्रजभाषा उस समय तक असंस्कृत तथा परिमार्जन-विहीन, साहित्य क्षेत्र से बहिर्भूत भाषा थी; परंतु आपके ही निरंतर उद्योग तथा प्रोत्साहन के बल पर यह सर्वमान्य साहित्य से समृद्ध भाषा बनी। 'अष्टछाप' के कवियों में सूरदास, परमानंददास, कुंभनदास तथा कृष्णदास वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। नंददास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी तथा गोविंददास श्री विट्ठलनाथजी के शिष्य थे।

पुष्टिसंप्रदाय का सर्वमान्य ग्रंथ श्रीमद्भागवत है जिसे व्यास जी की समाधि भाषा का महनीय अभिधान प्राप्त हुआ है। पिता-पुत्र दोनों इसके मर्मज्ञ रसिक विद्वान् थे। इन्होंने जिन जिन स्थानों पर भागवत का सप्ताह या पारायण किया वह संप्रदाय में 'बैठक' के नाम से विख्यात है। ऐसे बैठक आचार्य जी के ८४ हैं तथा गोसाईं जी के २८ हैं[1]। वह संप्रदाय काव्य, चित्रकला आदि नाना ललित कलाओं के प्रोत्साहक तथा स्फूर्तिदाता के रूप में चिरस्मरणीय रहेगा। भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की सेवापद्धति का जो विस्तृत तथा व्यवस्थित विधान इस संप्रदाय में पाया जाता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस पद्धति के तीन अंश हैं—सेवा, शृंगार तथा कीर्तन। समग्र वर्ष नाना पर्वों तथा उत्सवों में बाँटा गया है और प्रत्येक उत्सव में भगवान् का शृंगार किस प्रकार का होना चाहिए, उनके पूजन में क्या विशिष्टता होनी चाहिए तथा नित्य पूजन में कब किस पद का कीर्तन करना चाहिए, इसका विस्तृत वर्णन नाना ग्रंथों में किया जाता है तथा उसके अनुसार दैनिक तथा वार्षिक पूजा बड़े ठाटबाट तथा समारोह के साथ की जाती है। उदाहरणार्थ प्रबोधिनी एकादशी के दिन भगवान् के मस्तक पर गले में तथा हाथों में नाना प्रकार के माणिकजटित भूषण पहनाने का विधान है। तथ्य यह है कि बालगोपाल की यह पूजा इतने राजसी ठाट बाट से होती हैं, इतनी समृद्धि का उपभोग किया गया है, इतने कीर्तन तथा गायन

---

१ इनके नाम तथा परिचय के लिए द्रष्टव्य 'कांकरोली का इतिहास द्वितीय भाग पृ० ६५—७५ तथा पृ० १११—पृ० ११३

की व्यवस्था की गई है[1] कि इसका सामान्य रूप भी अन्यत्र मिलना एकदम दुर्लभ है।

(३)

सिद्धांत

दार्शनिक जगत् में श्रीवल्लभाचार्य जी का सिद्धांत 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। आचार्य शंकर के अद्वैत से भिन्नता दिखलाने के लिए ही अद्वैत के साथ 'शुद्ध' विशेषण दिया गया है। अद्वैत मत में मायशवलित ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है, परंतु इस मत में माया से अलिप्त, माया संबंध से विरहित, अतएव नितांत शुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है[2]। ब्रह्म ही इस विश्व में एकमात्र सत्ता है जिसके परिणामरूप होने से जगत् तथा जीव की भी सत्ता है। इसीलिए इसकी दार्शनिक दृष्टि 'शुद्धाद्वैत' की नितांत यथार्थ है।

शंकराचार्य उपनिषदों के आधार पर ब्रह्म के द्विविध रूप स्वीकार करते हैं। एक तो है नामरूप-उपाधिविशिष्ट सगुण ब्रह्म तथा दूसरा रूप है उपाधिरहित निर्गुण ब्रह्म। इन दोनों में शंकर निर्गुण ब्रह्म की ही श्रेष्ठता मानते हैं तथा सगुण ब्रह्म को माया-शबलित मानकर उसकी हीनता स्वीकार करते हैं, परंतु

---

१ द्रष्टव्य 'श्री द्वारकाधीश की सेवा-श्रृंगार प्रणाली' तथा 'गृहकीर्तन प्रणालिका,' प्रकाशक श्री विद्याविभाग; कांकरोली सं० १९९४।

२ मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥२८

—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड

वल्लभाचार्य की सम्मति में ब्रह्म के दोनों ही रूप सत्य हैं। परब्रह्म विरुद्ध धर्मों का आश्रय रहता है। वह एक ही समय निर्गुण भी रहता है तथा सगुण भी। निर्धर्मक प्राकृत गुणों से विरहित होते हुए भी सधर्मक अर्थात् दिव्यधर्मों से युक्त होता है। वह है 'अणोरणीयान्' तथा 'महतो महीयान'। वह क्रूरकर्मों का कर्ता होने पर भी दयारहित नहीं है, प्रत्युत घनीभूत सैन्धववत् बाह्याभ्यंतर सदा एकरस रहता है। इसी कारण वह कर्तुम् अकर्तुम् तथा अन्यथा कर्तुम् अर्थात् सर्वभाव धारण में समर्थ होता है। ब्रह्म अविकृत होते हुए भी भक्तों पर कृपा के द्वारा परिणामशील होता है। ब्रह्म के इस द्विविध रूप पर आचार्य का विशेष आग्रह है—

> निर्दोष-पूर्ण-गुणविग्रह आत्मतन्त्रो
> निश्चेतनात्मक शरीरगुणैश्च हीनः।
> आनन्दमात्र-कर-पाद-मुखोदरादिः
> सर्वत्र च त्रिविध-भेद-विवर्जितात्मा। (निबन्ध)

श्री कृष्ण ही यह परब्रह्म है। उनका शरीर सच्चिदानंदमय है। जब वह अपनी अनंत शक्तियों के द्वारा अपनी आत्मा में आंतर रमण किया करता है तब वह 'आत्माराम' कहलाता है। जब बाह्य रमण की इच्छा से वह अपनी शक्तियों की बाह्य अभिव्यक्ति करता है तब वह कहलाता है 'पुरुषोत्तम',। इस रूप में आनंद की चरम अभिव्यक्ति के कारण वह 'आनंदमय' 'अगणितानंद' तथा 'परमानंद स्वरूप' कहलाता है। यही आनंद धर्मी वाला उनका बाह्य प्रकटरूप 'पुरुषोत्तम' नाम से अभिहित किया जाता है। वल्लभाचार्य ने इस परात्पर पुरुष का 'पुरुषोत्तम' नाम गीता के आधार पर दिया है, क्योंकि गीता की दृष्टि में

क्षरपुरुष को अतिक्रमण करने तथा अक्षर ब्रह्म से उत्तम होने के कारण यह पर पुरुष 'पुरुषोत्तम' के नाम से विख्यात होता है[1]।

श्री कृष्ण अपनी अनंत शक्तियों से वेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ 'व्यापी वैकुंठ' में नित्य लीला किया करते हैं। यह लोक विष्णु के वैकुंठ से ऊपर अवस्थित है और गोलोक भी इस व्यापी वैकुण्ठ का एक अंशमात्र है। भगवान् में अनंत शक्तियाँ तदधीन रहती हैं। जिनमें श्री, पुष्टि, गिरा, कान्त्या आदि बारह शक्तियाँ मुख्य हैं। क्रीड़ा के निमित्त भगवान् का समग्र परिवार तथा लीलापरिकर इस भूतल पर अवतीर्ण होता है। तब व्यापी वैकुंठ ही गोकुल के रूप में विराजता है और द्वादश शक्तियाँ श्रीस्वामिनी, चंद्रावली, राधा, यमुना आदि आधिदैविक रूपों में प्रकट होती हैं। वृज की गोपियाँ के रूप में भगवान् के रस-कल्लोलका सद्यः आस्वाद ग्रहण करने के लिए श्रुतियाँ ही अवतीर्ण हुई हैं। यह समग्र लीला नित्यरूप से आविर्भूत होती है। इसीलिए इनके निर्देशक मंत्रों में वर्तमान काल के सूचक पद पाये जाते हैं। इसी कारण उस अंधे भक्त सूरदास ने अपनी दिव्य दृष्टि से उस लीला का अवलोकन कर भगवान् के निसदिन विहार करने की बात लिखी हैः—

---

१ यस्मात् क्षरमतीतो ऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतो ऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
—गीता

जहाँ वृन्दावन आदि अजर जहाँ कुंज लता विस्तार।
तहाँ विहरत प्रिय-प्रियतम दोउ निगम भृंग गुंजार॥
रतन जटित कालिन्दी के तट अति पुनीत जहाँ नीर।
सरस–हंस–चकोर-मोर खग कूजत कोकिलकीर॥
जहाँ गोवर्धन पर्वत मनिमय सघन कन्दरा सार।
गोपिन मंडल मध्य विराजत निसदिन करत विहार॥

ब्रह्म तीन प्रकार का होता है—

(१) आधिभौतिक = जगत्
(२) आध्यात्मिक = अक्षर ब्रह्म
(३) आधिदैविक = पर ब्रह्म (या पुरुषोत्तम)

अक्षर ब्रह्म में आनंद अंश का किंचिन्मात्र में तिरोधान रहता है, परंतु परब्रह्म आनंद से सर्वथा परिपूर्ण रहता है। ब्रह्म के इस उभय रूप में केवल स्वरूप का ही अंतर नहीं है, प्रत्युत इनकी प्राप्ति के साधनों में भी भेद है। अक्षर ब्रह्म केवल विशुद्ध ज्ञान के द्वारा ही गम्य तथा प्राप्य होता है, परतु पुरुषोत्तम की प्राप्ति का साधन तो केवल अनन्या भक्ति है। आचार्य गीता की समीक्षा करने पर इसी सिद्धांत पर पहुँचते हैं। गीता कहती है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८।५४)

इस पद्य का स्वारस्य यही है कि ब्रह्मभाव की प्राप्ति के अनंतर भगवद्भाव की प्राप्ति संभव है। 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' = अनन्य भक्ति ही पर (श्रेष्ठ) पुरुष की प्राप्ति का मुख्य साधन है। ज्ञानमार्गीय साधकों को ज्ञान के द्वारा अक्षर

ब्रह्म की ही उपलब्धि होती है। पुरुषोत्तम की उपलब्धि के अधिकारी भक्तिमार्गीय ही उपासक होते हैं। इसीलिए आचार्य का भक्ति की उपादेयता पर इतना आग्रह है[1]।

जीव—जब भगवान् को रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह अपने आनंद आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण करता है। इस व्यापार में भगवान् की केवल इच्छा ही प्रधान कारण है—माया का संबंध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दीनता उत्पन्न होती है, यश के तिरोधान से सर्वहीनता, श्री के तिरोधान से वह समस्त आपत्तियों का भाजन बनता है और ज्ञान के तिरोधान से देहात्म-बुद्धिका वह पात्र बनता है। आनंद अंश का तिरोभाव प्रथमतः ही संपन्न होता है जब ईश जीवभाव को प्राप्त करता है।[2] ब्रह्म से जीव का आविर्भाव उसी प्रकार होता है जैसे अग्नि से स्फुलिंगों का। आविर्भूत जीव नित्य होता है। यह 'व्युच्चरण' कहलाता है जो उत्पत्ति से सर्वथा भिन्न होता है। व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता में कथमपि ह्रास नहीं होता। जीव ज्ञाता, ज्ञान रूप तथा अणु होता है। सच्चिदानंद भगवान् के अविकृत सदंश से जड का निर्गमन होता है तथा अविकृत चिदंश से जीव का आविर्भाव। जीव के निर्गमन काल में केवल आनंद अंश का तिरो-

---

१ 'पुरुषः स परः पार्थ' (गीता ८।२२) इत्यनेन अक्षरात् परस्य स्वस्य भक्त्येकलभ्यत्वमुक्तम्। तेन ज्ञान-मार्गीयाणां न पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम्।

—अणु भाष्य ३।३।३३

२ पराभिध्यानात् ब्र० सू० ३।२।५ का अणुभाष्य देखिए।

भाव रहता है, परंतु जड़ के निर्गमन काल में चित् तथा आनंद उभय अंशों का तिरोभान रहता है। इस वैशिष्ट्य पर ध्यान देना आवश्यक है।[1]

जीव तथा ब्रह्म के स्वरूप को लेकर वेदांत संप्रदाय में महान् मतभेद है। ब्रह्मसूत्र इस विषय में कहता है—अंशो नाना-व्यपदेशात् (२।३।४३) इस 'अंश' शब्द की व्याख्या टीकाकारों ने नाना प्रकार से की है। शंकराचार्य ब्रह्म को निष्कल तथा निरवयव बतलानेवाले उपनिषद्‌वाक्यों को प्रमाण मानकर ब्रह्म का अंश होना असंभव मानते हैं और 'अंश' को 'अंश इव' के अर्थ में ग्रहण करते हैं। 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगाः' इस उपनिषद्-वाक्य तथा पूर्वोक्त ब्रह्मसूत्र के प्रमाण पर वल्लभ जीव को ब्रह्म का वास्तव अंश मानते हैं। इसकी युक्ति का भी निर्देश अणुभाष्य में किया गया है[2]।

जीव अनेक प्रकार का होता है—(१) शुद्ध (२) मुक्त (३) संसारी। ऊपर कहा गया है कि निर्गमन के समय आनंद अंश का तिरोधान होने पर अविद्या के साथ संबंध हो जाता है। उससे पूर्व जीव शुद्ध कहलाता है। अविद्या के साथ संसर्ग होने पर जीव संसारी नाम से पुकारा जाता है। यह जीव भी दो

---

१ प्रमेयरत्नार्णव पृ० ७-९

२ विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गताः।
सर्वतः पाणिपादान्तात् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात्॥
निरिन्द्रियात् स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः
सदंशेन जडाः पूर्वे चिदंशेनेतरे अपि।
अन्यधर्मतिरोभावा मूलेच्छातो स्वतन्त्रिणः॥
२।३।४३ का अणुभाष्य।

प्रकार का होता है—दैव तथा आसुर। मुक्त-जीवों में कोई तो जीवन्मुक्त होते हैं और कुछ केवल-मुक्त। जब संसारी दशा में पुष्टि मार्ग के सेवा से भगवान की स्वाभाविकी दया जीवों पर होती है तब उनमें तिरोहित आनंद का अंश पुनः प्रादुर्भूत होता है। अतः मुक्त दशा में जीव आनंद अंश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानंद बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है।

जगत्—वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवाद के सिद्धांत को मानते हैं। निर्गुण सच्चिदानंद ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगद्-रूप में परिणत हो जाता है। लोक में भी यही बात देखी जाती है। कुंडल आदि रूपों में परिणत होने पर भी जिस प्रकार सोने में विकार उत्पन्न नहीं होता उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता। आचार्य जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश नहीं मानते। प्रत्युत आविर्भाव तथा तिरोभाव मानते हैं। अनुभावयोग्यता होना ही आविर्भाव है तथा अनुभावयोग्य न होना ही तिरोभाव का लक्षण है। ईश्वर की इच्छा से ही यह सृष्टि आविर्भूत होती है। वल्लभाचार्य जगत् और संसार में सूक्ष्म भेद मानते हैं। भगवान् के सदंश से प्रादुर्भूत पदार्थ जगत् है परंतु अविद्या के कारण जीव के द्वारा ही कल्पित ममतारूप पदार्थ संसार है। अविद्या की सत्ता होने पर संसार है जो ज्ञान के उदय होने पर स्वयं नष्ट हो जाता है। परंतु जगत् जीव तथा ईश्वर के समान ही नित्य पदार्थ है।

पुष्टिमार्ग

अब आचार्य के साधन-पक्ष की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। 'पुष्टि' ही शब्द का अर्थ है भगवान का अनुग्रह

(पोषणं तदनुग्रहः—भागवत् २।१०)। आचार्य ने प्राणियों के अनुसरण के लिये तीन मार्ग कहे हैं—(१) पुष्टि-मार्ग (२) प्रवाह-मार्ग (३) मर्यादा-मार्ग । भक्ति-मार्ग ही पुष्टिमार्ग है जो सर्वोत्तम है। केवल वेद-प्रतिपादित कर्म और ज्ञान के संपादन का मार्ग मर्यादा-मार्ग है। संसार के प्रवाह में पड़कर लौकिक सुख और भोग के लिये प्रयत्न करते रहना प्रवाह-मार्ग है। अंतिम मार्ग तो संसारी जीवों के निमित्त होने से त्याज्य ही है परंतु प्रथम दो मार्गों में भी नितांत भेद है। मर्यादा-मार्ग वैदिक है जो अक्षर-ब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है। परंतु पुष्टि-मार्ग साक्षात-पुरुषोत्तम के शरीर से निकला हुआ है। मर्यादा-मार्ग का साधक ज्ञान के द्वारा सायुज्य-मुक्ति को ही अपना ध्येय मानता है। परंतु पुष्टि-मार्ग का उपासक आत्म-समर्पण तथा रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनंद-धाम भगवान के अधरामृत के पान को ही अपनी उपासना का फल मानता है। पुष्टि-मार्ग की यही विलक्षणता है कि यह केवल भगवान के एक-मात्र अनुग्रह से ही साध्य होता है।

भक्ति भी इसी कारण दो प्रकार की होती है। मर्यादा भक्ति में फल की अपेक्षा बनी रहती है। परंतु पुष्टि भक्ति फल की आकांक्षा से रहित रहती है। यदि प्रथम का लक्ष्य है सायुज्य की प्राप्ति, तो दूसरे का फल है अभेद-बोधन। वल्लभाचार्य का यह आग्रह है कि वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदों से रहित होने के कारण पुष्टि-मार्ग ही इस कलि-काल के जीवों के लिये एकमात्र सुलभ या सुगम मार्ग है। पुष्टि-मार्ग भी अन्य कृष्ण-भक्ति-प्रधान मार्गों के समान श्रीमद्भागवत् की महती देन है। इसी लिये उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के समान ही श्रीमद्भागवत भी 'प्रस्थान चतुष्टयी' में गिना जाता

है। यह व्यास जी की समाधि-काल में उद्बुद्ध वाणी है (समाधि भाषा व्यासस्य)। इसी लिये आचार्य के ग्रंथों में अणु भाष्य की अपेक्षा सुबोधिनी का कहीं अधिक आदर है—

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा सुबोधिनी।
नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्-जन्म भूतले ॥

—:※:—

(४)

पुष्टिभक्ति का स्वरूप

श्री वल्लभाचार्य ने भक्ति का दो प्रकार बतलाया है—(१) मर्यादा-भक्ति, तथा (२) पुष्टि-भक्ति। जो भक्ति साधनों के सापेक्ष, भजन, पूजन आदि साधनों की सहायता से जिसकी उपलब्धि होती है वह तो मर्यादा-भक्ति कहलाती है, परंतु जो साधननिरपेक्ष होकर भगवान् के अनुग्रहमात्र से स्वतः प्रादुर्भाव पाती है, जिसमें जीवों पर स्वयं दया करके भगवान् अपने अनुग्रह की अभिव्यक्ति करते हैं, वह पुष्टिभक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति कहलाती है। जैसे भगवान् अनंत हैं, वैसे ही उनके गुण ऐश्वर्यादि भाव भी अनंत हैं। वह लीलापुरुषोत्तम अपनी लीला के हेतु ही इस सृष्टि का सर्जन करता है तथा स्वयं अवतार लेकर नाना प्रकार की ललित क्रीड़ायें किया करता है। लीला को छोड़कर इस ब्रह्मांड के आविर्भाव का कोई भी अन्य प्रयोजन नहीं। परंतु लीला किसे कहते हैं? वल्लभाचार्य ने इसकी सुंदर व्याख्या भागवत तृतीय स्कंध की सुबोधिनी में की है। उनका

कथन है[1]—लीला विलास की इच्छा का नाम है। कार्य के बिना ही यह केवल व्यापारमात्र होता है अर्थात् इस कृति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं किया जाता। उत्पन्न किए गए कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नहीं रहता। कोई कार्य उत्पन्न हो गया, तो होता रहे। इसमें न तो कर्ता का कोई उद्देश्य रहता है; न कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास ही उत्पन्न होता है। लीला की अभिव्यक्ति अंतःकरण में पूर्ण आनंद के उदय को सूचित करती है। उसी के उल्लास से कार्योत्पत्ति के समान कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही भगवान् की लीला है। सर्ग-विसर्ग आदि जिस प्रकार भगवान् पुरुषोत्तम की लीलाएँ हैं, उसी प्रकार भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला है। मर्यादा-मार्ग में भगवान् साधन-परतंत्र रहता है, स्वतंत्र नहीं क्योंकि इस मार्ग में भगवान् को अपनी बँधी हुई मर्यादाओं की रक्षा करना अभीष्ट होता है। पुष्टि-मार्ग में वह किसी साधन का परतंत्र न होकर स्वयं स्वतंत्र होता है। अनुग्रह भी भगवान् की नित्यलीला का अन्यतम विलास है। भागवत तथा गीता दोनों ग्रंथों में इस उभयविध मार्गों का विवरण है।

अनुग्रह की दशा में जीव की स्थिति कैसी रहती है? तब आनंदस्वरूप भगवान् प्रकट होकर जीव को अपने स्वरूप-बल से ही अपने किसी भी प्रकार के संबंधमात्र से स्वरूप दान करते

---

१ लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्तु अन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजनन-सदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते।

—सुबोधिनी (भागवत, तृतीयस्कंध)

हैं अर्थात् जीव के देह, इन्द्रिय तथा अंतः करण में अपने आनंद का स्थापन कर उसे अपने स्वरूप में स्थित कर देते हैं। यही जीव की मुक्ति है अर्थात् अन्यथाभाव को छोड़ कर स्वरूप से, आनंद रूप से, अवस्थान होना ही मुक्ति है।[1] इस प्रकार जीव को आनन्दमय बना देना ही प्रभु की प्रकृति, प्रकृष्ट कृति या स्वभाव है। गीता के अनुसार भगवान् इसी प्रकृति को स्वीकार कर प्रकट होते हैं—प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया (गीता ४ अ०, श्लो० ६)

भगवान् के अनुग्रह की महिमा बतलाते हुए वल्लभाचार्य श्रीमद्भागवत के सिद्धांत को स्वीकार कर कहते हैं कि जीवमात्र को निरपेक्ष मुक्ति दान करने के लिए ही भगवान् का प्रादुर्भाव है। भगवान् सर्वैश्वर्य-संपन्न, अपराधीन, कर्मकालादिकों के नियामक तथा सर्वनिरपेक्ष हैं। ऐसी दशा में अवतार लेने का प्रयोजन ही क्या? दुष्ट-दलन तथा सज्जन - रक्षण का कार्य तो अन्य साधनों से भी सिद्ध हो सकता है, तब उनके अवतार का प्रयोजन क्या? मानवों को साधन-निरपेक्ष मुक्ति का दान ही भगवत्प्राकट्य का जागरूक प्रयोजन है अर्थात् साधक के विना किसी साधना की अपेक्षा रखते हुए भी भगवान् स्वतः अपने लीला-विलास से, अपने अनुग्रह से, उसे स्वरूपापत्तिरूपी मुक्ति प्रदान करते हैं—

> नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो भुवि।
> अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः[2] ॥—भाग० १०।२९।१४

---

१ मुक्तिर्हित्वाऽन्यथा भावं स्वरूपेण व्यवस्थितिः। —भाग०

२ अतः स्वपरप्रयोजनाभावात् यदि साधन-निरपेक्षां मुक्तिं न प्रयच्छेत्, तदा व्यक्तिः प्रादुर्भावः प्रयोजनरहितैव स्यात्। —सुबोधिनी

पुष्टिमार्ग की पुष्टिभक्ति का यही प्रकृत यथार्थरूप है।

आचार्य वल्लभ ने भक्तिशास्त्र के ऊपर कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं लिखा है, परन्तु प्रकीर्ण ग्रंथों में भक्ति के रूप तथा प्रकार का वर्णन बड़ी सुंदरता के साथ किया है। भक्ति के सामान्य लक्षण में ईश्वर के प्रति सुदृढ़ तथा उत्कट प्रेम के साथ साथ वल्लभाचार्य जी ने ईश्वर की महत्ता के निरन्तर ज्ञान और ध्यान पर भी आग्रह रक्खा है[1]। वल्लभ को नवधा भक्ति मान्य है, परन्तु यह साधन भक्ति है जिसकी उपादेयता मर्यादामार्गीय जीव के ही लिए मान्य है। पुष्टिमार्गीय जीवों की सृष्टि केवल भगवान् की स्वरूप-सेवा के ही लिए है, क्योंकि पुष्टिमार्गीय जीव के लिए भगवान् का अनुग्रह ही समग्रकार्यों का नियामक होता है। भगवान् के अनुग्रह के बिना रागानुगा भक्ति का आविर्भाव ही असम्भव है। अतः जीव का यही परम कर्तव्य है कि भगवान् के अनुग्रह की सिद्धि के लिए उनकी सेवा एकांतनिष्ठा तथा शुद्ध अनुराग के साथ करे। भागवत के अनुसार ऐसा कोई भाव नहीं है जिसका आश्रय लेकर भगवान् की कृपा का सम्पादन नहीं किया जा सकता। भगवान् का संतत निरंतर ध्यान तथा निष्ठा ही मुख्य वस्तु है और इस निष्ठा के उत्पादन के लिए अनेक भावों का आश्रय लिया जा सकता है। "जो कोई भगवान् में काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य अथवा सौहार्द भाव रखता है वह भगवान् का ही रूप बन जाता है"—भागवत की इस

---

१. माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥
—तत्त्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण श्लोक० ४६

उक्ति[1] की समीक्षा में आचार्य ने कहा है कि काम स्त्री भाव में, क्रोध शत्रु भाव में, भय वधिक भाव में, स्नेह सम्बन्धियों में, ऐक्य ज्ञान दशा में, तथा सौहार्द सौख्य भाव में विद्यमान रहता है; परंतु भावों का यह परिगणन उपलक्षणमात्र है। जिस किसी भावसे हो, भगवान का भजन ही जीव का एकमात्र धर्म है। ऐहिक तथा तथा आमुष्मिक कामना की भावना से विरहित जीव को भगवच्चरण में अपने को अर्पण कर भगवान् की अनुकंपा पर अपने को छोड़ देना चाहिए। सर्वसमर्थ भगवान् उचित फल का संपादन अवश्य करेंगे; इसकी सामान्य भी चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती। भक्तों का तो एकमात्र पुष्टिमार्गीय उपदेश है आचार्य चरण का—पूर्ण निष्ठा से भगवान् का सर्वथा तथा सर्वदा भजन।

सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन ॥
—चतुः श्लोकी, श्लोक १

सेवा तीन प्रकार की होती है[2]—(१) तनुजा—अपने शरीर से; भगवान् के निमित्त ही अपने शरीर तथा उसके व्यापारों का एकनिष्ठा से समर्पण। (२) वित्तजा—अपने धन से तथा संपत्ति से। (३) मानसी—मन के द्वारा भगवान् की सेवा।

---

१ कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
—भाग० १०।२९।१५

२ चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
ततः संसारदुःखस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ॥२॥
—सिद्धांत मुक्तावली

मानसी सेवा सर्वश्रेष्ठ तथा एकांत उपयोगिनी बतलाई गई है[1] क्योंकि मानस-निरोध के द्वारा ही यह सेवा साध्य होती है। अतः सच्चे भक्त का यही परम कर्तव्य है कि वह इन त्रिविध सेवाओं के द्वारा भगवान् की उपासना में दत्तचित्त होकर रहे।

वल्लभाचार्य के अनुसार भगवदनुग्रह की सिद्धि के लिए भक्त के हृदय में उत्कट प्रेम की सत्ता नितांत आवश्यक है। भगवान् से मिलने के लिए आतुरता तथा उसके वियोग में नितांत व्याकुलता का होना भक्त हृदय की विशिष्ट घटना है जिससे भगवान् की नैसर्गिकी कृपा साधकों के ऊपर होती है। इसीलिए आचार्य श्रीकृष्ण के विरह में नंदजी, यशोदाजी तथा गोपियों के हृदय में उत्पन्न होनेवाले दुःख की कामना करते हैं।[2] प्रेम के परिपाक में इस विरह के गौरव से साधक परिचित हैं और इसी विरह-भावना की पुष्टि के लिए संन्यास तथा गृहत्याग की आवश्यकता होती है। वल्लभाचार्य का स्पष्ट कथन है कि विरह के अनुभव के लिए गृहत्याग उत्तम होता है और इस दशा में ऐसा वेष धारण उचित होता है जो अपने बंधनरूप स्त्री पुत्रादिकों से निवृत्ति का सूचक हो।[3] आचार्य जी ने प्रेम की तीन अवस्थाओं का

---

१ कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।

—वही, श्लोक १

२ यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद् दुःखं तद् दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥

—निरोधलक्षण

३ विरहानुभवार्थं तु परित्यागः सुखावहः
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेषः सोऽत्र न चान्यथा।

—संन्यासनिर्णय, श्लोक ७।

वर्णन किया है—स्नेह, आसक्ति और व्यसन। ये तीनों ही भावनायें भगवान् के प्रति हमारी भक्ति के दृढ़ीकरण तथा निरंतर पुष्टि के निमित्त ही आवश्यक मानी गई हैं। भगवान् में जब भक्त का स्नेह होता है, तब संसार के विषयों में होनेवाले राग का नाश हो जाता है। जब स्नेह आसक्ति के रूप में परिणत हो जाता है तब घरबार के कामों से अरुचि उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि अब साधक के लिए गृह, दारा आदि पदार्थ बाधक प्रतीत होने लगते हैं। व्यसन से तात्पर्य है भगवान् में निरंतर अनायास प्रेमभाव से जिसकी प्राप्ति होने पर जीव कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार स्नेह को आसक्ति के अनंतर व्यसन में परिणत होने पर जीव की कृतकार्यता संपन्न हो जाती है।[1] आचार्यचरण का यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बड़ा ही मार्मिक तथा अंतरंग साधना का सूचक है।

श्री वल्लभाचार्य जी भगवान् श्री कृष्ण के बालरूप के उपासक थे और इसीलिए उन्होंने वात्सल्य भक्ति का ही प्रथमतः प्रचार किया। उन्होंने स्वस्थापित श्री गोवर्धननाथ के मंदिर में भगवान् की पूजा - अर्चा की व्यवस्था तथा सेवा का विधान अपने पूर्व निर्दिष्ट सिद्धांतों के अनुसार ही किया और आज भी वल्लभमत से संबद्ध मंदिरों में बालगोपाल की पूजा अक्षुण्ण भाव से

---

१. व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा।
ततः प्रेम तथासक्तिर्व्यसनं च तथा भवेत् ॥३
स्नेहाद् रागविनाशः स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचिः।४
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते।
यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि ॥५

—भक्तिवर्धिनी

प्रचलित है। परंतु गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने अपने समय में किशोर कृष्ण की युगल लीलाओं तथा युगल स्वरूप की उपासना-विधि का भी समावेश पीछे से सांप्रदायिक भक्तिपद्धति में कर दिया। कुछ लोग इस प्रकार की मधुर भाव की भक्ति का समावेश चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी वैष्णवों के संपर्क का सद्यः फल मानते हैं[१], परंतु अनेकों के मत में इस भावना का उदय स्वतः संप्रदाय में हुआ और इसके लिए यह किसी अन्य संप्रदाय का ऋणी नहीं है। इस प्रश्न की मीमांसा के लिए तत्कालीन कृष्णाश्रयी संप्रदायों के परस्पर संबंध की गहरी छानबीन अपेक्षित है। जो कुछ भी हो, इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने मधुर भावना की उपासना का प्रचार किया जिसका शास्त्रीय वर्णन उन्होंने अपने 'शृंगारमंडन' में किया है। राधा की उपासना का समावेश भी इसी युग की घटना है, क्योंकि विट्ठलनाथ जी के राधा की स्तुति में 'स्वामिन्यष्टक' तथा 'स्वामिनी स्तोत्र' नामक दो स्तोत्रग्रंथों की रचना की है। श्री वल्लभाचार्य जी के ग्रंथों में श्री राधा के इतने स्पष्ट उल्लेख का प्रायः अभाव सा दृष्टिगोचर होता है।

गौडीय वैष्णवों के विपरीत वल्लभ संप्रदाय में राधा परकीया न होकर स्वकीया ही मानी जाती हैं। गोपियों के नाम, धाम तथा प्रकार आदि का भी विवेचन इस मार्ग में बड़ी ही मार्मिकता से 'सुबोधिनी' में किया गया है।

अन्य वैष्णवमतों के अनुरूप प्रपत्ति या शरणागति ही इस संप्रदाय में भी नितांत उपादेय तत्त्व है। भक्ति तथा प्रपत्ति में स्पष्ट पार्थक्य है। भक्ति में साधनों की अपेक्षा रहती है, परंतु प्रपत्ति

---

१ गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ० ५२६—५२८

में साधनों की कथमपि आवश्यकता नहीं होती। इसमें साधनानुष्ठान का स्वीकार नहीं है; केवल भगवान् का ही स्वीकार है। इसका अर्थ नहीं कि भजन पूजन आदि का निषेध है, परंतु ये कार्य आवश्यक, अवश्यमेव करणीय, नहीं हैं। प्रपत्ति भी द्विविध प्रकार की मानी गई है—(१) मर्यादिकी प्रपत्ति और (२) पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति। मर्यादिकी प्रपत्ति में साधक के द्वारा कर्म का अनुष्ठान सर्वथा आवश्यक होता है, परंतु पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति में भगवान् का पूर्ण आश्रय, पक्का सहारा रहता है; कर्म का अनुष्ठान रंचकमात्र भी करना नहीं पड़ता। द्विविध भेद की पुष्टिमार्गीय व्याख्या श्रीवैष्णवों में भी ठीक इसी प्रकार है। तथ्य यह है कि शुद्ध प्रपत्ति कर्म की अपेक्षा नहीं रखती। यह तो साधक की वह मानसिक दशा है जिसमें वह भगवान् को छोड़ कर किसी अन्य को अपना आश्रय नहीं मानता और भगवान् के पादारविंद में अपने को सर्वात्मना समर्पण के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता। सर्वात्मना सर्वथा सर्वदा समर्पण ही पुष्टिमार्गीय प्रपत्ति का स्वरूप है।

पुष्टिमार्ग—आवश्यकता तथा विशिष्टता

यह संसार विपत्तियों का आगार है। चारों ओर से विपत्तियाँ आकार हमें थपेड़ा मार रही हैं। जिधर दृष्टि डालिये उधर ही हमारे लिये दुःख का सागर उमड़ रहा है। अतः सब आचार्यों के सामने सब समय यही विकट प्रश्न उपस्थित होता आया है कि इस जगत् के त्रिविध दुःखों से सदा के लिये (आत्यंतिकी) निवृत्ति किस प्रकार होगी। कौन ऐसा सुगम उपाय है जो मानव जीवों को इन बंधनों से छुड़ाकर आनंद के मार्गपर लगा देगा।

प्राचीन आचार्यों ने ज्ञान, कर्म तथा भक्ति के मार्ग मुमुक्षुजनों के लिये इन दुःखों से छुटकारा पाने के लिये ही निर्दिष्ट किये हैं। वल्लभाचार्य इन मार्गोंकी उपयोगिताको मानते हैं, परंतु उनकी दृष्टि में इन साधनों का ठीक-ठीक आचरण इस कलिकाल में नहीं हो सकता। महाप्रभु ने अपने कृष्णाश्रय-स्तोत्र में इस कुटिल काल का बड़ा ही सजीला वर्णन किया है। समस्त देश म्लेच्छों के आक्रमणों से ध्वस्त हो गये हैं; गंगादि तीर्थों को पापियों ने घेर रक्खा है तथा उनके अधिष्ठातृदेवता अंतर्धान हो गये हैं। ऐसे विपरीत समय में क्या ज्ञान की निष्ठा हो सकती है? यज्ञ-यागादिकों का यथोचित अनुष्ठान हो सकता है? अथवा भक्ति मार्ग का ही क्या आचरण भली-भाँति हो सकता है? कभी नहीं। यदि हो भी सकता है, तो केवल वेदाध्ययननिरत त्रिवर्ण के पुरुषों को ही हो सकता है। शूद्रों तथा स्त्रियों की मुक्ति भला इन दुर्गम मार्गों के अनुसरण से कभी हो सकती है? उनके लिये तो कोई सीधा राजमार्ग होना चाहिये जिस पर चल कर वे लोग—निराश्रय तथा निःसहाय जन—इस संसार के समस्त बंधनों से अनायास ही मुक्त हो जायँ। इन निराश्रयों का उद्धार सदा की भाँति आज भी एक विषम समस्या है। महाप्रभु ने इन्हीं लोगों के कल्याण के लिये अपना पुष्टिमार्ग चलाया। इस मार्ग में परब्रह्म श्रीकृष्ण भगवान्[1] का अनुग्रह ही एकमात्र साधन

---

१ भगवान् श्रीकृष्ण ही परमसत्तारूप हैं। देखिये—

(क) परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ॥ २ ॥

(सिद्धान्तमुक्तावली)

(ख) कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ॥ १ ॥

(अन्तःकरणप्रबोध)

है। जो लोग प्रसिद्ध साधनत्रय के निष्पादन में अपने को असमर्थ पाते हैं, उन्हें चाहिये कि अपनी समस्त वस्तुएँ, अपना सर्वस्व भगवान् के चरणारविंदों में समर्पण कर दें। यदि पूर्ण भक्ति के साथ हम श्रीकृष्ण के पादपद्मों में अपने निराश्रय आत्मा को डाल दें, तो क्या वह करुणावरुणालय हमारा उद्धार न करेगा? क्या वह विश्वम्भर हमारा भरण-पोषण न करेगा? क्या वह व्रजविहारी हमारे आर्त चित्त को अपनी मधुर वंशी की तान से आप्यायित न कर देगा? अवश्य करेगा, जरूर करेगा। परंतु हम में चाहिये उसके अनुग्रह में पूरा विश्वास, उसकी अलौकिक कृपा पर नितांत भरोसा।

वल्लभ ने पुष्टिमार्ग की मर्यादामार्ग से विशिष्टता स्पष्ट रूप में दिखलाई है। मर्यादामार्ग में जीव फल के लिये अपने कर्मों के अधीन है। जैसा वह कर्म करेगा, वैसा फल भगवान् उसे देंगे। 'कर्मानुरूपं फलम्' मर्यादामार्ग का प्रसिद्ध सिद्धांत है, परंतु पुष्टिमार्ग में कर्म की क्या आवश्यकता[1]? मर्यादामार्ग में शास्त्रविहित ज्ञानकर्म के आचरण से ही मुक्तिरूपी फल मिलता है परंतु पुष्टिमार्ग में ज्ञानकर्म की नितांत निरपेक्षता बनी रहती है[2]।

---

१ फलदाने कर्मापेक्षः। कर्मकारणे प्रयत्नापेक्षः। प्रयत्ने कामापेक्षः। कामे प्रवाहापेक्षः। इति मर्यादारक्षार्थं वेदं चकार। ततो ब्रह्मणि न दोषगन्धोऽपि। न चानीश्वरत्वम्। मर्यादामार्गस्य तथैव निर्माणात्। यत्रान्यथा स पुष्टिमध्य इति। (ब्रह्म सूत्र २।३।४२ पर अणुभाष्य)

२ अत एव पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादायामङ्गीकृतस्य तु तदपेक्षितत्वमत्र युक्तमेवेति भावः।

(ब्र० सू० ३।३।२९ पर अणुभाष्य)

इसी कारण से सब निराश्रय दीन जीवों का एकमात्र मोक्ष साधन तथा उद्धारोपाय है—पुष्टिमार्ग, जिसमें भगवान् अपने में कर्मणा मनसा वाचा आत्मसमर्पणशील जीवों का प्रपंच से उद्धार अपनी दया के बल से कर देते हैं[1]। अतः यह मार्ग सब जीवों के लिए—वर्ण, जाति, देश किसी भी भेदभाव के विना—सर्वदा तथा सर्वथा उपादेय है। यही इस मार्ग की विशेषता है। मर्यादामार्ग से इस मार्ग की यही विशिष्टता है[2]।

ब्रह्मसंबंध का अनुष्ठान

यह तो हुआ पुष्टिमार्गीय सिद्धांत, परंतु अब इस सिद्धांत को व्यवहार में किस प्रकार लाने की व्यवस्था आचार्य-चरणों ने बतलाई है? उसका विचार करना भी समुचित है। इसे व्यावहारिक रूप जिस विधि के द्वारा दिया जाता है उसका नाम इस संप्रदाय में है ब्रह्म-संबंध[3]। इस अनुष्ठान का विधान वल्लभाचार्य

---

१ पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैकसाध्यः प्रमाणमार्गाद्विलक्षणः।
(ब्र० सू० ४।४६ पर अ० भा०)

२ इस संबंध में विशेष जानने के लिये देखिये श्री हरिराय जी कृत पुष्टिमार्गीय कारिकाएँ—प्रमेयरत्नार्णव पृ० १८। २४ नमूने के तौर पर एक कारिका नीचे दी जाती है—

समस्तविषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

३ ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि.....................॥ २ ॥
(सि० र०)

जी को स्वयं भगवान् ने बतलाया था; इसका उल्लेख हमें उनके सिद्धांतरहस्य नामक स्तोत्र में (पहले श्लोक में) मिलता है। इस अनुष्ठान के द्वारा गुरु प्रत्येक शिष्य का भगवान् के साथ संबंध करा देता है। मुमुक्षु शिष्य को ज्ञाननिरत तथा भागवत-तत्त्वज्ञ गुरु की खोज करनी चाहिये। अनुरूप गुरु की प्राप्ति हो जाने पर उसे अपना अभिप्राय बतलाना चाहिये। तब गुरु उसे सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्ण ही हमारे शरण हैं अर्थ वाला 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र बतलाते हैं। इसे 'शरण मंत्र' के नाम से पुकारते हैं। वल्लभाचार्य जी ने नवरत्न में स्वयं इस मंत्र के विषय में कहा है—

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम।
वदद्भिरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः॥ ९॥

इसके अनंतर वह गुरु शिष्य को भगवान् के विग्रह के पास ले जाता है, तुलसी की माला देता है तथा दीक्षा-मंत्र का उपदेश करता है तथा शिष्य से उच्चारण कराता है। यह मंत्र नितरां गोप्य माना जाता है। इस मंत्र की आत्मनिवेदनमंत्र के नाम से प्रसिद्धि है। इसमें भक्त अपनी समस्त वस्तुओं को, अपनी देह, इन्द्रिय, प्राण, अंतःकरण को उनके धर्मों के साथ अपनी आत्मा को भगवान् को निवेदन कर देता है। यह मंत्र यों है—

सहस्रपरिवत्सरमितकालजातकृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि दासोऽहं कृष्ण तवास्मि।

प्रसिद्धि है कि श्रीकृष्ण ने यह मंत्र आचार्यजी को स्वयं बतलाया था। इस मन्त्रोपदेश के अनंतर उस नवीन श्रद्धालु भक्त को गोपियों को अपना आदर्श मान कर अपना समर्पणनिरत जीवन बिताना चाहिये तथा भगवान की पूजा-अर्चा ही में अपना कालयापन करना चाहिये। उसे अपने ज़ीवन पर तनिक भी ममता नहीं, स्वतंत्रता नहीं। वह तो अब भगवान् का दास बन गया। जीवन भी भगवान् ही का है। उसके ज़ितने कर्म हैं, चेष्टाएँ हैं, मन-वचन-कर्म के जितने विविध विधान हैं, वे सब श्रीकृष्ण को ही समर्पण किये जाते हैं। इस प्रकार वह सर्वात्मना भगवान् का दास बन कर अपनी ऐहिक लीला की समाप्ति के अनंतर भगवनुग्रह से गोलोक की विपुल शांति में जा विराजता है।

पुष्टिमार्ग की प्राचीनता

श्री भगवान् के अनुग्रह को ही मुक्ति का एकमात्र साधन बतलाने का सिद्धांत आधुनिक नहीं है। यह तो वेदकाल से चला आता है। यह उपनिषदों में यत्र तत्र सूत्ररूप से पाया जाता है। मुंडक उपनिषद् ने आत्मा की उपलब्धि का कारण बतलाते समय न तो प्रवचन को कारण माना है, न मेधा को और न बहुशास्त्रश्रवण को, प्रत्युत यही बतलाया है कि जिस पर उसकी कृपा होती है वही उसे प्राप्त कर सकता है—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
> न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
> स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

कठोपनिषद् में भी (१।२।२०) 'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मानः' कहकर भगवान् के प्रसाद से ही आत्मस्वरूप के दर्शन करने की बात कही गयी है। अतः भगवदनुग्रह का यह सिद्धांत अत्यंत प्राचीन है, वैदिक है, परंतु आचार्यचरण ने इसे ही मुक्ति की मूलभित्ति मानकर अपना जो पुष्टिमार्ग चलाया उसमें श्रीमद्भागवत ही प्रधान कारण प्रतीत होता है। भागवत में वैदिक सिद्धांतों की ही तो विस्तृत व्याख्या है। श्रुति में जो सूत्ररूप से है उसका भाष्य हमें भागवत में उपलब्ध होता है। भागवत में भगवदनुग्रह को बड़ा महत्त्व दिया गया है। ज्यों ही भक्त भगवान् के संमुख होता है, भगवान् दया करके उसके समस्त पातकों को जलाकर उसे अपना लेते हैं तथा दुःखों से मुक्ति की व्यवस्था कर देते हैं। वह तो भक्तवत्सल ठहरे। भागवत का कहना है कि भगवान् कल्पतरु-से स्वभाववाले हैं—

> चित्रं तवेहितमहोऽमितयोगमाया-
> लीलाविसृष्टभुवनस्य विशारदस्य।
> सर्वात्मनः समदृशो विषमः स्वभावो
> भक्तप्रियो यदसि कल्पतरुस्वभावः ॥
>
> (भाग० ८ । २३ । ८)

जो कामी भक्त हैं और भगवान् से याचना करते हैं उन्हें तो वे उनका मुँह-माँगा फल दे ही देते हैं, परंतु अनिच्छुक अकामी भक्तों को भी स्वयं अपना चरण-कमल प्रदान कर देते हैं, जिससे उनकी सब इच्छाएँ ही आप-से-आप समाप्त हो जाती हैं। भगवान् की जीवों पर कृपालुता असीम होती है—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थता यतः ।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥
(भाग० ५ । ११ । २७)

आत्मनिवेदन की विशिष्टता

भक्ति के द्वारा ही भगवान् का अनुग्रह हमें प्राप्त हो सकता है। विना भक्ति के ज्ञान और कर्म हस्तिस्नान की तरह बिल्कुल निष्फल हैं। प्रह्लादजी ने दान, व्रत, शौच आदि को व्यर्थ बतला कर भगवान् के प्रीतिसंपादन करने के लिए निर्मला तथा निष्काम भक्ति को ही एकमात्र साधन बतलाया है—

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥
(भाग० ७ । ७ । ५२)

परंतु भक्ति तो नवधा ठहरी। श्रवण, कीर्तन, वंदनादि के द्वारा भक्ति की जाती है, परंतु श्रवणादि भक्ति के बहिरंग साधन के समान प्रतीत होते हैं। इनमें भक्त की भगवान् से पृथक् ही सत्ता बनी रहती है, तादात्म्य का पक्का रंग अभी तक चढ़ा हुआ नहीं दीख पड़ता। 'एकात्मता' की ऊँची सीढ़ी अभी दूर ही दृष्टिगोचर होती है। इसके लिए अंतिम भक्ति-प्रकार आत्मनिवेदन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। गीता में इसका सूत्र मिलता है, भागवत में इसका भाष्य। भागवत ने आत्म-निवेदन से सद्यः अमृतत्वलाभ तथा कृष्णैकात्म्य की प्राप्ति बतलायी है। एकादश में भगवान् का स्वयं कहना है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥
(११ । २६ । ३४)

जब तक भगवदर्पण नहीं किया जाय, वेदविहित त्रिवर्ग एकदम मिथ्या हैं, वह प्रह्लादजी का कथन (७ । ३ । २६) बिल्कुल सत्य है। अतः भक्ति के सब प्रकारों में आचार्य जी ने आत्मनिवेदन को जो अपना मंत्र बनाया, वह भागवत के सर्वथा संमत ही है।

शरणागति

श्री कृष्ण के शरण में बिना गए मनुष्य का कल्याण साधन नहीं हो सकता। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीता बतलाती है। भागवत में भी इस विषय का बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन हम पाते हैं। जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर दूसरे की शरण में जाता है, वह मूर्ख कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना चाहता है—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्॥
(भाग० ६ । ९ । २२)

तापत्रय से संतप्त मनुष्य के लिए भगवान् का पादपद्म ही तो एकमात्र शरण है। उद्धवजी का कथन है—

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥
(भाग० ११ । १९ । ९)

ऐसे मनुष्य को क्लेश किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते (भाग० ३ । २२ । ३५) तथा अपनी भृकुटि से समस्त विश्व को ध्वंस करनेवाला यमराज भी ऐसे मनुष्य को अपने प्रभाव के बाहर समझता है (भाग० ४ । २४ । ५६)। ऐसा होना उचित ही है, क्योंकि भगवान् के पादपद्म 'अभयं' सर्वतो भयशून्य हैं, 'ऋतं' अविनाशी हैं तथा 'अशोकं' नितरां शोकरहित हैं—

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥
(१०।५१।५६)

जब तक हम भगवान् के शरणापन्न नहीं हैं, तभी तक ही यह गृह कारागृह है, राग-द्वेष चोर हैं, मोह पादबंधन है। शरणागति के अनंतर तो भगवद्भक्ति के साधक होने से इनमें स्वार्थ के कीड़े मर जाते हैं; ये सब परार्थ होने से श्लाघनीय बन जाते हैं।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

अतः मुक्तिसाधन में शरणागति का बड़ा उपयोग है। महाप्रभुजी ने शरणमन्त्र को अपना कर अपनी भागवत-तत्त्वज्ञता का गहरा परिचय दिया है।

अब तक के विवेचन से यह बात किसी भी आलोचक को स्पष्ट मालूम पड़ जायगी कि पुष्टिमार्ग का उपरिविवेचित रूप भागवत के आधार पर है। इसी लिये इस मत के आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के बाद 'व्यास की समाधि भाषा'—भागवत—को भी प्रमाण-चतुष्टय में ठीक ही गिनाया है[1]।

(५)

पुष्टिमार्गीय साहित्य

पुष्टिमार्गीय साहित्य मात्रा में कुछ कम नहीं है, परंतु उसके मूलभूत ग्रंथ दो ही माने जा सकते हैं जिनकी व्याख्या-सम्पत्ति ने इस साहित्य को समृद्ध तथा मांसल बनाया है। एक है ब्रह्म-सूत्र और दूसरा है श्रीद्भागवत। वल्लभाचार्य ने इन दोनों ग्रंथ-रत्नों की प्रभा को अपने अणुभाष्य तथा सुबोधिनी के द्वारा बड़ी ही सरसता तथा विद्वत्ता के साथ प्रकटित किया है। प्रतीत होता है कि आचार्य-चरण के ये दोनों ग्रन्थ मूलतः पूर्ण थे, परंतु उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ की मृत्यु के अनंतर उनके परिवार में उत्पन्न अव्यवस्था के कारण ये ग्रंथ छिन्न-भिन्न हो गए। श्रीविट्ठलनाथ जी को ब्रह्मसूत्र के आदि के केवल अढ़ाई अध्यायों के ऊपर ही अणुभाष्य उपलब्ध हुआ और उन्होंने स्वयं अंतिम डेढ़ अध्यायों के ऊपर भाष्य लिखकर इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की पूर्ति की। सुबोधिनी आज भी खंडित ही उपलब्ध होती है।

---

१ वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥ ७६ ॥
(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ४६)

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम स्कन्धों पर पूरी तथा एकादश स्कन्ध के कतिपय अध्यायों पर ही सुबोधिनी प्राप्त होती है।

अणुभाष्य ही पुष्टिमार्ग का सर्वस्व है। इसकी व्याख्या-सम्पत्ति भी विपुल है। विट्ठलनाथजी की मृत्यु (सं० १६४२) के लगभग सौ वर्षों के अनंतर पुरुषोत्तमजी ने सर्वप्रथम अणुभाष्य के ऊपर 'भाष्यप्रकाश' नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्यान लिखा जिसे हम अणुभाष्य की सर्वप्रथम तथा सर्वोत्तम व्याख्या कह सकते हैं। इनका जन्म वल्लभाचार्य से सातवीं पीढ़ी में सं० १७२४ में हुआ था। इनका आरंभिक जीवन मथुरा में तथा पश्चात् सूरत में बीता। 'भाष्यप्रकाश' पर इनके गुरु कृष्णचंद्र महाराज की ब्रह्मसूत्र-वृत्ति (भावप्रकाशिका) का विशेष प्रभाव पड़ा है। भाष्यप्रकाश अणुभाष्य के गूढार्थ के प्रकाशक होने के अतिरिक्त अन्य भाष्यों का तुलनात्मक विवेचक भी है और यही इस ग्रंथ-रत्न की विशिष्टता है। पुरुषोत्तम जी के अन्य मान्य ग्रंथों में (१) सुबोधिनी प्रकाश, (२) उपनिषद्दीपिका, (३) आवरणभंग, (४) प्रस्थान-रत्नाकर, (५) सुवर्णसूत्र ('विद्वन्मंडन' की पांडित्यपूर्ण विवृत्ति), (६) अमृत-तरंगिणी (गीता की पुष्टिमार्गीय टीका) तथा (७) षोडशग्रंथ-विवृत्ति मुख्य हैं। इनका निधन १७८१ सं० में माना जाता है। अणुभाष्य की ओर आकृष्ट होने वाले पंडितों में मथुरानाथ तथा मुरलीधर जी का भी नाम उल्लेखनीय है। प्रथम ने 'प्रकाश' तथा द्वितीय ने 'सिद्धांत प्रदीप' लिखकर अणुभाष्य के सिद्धांत को बोधगम्य बनाया। ये दोनों टीकायें पुरुषोत्तम जी की व्याख्या से स्वतंत्र हैं।

'भाष्यप्रकाश' के ऊपर 'रश्मि' नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्यान

लिखकर गोपेश्वरजी (सं० १८३६-१८६७ सं०) ने संप्रदाय के लिए बड़े हित की बात की। यह रश्मि भाष्यप्रकाश के गूढ़ स्थलों पर ही अपनी प्रभा नहीं बिखेरती है, प्रत्युत अणुभाष्य को भी विस्तार से समझाती है। इस प्रकार प्रकाश की त्रुटि की मार्जना करनेमें वह कृतकार्य होती है। गोपेश्वरजीके शिष्य काशी गोपाल-मंदिर के स्वामी गिरिधर जी महाराज ने भी अणुभाष्य को अपनी पांडित्यपूर्ण टीका से मंडित किया। ये व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वान् होने के अतिरिक्त पाठभेद के प्रवीण समीक्षक थे। अतः अणुभाष्य में अनेक पाठों का विवेचन कर मूल ग्रंथ के विशुद्ध पाठ को इन्हों ने ठीक किया है। इनका विख्यात ग्रंथ 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' शुद्धाद्वैत के सिद्धांतों के प्रकाशन में सचमुच मार्तंड ही है।

अनेक विद्वानों ने पुष्टिमार्ग से सिद्धांतनुसार ब्रह्मसूत्र के ऊपर स्वतंत्र वृत्तियाँ भी लिखी हैं जिनमें दो मुख्य हैं—

(१) कृष्णचंद्र महाराज की भावप्रकाशिका वृत्ति। ये पुरुषोत्तम जी के मान्य गुरु थे। संभव है कि इसकी रचना में योग्य शिष्य का भी कुछ हाथ हो। मात्रा में यह वृत्ति अणुभाष्य से भी बढ़कर है।

(२) भट्ट व्रजनाथ की मरीचिका—यह वृत्ति मूल अर्थ के समझने में बड़ी ही उपयोगिनी है तथा अणुभाष्य के ऊपर अवलंबित है।

आचार्य वल्लभ तथा उनके सुयोग्य पुत्र विट्ठलनाथ जी ने उभय प्रकार के ग्रंथों का प्रणयन सामान्य जन तथा विशिष्ट विद्वानों के लाभ के लिए किया। आचार्यचरण के ग्रंथ तो संप्रदाय के लिए मूल ग्रंथ के समान मान्य तथा श्लाघ्य हैं।

इनके प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं—(१) ब्रह्म सूत्र का भाष्य (अणुभाष्य), (२) तत्त्वदीप निबंध (भागवत के सिद्धांतों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रंथ), (३) सुबोधिनी (भागवत की मार्मिक टीका), (४) भागवत सूक्ष्मटीका, (५) पूर्व मीमांसा भाष्य (त्रुटित) (६) लघुकाय सिद्धांत-प्रतिपादक षोडश ग्रंथ।

विट्ठलनाथ जी के ग्रंथों में मान्य ग्रंथ ये हैं—

(१) निबंधप्रकाश, (२) विद्वन्मंडन, (३) शृंगाररसमंडन (४) सुबोधिनी टिप्पण (५) अणुभाष्य के अंतिम डेढ़ अध्यायों के ऊपर भाष्य जिसे लिख कर इन्होंने भाष्य की पूर्ति की। पूर्वनिर्दिष्ट होने पर भी यहाँ उनका उल्लेख विषय की पूर्ति के लिए किया गया है।

(६)

अष्टछाप

सूरदास—अष्टछाप के कवियों ने भगवान् श्रीकृष्णकी ललित लीलाओं के कीर्तनविषयक नाना प्रकार के पदों की रचना कर भक्ति-साहित्य को ही अग्रसर नहीं किया, प्रत्युत ब्रजभाषा को भी सुगढ़ साहित्यिक भाषा का रूप दिया। इनमें सबसे श्रेष्ठ कवि निःसंदेह सूरदासजी थे। इनका जन्म आगरा मथुरा की सड़क पर स्थित 'रुकनता' नामक गाँव में १५३५ विक्रमी की वैशाख सुदी पंचमी को हुआ था। श्रीवल्लभाचार्य जी इनके पदों के लालित्य से इतने मुग्ध हुये कि उन्होंने श्रीनाथजी के कीर्तन के निमित्त अपने साथ वृंदावन लेते गये। सं० १५८० विक्रमी के आसपास ये आचार्य जी के शिष्य हुए और श्रीनाथजी के सामने कीर्तन

गाने का कार्य उनके अधीन किया गया। उनकी मृत्युतिथि के विषय में भी काफी मतभेद आलोचकों में बना हुआ है। कोई इनकी मृत्युकाल १६२० वि० मानता है, तो कोई १६३८ वि०। यदि पिछली तिथि ठीक हो तो उस समय इनकी आयु लगभग १०३ वर्ष की ठहरती है।

सूरदासजी का 'सूरसागर' वास्तव में ब्रज साहित्य का मुकुट-मणि है जिसकी आभा समय के परिवर्तन तथा आलोचना की नई दिशा के उत्पन्न होने पर भी फीकी नहीं हुई है। इस ग्रंथरत्न में भगवान् श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन इतना साङ्गोपाङ्ग तथा ललित भाव से किया गया है कि इस जोड़ी का वर्णन साहित्यमें दूसरा नहीं है। तुलसीके समान सूरदासका काव्य-क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था कि मानव जीवन की विविध दशाओं में समावेश यहाँ किया जा सके, परंतु सीमित होने पर भी इनकी वाणी ने उस क्षेत्र का कोई भी कोना अछूता नहीं छोड़ा। शृंगार और वात्सल्य की सृष्टि में अंधे सूर को जो सूझी वह किसी भी चक्षुष्मान् कवि को नहीं सूझी। बालकाव्य वल्लभमतानुयायी कवियों का निजी क्षेत्र है जहाँ उनकी प्रतिभा अपना कमनीय जौहर दिखलाया करती है। इस विषय में सूर सबके अग्रणी हैं। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहाँ मिलेगा? इसी प्रकार गोपियों के प्रेम तथा विरह के चित्रण में सूरदास एकदम बेजोड़ हैं। ये मानव-हृदय के भीतर प्रवेश कर इतनी स्वभाविकता से उसकी वृत्तियाँ का चारु चित्र प्रस्तुत करते हैं कि देखनेवाला दंग रह जाता है। गोपियों के मुख से प्रेम के विलास की कितनी मार्मिक अभिव्यंजना सूरदास ने कराई है।

प्रेम के कारण दुःखमय जीवन बितानेवाली विरहिणी गोपियों का यह कथन कितना सटीक तथा सयुक्तिक है—

प्रीति करि काहू सुख ना लह्यो।
प्रीति पतङ्ग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो॥
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों संपति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नादसों सनमुख बान सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधो सों चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनों नैननि नीर बह्यो॥

राधाकृष्ण के प्रेम के प्रादुर्भाव की कैसी स्वाभाविक परिस्थिति का चित्र है; यह देखिये:—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन कर ते धार चलति पय, मोहनि मुख अति ही छबि बाढ़ी।

संध्या होने पर कभी तो गोपियों को यह स्मरण आता है—

एहि बेरियाँ बनते चलि आवते।
दूरहि तें वह बेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥

कभी कभी अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वे वृन्दावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुवन! तुम कस रहत हरे?
बिरह बियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे॥
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
कौन काज ठाढ़े रहे बनमें काहे न उकठि परे॥

जब उद्धव बहुत-सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोक कर इस प्रकार पूछती हैं—

निर्गुन कौन देश को वासी ?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥
रेख न रूप बरन जाके नहिं, ताको हमें बतावत।
अपनो कहो दरस ऐसो को तुम कबहूँ हो पावत।
मुरली धरत अधर है सो, पुनि गोधन बन बन पारत।
नैन विशाल भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत।
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि पीतांबर तेहि सोहत।
सूर स्याम ज्यों देत हमें सुख त्यों तुमको सोउ मोहत।

सूरदास की मृत्यु सं० १६३८ विक्रमी (=१५८२ ई०) में अनुमान से मानी गई है। उस समय इनकी आयु लगभग १०२ वर्ष की थी[1]।

परमानन्द दास—इनका निवासस्थान कन्नौज जिला फरुखाबाद में था। आप कनौजिया ब्राह्मण थे। ये गृहस्थी के प्रपञ्च में कभी नहीं फँसे क्योंकि इन्होंने अपना विवाह तक नहीं किया था। ये बड़े ही भारी कीर्तनकार तथा काव्य-रचयिता थे। इनके काव्य तथा कीर्तनों का ऐसा प्रभाव पड़ता था कि सुननेवाले भावमग्न हो जाते थे। वल्लभाचार्यजी को ये एक बार ब्रज जाते समय अपने गाँव ले गये थे और वहीं उन्होंने विरह का यह पद इतनी भावभङ्गी से सुनाया कि आचार्यजी उसको सुनकर तीन दिन तक ध्यानावस्थित रहे। वह सुप्रसिद्ध पद यह है—

---

१ दीनदयाल गुप्त—अष्टछाप पृ० २१६।

हरि तेरी लीला की सुधि आवे।
कमल नयन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावे ॥
एक बार जेहि मिलत मया करि सो कैसे बिसरावे।
मुख मुसुकानि बंक अवलोकनि चाल मनोहर भावे ॥
कबहुँक निबड़ तिमिर आलिंगित कबहुँक पिक सुर गावे।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि सङ्गहीन उठि धावे ॥
कबहुँक नयन मूँदि अन्तरगति मनि माला पहिरावे।
परमानन्द प्रभु श्याम ध्यान करि ऐसे बिरह गमावे ॥

अष्टछाप में सूरदास और परमानंद दास ये दो ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं क्योंकि इन दोनों ने ही कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाओं का गान सबसे अधिक मार्मिक शब्दों में किया था। इसीलिये गोस्वामी जी ने सूर और परमानंद दोनों को ही 'सागर' कहा है। आप लोग बड़े ही सुंदर कीर्तन गाते थे। इसलिये आप के पास भावुक भक्तों की सदा भीड़ लगी रहती थी। इन्होंने अपनी समग्र काव्यशक्ति वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के प्रचार और प्रसार में लगाया। ये प्रथम कोटि के वैष्णव थे जिन्हें नंद और यशोदा से विरहित होने के कारण वैकुंठ की भी तनिक लालसा न थी। इन्होंने एक पद में गाया है—

कहा करौं बैकुण्ठहिं जाय।
जहँ नहिं नन्द जहाँ न यशोदा नहि जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहिं कदमन की छाय।
'परमानन्द' प्रभु चतुर ग्वालिनीं ब्रज रज तजि मेरी जाय बलाय।

वल्लभ संप्रदाय में यह विश्वास दृढ़मूल है कि सूरदास आचार्य चरण के समवयस्क थे, परंतु परामनंद दास जी उनसे

१५ वर्ष छोटे थे। इसी मान्यता के आधार पर इनका जन्मकाल १५५० वि० सं० (१५३५ वि०+१५) ठहरता है। १५७६ वि० में लगभग २६ वर्ष की अवस्था में ये वल्लभाचार्य के शिष्य बने अर्थात् सूरदास के शरणापन्न होने के अनंतर ही ये संप्रदाय में आये। इनकी मृत्यु का अनुमान १६४० सं० में किया जाता है। सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार परमानंद जी दिन की गोचारण लीला में 'तोक' सखा और रात्रि की कुंजलीला में 'चंद्रभागा' सखी माने जाते थे। इनके पदों का संग्रह 'परमानंद सागर' के नाम से प्राप्त होता है, परंतु अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

कुंभनदास जी—ये जाति के क्षत्री थे। श्रीगोवर्धन के निकट 'जमुनावत' गाँव में रहते थे और वहीं इनका जन्म भी हुआ था। उन दिनों जमुनाजी का प्रवाह इस गाँव के निकट था। उनका खेत पारसोली चंद्र सरोवर के ऊपर पड़ता था और वहीं ये खेती करके अपना जीवन निर्वाह करते थे। आप पूरे विरक्त और धनमान मर्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सिकरी जाना पड़ा था। वहाँ उनका बड़ा सम्मान हुआ। परन्तु बादशाह के सामने जाने का इन्हें इतना विषाद हुआ कि इन्होंने अपनी विषण्ण दशा का वर्णन तत्काल रचित इस पद में प्रकट किया—

भक्तन को कहा सीकरी सों काम।

आवत जात पन्हैया टूटी, बिसरि गयो हरि नाम।
जाको मुख देखे दुख लागे ताको करन परी परनाम॥
'कुम्भनदास' लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।

इनके पद बड़े ही सुंदर तथा रोचक होते थे जिनको सुनने की लालसा से हित हरिवंश तथा स्वामी हरिदास जैसे संत महात्मा इनके यहाँ आते थे। इतने निःस्पृह थे कि जैपुर के राजा मानसिंह ने इनका दर्शन कर मोहरों की थैली देनी चाही जिसे इन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया। यह अंतिम पद गाते हुए इन्होंने अपना शरीर त्याग किया—

रसिकनी रसमैं रहत गढ़ी।
कनकबेलि वृषभानु-नन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी।
बिहरत श्रीगिरिधरलाल संग कोने पाठ पढ़ी।
कुंभनदास प्रभु गोवर्द्धनधर रति रसकेलि बढ़ी।

वार्ताओं के आधार पर इनका जन्मकाल लगभग १५२५ विक्रमी, तथा शरणागति काल १५४६ वि० है। कुम्भनदास जी सूरदास जी की मृत्यु के समय (सं० १६३८) जीवित थे तथा परमानंद दास जी के गोलोकवास से पूर्व ही इनका निधन हो चुका था। अतः इनका निधन दोनों के बीच में अर्थात् १६३९ विक्रमी में माना जाना चाहिए।

कृष्णदासजी—ये भी वल्लभाचार्य जी के शिष्य और अष्टछाप में थे। इनका जन्म गुजरात के 'चिलोतरा' नामक ग्राम में कुनबी के घर हुआ था। ये जाति के शूद्र थे। परंतु आचार्य जी के बड़े कृपा-पात्र थे और मंदिर के प्रधान मुखिया हो गये थे। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में इनका विस्तार से वृत्त दिया गया है। एक बार गोसाईं विट्ठल जी से किसी बात पर अनबन हो जाने के कारण इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इस पर गोसाईं जी के कृपापात्र बीरबल ने उनको कैद कर

लिया। पीछे गोसाईं जी इस बात से बड़े दुःखी हुये और इनको कारागार से मुक्त करा कर प्रधान के पद फिर ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित कर दिया।

आपने भी राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार के बड़े सुंदर पद गाये हैं। 'जुगल-मान चरित्र' नामक एक छोटा सा ग्रंथ आपका मिलता है। भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण नाम के इनके दो और ग्रंथ बतलाये जाते हैं। आपका पद यहाँ दिया जा रहा है। कहते हैं इसी पद को गा कर कृष्णदास ने शरीर छोड़ा—

मो मन गिरधर छवि पर अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजन स्याम घन बरन लीन ह्वै फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो॥

वल्लभ संप्रदाय के इतिहास में कृष्णदास जी मंदिर के अधिकार तथा सुव्यवस्था के कारण इतने प्रसिद्ध हैं कि आजतक श्रीनाथ जी के स्थान पर 'कृष्णदास अधिकारी' की ही मोहर लगती है और इनके नाम के नीचे काम करनेवाले अधिकारी के हस्ताक्षर रहते हैं।

श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी को सं० १५६६ की अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) के दिन नवीन मंदिर में प्रविष्ट किया था; यह घटना सप्रमाण सिद्ध है। उसी के कुछ ही दिन पहिले कृष्णदास जी आचार्य जी के शरण में आये थे। सुनते हैं कि उस समय इनकी उम्र १३ वर्ष की थी। अतः इनका जन्मकाल १५५२ वि० के आसपास मानना चाहिए। सं० १६३१ वि० तक इनके जीवित रहने का अनुमान लगाया गया है।

नंददास—अष्टछाप के कवियों में सूरदास के अनंतर इनकी ही विमल ख्याति भक्त तथा कवि के रूप में सर्वत्र जागरूक है। इनके जीवनचरित के विषय में वार्ता-ग्रंथों ने बड़ा घपला कर रखा है जिससे सत्य का ठीक ठीक पता नहीं चलता। वार्ता में ये तुलसीदास के छोटे भाई बतलाये गये हैं, परंतु अभी तक तुलसीदास तथा गोस्वामी तुलसीदास की अभिन्नता स्पष्ट प्रमाणों पर सिद्ध नहीं हो सकी है। ये विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। काव्य-कला में विशिष्ट चातुरी के कारण ही ये आलोचक-समाज में 'जड़िया' की उपाधि से मण्डित किये गये हैं। अन्य कवि लोग तो हैं केवल गढ़िया, गढ़ने वाले, परंतु नंददास जी थे जड़िया, जड़नेवाले, कविता कामिनी के शृंगार को जड़नेवाले, कलावंत। इनके ग्रंथों की संख्या काफी अधिक है। संस्कृत के अच्छे पंडित होने के कारण इन्होंने संस्कृत से अनभिज्ञ भगवद्-भक्तों के लिए भागवत के दशम स्कंध का पूरा अनुवाद हिंदी में प्रस्तुत किया। इनकी सर्वोत्तम रचनायें हैं—**रास पंचाध्यायी** तथा **भ्रमर-गीत**। इनके समकालीन ध्रुवदास जी ने इनकी भक्ति-रसिकता को सुंदर पंक्तियों में अंकित किया है—

> नंददास जो कछु कह्यौ, रागरंगमें पागि।
> अच्छर सरस सनेहमय, सुनत होत हिय जागि॥
> रसिक दसा अद्भुत हुती, करत कवित्त सुढ़ार।
> बात प्रेम की सुनत ही, छुटत प्रेम-जल धार॥

नंददास जी परम भागवत तथा उच्च प्रतिभावान् कवि थे। इनका जीवन-काल लगभग १५६० वि०—१६४० वि० के बीच माना जा सकता है। इनकी कविता तथा भक्तिभावना की

बात से आकृष्ट होकर अकबर ने अपनी व्रजयात्रा के प्रसंग में वीरबल के द्वारा नंददास को बुलाया था तथा उनसे भेंट की थी, यह वार्ता से स्पष्ट प्रमाणित है[१]।

'भ्रमरगीत में' उद्धव के 'निर्गुण' उपदेश पर गोपियाँ कहती है—

जो उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमैं, मोहि तुम कहो, कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह री, माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल बारि जल कीच॥
सखा सुन श्याम के॥

करुनामई रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
जब ही ज्यों नहि लखो तबहि लौं बाँधी मूठी॥
मैं जानी ब्रज जायकैं, तुम्हरो निर्दय रूप।
जो तुमको अवलंब हीं, तांको डारो कूप॥
कौन यह धर्म है।

छीत स्वामी—आप पहले मथुरा के एक सुप्रसिद्ध सुसम्पन्न पंडा थे। राजा वीरबल जैसे लोग इनके यजमान थे। पंडा होने के कारण ये बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे। पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से मंत्रदीक्षा लेकर परम शांत भक्त हो गये और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। सं० १६१२ के लगभग आपने रचनाऐं की। इनके फुटकर पद ही लोगों के मुख से

---

१ नंददास की ग्रंथावली नागरी प्रचारिणी सभासे हाल में ही प्रकाशित हुई है।

सुने जाते हैं या इधर उधर संगृहीत मिलते हैं। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त व्रजभूमि के प्रति प्रेम-व्यञ्जना भी अच्छी पायी जाती है—

हे विधना ! तोसों अंचरा पसारि मांगौ
जनम जनम दीजो याही व्रज वसिवो।

यह आप का ही पद है। इनके पदों में सरसता और मधुरता ओत-प्रोत है।

भोर भये नव कुञ्ज-सदन ते आवत लाल गोवर्धन धारी।
लटपटि पाग, मरगजी माला, सिथिल अंग, डगमग गति न्यारी।
बिनु गुन माल विराजति उर पर नखछत द्वैज चंद अनुहारी।
छीत स्वामि जब चितये मो तन तब हौं निरखि गये बलिहारी।

गोविंद स्वामी—श्रीगोविंद स्वामी अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये विरक्त होकर महावन में रहने लगे थे। पीछे गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए जिन्होंने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर अष्टछाप में लिया। इनका रचना-काल सं० १६०० से १६२५ तक माना जा सकता है। ये गोवर्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही आपने कदंबों का एक उपवन लगाया था जो आज तक भी 'गोविंद स्वामी की कदंब खंडी' कहलाता है। ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये थे। तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने के लिये भी आया करते थे।

गोविंद स्वामी गोकुल में रहते थे। पर श्रीयमुना जी में पांव नहीं देते थे। वह यमुना जी को साक्षात् श्रीस्वामिनी जी मानते थे। श्रीयमुना जी का दर्शन करते, दंडवत करते, उसका जलपान भी करते परंतु पांव कभी न धाते। एक दिन कई संतों ने मिलकर इन्हें बलात् यमुना जी में नहलाना चाहा। इस पर इन्होंने प्रार्थना की कि यह मलमूत्र से भरा शरीर माँ यमुना के योग्य नहीं है। यमुना जी तो साक्षात् श्रीस्वामिनी जी हैं। अतः इस अधम देह को स्पर्श न करायें। श्रीयमुना जी में तो सिर्फ उत्तम सामग्री अर्पण करनी चाहिये। यह सुनकर सब संत चुप हो गये।

गोविंद स्वामी भक्त तथा उच्च कोटि के कवि होने के अतिरिक्त एक उच्चकोटि के गायक थे। वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने से पहिले भी इनके अनेक शिष्य गानविद्या के अनुशीलन में हो गए थे और इसी आचार्यत्व के कारण ये 'स्वामी' पदवी से विभूषित किये गये थे। वार्ता का कथन है कि अकबरी दरबार का गायक-रत्न तानसेन भी हरिदास स्वामी जी के शिष्य होने पर भी इनसे गाना सीखने आता था। स्वामीजी के सहस्रावधि पद सुने जाते हैं परंतु आजकल केवल २५२ पदों की ही उपलब्धि वैष्णव घरानों में होती है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार गोविद स्वामी विक्रमी १५९२ सं० (=१५३६ ईस्वी) में गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शरण में आये थे। उस समय इनकी काव्यकला तथा गानविद्या की ख्याति पर्याप्त रूप से हो चुकी थी। १६४२ वि० (=१५८६ ई०) में विट्ठलनाथ की मृत्यु के कुछ ही बाद इनका भी निधन संपन्न हुआ। बालकृष्ण की भव्य झाँकी इस पद में देखिए—

प्रात समै उठि जसुमति जननी, गिरिधर सुतको उबटि न्हवावति ।
करि श्रृंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि-रचि पाग बनावति ।
छुटे बंद वागे अति शोभित बिच-बिच चोव अरगजा लावति ।
सूथन लाल फूँदना सोभित आजु कि छबि कछु कहति न आवति ।
विविध कुसुम की माला उर धरि श्रीकर मुरली वेत गहावति ।
लै दरपन देखे श्रीमुख को गोविंद प्रभु चरननि सिर नावति ॥

चतुर्भुजदास—अष्टछाप के ही पूर्ववर्णित कुंभनदास जी के सबसे छोटे पुत्र थे। पिता की वैष्णव भक्ति तथा निर्मल आचार का प्रभाव पुत्र के ऊपर पूरी मात्रा में पड़ा था। ये श्रीनाथ जी के ही समक्ष गाया करते थे तथा दूसरे किसी के आगे ये कभी गाते ही न थे। सुनते हैं कि एक बार बड़ी सुंदर रास चल रही थी। गोसाईं जी के पुत्र श्रीगोकुलनाथ जी ने इनसे गाने के लिए कहा, परंतु इन्होंने इस लिए अस्वीकार कर दिया कि अभी तक श्रीनाथ जी का इस स्थान पर प्राकट्य नहीं हुआ है। भक्त की बानी को सिद्ध करने के लिए श्रीनाथजी के आगमन होने पर ही इन्होंने आनंदमग्न चित्त से गाया—

अद्भुत नट भेस धरे जमुना तट स्यामसुंदर
गुननिधान गिरिवरधर रासरंग राचे ॥

इनका जन्मकाल तथा शरणागति का संवत् एक ही माना जाता है वि० सं० १५९७ (= १५५१ ई०)। केवल ५४ वर्ष की अवस्था में सं० १६५२ में इनका निधन हुआ। ये गोसाईं विठ्ठलनाथ जी के मान्य शिष्यों में थे। चरित था एकदम उदार, हृदय था भक्तिभावना से पूरित तथा काव्य था भगवान् की स्वानुभूत लीला के वर्णन से रसस्निग्ध। अपने पिता के समान ही पुष्टिमार्ग की पुष्टि में निरंतर लगे रहे।

—❀—

(६)

राधावल्लभीय संप्रदाय

राधाकरावचित-पल्लव-वल्लरीके
राधापदाब्ज-विलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखर-मत्तखगावलीके
राधाविहार-विपिने रमतां मनो मे ।

—हितहरिवंशजी



रसिकाचार्य्यवर्य्य अनन्तश्री गोस्वामी
श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु

१—हितहरिवंशजी

राधावल्लभीय संप्रदाय को कुछ लोग निम्बार्क मत की वृंदावनी शाखा मानते हैं और कुछ लोग चैतन्य मत का; परंतु वस्तुतः यह एक स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय है जो ठेठ ब्रजमंडल में ही उत्पन्न हुआ और यहीं खूब फूला फला। इसके अनुयायियों का प्रधान अखाड़ा आज भी ब्रजमंडल ही है। संप्रदाय की साधना-पद्धति इसे एक स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय मानने के लिए बाध्य करती है। नाभादासजी ने भी इस पंथ की सेवापद्धति या रसचर्या को साधारण मानवों के लिए नितांत दुष्कर तथा कठिन बतलाया है।

इस संप्रदाय को जन्म देनेवाले महात्मा श्रीहितहरिवंशजी थे जो वैष्णवमतानुसार श्रीकृष्णचंद्र की मुरली के अवतार माने जाते हैं। उनकी कविता इतनी सरस तथा स्निग्ध है कि आश्चर्य नहीं भक्तों के कर्णकुहरों में वह वंशीनिनाद के समान ही सुधा-रस बरसाती है। इन महापुरुष के जन्मस्थान तथा आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में अभी तक ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग इन्हें सहारनपुर जिले के देवबंद नामक स्थान का निवासी मानते हैं[१]। परंतु बात यह ठीक नहीं है। इनके पिता देवबंद में रहते जरूर थे, परंतु इनका जन्म हुआ था ब्रजमंडल, मथुरा से चार कोस की दूरी पर स्थित 'बाद' नामक ग्राम में; क्योंकि गोसाईं जी के अनन्य शिष्य 'सेवक जी' इसके प्रमाण हैं—

---

१ मिश्रबंधु विनोद पृ० २५० (द्वितीय संस्करण)

धर्मरहित जानी सब दुनी ।
जहाँ 'बाद' प्रगटे जगधनी ॥

ये गौड़ ब्राह्मण थे और आज भी इनके वंशज देवबन्द तथा वृंदावन दोनों स्थानों पर पाए जाते हैं। इनके पिता का नाम था केशवदास मिश्र, उपनाम व्यासजी तथा माता का तारावती। व्यासजी असल में सहारनपुर के पास देवबंद के निवासी थे। वे बड़े पंडित थे। बादशाह के साथ दौरे में अपनी पत्नी तारावती देवी के साथ घूम रहे थे। इसी समय 'बाद' ग्राम में श्रीहरिवंश जी का प्राकट्य हुआ। थोड़ी अवस्था में ही इन्हें श्रीराधिका जी से स्वप्न में गुरुमंत्र की दीक्षा मिल गई थी। देवबंद में ही पहिले रहते थे। वहाँ इनके घर के पास ही एक कुँआ था जिसके भीतर से इन्होंने श्रीरंगलालजी की मूर्ति को निकाला तथा मंदिर बनाकर उसकी पूजा अर्चा किया करते थे।

इनके जन्म-संवत् के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद पाया जाता है। मिश्र - बंधुओं के अनुसार इनका जन्म १५३० संवत् में हुआ था[1], परंतु इन्हीं के संप्रदायानुसारी भगवत्मुदित नामक भक्त द्वारा निर्मित 'हित हरिवंश चरित्र' ग्रंथ के अनुसार इनका जन्म संवत् १५५६ (१५०३ ई०) में हुआ था। हितहरिवंश जी अपने गाँव देवबंद में रहकर गार्हस्थ्य जीवन में ही भगवान् की अर्चा-पूजा में निमग्न रहते थे। अनंतर श्रीराधिकाजी की आज्ञा से ये घरबार छोड़ वृंदावन के लिए चले पड़े। रास्ते में 'चिड़-थावल' नामक ग्राम के निवासी आत्मदेव नामक ब्राह्मण ने अपनी दो कन्याएँ तथा साथ में श्रीकृष्णचंद्र की एक सुंदर मूर्ति

---

१ वही पृ० २५१ ,, ,,

अर्पित की। यह राधावल्लभ जी का विग्रह था जिसे हरिवंश जी ने वृंदावन में मंदिर बनवा कर स्थापित किया[1]।

उसी की पूजा-अर्चा में ये सदा मस्त बने हुए जीवन यापन करते थे। १५९१ विक्रमी में इस मंदिर का प्रथम 'पट महोत्सव' हुआ था जिसकी सूचना भगवत्मुदित के पूर्वोक्त ग्रंथ से चलती है[2]। ये राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक थे तथा युगल उपासना का उपदेश इनके सिद्धांत का सार अंश था। कृष्ण की अपेक्षा श्रीराधारानी की पूजा तथा भक्ति को इन्होंने अधिक महत्त्वशालिनी तथा शीघ्र फलदायिनी अंगीकार किया है। कहते हैं कि श्रीहरिवंशजी ने स्वप्न में श्रीराधिका जी से मंत्र ग्रहण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। ये गृहस्थ थे। इनके चार पुत्र तथा एक कन्या मानी जाती हैं। परंतु गृहस्थ होकर भी ये विरक्तों में भी विरक्त थे। पचास वर्ष की आयु में संवत् १६०९ विक्रमी की शारदीय पूर्णिमा के दिन आपने अपनी अंतरंगलीला में प्रवेश किया।

मार्ग की विशिष्टता

भगवान् राधावल्लभ जी की उपासना तथा उनकी प्रेमाभक्ति का उपदेश ही हितजी के जीवन का सर्वस्व था और भक्ति-पक्ष राधावल्लभ की मधुर उपासना था।

भक्तवर नाभादास जी की दृष्टि में गोसाईं जी की प्रेमाभक्ति का यह प्रकार नितांत कठिन तथा दुरूह है। उनका कहना है—

---

१ द्रष्टव्य राधा सुधानिधि की भूमिका पृ० ३५—३७

२ पन्द्रह सौ इक्यानवे सुहायो कातिक सुदि तेरस सुख छायो।
पट महोत्सव ता दिन कियो, याचक गुनियन बहु धन दियो॥

धर्मरहित जानी सब दुनी।
जहाँ 'बाद' प्रगटे जगधनी॥

ये गौड़ ब्राह्मण थे और आज भी इनके वंशज देवबन्द तथा वृंदावन दोनों स्थानों पर पाए जाते हैं। इनके पिता का नाम था केशवदास मिश्र, उपनाम व्यासजी तथा माता का तारावती। व्यासजी असल में सहारनपुर के पास देवबंद के निवासी थे। वे बड़े पंडित थे। बादशाह के साथ दौरे में अपनी पत्नी तारावती देवी के साथ घूम रहे थे। इसी समय 'बाद' ग्राम में श्रीहरिवंश जी का प्राकट्य हुआ। थोड़ी अवस्था में ही इन्हें श्रीराधिका जी से स्वप्न में गुरुमंत्र की दीक्षा मिल गई थी। देवबंद में ही पहिले रहते थे। वहाँ इनके घर के पास ही एक कुँआ था जिसके भीतर से इन्होंने श्रीरंगलालजी की मूर्ति को निकाला तथा मंदिर बनाकर उसकी पूजा अर्चा किया करते थे।

इनके जन्म-संवत् के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद पाया जाता है। मिश्र - बंधुओं के अनुसार इनका जन्म १५३० संवत् में हुआ था[1], परंतु इन्हीं के संप्रदायानुसारी भगवत्मुदित नामक भक्त द्वारा निर्मित 'हित हरिवंश चरित्र' ग्रंथ के अनुसार इनका जन्म संवत् १५५६ (१५०२ ई०) में हुआ था। हितहरिवंश जी अपने गाँव देवबंद में रहकर गार्हस्थ्य जीवन में ही भगवान् की अर्चा-पूजा में निमग्न रहते थे। अनंतर श्रीराधिकाजी की आज्ञा से ये घरबार छोड़ वृंदावन के लिए चले पड़े। रास्ते में 'चिड़-थावल' नामक ग्राम के निवासी आत्मदेव नामक ब्राह्मण ने अपनी दो कन्याएँ तथा साथ में श्रीकृष्णचंद्र की एक सुंदर मूर्ति

---

१ वही पृ० २५१ " "

अर्पित की। यह राधावल्लभ जी का विग्रह था जिसे हरिवंश जी ने वृंदावन में मंदिर बनवा कर स्थापित किया[1]।

उसी की पूजा-अर्चा में ये सदा मस्त बने हुए जीवन यापन करते थे। १५९१ विक्रमी में इस मंदिर का प्रथम 'पट महोत्सव' हुआ था जिसकी सूचना भगवत्मुदित के पूर्वोक्त ग्रंथ से चलती है[2]। ये राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक थे तथा युगल उपासना का उपदेश इनके सिद्धांत का सार अंश था। कृष्ण की अपेक्षा श्रीराधारानी की पूजा तथा भक्ति को इन्होंने अधिक महत्त्वशालिनी तथा शीघ्र फलदायिनी अंगीकार किया है। कहते हैं कि श्रीहरिवंशजी ने स्वप्न में श्रीराधिका जी से मंत्र ग्रहण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। ये गृहस्थ थे। इनके चार पुत्र तथा एक कन्या मानी जाती हैं। परंतु गृहस्थ होकर भी ये विरक्तों में भी विरक्त थे। पचास वर्ष की आयु में संवत् १६०९ विक्रमी की शारदीय पूर्णिमा के दिन आपने अपनी अंतरंगलीला में प्रवेश किया।

मार्ग की विशिष्टता

भगवान् राधावल्लभ जी की उपासना तथा उनकी प्रेमाभक्ति का उपदेश ही हितजी के जीवन का सर्वस्व था और भक्ति-पक्ष राधावल्लभ की मधुर उपासना था।

भक्तवर नाभादास जी की दृष्टि में गोसाईं जी की प्रेमाभक्ति का यह प्रकार नितांत कठिन तथा दुरूह है। उनका कहना है—

---

१ द्रष्टव्य राधा सुधानिधि की भूमिका पृ० ३५—३७

२ पन्द्रह सौ इक्यानवे सुहायो कातिक सुदि तेरस सुख छायो।
पट महोत्सव ता दिन कियो, याचक गुनियन बहु धन दियो॥

श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है।
श्री राधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत खवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्धता के अधिकारी।
विधि निषेध नहिं, दास अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है
श्री हरिवंश गुसाईं भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है[1]।

यह छप्पय इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हितहरिवंश जी की प्रेमाभक्ति का परिचय पाना साधारण जन का नहीं, किसी पुण्यसंपन्न संत का ही अधिकार है। इस भक्ति में न तो विधि के लिए स्थान है और न निषेध का निरोध। राधा के चरणारविंद की अनन्य उपासना ही भक्त के जीवन का लक्ष्य है और राधा-कृष्ण के केलिकुंज की खवासी करना—चाकरी करना ही भक्त का प्रधान कार्य है। माधुर्य रस से स्निग्ध यह उपासना विषयी मानवों की शक्ति तथा समझ के बाहर की बात है और इसीलिए इसका अधिकारी वही हो सकता है जो गोसाईं जी के पवित्र पंथ का पथिक हो।

प्रियादास जी के अनुसार भी इस मार्ग में कृष्ण की अपेक्षा राधा का ही गौरव, सम्मान तथा भजन अधिक है जिसको लाखों में भी विरला ही मनुष्य समझ सकता है। जिसका हृदय व्रज-चंद्र की भक्ति-चंद्रिका से स्निग्ध तथा पेशल नहीं हुआ है उसके लिए इस 'परम रस माधुरी' का स्वाद जानना असंभव ही है। प्रियादास जी का यह महत्त्वपूर्ण कथन इस प्रकार है—

१ भक्तमाल छप्पय नं० ९०

श्री हित जू की रति कोऊ लापनि में एक जाने।
राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइए॥
निपट विकट भाव होत न सुभाव ऐसो।
उनहीं को कृपा दृष्टि नेकु क्यौं हूँ पाइए॥
विधि और निषेध छेद डारे, प्रान प्यारे हिए।
जिये निजदास निस दिन वहै गाइए॥
सुपद चरित्र सब रसिक विचित्र नीके।
जानत प्रसिद्ध महा कहि कै सुनाइए॥

इनके ग्रंथों में अध्यात्मपक्ष का विवरण कम है, प्रत्युत राधा-कृष्ण की कुंज-केलि तथा वनविहार का नितांत ललित तथा शृंगारिक वर्णन भक्तों के मानस को बरबस आकृष्ट करता है। राधावल्लभीय मत शृंगार में संयोग पक्ष का ही पक्षपाती है, वह विरह-पक्ष की वेदना, पीड़ा तथा क्लेश से नितांत अपरिचित है। राधा तथा कृष्ण का मिलन नित्यवृंदावन में संपन्न होने वाली नित्य लीला है—वहाँ वियोग के पैर रखने की भी जगह नहीं। इसीलिए माधुरी भाव की इस भव्य उपासना में वियोग भावना का अस्तित्व नहीं।

ग्रंथ

गोस्वामी हित हरिवंश जी के दो प्रधान ग्रंथ हैं—

(१) राधा सुधानिधि (२७० पद्य)। यह संस्कृत में श्री राधारानी की प्रशस्त प्रशस्ति है। राधा के सौंदर्य, सेवाभाव तथा परिचर्यातत्त्व का मार्मिक वर्णन कर हरिवंश जी ने अपने प्रकृष्ट भक्ति तथा काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है[1]।

---

१ हिंदी अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन बाबा हितदास ने बाद ग्राम (पोष्ट बरारी, जिला मथुरा) से किया है।

(२) हित चौरासी (व्रजभाषा में निबद्ध चौरासी पद)। इसके ऊपर अनेक प्राचीन टीकायें उपलब्ध होती हैं—(क) हित धरणीधर की टीका १६ वीं शती; (ख) गोस्वामी सुखलाल जी की १७ वीं शती, (ग) लोकनाथ जी की, (घ) श्री जुगल दास की, (ङ) प्रेमदास जी की, (च) केलिदास की १८ वीं शती, (छ) श्री रतनदास जी की आदि। इसमें सिद्धांत के पदों की विशेषता है तथा राधाकृष्ण की रूप-माधुरी तथा सेवा-माधुरी का उत्कृष्ट कवित्वमय वर्णन है।

इसके अतिरिक्त आशास्तव, चतुःश्लोकी, श्री यमुनाष्टक तथा राधातंत्र ग्रंथ भी इनके नाम से प्रसिद्ध हैं।

कविता

श्री हितजी की कविता भावुकता तथा भक्ति की दृष्टियों से नितांत उदात्त, रसपेशल तथा ललित भावमयी है। उसमें मुख्य-तथा हृदय-पक्ष का ही प्राबल्य है। कला-पक्ष अस्तित्वहीन न होने पर भी हृदयपक्ष का ही पोषक तथा संवर्धक है। श्री राधा-रानी की सुषमा का निरीक्षण कीजिए—

> व्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुट मनि स्यामा आजु बनी।
> नख सिख लौं अँग-अंग-माधुरी मोहे स्याम धनी॥
> यौं राजत कवरी गूथित कच कनक कंजवदनी।
> चिकुर चंद्रकनि बीच अरध विधु मानौं ग्रसत फनी॥
> (जै श्री) हितहरिवंश प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
> गावत स्रवननि सुनत सुखाकर विस्वदुरित दवनी॥

स्वामी जी की भक्तिभावना ही उदात्त न थी, प्रत्युत वह स्वयं प्रेमाभक्ति की जीवन्त मूर्ति थे। भक्तवर व्यास जी का यह पद गोसाईं हित जी के सरस व्यक्तित्व की भव्य व्याख्या है—

हुतौ रसरसिकन कौ आधार।
विन हरिवंसहि सरस रीति कौ, का पै चलिहै भार ?
को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चार।
वृंदावन की सहज माधुरी, कहि है कौन उदार॥
पद रचना अब का पै ह्वै है ? निरस भयौ संसार।
बडौ अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगौ ठाठ सिंगार॥
जिन विन दिन छिन जुग सम वीतत, सहज रूप आगार।
'व्यास' एक कुल-कुमुद-चंद विनु उडुगन जूठौ थार॥

इनके उपदेश का सारांश इन दोहों में मिल सकता है जिसे हरिवंशी मत की चतुःसूत्री कह सकते हैं—

तनहि राखु सतसंग में, मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश नित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥
सवसों हित निहकाम मन, वृंदावन विश्राम।
राधा वल्लभ लाल को हृदय ध्यान मुख नाम॥

श्री राधारानी के अनन्य उपासक हित जी की कविता माधुर्य तथा सरसता का ज्वलंत प्रतीक है। श्री राधा जी की नाना अवस्थाओं का भव्य चित्र प्रस्तुत करने में इनकी समता शायदही अन्यत्र मिले। मिलन-कुंज में प्रवेश करने से पूर्व श्री राधिका जी के मधुरदर्शन की एक प्यारी झलक लीजिए—

आजु नीकी वनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई॥
सील सिंगार गुन सवनि तें आगरी।
कमल दच्छिन भुजा वामभुज अंसु सखि,
गावती सरल मिलि मधुर सुर राग री।
सकल विद्याविदित, रहसि हरिवंस हित,
मिलत नव कुंज वर स्याम वड़ भाग री।

(२)

अन्य आचार्यगण

श्रीव्यास जी

जय जय विशद व्यास की बानी
मूलाधार इष्ट रसमय, उत्कर्ष भक्तिरस सानी।
रस शृंगार सरस यमुना सम वर धारा घहरानी
विधि विपेध तरुवर तरु तोरत हरिजस जलधि समानी॥
जुगल विहार विटप सों लिपटी सुबरन बेलि निवानी
लगे रँगीले सुमन जासु में फल रसमय निर्वानी॥
—नील सखी

श्रीनीलसखी जी की यह उक्ति वास्तव में यथार्थ है। श्री व्यासजी की कविता युगल रस की माधुरी में सिक्त भक्त हृदय का मधुमय उद्गार है। व्यासजी वृंदावन की भक्तिलीला के यौवनकाल में आविर्भूत हुए। यह वह पावन समय था जिसने हरिदास स्वामी, स्वामी हितहरिवंश, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी जैसे तपस्वी भक्तों की मधुमय साधना को अपनी आँखों से निरखा था। मीराबाई ने अपने भावुक भजनों से उस काल के क्षण क्षण को गुंजारित किया था। सूरदास तथा परमानंद दास ने अपनी भक्तभावना को ललित पदों के द्वारा भक्तमंडली के सामने आविर्भूत किया था। मध्ययुग का यह पवित्र समय भक्ति के इतिहास में एकदम बेजोड़ है। इसी काल में वृंदावन के केलिनिकुंज में अपनी सरस मस्ती में गानेवाले श्रीव्यासजी की वाणी मुखरित हुई थी।

भक्तशिरोमणि व्यास जी का पूरा नाम था हरिराम शुक्ल। 'व्यास' तो उनकी उपाधि थी जिसे काशी के पंडितों ने उनकी कविता से मुग्ध होकर उन्हें प्रदान किया था। सं० १५६७ (= १५१० ई०) मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को हरिरामजी का जन्म ओड़छा के निवासी श्रीसुमोखन शुक्ल के घर उनकी धर्मपत्नी श्रीपद्मावती देवी के कोख से हुआ था। ओड़छा नरेश के दरबार में इनके पिता का बड़ा आदर सम्मान था। फलतः इनके पिता का घर अतुल संपत्ति तथा विशाल वैभव के लिए नितांत विख्यात था और ओड़छे में 'व्यासपुरा' अपने अतीत-गौरव के लिए आज भी प्रसिद्ध है। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता परम वैष्णव थे तथा चैतन्य महाप्रभु के गुरुभाई माधवदास जी के शिष्य थे। हरिराम जी ने अपने पूज्य पिताजी से वैष्णव दीक्षा ग्रहण की थी, इसके पोषक अनेक प्रमाण इनके ग्रंथ में उपलब्ध हैं। इन्होंने अपनी 'व्यासवाणी' के मंगलाचरण में अपने गुरु शुक्लजी का स्पष्ट निर्देश किया है:—

> वन्दौं श्री सुकल पदपंकजन
> सत्त चित् आनंद की निधि, गई हिय की जरन।

अन्यत्र भी 'जय जय श्री गुरु शुकल मोहि सरबस दियौ' आदि पदों के अध्ययन से इनके गुरु के विषय में भ्रम नहीं रहता। ऐसी स्पष्ट परिस्थिति में हितहरिवंशजी से इनका गुरु-शिष्य का नाता जोड़ना एकदम अनुचित है। हितहरिवंश तथा हरिदासजी को तो ये अपना परम प्रेमी सखा मानते थे। ओड़छे में रहते समय भी वृंदावन में निवास करने की लालसा का सूचक यह पद इस तथ्य को स्पष्ट ही प्रकट कर रहा है—

हम कब होहिंगे ब्रजवासी।
ठाकुर नंदकिसोर हमारे ठकुराइन राधा सी॥
कब मिलि हैं वे सखी सहेली हरिवंसी हरिदासी।

हरिवंश जी के पीछे हरिव्यास जी इस मत के एक सम्मान्य आचार्य हुए जिनके विषय में ध्रुवदास जी की यह प्रसिद्ध उक्ति है—

वरकिशोर दोउ लाड़िले, नवल प्रिया नव पीय।
प्रगट देखियत जगत् मैं, रसिक व्यास के हीय।

हरिव्यास जी के गुरु के विषय में मतभेद दीख पड़ता है। इन्होंने अपने पिता जी को ही अपना गुरु लिखा है, परंतु ध्रुवदास जैसे समकालीन ग्रंथकार के साक्ष्य पर ये हित हरिवंश जी के शिष्य तथा राधावल्लभजी के उपासक माने जाते हैं—

सेवक की सरि को करै भजन सरोवर हंस।
मन वच कै धरि एक व्रत गाए श्री हरिवंश॥
—भक्तनामावली दोहा ४४

दोनों में समन्वय किया जा सकता है। पिता जी इनके विद्यागुरु थे तथा हरिवंश जी दीक्षागुरु। ये वृंदावन में आकर गोस्वामी हरिवंश जी के दर्शन से ऐसे मोहित हुये कि उनके शिष्य बन गये। वृंदावन में ही रम गये और पन्नानरेश के स्वयं आकर ले जाने पर भी पन्ना नहीं गये।

गृहस्थी में जीवन बिताते हुए भी ये श्रीयुगलकिशोर की सेवा तथा अलौलिक प्रेम से कभी विचलित नहीं होते थे। तत्कालीन ओड़छानरेश मधुकरशाह इनके मंत्रशिष्य थे। सं० १६१२(=१५५५ ई०) में ये अपना जन्मस्थान छोड़कर सदा के

लिए वृंदावनचंद्र के लिए निकुंज में चले आये। वृंदावन से इन्हें लौटाने के उद्योग में स्वयं मधुकर शाह व्यास जी के पास आये, परंतु व्यास जी अपने निश्चय से तनिक भी नहीं डिगे। वृंदावन में ही अपना अलौकिक जीवन बिता कर भक्ति तथा कविता उभयविध साधना के लिए वे एक अनुपम आदर्श छोड़ गए। व्यास जी के दो ग्रंथ मिलते हैं—

(१) 'नवरत्न'—संस्कृत में रचित, संप्रदाय के सिद्धांतों का निदर्शक ग्रंथ (अप्रकाशित)

(२) व्यासवाणी—व्रजभाषा में निबद्ध लगभग ७०० पदों का अनुपम ग्रंथ (प्रकाशित)[1]

व्यासवाणी में दो खंड हैं। प्रथम खंड (२६१ पद) में भक्तिसिद्धांत का मनोरम वर्णन है। द्वितीय खंड (४५६ पद) राधाकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन होने से रसखंड के नाम से विख्यात है। व्यास जी चैतन्य-संप्रदाय के वैष्णव थे और उस समय के मान्य गोस्वामी रूप तथा सनातन से इनकी गहरी मैत्री थी। सुनते हैं कि इन गोस्वामियों का दृढ़ आग्रह स्वीकार कर ही वे वृंदावन में रसमय जीवन बिताने के लिए चले आये।

व्यासजी राधाकृष्ण के उच्चकोटि के भावुक भक्त थे। वृंदावन पर उनकी इतनी प्रीति थी कि वहाँ के रजः कण में वे लोटना अन्यत्र प्रासाद के मखमली फर्शपर रहने से अच्छा समझते थे। इस विषय के पदों में उनका प्रेम छलक रहा है।

---

१ इस ग्रंथ को व्यास जी के वंशोद्भव आचार्य राधाकिशोर गोस्वामी ने वृंदावन से प्रकाशित किया है, सं० १९९४।

उच्चकोटि के ब्राह्मण होने पर भी वे नीच जाति के भक्त के हाथ से महाप्रसाद ग्रहण करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। वे तो बड़े मीठे शब्दों में अपना परिचय देते हैं—

रसिक अनन्य हमारो जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानो खेरो ब्रजवासिन सों पाँति ॥
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा-सिखँडि हरिमन्दिर भाल
हरि गुन नाम वेद धुनि सुनियत, मूँज पखावज कुस करताल ॥

भक्त जाति-पाँति के बंधन में थोड़े ही अपने को बाँधता है। वह तो जीवन्मुक्त होता है। कृष्ण के सकल पियारे उसके परिवार के परिजन होते हैं। वेद की संहिता कर्मकांड के उपासकों के लिए मान्य शास्त्र है। भक्तों के लिए तो हरि के गुण तथा नाम का गायन ही वैदिकी श्रुति है। व्यास जी के पदों में युगल सरकार के प्रति असीम भक्ति, अलौकिक माधुरी तथा विशाल प्रेम की विमल धारा प्रवाहित हो रही है। पद क्या हैं? भक्तिभावना में सराबोर हृदय के मधुमय उद्गार हैं। वे केवल हमारा अनुरञ्जन ही नहीं करते, प्रत्युत हमें उस दिव्य माधुरी की झाँकी दिखला कर हमारा हृदय उदात्त, विशुद्ध तथा विशाल बनाते हैं।

मन की द्विविधा वृंदावन के सेवन से तथा राधाकृष्ण के लीला-गायन से मिटती है—

दुविधा तब जैहै या मन की।
निर्भय ह्वै कै जब सेवहुगे, रज श्रीवृन्दावन की।
कामरि लै करवा जब लैहै, सीतल छाँह कुंजन की।
अति उदार लीला गावहुगे, मोहन-स्याम सुवन की ॥

राधावर के ध्यान के सामने अन्य देवता की उपासना निरर्थक है। क्यों ?

श्रीराधावर ध्याइ के और ध्याइए कौन।
व्यासहि देत बने नहीं बरी बरी प्रति लौन॥

राधा तथा कृष्ण की जोड़ी व्यास जी के कमनीय रासवर्णन में कैसी फबती है—

सुघर (श्री) राधिका प्रवीन विना, वर रास रच्यौ
श्री श्याम संग वर सुधंग तरनि—तनया तीरे॥ १
आनन्दकन्द वृन्दावन शरद चन्द मन्द मन्द,
पवन कुसुम–पुँज ताप-दवन, धुनित कल कुटीरे॥ २
रुनित किंकिणी सुचारु, नुपुरु मनि वलय हारु
अंग रत मृदंग ताल तरल तिरप चीरे॥ ३
गावत अतिरंग रह्यौ, मोपै नहिं जात कह्यौ
'व्यास' रस–प्रवाह वह्यौ, निरखि नैन सीरे॥ ४

श्री राधिकाजी के मान तोड़ने के लिए सखी के ये वचन कितने मार्मिक हैं—

कबहूँ तौ काहू कौ कह्यौ न कियौ।
जुरत बसीठी ते सीठी करि डारी, हठ करि कछु न लियौ॥
नैननि तोहि कुटलता सिखई, और न हेत वियौ।
कठिन कुचनि की संगति कौ फल, ह्वै गयो कठिन हियौ॥
बिनु अपराधहिं साधु पियहि तैं कबहुँ न चैन दियौ।
सरधा हूँ ते कृपन अधर मधुरस पिय न अघाइ पियौ॥

व्यास जी की दृष्टि प्रकृति के कमनीय रूप पर मुग्ध होती है। वृजकुंज में पावस की यह बहार निराली ही है—

आज कछु कुंजन मैं बरषा सी।
बादल दल में देखि सखी री चमकति है चपला सी॥
नान्हीं नान्हीं बूँदन कछु धुरवा से पवन बहै सुखरासी।
मन्द मन्द गरजन सी सुनि मनु नाचति मोर सभा सी॥

व्यास जी ने राधाकृष्ण के नाना प्रकार की लीलाओं का बड़े विस्तार से वर्णन किया है जिसके अनुशीलन से समस्त लीलायें पाठकों के सामने सजीव हो उठती हैं। प्रेम-विभोर व्यास की कविता कहीं कहीं कोमल-कान्त-पदावली के रचयिता जयदेव की बरबस सुधि दिलाती हैं—

वृंदावन कुंज कुंज केलि बेलि फूली।
कुन्दकुसुम चन्द नलिन विद्रुम छवि भूली॥

ध्रुवदासजी—व्यासजी के अनंतर ध्रुवदासजी भी राधावल्लभीय मत के विशेष प्रचारक तथा विशिष्ट विद्वान् हुए हैं जिन्होंने अपने विविध ग्रंथों के द्वारा श्रीहित जी के मत का विशदीकरण किया है। ध्रुवदास जी के रचित ग्रंथों की संख्या ४० से भी ऊपर है जिनमें वृंदावन-सत, सिंगार-सत, रस-रत्नावली, नेहमंजरी, रहस्यमंजरी, सुख-मंजरी आदि मुख्य ग्रंथ हैं, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्वशाली ग्रंथ भक्तनामावली है जिसमें इन्होंने प्राचीन तथा समकालीन भक्तों का संक्षिप्त परिचय बड़ी सहृदयता के साथ दिया है। इनके ग्रंथों की रचना का समय भी दिया गया है—वृंदावन-सत का रचनाकाल है सं० १६८६, रहस्यमंजरी का १६६८ विक्रमी। भक्तनामावली में १७३५ विक्रमी तक के भक्तों का परिचय मिलता है। अतः इनका समय १६५० वि० से १७४० वि० तक माना जाता है। वृंदावन की सुषमा का वर्णन इनके

काव्यों में खूब है। प्रेमतत्त्व का विश्लेषण भी इन्होंने बड़ी सुंदरता से किया है। ध्रुवदास की भगवान् से यही प्रार्थना है—

ऐसो करो नव लाल रँगीले जू चित्त न और कहूँ ललचाई।
जे सुख दुःख रहैं लगि देह, सो ते मिटि जाँहिऽरु लोक बढ़ाई।
सँगति साधु वृँदावन कानन, तो गुन गाननि माँझ बिहाई।
कंज पगों में तिहारे बसों वस, देह यहै ध्रुव को ध्रुवताई॥

इस संप्रदाय के अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं जैसे सेवक-बानी, वल्लभरसिक की बानी, आदि। इस संप्रदाय के भक्त कवियों की विशेषता है वृंदावन की माधुरी का वर्णन तथा राधा-कृष्ण की दिव्य लीलाओं का रसपेशल तथा मनोमुग्धकारी चारु चित्रण। व्रजभाषा साहित्य को पुष्ट तथा समृद्ध करने में इस संप्रदायवालों का विशेष हाथ रहा है।

प्रधान गुरु-शिष्य परम्परा इस प्रकार है—

श्रीनित्य विहारी
|
श्रीनारायण (प्रथम पुरुष)
|
ब्रह्मा
|
मरीचि
|
कश्यप
|
अचलेश्वर
|
अच्युतेश्वर

|
श्रीधर
|
हलधर
|
ऋषि पाणिधर
|
गंगाधर
|
विजय भट्ट
|
कुलाजित भट्ट
|
विद्याधर
|
जालप मिश्र
|
प्रभाकर मिश्र
|
रमाकर मिश्र
|
जीवद् मिश्र
|
हिमकर मिश्र
|
व्यास मिश्र
|
गोस्वामी रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंशचंद्र
|
गोस्वामी श्रीवनचंद्र (वनमालीदास जी)
|
" श्रीसुन्दरवर जी

गोस्वामी श्रीदामोदरवरजी

गोस्वामी श्रीरासदासजी — श्रीविलासदासजी

गोस्वामी श्रीरासदासजी	श्रीविलासदासजी
श्रीकमलनयन जी	श्रीरसिकलाल जी
गोस्वामी राधालाल जी	श्रीसुखलाल जी
श्रीमुकुन्दलाल जी	नवनीतलाल जी
घनश्यामलाल जी	कान्तलाल जी
माधवलाल जी	राधालाल जी
माखनलाल जी	मोहनलालजी
छोटेलाल जी	लाड़िलीलाल जी
पीलमलाल जी	हरिलाल जी
मुकुंदलाल जी	किशोरीलाल जी
राधालाल जी	रूपलाल जी
मनमोहनलाल जी	सुकुमारी लाल जी (वर्त्तमान अधिकारी जो आचार्य्य गद्दी पर प्रतिष्ठित हैं)

नित्यविहारी से श्री व्यास मिश्र तक वंशपरंपरा है और श्रीहरिवंशचंद्र से आगे ज्येष्ठ पुत्र और शिष्य परंपरा है जो आचार्य्य गद्दी के अधिकारी हैं। श्री दामोदरवर जी की दो पत्नियों से गद्दी के दो अधिकार हैं। अतः आगे दोनों की पूर्ण परंपरा दी गयी है। इस समय वास्तव में विलास वंश का अधिकार है। यों तो प्रत्येक पुत्र शिष्य है अतः सभी आचार्य हैं किंतु इसमें शिष्य और वंश का बड़ा भारी विस्तार हो जाता है, इसलिये यहाँ संक्षेप से ज्येष्ठ पुत्र और शिष्य का वर्णन किया है। यह परंपरा केवल आचार्य्य-कुल की है। विरक्त शिष्यों की कोई खास परंपरा नहीं, क्योंकि वे गुरु-गद्दी के अधिकारी नहीं होते।

(३)

संप्रदाय के सिद्धांत

श्री हित हरिवंश की साधना प्रणाली बड़ी ही गूढ़ तथा रहस्यमयी है। इसका अधिकारी भी सामान्य साधक न होकर विशेष निष्ठावान् पुरुष ही हो सकता है। इसकी विलक्षणता अन्य संप्रदायों के साथ तुलना करने पर स्पष्ट ही प्रतीत होती है। श्री संप्रदाय में वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु को इष्ट मान कर दास्य-भाव से उनका कैंकर्य करना ही जीव का परम धर्म होता है। वल्लभ संप्रदाय में श्री बाल-गोपाल को इष्ट मान कर वात्सल्य भाव से उनमें रति करना ही भक्ति का मुख्य लक्ष्य है। निंबार्क मत में तथा माध्व गौडीय संप्रदाय में किशोर श्री कृष्ण को क्रमशः स्वकीया भाव तथा परकीया भाव से उपासना उचित मानी गई है। परंतु इस राधावल्लभीय मत में उपासना का तत्त्व इनसे विलक्षण है। हरिवंश महाप्रभु का कहना है कि परकीया

तथा स्वकीया दोनों भाव अपूर्ण हैं। स्वकीया में मिलन है, पर विरह नहीं। उधर परकीया में विरह है, मिलन का पूर्ण सुख नहीं। इसीलिए प्रेम साम्राज्य में स्वकीया-परकीया की भावना केवल एकदेशीय तथा एकांगी भावनायें हैं। प्रेम की पूर्णता वहाँ है जहाँ स्वकीया तथा परकीया दोनों का बोध नहीं; तथा जहाँ नित्य मिलन में भी विरह का सुख या ललक नित्य स्थित रहता है। हरिवंश जी ने चकई तथा सारसके संवाद रूप में इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है। प्रिय के विरह में भी चकई का जीवित रहना सारसकी दृष्टि में प्रेम की परम न्यूनता है—

चकई प्रान जु घट रहैं पिय विछुरंत निकज्ज।
सर अंतर अरु काल निसि तरफ तेज घन गज्ज॥
तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुव वदन न आवै।
जल विहून करि नैन भोर किहिं भाव वतावैं॥
हित हरिवंश विचारि वादि अस कौन जु चकई।
सारस यह संदेह प्रान घट रहै जु चकई॥

परंतु चकई की रागभरी दृष्टि में सारस का प्रेम एकांगी है, क्योंकि वह अपने नित्य मिलन के सुख में विरह-सुख का अनुभव नहीं करता। सारस का प्रेमानुभव भी अपूर्ण और अधूरा है—

सारस सर विछुरंत कौ जौ पलु सहै सरीर।
अगिनि अनंग जु तिय भखै सो जानै पर पीर॥

ऐसी विषम स्थिति में हरिवंश महाप्रभु का प्रेममार्ग एक निराली चीज है। वे अपने सिद्धांत का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जै श्री हितहरिवंश विचारि 'प्रेम विरहा' बिनु वा रस।
निकट कन्त नित रहत मरम कहा जाने सारस॥

यह "प्रेमविरहा" ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलने में भी विरह जैसी उत्कण्ठा इसका प्राण है। युगल किशोर श्री राधा-वल्लभलाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नहीं है, परंतु इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नहीं, प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है, चाह तथा चटपटी है। प्रेमासव का अनवरत पान करने पर भी अतृप्तिरूपी महान् विरह की छाया सदा बनी रहती है, प्रतीत होता है—

"मिलेहि रहत मानौं कबहुँ मिले ना"

इस प्रकार स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेद रहित नित्य विहाररस ही श्री हितमहाप्रभु का इष्ट तत्त्व है।

हरिवंश जी इस प्रकार न अवतार श्रीकृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं और न युगल किशोर श्रीनंदनंदन तथा श्रीवृषभानुलली को। वे नित्यविहारिणी श्रीराधा को ही अपना इष्ट मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है कि राधा स्वतंत्र पराशक्तिरूपा है। वह महासुख रूपा है। वह मेरी सेव्या-आराध्या है, अन्य कोई नहीं:—

ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा।
श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम॥
—राधासुधानिधि श्लो० ७८

प्रसिद्ध है कि श्रीराधारानी ने ही स्वप्न में श्रीहितहरिवंश प्रभु को अपना इष्टमंत्र देकर शिष्य बनाया था। इसका उल्लेख

सांप्रदायिक ग्रंथो में बहुशः किया गया है। इनका यहाँ तक कहना है कि जो लोग श्राराधा के चरणों का सेवन छोड़ कर गोविंद के संगलाभ की चेष्टा करते हैं वे मानो पूर्णिमा तिथि के विना ही पूर्ण सुधाकर का परिचय पाना चाहते हैं। वे अज्ञ यह नहीं जानते कि श्यामसुंदर के रतिप्रवाह की लहरियों की बीज यही श्रीराधा ही हैं—

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना वाञ्छति।
किंच श्याम–रति–प्रवाह–लहरी–बीजं न ये तां विदु–
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः।
—राधासुधानिधि ७९

राधावल्लभीय भक्त की कामना बड़ी रहस्यमयी होती है। वह अपनी कामना की अभिव्यक्ति इस पद्य में चित्रित करता है—

सान्द्रानन्दोन्मदरसघन प्रेमपीयूषमूर्तेः
श्री राधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुञ्जतल्पे।
कुर्वाणाहं मृदुमृदु–पदाम्भोजसम्वाहनानि
शय्यान्ते किं किमपि पतिता प्राप्ततन्द्रा भवेयम् ॥
—रा० सु० श्लोक २१२

निविड आनंदोत्सवरस के घनत्व से प्रकट प्रेमामृतमूर्ति श्री राधा तथा मधुपति जब कुञ्जशय्या पर निद्रित हो जाँय, तब उनके अति कोमल पदकमलों का संवाहन करते-करते मैं तंद्रा प्राप्त होने पर उस सेज के समीप ही क्या कभी लुढ़क रहूँगी ? इसी कामना की ओर लक्ष्य करके नाभादास जी भी कहते हैं—

श्री राधा चरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दंपती तहाँ की. करत खवासी॥

हरिवंशी संप्रदाय वस्तुतः रससंप्रदाय है जिसमें प्रेमामृत-मूर्ति श्री राधा तथा लालजी के नित्य मिलन के अवसर पर साधक तन्मयभाव से उनकी सुचारु सेवा में लगा रहता है। इस सेवा भाव को ही वह अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। हरिवंश जी की सम्मति में जिस प्रकार जल से तरंग का पृथक्-करण असंभव है उसी प्रकार राधा से कृष्ण का, सांवरे से गोरे का, पृथक् करना एकदम असंभव है। दोनों मिल कर एक ही तत्त्व के प्रतीक हैं। वे दोनों अभिन्न हैं तथा अनन्य हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उनका यह सुंदर पद्य कर रहा है—

जोई जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई, सोई सोई करैं प्यारे।
मोको तो भावतो ठौर, प्यारे के नैनन में,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे।
मेरे तो तन मन प्राण हूँ मैं प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे।
जै श्री हित हरिवंश हँस हँसिनी साँवर गौर,
कहौ कौन करै जल तरंगनि न्यारे।

—:※:—

प्रेम-साधना में जीव का भावमय स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने अपनी दो प्रकृतियाँ बतायी हैं; एक आठ भेदोंवाली जड़ प्रकृति और दूसरी जीवरूपा परा प्रकृति। बस इन्हीं दो प्रकृतियों से समस्त चराचर जगत्

का निर्माण हुआ है। (देखिये गीता अध्याय ७ श्लोक ५, ६, ७) इस विचार से समस्त चराचर जगत भगवान् की प्रकृति है और वे भगवान् ही एकमात्र परमपुरुष हैं। यह विश्व-विलास उसी प्रकृति और पुरुष का विलास है।

रसिकाचार्यों ने इस प्रकृति-पुरुष विलास की भावना को अधिक उज्ज्वल रूप देकर स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण नित्य-विहारी ही एकमात्र पुरुष हैं और उनकी चिद्-अचिद्-विशिष्ट आह्लादिनी एवं निजरूपा प्रेमशक्ति श्रीराधा ही परम प्रकृति हैं। इन सनातन युगलकिशोर का ही सारा जगत् प्रतिबिंब है। श्रीराधा प्रकृतिरूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। वे समस्त सखियों के रूप में हैं और वही गोपियों के रूप में। गोपियाँ क्या हैं? प्रेम की साकार प्रतिमा। प्रत्येक जीव प्रेम-रूपा गोपी है क्योंकि वह सनातन प्रकृति है। उसमें वे सब दिव्य गुण गण हैं जो गोपियों में हैं—श्रीकृष्ण की सखियों में हैं।

जीव अपने निज स्वरूप—प्रेमरूपा सखीभाव—को भूल जाने के ही कारण इस आवागमन-रूप दुर्गति को प्राप्त हो गया है। यदि जीव अपने निज स्वरूप की स्मृति करे तो वह आनंद रूप को शीघ्र पा सकता है। आवश्यकता है अपनी अंतर्दृष्टि को फेरने की।

जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीव का निज एवं सनातन स्वरूप प्रभु की प्रकृति या सखी है तो फिर साधक को अपने स्वरूप का स्मरण किस प्रकार करना चाहिये? यह जानना आवश्यक हो जाता है।

रसिकाचार्यों की इस ऐकान्तिक रस-पूर्ण भावना अर्थात् जीव के सखी-स्वरूप के बोधपूर्वक भावना करने के पहले यह

अवश्य ज्ञातव्य है कि यह भावना न तो गुड़ियों का खेल है, न उपहास का विषय। यह है सन्त शिरोमणि, मोक्ष-संन्यासी रसिकों का हृदय। अतः साधक अपने चित्त की सच्ची जाँच करके इन लोहे के चनों को चबाने का कठिन प्रयास प्रारंभ करे।

रस की साधना में साधक के दो देह कहे जाते हैं; एक साधन देह और दूसरा सिद्ध देह।

(क) साधन देह—इस स्थूल शरीर से स्थूल भोग भी भोगे जाते और उनके बंधन भी भविष्य के लिये तैयार होते हैं। इस स्थूल शरीर से अन्य जगत् का भी निर्माण किया जाता है। तब यदि साधक पुरुष अपने मन, इन्द्रिय एवं चित्तपुञ्ज साधन देह को इस प्रेमरस के साधन में लगावे तो इसे अपने सिद्ध देह की स्फुरणा होने लगेगी। इसे रससाधना में लगाने का केवल इतना ही अर्थ है कि अपने मन के द्वारा अपने किसी दिव्य देह की भावना करे।

(ख) सिद्ध (दिव्य) देह

किसी दिव्य वस्तु की भावना या कल्पना करने के लिये संसारी व्यक्ति को अपने आस-पास के वातावरण के आधार पर ही पहले उस दिव्य वस्तु की कल्पना करनी पड़ती है। जहाँ यह कहा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण का सौंदर्य कोटि काम-लावण्यहारी है, वहाँ साधारण लोग जो एक कामदेव के सौंदर्य की कल्पना नहीं कर सकते, कोटि काम-लावण्यहारी की कल्पना कैसे कर सकेंगे? ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि वे कोटि काम-लावण्य विनिंदक श्रीकृष्ण के सौंदर्य की वही रूपरेखा तैयार कर लेते हैं जो सौंदर्य उन्होंने देखा है, उसी के जैसा या उससे कुछ विशेष।

श्रीयुगलकिशोर की नित्य सखी की स्वरूप-भावना वस्तुतस्तु न तो कही जा सकती है, न समझी ही जा सकती है, पर वह तो अनुभव-गम्य है। युगल-किशोर श्रीराधावल्लभलाल सौंदर्य्य-माधुर्य्य की निधि हैं। उनका समस्त परिकर परम सौंदर्य्यमय है। श्रीधाम वृंदावन श्री और सुषमा का आगार है और वहाँ के निवासी खग, मृग, कीर, कपोत, मयूर, मराल सभी दिव्य चिदानंदमय और अपार सौंदर्य्य-माधुर्य के निधान हैं। कहना न होगा कि युगल किशोर की सखियाँ भी अतीव रूप-लावण्यमयी हैं। जिनकी चरण-नखच्छटा पर कोटि-कोटि उमा-रमा बलिहारी जाती हैं, उनके रूप-लावण्य का क्या पारावार ?

हम पहले कह चुके हैं कि रस-क्षेत्र में साधक का भी स्वरूप वही है जो वहाँ की नित्य सहचरियों का है। अतः साधक अपने वास्तविक रूप सखी-स्वरूप का स्मरण इस प्रकार करे:—

युगल नवल किशोर अनेक किशोरी-प्रमदागणों से घिरे हैं। उन किशोरी गणों में से एक मैं भी हूँ। मेरा दिव्य देह रूप-यौवन-संपन्न एवं ललित किशोर अवस्था से पूर्ण है। सुडौल अंग प्रत्यंग, मनोहर मुखाकृति, आकर्षक और रमणीय वर्ण, ललित-गति मंद हास, सहज चपलता, यौवन का भार और लज्जा-भरी चितवन है। सबके साथ-साथ हृदय दिव्य प्रेम के भावों से ओत-प्रोत है। मन, प्राण, इंद्रियाँ सबके सब प्रेम से आकुल हैं।

नख से शिख तक दिव्य एवं मनोहर वस्त्राभरणों से मैं सुसज्जिता हूँ। चरणों में जावक की लाली है और गुल्फों में झन-कारते हुए मणिमय नूपुर। कटि पर सारी है और उस पर शोभा की वृद्धि करती हुई करधनी मुखरित है। कंचुकी से कसे हुए पीनोन्नत पयोधरों पर हारों की शोभा, शंख सी ग्रीवा पर

मणि-पोत और दुलरी, तिलरी की छटा, विलक्षण है; अपूर्व है। मृणाल-नाल सी भुजाएँ और उन पर फब रहे हैं यथा-स्थान बाजूबंद, कंकण चूड़ियाँ और मुद्रिकाएँ।

मुख है या चंद्र? भ्रांति होती है। इस चंद्र के दो कलङ्क हैं कपोल पर गिरि हुई काली काली अलक और ललाट-पटल शोभित तिलक। काम-धनुष सी हैं भृकुटियाँ और उस पर चढ़े हैं अनियारे, विशाल और कजरारे नयनों के बाण। पैनी-नासिका, बिंबाफल से अधर और ललित कपोल। तिन पर झिलमिलाते हुए तरल ताटंकों की शोभा अवर्णनीय है। काले-काले घुँघराले केशों की लंबमान वेणी पुष्ट नितम्बों तक चली आयी है पीठ पर लहराती हुई। वेणी पर गुँथे हुए हैं, महकती हुई मालती के फूल और वेणी का छोर गुच्छ मणि-माणिकों से गुंफित है। सिर में सिंदूर की सौभाग्य रेखा जगमगा रही है और सिर को ढांके हुए है एक झीनी-झीनी रेशमी ओढ़नी।

यह है संक्षेपतः सांकेतिक रूप से साधक के दिव्य देह का चिंतन। इसी के संबंध में अन्यत्र रस शास्त्रों में कहा गया है—

> आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
> रूप—यौवन—सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम्॥

अर्थात् "उस वृंदावन में साधक अपने आपको उन मनोरमा सखियों के बीच में इस प्रकार चिंतन करे—मैं रूप-यौवन-संपन्न, विशेष उन्मादकारिणि आकृतिमयी किशोरी हूँ।"

तक रस मार्ग के साधक के चित्त में अपने किशोरी स्वरूप का भान नहीं होता, तब तक उसके हृदय में युगल किशोर की रस-भावना तो होगी कहाँ से साधारण स्वरूप स्मृति भी नहीं

हो पाती। अतएव यह प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि साधक अपना स्वरूपानुसंधान करे। इसी स्वरूपानुसंधान की बात का स्पष्ट वर्णन आचार्य्यचरण श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु ने याचना के रूप में इस प्रकार किया है—

दुकूलं बिभ्राणामथ कुचतटे कञ्चुकपटं,
प्रसादं स्वामिन्याः स्वकर–तल–दत्तं प्रणयतः।
स्थितां नित्यं पार्श्वे विविधं–परिचर्य्यैक–चतुरां,
किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये॥

—श्रीराधा सुधानिधि श्लो० ५२;

अर्थात् "अहो! मैं अपनी स्वामिनीजी के निज करकमलों के स्नेहपूर्वक दिये हुए प्रसादरूप दुकूल और कञ्चुकी-पट को अपनी कुच-तटी में धारण करूँगी और सदा अपनी स्वामिनी के बगल में स्थित रहकर विविध प्रकार की सेवा-परिचर्य्याओं में चतुर सुकुमारी किशोरी के रूप में अपने आपको क्या यहाँ देखूँगी?"

यहाँ जिस सिद्धदेह का स्वरूपानुसंधान कराया गया है, उसका युगल-किशोर श्रीराधा-वल्लभलाल की रस-लीला से पूर्ण साधर्म्य है। अत; उसका ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि बिना अपने स्वरूप का स्फुरण युगल के स्वरूप की रसस्फुरणा नहीं हो सकती। उस जीव और प्रभु के साधर्म्य को नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।

प्रेमोपासना की दृष्टि से जीव एवं युगलकिशोर का साधर्म्य

वेदांतवादी आचार्य्यों ने अनेकों श्रुतियों के अर्थ जीव और विभु की एकता में ही लगाए हैं। "तत्त्वमसि—तुम वही हो"

महावाक्य स्पष्ट रूप से जीव की ब्रह्मरूपता सिद्ध करता है; इसी प्रकार सोऽहम् और शिवोऽहम् भी। और विचार की दृष्टि से है भी बात ऐसी ही कुछ है कि एक अचिन्त्य और अखंड सत्ता ही सर्वत्र व्याप्त है। यह नानात्व कुछ है नहीं। फिर उस एक अखंड सत्ता को चाहे कोई ब्रह्म कह ले, कोई राम और कोई कृष्ण। उसके लिए जितने भी नाम और रूपों की कल्पनाएँ की जायँगी सब उसमें एक अंग में प्रवेश पा जावेंगी।

योगी जिसे परमात्मा कहते हैं, उसे ज्ञानी लोग ब्रह्म और उसे ही तो भक्त भगवान् कहते हैं। तब ऐसी दशा में एक ही वस्तु के तो तीन नाम हुए; वस्तुएँ तीन नहीं हुईं। तीन ही क्यों, उसके तो अनंत नाम हो सकते हैं।

वह एक ही वस्तु है और उसी में यह नानात्व की भ्रांति हो रही है जैसे स्वर्ण में कंकण और कुंडल आदि अनेक आकारों की। माया, ब्रह्म और जीव की यह त्रिपुटी कितनी भ्रमपूर्ण है इसे अधिक स्पष्ट न करना होगा जिन्होंने स्वर्ण और आभूषण के सिद्धांत को समझ लिया होगा उनके लिए—

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।
वारि वीचि इमि गावहिं वेदा॥

है ही। जीव और प्रभु के बीच मिथ्या माया आ बैठी है कैसा आश्चर्य है?

सो दासी रघुवीर के समुझें मिथ्या सोऽपि।

और वह समझ लेने पर झूठी है?

तब उस मिथ्या की क्या कथा? अब रहा जीव और विभु की एकरूपता—तादात्म्य का प्रश्न। शांकर वेदांती और भक्ति

वादियों में इतना ही अंतर है कि वेदांती कहते हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् 'यह सब (चराचर) ब्रह्म ही है।' और भक्त कहते हैं—'जीव अनेक एक श्रीकंता।' जीव और विभु दो नित्य तत्त्व हैं; एक अणु है और दूसरा महान्। यह अणु और महान् का द्वैत भक्तों की दृष्टि में सिद्ध है।

किंतु रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु अपने रस-सिद्धांत की दृष्टि से कहते हैं—

यत्किञ्चिद् दृश्यते सृष्टौ सर्वं हितमयं विदुः।

अर्थात् "स्थावर-जंगम जो कुछ विश्व-विलास है, वह सब एक ही वस्तु 'हित'—प्रेम है; ऐसा जानो।"

रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंश की दृष्टि में जीव और विभु का द्वैत समाता ही नहीं। समावे भी कैसे? उनकी दृष्टि तो एक प्रेम-रस से सिक्त हो चुकी है न? उसमें तो एक रंग चढ़ चुका है, तब दूसरे रंग की गुंजाइश ही कहाँ रही?

जिन आँखिन में वह रूप बस्यौ,
उन आँखिन सौं अब देखिये का?

उनको तो सर्वत्र अपनी आराध्या का ही दर्शन हो रहा है—

सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमस्वाराध्यबुद्धिर्मम।

—श्रीराधा सुधानिधि

अर्थात् "सबको वस्तु बुद्धि से अवलोकन करके उन [नाना नाम रूपों] के प्रति मेरी स्वाराध्य बुद्धि है।"

इनकी सर्वत्र स्वाराध्य बुद्धि हो चुकी है और सर्वत्र एक प्रेम तत्त्व ही सिद्ध हो चुका है इनके लिए। परंतु जिनके लिए ऐसा नहीं हो पाया उनके लिए क्या कर्तव्य है, वे क्या करें?

करें क्या ? इनके लिए भी रसिक आचार्य्यगण विधान करते हैं कि वे भी सर्वत्र अपनी बुद्धि को एक वस्तुमय बना दें। यह नानात्व की माया मिटा दें। जब सर्वत्र एक प्रेमतत्त्व ही ओत-प्रोत है, तब क्या आवश्यकता है यह द्वैत के भार किए फिरने की ? श्री प्रबोधानंद सरस्वती-पाद क्या कहते हैं, सुनिए—

स्वान्तर्भाव-विरोधिनी-व्यवहृतिः सर्वां शनैस्त्यज्यतां,
स्वान्तश्चिन्तित-तत्त्वमेव सततं सर्वत्र संधीयताम्।
तद्भावेक्षणतः सदा स्थिरचरेऽन्या दृग् तिरोभाव्यतां,
वृन्दारण्य-विलासिनो निशि, दिवा दास्योत्सवे स्थीयताम्॥

धीरे-धीरे उन सारे व्यवहारों को त्याग दे जो अपने अंतर्भाव (सिद्ध भावना) के विरोधी हों और सर्वत्र, सर्वका खोजता रहे अपने अंतःकरण के चिंतनीय तत्त्व को ही। उस चिंतनीय तत्व का सदा सब में भाव-दृष्टि से दर्शन करता हुआ स्थिर-चर प्राणियों में जो भेद दृष्टि—द्वैत बुद्धि है उसका तिरोभा कर दे और दिन रात श्रीवृंदावन-विलासी राधा - मुरलीधर दास्य - सुख में भी सुख, शांति और स्थिरता प्राप्त करे।

जब द्वैत की सृष्टि मिट जायगी तब एक ही वस्तु रह जाय रस, केवल प्रेमरस। यह रस चराचर-व्यापी है और ऐकांति भी। चराचर व्यापी रस - विलास का पर्यवसान है ऐकांति रस-विलास श्रीवृंदावन - विहार में। जहाँ वृंदावन, श्रीराध श्रीकृष्ण और सहचरिवर्ग ये चार उपकरण होकर भी सब ए रूप हैं, वहीं कुंडल कंकण और स्वर्ण की भाँति श्रीराधा प्रेम है, श्रीकृष्ण भी प्रेम, श्रीवृंदावन और सखियाँ भी प्रेम ही 'सर्वं हितमयं विदुः' सिद्धांत पूर्णतया सिद्ध है। तब यह कह प्रकट करने की आवश्यकता तो रह ही नहीं जाती कि हितर जीव और युगल की एकधर्मता—एकरूपता क्या है ?

एक वस्तु के ही दो रूप हैं; रस समुद्र में उठी हुई लहरियों का यह विलास है जो श्रीराधा, श्रीकृष्ण सहचरी श्रीवन आदि चार और फिर अनंत रूपों में विस्तीर्ण हो जाता है। जीवरूपा सखी और श्रीराधावल्लभ-विभु दोनों एक ही तत्व हैं। केवल लीला एवं रस विलास के लिये इन्होंने अपने नाना रूप निर्माण कर लिये हैं। संक्षेप में यों समझना चाहिए कि वे रसिक-नरेश ही जीवरूप अपनी छाया से खेल रहे हैं। यही रस-क्षेत्र में जीव और विभु का साधर्म्य है।

शास्त्रोक्त-शैली से इस रस-तत्त्व का अनुभव और साक्षात्कार करने के लिये राधावल्लभ युगल किशोर का तात्त्विक एवं रसमय स्वरूप जानना आवश्यक है। अतः अब इसके आगे पर-ब्रह्म-स्वरूप का यथामति निरूपण किया जाता है।

पर-(ब्रह्म) स्वरूप

ब्रह्म अव्यक्त है। और जो अव्यक्त है उसे फिर व्यक्त कैसे किया जाय? इसीलिये श्रुति उसके लिये अतर्क्य, अचिन्त्य और अवाङ्मनसगोचर आदि विशेषण देकर उस तत्त्व का लक्ष्य कराती है। यह सब ठीक है फिर भी उसे जानना तो होगा ही, चाहे जितने और जैसे रूप में वह जाना जाय; क्योंकि उसके जाने बिना जीव को अपने स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। इसी न्याय से शास्त्रों एवं आचार्यों ने उस अव्यक्त तत्त्व के अनेकों नाम एवं रूप प्रकट कर डाले हैं। इनमें मुख्यतया ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—(१) निर्गुण निराकार और (२) सगुण साकार।

जिसे निर्गुण निराकार कहा जाता है वही सगुण साकार है। जो लोग इन दो रूपों में तारतम्य बुद्धि करते हैं, वे अज्ञ

हैं। जो भगवान् निर्गुण निराकार है; वही भक्त और प्रेमियों के लिये नित्य सगुण साकार भी है; वह विष्णु होकर विश्व ब्रह्माण्ड का पालन करता और नारायण बनकर सबका निरीक्षण करता है। वही साकेतवासी राम बनकर अपने दासों को दास्य सुख प्रदान करता है और अनेक रूपों से विचित्र-विचित्र लीलाएँ करता रहता है। सब रूपों में एक वही निर्गुण-सगुण निराकार-साकार और इनसे भी परे—अलक्ष्य, योगीन्द्र-दुर्गम-गति श्रीकृष्ण ही तो क्रीड़ा कर रहे हैं। वे स्वयं गीता के दशम अध्याय मे अपनी विभूतियों का वर्णन करते समय स्पष्ट कर रहे हैं—"अर्जुन। मैं शस्त्रधारियों में राम, सिद्धों में कपिल, वृष्णि-वंशियों में वासुदेव और मुनियों में वेद-व्यास हूँ। अधिक क्या, यह चराचर जगत् मुझमें है। तुम्हें अब अधिक जानने से क्या प्रयोजन? इतना ही जानना पर्याप्त है कि इस संपूर्ण जगत् को मैंने अपने एक अंश में धारण कर रखा है—

> अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
> विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
>
> —गीता १०।४२।

भगवान् श्रीकृष्ण के उक्त कथन का यह आशय है कि समस्त सात्विक असात्विक विभूतियाँ मेरी अंश-भूता हैं। मैं ही एक-मात्र सबका आधार, निधान और अव्यय बीज हूँ। और तो क्या, मैं निर्गुण निराकार और सगुण साकार ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा हूँ, जिससे कि उसकी स्थिति है। मेरे बिना ब्रह्म की भी कोई सत्ता नहीं है—

> ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
> शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
>
> —गीता १४।२७।

"मैं श्रीकृष्ण ही अविनाशी परब्रह्म, नित्य धर्म, अमृत और अखण्ड एकरस, आनंद का भी एकमात्र आश्रय हूँ।"

इसी प्रकार और भी गीता के पंद्रहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त अर्जुन से कहते हैं—"अर्जुन! मैं क्षर (जगत्) और अविनाशी जीव तत्त्व (अक्षर) से भी परे उत्तम परम पुरुष—पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूँ। (देखिये गीता १५।१६।१७।१८।)

इन वाक्यों से सिद्ध है कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के भी आदिकारण और ईश्वरों के भी ईश्वर—सर्वेश्वर हैं। ये सब अंशांश अवतारों के बीज और अंशी हैं—इसीलिये इनके संबंध में भगवान् वेद-व्यास ने कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

—श्रीमद्भागवत

"भगवान् के अन्य अन्य अवतार तो अंश और कला-मात्र ही हैं किंतु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं परिपूर्णतम भगवान् हैं।"

ये भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष और नारायण के भी कारण हैं। महाविष्णु अर्थात् नारायण भी उनकी एक कला हैं।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।

ये गोविंद आदिपुरुष किस रूप में और किस धाम में नित्य क्रीड़ा करते हैं? इसका भी परिचय में हमें मिलता है—

आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविताभि—
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

अर्थात् "जो नित्य निरंतर अपने आनंद चिन्मय रस से सराबोर हुए अपने समस्त तेज और प्रभा से पूर्ण एवं समग्र रूप और कलाओं से पूर्ण होकर दिव्य गोलोक धाम में अपनी आत्म-रूपा श्रीराधा एवं समस्त सखीजनों के साथ मिले निवास एवं विहार करते हैं मैं उन आदिपुरुष श्रीकृष्ण का भजन करता हूँ।"

सारांश यह कि ये वृंदावनविहारी श्रीकृष्ण ही निर्गुण, सगुण वामन, वाराह, मीन, राम आदि अवतारों के मूल हैं। इन्हीं के लिये श्रुति—"रसो वै सः" 'वह ब्रह्म रसरूप है', ऐसा लक्ष्य कराती है। बहुत स्पष्ट है कि सिवाय वृंदावनविहारी स्वरूप के और कोई अवतार रसरूप नहीं है। यही एक स्वरूप है जो मूर्तिमान् शृंगार कहा जाता है। जिस प्रकार भोजन के छः रसों में मधुर श्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त भगवद्रूपों में शृंगार और माधुर्य्य की मूर्ति श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं। इनके रस की उपासना भी तो शृंगार और मधुर रस को लेकर चलती है।

रसोपासक साधक का ध्येय रूप शृंगार-माधुर्य्य-निधान श्रीकृष्ण रूप ही हैं।

सौंदर्य्य-माधुर्य्य की चरम सीमा युगल-किशोर

भगवत्तत्व एक है किंतु लीला एवं क्रियाओं के अनुसार उसके नाम-रूप-भेद अनेक हैं। भक्तों की भावना और भगवान् की लीला के अनुसार एक ही भगवान् श्री कृष्ण तीन रूपों में विभक्त हो जाते हैं—

(१) श्री वृंदावन विहारी श्रीकृष्ण;

(२) मथुरा-वासी श्रीकृष्ण;

(३) द्वारका-वासी श्रीकृष्ण ।

तीनों एक ही हैं; फिर भी मथुरा और द्वारका के चरित्र, ऐश्वर्य्य, वैभव, लोकोद्धार आदि के भावों से पूर्ण हैं। उन चरित्रों में श्रीकृष्ण कर्त्तव्य-परायण एक आदर्श क्षत्रिय राजपुरुष, सनातन - धर्मी और वेदांतनिष्ठ महापुरुष हैं। वे वेदांत-ज्ञान के पंडित और उपदेशक भी हैं; साथ ही मानापमान-रहित, निःस्पृह, निर्द्वंद्व, इंद्रियजित् , काम-क्रोध-रहित शांत योगेश्वर भी। वे लोक-कल्याण के समस्त नियम और धर्मों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं और उनका पूरा-पूरा पालन भी करते हैं। वे वहाँ भगवान् भी हैं और भक्त भी। कहने का आशय यह है कि मथुरा और द्वारका में भगवान् का स्वरूप कुछ और है और श्रीवृंदावन में कुछ और , जो एक दूसरे से एकदम विपरीत सा है।

वही श्रीकृष्ण वृंदावन में रासविहारी, कुंजविहारी, राधा-पति, निकुंज-विलासी, चित्तचोर, नवल किशोर, रस-विवर्द्धक, नवल-नायक, राधा रमण, हैं।

अधिक तो क्या, उज्ज्वल रस (शृंगार-रस) के उपासक के लिये श्रीकृष्ण की बाल्य, कौमार, पौगण्ड आदि अवस्थाएँ और तत्कालीन लीलाएं भी उतनी प्रिय नहीं होतीं जितनी कैशोर लीलाएँ। उन्हें केवल नवल-किशोर निकुंजविहारी स्वरूप ही प्रिय है क्योंकि है भी यह रूप अनंत मधुर और रसमय। यह रसमय स्वरूप रसिक-जनों का जीवन प्राण है। यह वृंदावन-रस या श्रीकृष्ण का कैशोर रस दो प्रकार का है—एक व्रज-रस और दूसरा निकुंज-रस।

(क) व्रजविहारी श्रीकृष्ण और व्रज-रस

व्रज-रस के क्षेत्र में क्रीड़ा करनेवाले श्रीकृष्ण गोपी-पति गोपियों के प्रेमी (जार) हैं; गोपियाँ उनका सेवन उपपति के

रूप में करती हैं जिसे परकीया-भाव भी कहते हैं। वे जीवरूपा गोपियों के साथ शृंगार-रस की क्रीडाएँ किया करते हैं। यह व्रज-रस क्रीड़ा श्रीकृष्ण अवतार की लीला है, अवतारी की लीला नहीं। यह किसी समय-विशेष (द्वापर आदि) में ही प्रकट होती और फिर लोप भी हो जाती है। यह लोक में नित्य नहीं है। इस अवतारतत्त्व की रसोपासना का सिद्धांत माध्व-गौडेश्वर संप्रदाय में इस प्रकार से दिया गया है—

> आराध्यो भगवान् व्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनं।
> रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
> श्रीमद्भागवतं पुराणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
> श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नाः परः॥

अर्थात् "हमारे आराध्यदेव हैं व्रजेन्द्रनंदन भगवान् श्रीकृष्ण जिनका धाम है श्रीवृंदावन। हमारी उपासना का भी वही कोई रमणीय सिद्धांत है जिसको पूर्वकालमें गोपी-जनों ने कल्पित किया था। हमारा शास्त्र है श्रीमद्भागवत जैसा निर्मल पुराण और लक्ष्य है पंचम पुरुषार्थ प्रेमा-भक्ति। बस, श्रीचैतन्य महाप्रभु का इतना ही मत है और यही ग्रहणीय है, अन्य नहीं।"

इस श्लोक से बहुत स्पष्ट है कि नंदनंदन श्रीकृष्ण आराध्य हैं और आराधना की शैली गोपी-भाव है।

(ख) नित्य-विहारी श्रीकृष्ण और निकुंज रस

परकीयात्व और औपपत्य व्रज-रस के निज अंग हैं। ये दोनों नंदनंदन अवतार में ही संभव है, नित्यविहारी श्रीकृष्ण में नहीं, क्योंकि नित्य तत्त्व अवतार नहीं अवतारी है। उसका विहार भी काल-व्यवधान-रहित अखंड एकरस और नित्य है।

उसका समस्त परिकर भी नित्य और उसका 'स्व' है 'पर' नहीं। इस नित्य तत्व का ही प्रकाश करते हुए श्रीहित हरिवंश रसिकाचार्य्य चरण ने कहा है—

> यद् वृंदावनमात्रगोचरमहो यन्न श्रुतीनां शिरोऽ-
> प्यारोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनां तु यद्ध्यानगम् ।
> यत्प्रेमामृतमाधुरी–रस–मयं यन्नित्यकैशोरकं
> तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम ॥
>
> —श्रीराधा-सुधानिधि, श्लोक ७६

अर्थात् "अहो! जो केवल श्रीवृंदावन में ही दृष्टिगोचर होता है अन्यत्र नहीं, जिसका वर्णन करने में श्रुति-शिरोभाग उपनिषद् भी समर्थ नही है, जो शिव और शुक आदि के भी ध्यान में नहीं आता, जो प्रेमामृत माधुरी से परिपूर्ण है और जो नित्य-किशोर है उस रूप को देखने के लिये मेरे नेत्र चंचल हो रहे हैं।"

रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु ने बताया है कि यह नित्यविहारी तत्त्व समस्त वेद, उपनिषद्, पुराण एवं शास्त्रों से अलक्षित और अगोचर है। सब वेदादि जिसकी ओर "रसो वै सः' वह रस रूप है, कह कर संकेत मात्र करते हैं, वह श्रुति-अलक्षित तत्त्व श्रीराधावल्लभ लाल है। यह तत्त्व नित्य, सत्य और सच्चिदानंदघन है। यह प्रेम, रूप-माधुर्य्य, सौंदर्य, रस, सुख, आनंद और भाव की परावधि है। यह समस्त अवतारों का निधान और मूल है। इसी से सारे अवतार होते रहते हैं, जैसे अग्नि से चिनगारियाँ। श्रीराधावल्लभ-लाल सर्व-तंत्र-स्वतंत्र ब्रह्म के भी ब्रह्म हैं। इन्हें सृष्टि, पालन एवं प्रलय की व्यवस्थाओं से

न कोई प्रयोजन है और न उनकी स्मृति की ही। ये अपने नित्य-रस में मग्न हुए अपनी निजरूपा स्वामिनी श्रीराधा के साथ आनंद विहार ही करते रहते हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दो नहीं एक ही तत्त्व हैं। ये दो ही क्यों? सारा नित्य विहार-परिकर ही एक तत्त्व रूप है।

नित्य-विहार परिकर के मुख्य चार अंग हैं:—श्रीराधा, श्रीकृष्ण, श्रीवृंदावन और सखियाँ। किंतु ये चारों एक ही तत्त्वप्रेम की चार आकृतियाँमात्र हैं जो परस्पर ओत-प्रोत हैं। प्रेमरूप युगल किशोर जो निरंतर प्रेम-क्रीड़ा किया करते हैं उसी को नित्य-विहार या निकुंज-क्रीड़ा कहते हैं। इस नित्य-विहार के परिकर में बियोग-भ्रम या विरह की कोई कल्पना तक नही है। यहाँ नित्य मिलन की ही एकरस क्रीड़ा है। यहाँ सखियाँ युगल किशोर की आत्म-भूता हैं। अतः 'स्व-पर' भेद से रहित हैं।

यह विहार नित्य-निरंतर अनादि अनंत रूप से दिव्य धाम श्रीवृंदावन में होता रहता है। वृंदावन का स्वरूप स्थूल से तो परे है ही; सूक्ष्म और कारण से भी परे अतर्क्य और अवाङ्मनस-गोचर है। नित्यविहार की कल्पना की झाँकी श्रीहित ध्रुवदास जी ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत की है:—
क्या है?

न आदि न अंत विहार करैं दोउ,
लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई नई भाँति नई नई काँति,
नई नवला नव नेह विहारी॥
दियैं चित आहि, रहे सुख चाहि,
रहे तन प्रान सु सर्वसु हारी।

रहैं इक पास करैं मृदु हाँस,
सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कथा री ॥

और—

वृंदावन रस सबकौ सारा।
नित सर्वोपरि जुगल विहारा ॥
नित्य किसोर रूप की रासी।
नित्य विनोद मंद मृदु हासी ॥
सुख की अवधि प्रेम कौ ऐंना।
सेवत मैंननि की सत-सैंना ॥
विहरत तहाँ परम सुकुमारा।
रूप माधुरी कौ नहिं पारा ॥
नित्य विहार अखंडित धारा।
एक वैस रस विवि सुकुमारा ॥
नित्य किसोर रूप निधि सींवा।
विलसत सहज मेलि भुज ग्रीवां ॥
तिन विच अंतर पलकौ नाहीं।
तऊ तृपित प्रीतम मन माँहीं ॥
अद्भुत सहज रंग सुखदाई।
तहाँ प्रेम की एक दुहाई ॥
तिनकौ प्रेम और ही भाँति।
अद्भुत रीति कही नहिं जाति ॥
सूछम प्रेम 'विरह सुखदाई।
दिन संजोग में रहत हैं माई ॥
छिन छिन दसा और की औरै।
थाँभे रहति सखो सिरमौरै ॥

विरह सँजोग दिनहिं दिन मौंहीं।
जदि्प ग्रीवनिं मेलैं वौंहीं॥
इहि विधि खेलत कलप विहाने।
परम रसिक कबहूँ न अघाने॥
प्रेम तरंग कहे नहिं जाँहीं।
छिन-छिन जे उपजत मन माँहो॥
देखिवौ जहाँ विरह सम होई।
तहाँ को प्रेम कहा कहै कोई॥

× × ×

या सुख पर नाँहिन सुख औरै।
जेहि उर रचे रसिक सिरमौरै॥
श्रीहरिवंश--चरन उर धारै।
सो या रस में मन अनुसारै॥
नित्यहिं नित्य बिहार दोऊ करत लाडिली लाल।
वृंदावन आनंद जल बरसत है सब काल॥
रूप रँगीली सभा सो प्रेम रंगीलौ राज।
सखी सहेली संग रँग अद्भुत सहज समाज॥

यह नित्य-विहारी तत्त्व रूप, लावण्य, चातुर्य्य-केलि और प्रेम रस का सिंधु है—

वैदग्ध्य - सिन्धुरनुराग--रसैक--सिन्धु--
वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः,
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः॥
--श्रीराधा सुधानिधि १७

"जो चातुर्य्य की सिंधु, प्रेम रस की सिंधु, वात्सल्य भाव की सिंधु, अति कृपा की सिंधु, लावण्य की सिंधु और छवि रूप अमृत की अपार सिन्धु हैं वे केलि-सिन्धुरूपा श्रीराधा मेरे हृदय में स्फुरित हों।"

ये श्रीराधा या श्रीकृष्ण केवल इन सबके सिन्धु ही नहीं सार भी हैं—

लावण्यसार–रससार–सुखैकसारे,
कारुण्यसार–मधुरच्छवि–रूपसारे।
वैदग्ध्य-सार - रतिकेलि-विलास - सारे,
राधाभिधे मम मनोऽखिलसारसारे॥

—श्रीराधासुधानिधि २५

अर्थात् "वे राधा नामक कोई अखिल सारों की भी सार-रूपा सर्वेश्वरी लावण्य की सार, सुख की एकमात्र सार, करुणा की सार, मधुर रूप छवि की सार, रति-विदग्धता की सार एवं रति-केलि विलास की भी सार हैं।"

सारांश यह है कि नित्य विहारीलाल सौंदर्य्य माधुर्य की चरम सीमा और परात्पर तत्त्व हैं। यही युगल किशोर रूप अखिल सौंदर्य्य माधुर्य्य-निधि रस-तत्त्व रसिक जनों का लक्ष्य और उपास्य है। ये श्रीराधावल्लभ प्रेम और रस की अपूर्व निधि हैं—पराकाष्ठा हैं—

एकै प्रेमी एक रस श्रीराधावल्लभ आहि।
भूलि कहै जो और ठौं झूठौ जानौं ताहि॥

—ध्रुवदास जी।

इन कमनीय युगल किशोर की प्रेम-केलि का वर्णन करते हुए श्रीहिताचार्य्य-पाद ने कहा है—

मिथो भङ्गी–कोटि–प्रवहदनुरागामृतरस–
स्तरङ्ग–भ्रूभङ्गक्षुभितबहिरभ्यन्तरमहो।
मदाघूर्णन्नेत्रं रचयति विचित्रं रतिकला–
विलासं तत्कुञ्जे जयति नवकैशोरमिथुनम् ॥

अर्थात् "युगल किशोर के पारस्परिक हाव-भाव के विस्तार से आज प्रेमामृत रस का प्रवाह सा बह चला है। उस प्रवाह में दोनों की कुटिल भृकुटियों के नर्त्तन ही मानों तरंगें हैं। युगल किशोर के नयन रस के मद से घूर्णायमान हो रहे हैं। दोनों नव-निकुंज भवन में रतिकला के विचित्र विलास की रचना करते हैं और इस प्रकार सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो रहे हैं।"

इस तरह सिद्ध है कि नित्य-विहार सिवाय प्रेम-केलि के और कुछ है ही नहीं। युगल किशोर एक प्रेम के ही दो रूप हैं। प्रेम ही विविध रूपों में विलास कर रहा है। अतः नित्य-विहार केवल हित-प्रेम का ही विलास है।

युगल सरकार और हिततत्त्व

'जीव का भावमय स्वरूप' इस शीर्षक से हम पहले बता आये हैं कि जीव और विभु नामक दो अलग अलग तत्त्व नहीं है वरं एक प्रेम-तत्त्व ही अनेक रूपों में विद्यमान है। वही जीव रूप है और वही विभु रूप है। 'हित' ही 'ब्रह्म' है। प्रेम ही परमात्मा है। वही व्यापक प्रेम नित्य-विहार-केलि में चाररूपों में व्याप्त है, अर्थात् युगल, श्रीवन और सहचरी-गण। यावन्-मात्र स्थिर-जंगम सब प्रम के ही स्थूल रूप हैं या प्रेम चर-अचर रूप में जडतासंचारीभाव को प्राप्त हो गया है। चराचर व्यापक इस प्रेम का सर्वत्र दर्शन करते हुए श्रीलाड़िलीदास जी ने

कहा—सबै चित्र हित मित्र के जहँ लौं धामी धाम। अर्थात् "जहाँ तक धाम है और उनके वासी धामी हैं सब उसी एक 'हित-मित्र (प्रेम देवता) के चित्र हैं।

यह प्रेम किन किन रूपों में और किस प्रकार व्याप्त है इसका संकेत करते हुए चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी ने भी कहा है—

वन्दौं प्रेम खिलारो दंपति उर जो है।
मुनि जन मन मोहै ॥
कौतुक रचै जु भारी वारी अति रस रूप छकावै।
सदा सदेह रहै वृंदावन पिय प्यारी दुलरावै ॥
याके खेल रसिक जन परचैं थिरचर सब मन भावै।
वृंदावन हित रूप सहेलिनु चित जु चोज उपजावै ॥

जो प्रेम दंपति (युगल-किशोर) के हृदय में है वही मुनियों का मन मोहित करता और स्थिर-चर सब में व्याप्त है। वही प्रेमतत्त्व मूर्तिमान् होकर श्रीहित हरिवंश के रूप में श्रीवन में विराज कर युगल किशोर को दुलराता है। किं बहुना ? वही सखियों के हृदय में बैठ कर रसानुभव भी कराता है।

प्रेम अनिर्वचनीय तत्त्व है। वह एक होकर भी अनेक है। वह प्रिया है, वह प्रियतम है, वह सखी है, वह श्रीवन है और वह इनसे परे भी है। ये सब मिलकर उसका रसास्वादन करते हैं, उसे जानना चाहते हैं पर जान नहीं पाते। उसने सबके चित्त को हरण कर रखा है। उस प्रेम ने उन्हें किस प्रकार वशीभूत कर रखा है, वे स्वयं सर्वज्ञ होकर भी नहीं जान पाये हैं। उस दिव्यातिदिव्य प्रेम के परिचय में कोई क्या कहे ?

यह प्रेम अमृतरूप है; मूक के आस्वादन की भाँति अव्यक्त है। और एक रहस्य है जो श्रीकृष्ण और श्रीराधा-प्रेम प्रतिमाओं-के भी चित्त को हरण किये बैठा है। श्रीहिताचार्य्यचरण कहते हैं—

यन्नारदाजेश–शुकैरगम्यं
वृन्दावने वञ्जुल–मञ्जु–कुञ्जे।
तत्कृष्णचेतो–हरणैकविज्ञ—
मत्रास्ति किञ्चित् परमं रहस्यम्॥

अर्थात् "यहाँ श्रीवृंदावन की वेतस कुंजों में एक रहस्य है, रहस्य! औरों की तो बात ही क्या जो ब्रह्मा, नारद, शंकर, शुकदेव आदि के लिये भी अगम्य है। ये बड़े-बड़े महा - भागवतगण भी उसे नहीं जान पाये हैं। उसकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि वह उन श्रीराधा और श्रीकृष्ण का भी चित्त चुराने में बहुत चतुर है।

—०—

पूर्वी भारत में भक्ति आंदोलन

महासुख, सुखराज,[1] महामुद्रा-साक्षात्कार आदि हैं। इसी अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान—ग्राहक, ग्राह्य तथा ग्रहण इस लोक-प्रसिद्ध त्रिपुटी का उस समय सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अवस्था का वर्णन सरहपा (८०० ई० के आसपास) ने इस प्रसिद्ध दोहे में किया है:—

'जह मन पवन न सञ्चरइ रवि ससि नाह पवेश।
तहिं वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥'

अर्थात् सहजावस्था में मन और प्राण का संचार नहीं होता। सूर्य और चंद्र का वहाँ प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। चंद्र और सूर्य इडा-पिंगलामय आवर्तशील काल-चक्र का ही नामांतर है। निर्वाण-पद काल से अतीत होता है इसीलिये वहाँ चंद्र और सूर्य के प्रवेश न होने की बात का सरहपा ने वर्णन किया है। इसी अवस्था का नाम है 'उन्मनीभाव'। इसी अवस्था में मन का लय स्वाभाविक व्यापार है। उस समय वायु का भी निरोध संपन्न होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि यही निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति का निज-स्वभाव (अपना सच्चा रूप) है। इस समय जो आनंद होता है उसी को 'महासुख' कहते हैं। इसी का नाम 'सहज' है। वह एक, कारणहीन परमार्थ है। महासुख के विषय में सरहपाद की यह उक्ति नितांत सत्य है—

''घोरे न्धारे चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुख एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ॥

---

१ जयति सुखराज एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः॥
—सरहपाद का वचन; सेकोद्देशटीका पृ० ६३

अर्थात् घोर अंधकार को जिस प्रकार चंद्रकांत मणि दूर कर अपने निर्मल प्रकाश से उद्भासित होता है उसी प्रकार इस अवस्था में महासुख समस्त पापों को दूर कर प्रकाशित होता है। इस महासुख की उपलब्धि वज्रयानी सिद्धों के लिये परमपद की प्राप्ति है[1]।

इसी महासुख के प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है गुरु का उपदेश। तंत्र साधन-मार्ग है। पुस्तकावलोकन से इस मार्ग का रहस्य नहीं जाना जा सकता। इसीलिये साधक को किसी योग्य गुरु की शिक्षा नितांत आवश्यक होती है[2]। परंतु गुरु का स्वरूप क्या है?

यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। सहजिया लोग कहते हैं कि गुरु युगनद्धरूप है अर्थात् मिथुनाकार है। वह शून्यता और करुणा की युगलमूर्ति है; उपाय तथा प्रज्ञा का समरस विग्रह है। शून्यता सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान का वाचक है। करुणा का अर्थ जीवों के उद्धार करने के लिये महती दया दिखलाना है। गुरु को शून्यता और करुणा की मिश्रित मूर्ति बतलाने का अभिप्राय यह है कि वह परम ज्ञानी होता है; परंतु साथ ही साथ जगत् के नाना प्रपंच के आर्त प्राणियों के उद्धार के लिये उसके हृदय में

---

१ हेवज्रतन्त्र में महासुख को उस अवस्था का आनंद बतलाया है जिसमें न तो संसार (भव) है, न निर्वाण, न अपनापन रहता है, न परायापन। आदि-अंत-मध्य का अभाव रहता है:—

आइ ण अनंत मज्झ णहि, नउ भव नउ निव्वाण।
एहु सो परम महासुहऊ, नउ पर नउ अप्पाण॥

—सेकोद्देश टीका (पृ० ६३) में उद्धृत हेवज्रतन्त्र का वचन।

२. ज्ञान-सिद्धि का १३वाँ परिच्छेद-द्रष्टव्य।

महती दया विद्यमान रहती है। वज्रयान में प्रज्ञा और उपाय के एकीकरण के ऊपर जोर दिया गया है। क्योंकि प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है[1]।

बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये केवल प्रज्ञा से काम नहीं चलता और न उपाय से ही काम चलता है।[2] उसके लिये दोनों का संयोग नितांत आवश्यक है। इन्हीं दोनों की मिलित मूर्ति होने से गुरु को 'मिथुनाकार' बतलाया गया है। वज्रयानी सिद्धों के मत में मौन मुद्रा ही गुरु का उपदेश है। शब्द के द्वारा सहज तत्त्व का परिचय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि मन और वाणी के गोचर पदार्थ विकल्प के अंतर्गत हैं। निर्विकल्प तत्त्व शब्दातीत है। इसी को महायानी ग्रंथों में 'अनक्षर तत्त्व' कहा गया है।

सच्चा गुरु वह है जो आनंद या रति के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करे[3]। केवल मौखिक उपदेश देना गुरु का काम नहीं है। गुरु का काम हृदय के अंधकार को

---

१. न प्रज्ञाकेवलमात्रेण बुद्धत्वं भवति, नाप्युपायमात्रेण। किंतु यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ समतास्वभावौ भवतः, एतौ द्वौ अभिन्नरूपौ भवतः तदा भुक्तिमुक्तिर्भवति।

२ उभयोर्मिलनं यच्च, सलिल - क्षीरयोरिव।
अद्वयाकारयोगेन प्रज्ञोपायं तदुच्यते॥
चिन्तामणिरिवाशेषजगतः सर्वदा स्थितम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपायस्वभावतः॥

३ सद्गुरुः शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति।

दूर कर प्रकाश तथा आनंद का उल्लास करना है। तंत्र-शास्त्र में इसीलिये उपयुक्त गुरु की खोज के लिए इतना आग्रह है[1]।

महासुख की उपलब्धि के स्थान तथा उपाय का वर्णन वज्रयानी ग्रंथों में विस्तार के साथ मिलता है। सिद्धों का कहना है कि 'उष्णीष कमल' में महासुख की अभिव्यक्ति होती है। तंत्रशास्त्र और हठयोग के ग्रंथों में इस कमल को 'सहस्रदल' (हजार पत्तों वाला) कहा गया है। वज्रगुरु का आसन इसी कमल की कर्णिका के मध्य में है। इस स्थान की प्राप्ति मध्यममार्ग के अवलंबन करने से ही हो सकती है। जीव सांसारिक दशा में दक्षिण और वाम मार्ग में इतना भ्रमण करता है कि उसे मध्यम मार्ग में जाने के लिये तनिक भी सामर्थ्य नहीं होती। यह मार्ग गुरु की कृपा से ही प्राप्य है। सहजिया लोग वाम शक्ति को 'ललना' और दक्षिण शक्ति को 'रसना' कहते हैं। तांत्रिक भाषा में ललना, चंद्र तथा प्रज्ञा वाम शक्ति के द्योतक होने से समानार्थक है। रसना, सूर्य और उपाय दक्षिण शक्ति के बोधक होने से पर्यायवाची हैं। इन दोनों के बीच में चलने वाली शक्ति का पारिभाषिक नाम है "अवधूती"[2]। अवधूती शब्द की व्युत्पत्ति है—

अवधूती-मार्ग

---

१ या सा संसारचक्रं विरचयति मनः सन्नियोगात्महेतोः;
सा धीर्यस्य प्रसादाद्दिशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपंचम्।
तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तं;
कुर्यात्तस्याङ्घ्रियुग्मं शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकालम्॥
—चर्याचर्यविनिश्चय—पृ० ३

२ द्रष्टव्य 'वीणापाद' का यह गायन—
सुज लाउ ससि लागेलि तान्तीं।
अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती॥

"अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि पापान् धुनोति।

अर्थात् वह शक्ति जो अनायास ही क्लेशादि पापों को दूर कर देती है। अवधूतीमार्ग ही अद्वयमार्ग, शून्यपथ, आनंदस्थान आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। ललना और रसना इसी अवधूती के ही अविशुद्ध रूप हैं। जब ये शक्तियाँ विशुद्ध होकर एकाकार हो जाती हैं तो इन्हें "अवधूती" कहते हैं। तब चंद्र का चांद्रत्व नहीं रहता और न सूर्य का सुर्यत्व रहता है। क्योंकि इन दोनों के आलिंगन से ही 'अवधूती' का उदय होता है। वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना के शोधन करने से तात्पर्य, नाड़ी की शुद्धि से है। शोधन होने पर दोनों नाड़ियाँ मिलकर एकरस या एकाकार हो जाती हैं। इसी निःस्वभाव या नैरात्म्य अवस्था को ही शून्यावस्था कहते हैं। जो इस शून्यमय अद्वैतभाव में अधिष्ठान कर आत्मप्रकाश करता हैं वही सच्चा वज्रगुरु है

रागमार्ग—

महासुख कमल में जाने के लिये यथार्थ सामरस्य प्राप्त करने के लिये मध्यपथ का अवलंबन करना तथा द्वंद्व का मिलन कराना ही होगा। दो को बिना एक किये हुये सृष्टि और संहार से अतीत निरंजन पद की प्राप्ति असंभव है। इसलिये मिलन ही अद्वय-शून्यावस्था तथा परमानंद लाभ का एकमात्र उपाय है। सह-जिया लोगों का कहना है कि बुरे कर्मों के परिहार से तथा इंद्रिय-

---

वाजइ अलो सहि हेरुअ वीणा।
सुन तांति धनि विलसइ रुणा॥

—बौद्धगान ओ दोहा पृ० ३०

निरोध से निर्विकल्पक दशा उत्पन्न नहीं की जा सकती। युगल अवस्था की प्राप्ति न होने से विराग तथा विषय का त्याग एकदम निष्फल है। इसके लिये एक ही मार्ग—सहजमार्ग—रागमार्ग है, वैराग्यमार्ग नहीं। इस मार्ग के लिये कठिन तपस्या आदि का विधान निष्फल है। श्रीसमाजतंत्र का कथन है कि दुष्कर नियमों के करने से शरीर केवल दुःख पाकर सूखता है; चित्त दुःख के समुद्र में गिर पड़ता है। इस प्रकार विक्षेप होने से सिद्धि नहीं मिलती—

> दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, मूर्तिः शुष्यति दुःखिता।
> दुःखाब्धौ क्षिप्यते चित्तं, विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा॥

इसलिये पंच प्रकारों के कामों का त्यागकर तपस्या द्वारा अपने को पीड़ित न करे। योगतंत्रानुसार सुखपूर्वक बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति के लिये सदा उद्यत रहे—

> पञ्चकामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत्।
> सुखेन साधयेत् बोधिं योगतन्त्रानुसारतः॥

इसलिये वज्रयान का यह सिद्धांत है कि देहरूपी वृक्ष के चित्त-रूपी अंकुर को विशुद्ध विषय-रस के द्वारा सिक्त करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है और आकाश के समान निरंजन फल फलता है। महासुख की तभी प्राप्ति होती है:—

> तनुतरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
> गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते[1]

---

१ 'चर्याचर्यविनिश्चय' के लुईपाद कृत प्रथम पाद की टीका में उद्धृत सरहपाद का वचन।

राग से ही बंधन होता है अतः मुक्ति भी राग से ही उत्पन्न होती है। इसलिये मुक्ति का सहज साधन महाराग या अनन्य-राग है, वैराग्य नहीं। इस बात के ऊपर 'हेवज्रतंत्र' आदि अनेक तंत्रों की उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है:—"रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते।" इसलिये अनंगवज्र ने चित्त को ही संसार और निर्वाण दोनों बतलाया है। जिस समय चित्त बहुल-संकल्प-रूपी अंधकार से अभिभूत रहता है, बिजुली के समान चंचल होता है और राग, द्वेष आदि मलों से लिप्त रहता है, तब वही संसार-रूप है[1]।

अनल्प-संकल्प-तमोभिभूतं ,
प्रभञ्जनोन्मत्त-तडिच्चलञ्च।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं ;
चित्तं विसंसारमुवाच वज्री ॥

वही चित्त जब प्रकाशमान होकर कल्पना से विमुक्त होता है, रागादि मलों के लेप से विरहित होता है, ग्राह्य, ग्राहक भाव की दशा को अतीत कर जाता है तब वही चित्त निर्वाण कहलाता है[2]। वैराग्य को दमन करनेवाले पुरुष को 'वीर' कहते हैं।

---

१ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ४।२२

२ प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं, प्रहीणरागादिमलप्रलेपम् ॥
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्वं, तदेव निर्वाणपदं जगाद ॥
—प्र० वि० सि० ४।२४

नागार्जुन के निम्नांकित वचन से इसकी तुलना कीजिये।
निर्वाणस्य या कोटिः, कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किञ्चित्, सुसूक्ष्ममपि विद्यते ॥

ऊपर ललना और रसना के एकत्र मिलन की बात कही गयी है। विशुद्ध होने पर ये दोनों 'अवधूती' के रूप में परिणत हो जाती हैं। उस समय एकमात्र अवधूतिका ही प्रज्वलित रहती है। 'अवधूतिका' के विशुद्ध रूप के लिए 'डोम्बी' शब्द का व्यवहार किया जाता है। वामशक्ति और दक्षिणशक्ति के मिलन से जो अग्नि या तेज उत्पन्न होता है उसकी प्रथम अभिव्यक्ति नाभिचक्र में होती है। इस अवस्था में वह शक्ति अच्छी तरह विशुद्ध नहीं रहती। इसका सहजिया भाषा में सांकेतिक नाम 'चाण्डाली' है। जब चाण्डाली विशुद्ध हो जाती है तब उसे 'डोम्बी' या 'बंगाली' कहते हैं[1]। अवधूती, चाण्डाली और बंगाली (या डोम्बी) एक ही शक्ति की त्रिविध अवस्था के नामांतर हैं। अवधूती अवस्था मे द्वैत का निवास रहता है क्योंकि उसमें इड़ा और पिङ्गला पृथक् रूप में अपना कार्य अलग-अलग निर्वाह करती हैं। चाण्डाली अवस्था में द्वैताद्वैत का निवास है तथा बंगाली अद्वैतभाव की सूचिका है। तंत्र में शक्ति के जो तीन भेद—अपरा, परापरा तथा परा—किये गये हैं उनका लक्ष्य इन्हीं तीनों भेदों से है। अवधूती अवस्था में वायु का संचार तथा निर्गम होता है, इसी का नाम संसार है। शक्ति को सरलमार्ग में ले आना अर्थात् वक्र गति को दूरकर

'डोम्बी' तथा 'चाण्डाली'

---

१ तुलनीय भुसुकुपाद की यह प्रसिद्ध गीति—

आज भुसुकु बंगाली भइली।
णिअ घरिणी चण्डाली लेली॥
डहि जो पंचधाट णइ दिविसंशा णठा।
न जानमि चिअ मोर कहिँ गइ पइठा॥

सरलपथ में ले चलना साधक का प्रधान कार्य है। सिद्धाचार्यों का उजू बाट[1] (ऋजुवर्त्म—सीधा मार्ग) यही है। वाम और दक्षिण की गति जब तक है तब तक हमारा मार्ग टेढ़ा (सिद्धों की भाषा में बाँक = वक्र) ही रहता है। इस मार्ग को छोड़कर सीधे मार्ग में आने के लिये सिद्धाचार्यों ने अनेक सुंदर दृष्टांत दिये हैं। इस मार्ग के अवलंबन करने से वज्रयानी साधक को अपनी अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। अंतिम क्षणमें रागाग्नि आपसे आप शांतहो जाती है जिसका नाम है निर्वाण (या आगका बुझ जाना)। रागाग्नि के निवृत्त होने से जिस आनंद का प्रकाश होता

---

१ मध्यमार्ग ही सरल मार्ग, ऋजु मार्ग या ऊजू बाट है। सरहपाद की युक्ति है:—

"उजू रे उजू छाडि मा लेओ रे वँक।"
निअहि बोहिया जाहु रे लाँक॥

अर्थात् ऋजुमार्ग को पकडो, टेढ़े रास्ते को छोड दो।

सिद्धाचार्य शांतिपाद (प्रसिद्ध नाम भुसुक) की यह उक्ति भी मननीय है—

वाम दहिन दो बाटा छाड़ी।
शांति बुलथेउ सकेलिउ॥

अर्थात् वाम और दक्षिण मार्ग को छोड़कर मध्यमार्ग का ग्रहण आवश्यक है। यही विशुद्ध 'अवधूतीमार्ग' या वज्रमार्ग है। बिना इसका आश्रय लिये बुद्धत्व, तथागतभाव या महासुख की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है—एतद् विरमानन्दोपायमार्गं विहाय नान्यमार्गसद्भावोऽभिमुखोऽस्ति। इसी का द्योतक यह तंत्र-वचन है—

एष मार्गवरः श्रेष्ठो महायानमहोदयः।
येन यूयं गमिष्यन्तो भविष्यथ तथागताः॥

है उसे कहते हैं-विरमानंद। उस समय चंद्र स्वभावस्थित होता है, मन स्थिर होता है तथा वायु की गति स्तम्भित होती है। जिसके हृदय में विरमानंद का प्रकाश उत्पन्न हो गया है, वही यथार्थ में योगीन्द्र, योगिराट् है तथा सहजिया भाषा में वही 'वज्रधर' पद्वाच्य सद्गुरु कहलाता है।

सहजिया लोगों में महामुद्रा का साक्षात्कार ही सिद्धि गिना जाता है। शून्यता तथा करुणा के अभेद को ही 'महामुद्रा' कहते हैं[1]। जिसने अभेद ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, उससे अज्ञात कोई भी पदार्थ नहीं रहता। उसके लिए समग्र विश्व के पदार्थ अपने विशुद्धरूप को प्रकट कर देते हैं। 'धर्मकरण्डक', 'बुद्धरत्नकरण्डक' तथा 'जिनरत्न'—इसी महामुद्रा के पर्याय हैं। तंत्रशास्त्र में शिव और शक्ति का जो तात्पर्य तथा स्थान है वही रहस्य तथा स्थान वज्रयान में शून्यता तथा करुणा अथवा वज्र और कमल का है। शिव-शक्ति के सामरस्य को दिखलाने के लिए तंत्र में एक यंत्रविशेष का उपयोग किया जाता है। यंत्र में दो समकेंद्र त्रिकोण हैं—एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण रहता है और दूसरा अधोमुख त्रिकोण। ये पृथक् रूप से शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व के द्योतक हैं—इनका एकीकरण दोनों के परस्पर आलिंगन या मिलन का यांत्रिक निदर्शन है। शून्यता तथा करुणा के परस्पर मिलन—वज्र और कमल का परस्पर योग—दोनों का रहस्य एक ही है—शक्तिद्वय का परस्पर मिलन या सामरस्य या समरसता।

महामुद्रा

इन्द्रियसुख में आसक्त पुरुष धर्मतत्त्व का ज्ञाता कभी नहीं हो

---

१ द्रष्टव्य ज्ञानसिद्धि १।५६–५७।

सकता। वज्र-कमल के संयोग से जिस साधक ने बोधिचित्त को वज्रमार्ग में अच्युत रखने की योग्यता प्राप्त कर ली है अथवा जिसने शिव-शक्ति के मिलन से ब्रह्मनाड़ी में बिन्दु को चालित कर स्थिर तथा दृढ़ करने की सामर्थ्य सिद्ध कर ली है, वही महायोगी है। धर्म का तत्त्व उसकी ज्ञानदृष्टि के सामने स्वयं उन्मिषित हो जाता है। समस्त साधन का उद्देश्य बोधिचित्त या बिंदु की रक्षा करना है। बोधिचित्त से अभिप्राय बोधिमार्ग पर आरूढ़चित्त से है[1]। ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे चित्त उस मार्ग से पतित न हो जाय। नाना प्रकार की साधना का फल काय, वाक् तथा चित्त की दृढ़ता संपादन करना होता है। देवता के संयोग से काय की दृढ़ता, वज्रजाप के द्वारा चन्द्र-सूर्य की गति के खंडन होने पर वाक् की दृढ़ता और सुमेरुशिखर पर श्वास को ले जाने से चित्त की दृढ़ता संपादित होती है। बिना इनकी दृढ़ता हुए साधक में परम चैतन्य की शक्ति का आविर्भाव हो नहीं सकता। यदि आविर्भाव संभवतः हो भी जाय, तो उसे सहन या धारण करने की क्षमता साधक में नहीं रहती। इसी लिए गुरु इस दृढ़ता की प्राप्ति के लिए विशेष आग्रह दिखलाता है। इस दृढ़ता की अभिव्यक्ति 'वज्र' शब्द के द्वारा की जाती है। इस प्रकार द्वैतभाव के परित्याग से अद्वैतभाव की अनुभूति वज्रयान का चरम लक्ष्य है। 'वज्र' शून्यता का ही भौतिक

---

१ अनादिनिधनं शान्तं भावाभावक्षयं विभुम्।
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्॥
—श्रीसमाजतन्त्र पृ० १५३।

इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य—ज्ञानसिद्धि पृ० ७५।

प्रतीक है क्योंकि दोनों ही दृढ़, अखंडनीय, अछेद्य, अभेद्य तथा अविनाशी हैं—

दृढ़ं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

—वज्रशेखर पृ० २३

सहजयान में परमार्थ की प्राप्ति 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' के परस्पर योग का परिणत फल है। शून्यता का ही अपर नाम है 'प्रज्ञा' तथा अशेष प्राणियों पर अनुकंपा का ही अभिधान है 'उपाय'। जो मनुष्य प्रज्ञा तथा उपाय से युक्त रहता है तथा संसार के पदार्थों से आसक्तिहीन रहता है। वह इसी जन्म में सिद्ध हो जाता है; इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है। ऊपर कहा गया है कि सहजयान रागमार्ग है, वैराग्यमार्ग नहीं अर्थात् जो राग अशुद्ध तथा मलिन होने पर संसार में बंधन का कारण बनता है वही राग कालुष्य तथा कामना से विरहित होने पर अपने परिशोधित रूप में जगत् में मोक्ष का साधन बनता है। इस राग के परिशोधन के निमित्त सहजयान का साधन मुद्रा का साधन करता है अर्थात् किसी पर-स्त्री के संग अनेक विशिष्ट तांत्रिक क्रियाओं का अनुष्ठान करता हुआ अपने 'काम' को 'राग' के रूप में परिणत करता है और इसी जन्म में 'महासुख' का अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्ति लाभ करता है।

—:o:—

(१)

सहजिया वैष्णव संप्रदाय

सहजिया वैष्णव लोग रागानुगा प्रेमाभक्ति के अनुयायी हैं, इसलिए वे लोग वैधी भक्ति को विशेष महत्त्व नहीं देते। 'सहज' शब्द की संप्रदायगत व्याख्या ठीक ठीक जान लेने पर इस मत के सिद्धांतों से पूरा परिचय प्राप्त हो सकता है। मनुष्य परमात्मा का ही रूप है और प्रेम ही परमात्मा का सहज धर्म है जिसे मनुष्य भगवान् की विभूति होने के कारण से स्वतः धारण करता है। मनुष्य भगवदंश होने से सहज रूप से प्रेम को धारण करता है[1]। इसी प्रेम के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का इतना प्रसार कर लेता है कि वह प्रत्येक जीव के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर लेता है और तद्-द्वारा भगवान् के साथ भी अपनी पूर्ण एकता स्थापित कर लेता है। तब वह सिद्ध बन जाता है और परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लेता है।

सहजिया लोग इसीलिए मनुष्य के रूप-विश्लेषण को ज्यादा महत्त्व देते हैं। प्रत्येक मानव केभीतर 'स्वरूप' और 'रूप' नामक दो भिन्न भिन्न कोटियों के स्वभाव विद्यमान रहते हैं। यह केवल धार्मिक विचार-धारा में ही महत्व नहीं रखता, प्रत्युत यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन

---

१ सहज भजन एई शब्देर अर्थ एई ये जीव अनुचैतन्य स्वरूप आत्मा। प्रेम आत्मार सहज धर्म। ये धर्म ये वस्तुर सहित एकत्रे उत्पन्न हय ताहा ताहार सहज।

—रूपानुग-भजनदर्पण

लोगों का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य के अंतर्गत श्री कृष्ण का आध्यात्मिक तत्त्व वर्तमान है जिसको 'स्वरूप' कह सकते हैं और इसके साथ ही साथ उसमें एक निम्नस्तर का भौतिक-तत्त्व भी वर्तमान है जिसे 'रूप' कह सकते हैं। इन साधकों के अनुसार प्रत्येक पुरुप एवं स्त्री को अपने रूप के ऊपर स्वरूप का आरोप कर लेना चाहिए और उसी की सहायता से साधक को अपने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव रूप में परिणत कर देना चाहिए। मनुष्य जब तक रूप की ही अभिव्यक्ति में लगा रहता है, तब तक उसका प्रेम विशुद्ध न होकर केवल मलिन बना रहता है। परंतु जब साधक रूप के ऊपर स्वरूप का आरोप कर अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है, तब उसका प्रेम भी अपनी मलिनता को छोड़ कर विशुद्ध रूप में प्रकाशित हो उठता है। विना रूप की सहायता के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। इसी लिए ये लोग अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिए किसी परकीया के साथ प्रेम की साधना भी नितांत आवश्यक मानते हैं।

—:❀:—

(२)

सहज मानुप

सहजिया लोग मनुष्य को ही अधिक महत्त्व देते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य यदि अपने सच्चे स्वरूप को पहचान ले तो उसके हृदय में प्रेमाभक्ति के उदय में विलंब नहीं होता। इस मार्ग के अनुसार 'सहज-मानव' ही मानव समाज के लिए

आदर्श है[१]। सहज-मानव में न रजोगुण का प्राधान्य रहता है, न तमोगुण का अतिरेक। उसमें शुद्ध सत्त्व की ही प्रतिष्ठा रहती है। वह अपने में और संसार के इतर प्राणियों में किसी प्रकार का भेद नहीं देखता। यह सांसारिक वस्तुओं में किसी प्रकार का राग नहीं रखता। न तो किसी से वह द्वेष करता है और न भला-बुरे के विवेचन में ही अपना समय गवाँता है। शुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित ऐसा मनुष्य ही सहजिया-पंथ में आदर्श मानव गिना जाता है। ऐसा मनुष्य बड़ा दुर्लभ होता है। ऐसे मनुष्य का परिचय 'चण्डीदास' ने अपने एक प्रसिद्ध पद में दिया है—

मानुष मानुष सवाइ कहये, मानुष के मन जन।
मानुष रतन मानुष जीवन, मानुष पराण धन॥
भरमे भुलये अनेक जन, मरम नाहिक जाने।
मानुपेर प्रेम नाहि जीवलोके, मानुष से प्रेम जाने॥
मानुष यारा जीवन्ते मरा, सेई से मानुष सार।
मानुष लक्षण महाभावगण, मानुष भावेर पार॥
मानुष नाम विरल धाम, विरल ताहार रीति।
चंडीदास कहे सकलि विरल, के जाने ताहार रीति॥

चंडीदास का कहना है कि मनुष्य के विषय में सब चर्चा

---

१ शुद्ध सत्व जीव एई सदा निष्ठाशील।
सहजे अभेद भावे देखे ये अखिल॥
विपयेर दास्ये येई ना काटाय काल।
नयनेर दृष्टि यार चित्ते चिरकाल॥
भालमंद नाहि जाने, नाहि करे द्वेष।
अन्तरे नियत हेरे आपन महेश॥ —रसरत्न सार

करते हैं परंतु उसके शुद्ध सच्चे रूप को कोई नहीं जानता। मनुष्य रत्न है। वह सृष्टि का मूल प्राण है। वह हमारे प्राणों को आकृष्ट करने वाले पदार्थों की निर्मिति है। मानुष के बाहरी रूप को देखने वाले भ्रम में पड़े रहते हैं, क्योंकि वे उसके भीतरी रूप को जान नहीं सकते। प्रेम से मनुष्य गढ़ा जाता है—उस प्रेम से, जो इस जगत् का न होकर दिव्य लोक का है। बिना इस प्रेम को जाने कोई भी व्यक्ति सच्चा मानव नहीं हो सकता। मनुष्य प्रेम का अक्षुण्ण बहनेवाला निर्झर है। वह महाभाव-समूहों का पात्र होता है।

मनुष्य को जीवित होकर भी मृतक के समान रहना चाहिए। इस लक्षण के द्वारा सहजिया लोग मानव के एक अन्य वैशिष्ट्य की ओर संकेत करते हैं। साधना-साम्राज्य में सहजिया लोगों की यह दृढ़ मान्यता है कि पुरुष को अपनेको स्त्री समझ कर उपासना करनी चाहिए। इस विशिष्ट सिद्धांत का एक गूढ़ तात्पर्य है। इसका अभिप्राय है कि पुरुष को अपनी कामना तथा वासना को अपने कावू में रखना चाहिए और उसे यौन संबंध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए[1]। पुरुष के स्त्रीभाव धारण करने का यही आशय है सहजिया मत में। आकारतः वह पुरुष होता है परंतु वृत्तितः वह स्त्री होता है—कोमल प्रेम

---

१ शुद्धसत्त्व मानुष एई स्वभाव विनम्रति
स्त्रीमूर्ति आश्रित तार भजन पीरिति।
आपनारि नारी दिया आपनि सेवारि।
ताहा ते पुरुषत्व किवा जाति कुल दिया।
नाममात्र पुरुष तार आकार पाइआ॥
—रत्नसार

का आश्रय, जितेन्द्रियता का आदर्श तथा कामना से नितांत विरहित। 'सहज' मानुष इसीलिए तो नितांत विरल माना जाता है।

सहजिया मतानुसार परमात्मा अश्रांत आनंद का निर्झर है जहाँ से आनंद सदा झरता रहता है। वह माधुर्य तथा सौंदर्य का निकेतन है। भगवान् प्रेम के निधान हैं तथा उनका प्रेम सार्वभौम होता है। संसार में छोटा से छोटा भी जीव उनके प्रेम से वंचित नहीं रहता। श्रीराधाकृष्ण ही इन वैष्णवों के परमाराध्य देवता हैं। इसमें श्रीकृष्ण हैं पुरुष तथा राधा हैं प्रकृति। इन दोनों में संबंध है आश्रयाश्रयीभाव का। कृष्ण हैं आश्रयी तथा राधा हैं आश्रय। चैतन्य-चरितामृत में राधा पूर्ण शक्ति तथा कृष्ण शक्तिमान् माने गये हैं। ये दोनों तत्त्व आपस में ऐसे संबद्ध हैं जैसे कस्तूरी और उसका गंध, अर्थात् जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। सहजिया ग्रंथों में कृष्ण 'काम' तथा राधा 'मदन' के अभिधान से भी अभिहित किये जाते हैं। कुसुमसायक काम अपने कोमल बाणों के द्वारा प्राणियों के स्नेह का संचार जिस प्रकार करता है उसी प्रकार कृष्ण भी अपनी ललित चेष्टाओं के द्वारा मनुष्यों के हृदय में नाना भावों को उत्पन्न करते हैं। मदनरूपिणी राधा श्रीकृष्ण के लिए सदा व्याकुल रहती हैं। शक्ति के समान वह शक्तिमान् को छोड़ कर एक क्षण के लिए भी स्वतंत्र रूप से टिक नहीं सकतीं।

विशुद्ध प्रेम की भावना सिद्ध करने पर ही साधक उस भावजगत् में प्रवेश कर लेता है जहाँ वह अपने इष्टदेव के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ पूर्ण आनंद में प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः सहजिया मार्ग रागमार्ग है, वैराग्यमात्र नहीं।

यह रसमार्ग है, काममार्ग नहीं। यहाँ काम के दबाने की आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत उसके शोधन की। विशोधित काम ही मानव को दैवी सत्ता प्रदान करने में समर्थ होता है।

(३)

साधना-पद्धति

सहजिया पंथ साधना की दृष्टि से तांत्रिक पंथ है। ये लोग दक्षिण मार्ग की अपेक्षा वाममार्ग के पक्षपाती हैं। उनके मंतव्यानुसार दक्षिण मार्ग में वैदिक विधिविधानों पर आग्रह है और इसीलिए यह मार्ग वैधी भक्ति के अंतर्गत आता है। परंतु सहजिया लोग रागानुगा भक्ति के अनुयायी होने से वाममार्ग के ही पक्षपाती हैं।

तांत्रिकों के अनुसार ये लोग भी मानव देह में सप्त 'सरोवर' तथा तदवस्थित 'कमलों' की कल्पना करते हैं। तांत्रिक 'चक्र' तथा सहजिया 'सरोवर' की परस्पर तुलना करने पर इस मार्ग की नवीनता का पता चलता है। सबसे नीचे मूलाधार में स्थित 'सरोवर' घोर सरोवर के नाम से विख्यात है जिसमें द्विदल कमल खिलता है। इसके ऊपर नाम के प्रदेश में दो सरोवर होते हैं—नाभि सरोवर तथा पृथु सरोवर जिनमें प्रथम में जड़ कमल रहता है और दूसरे में षट्दल कमल। उदर में शतदल कमल से संपन्न मानसरोवर की सत्ता स्वीकृत की गई है। वक्षःस्थल में अष्टदल कमल वाला क्षीर सरोवर, कण्ठ में चतुर्दल कमल वाला कण्ठ सरोवर तथा शिरके ऊपर सहस्रदल कमल वाले अक्षय सरोवर का अस्तित्व माना जाता है। इन सरोवरों की

तुलना तांत्रिक चक्रों के साथ करने पर अनेकत्र भिन्नता दृष्टि-गोचर होती है। नाभि-प्रदेश में दो सरोवरों की कल्पना, उदर-प्रदेश में नवीन सरोवर की स्थिति तथा भ्रूमध्यस्थित आज्ञा चक्र के स्थान पर किसी सरोवर का एकदम अभाव स्पष्ट ही लक्षित हो रहा है। कमलों के दलों की संख्या में तो पर्याप्त भेद है। चंडीदास ने सहजिया होने पर भी तांत्रिक चक्रों का ही अनुगमन अपने रागात्मक पदों में किया है। इस 'सप्तसरोवर' वाली कल्पना का विशद वर्णन 'निगूढ़ार्थ प्रकाशावली' में किया गया है।

नाडियों के विषय में भी दोनों मतों में मत-वैषम्य है। तांत्रिकों की तीन नाडियाँ—इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना—में सुषुम्ना को ही प्राधान्य दिया जाता है, परंतु 'निगूढ़ार्थ प्रकाशावली' के अनुसार मानवशरीर में ३२ नाड़ियाँ मुख्य हैं जिनमें चार नाडियाँ सर्वतोभावेन महत्त्वशालिनी हैं। अरुणवर्ण नाड़ी मूत्रनाड़ी है जिससे पशुलोग अपना जन्म ग्रहण करते हैं। 'गर्भोदकशायी' नाड़ी मन की नाड़ी है जिससे स्वकीया उपासक लोग उत्पन्न होते हैं। 'क्षीरोदशायी' नाड़ी सब नाड़ियों में श्रेष्ठ तथा उत्तम है और यहीं से कृष्ण के भक्त लोगों की उत्पत्ति होती है। और अंतिम सर्वोत्तम नाड़ी-चंद्रशायी नाड़ी से सहजिया भक्तों का जन्म हुआ करता है[१]। इस प्रकार सहजिया लोग नाड़ियों तथा सरोवरों की उपादेयता अपनी रसमयी साधना पद्धति में विशेष रूप से मानते हैं।

सहजिया साधना में माधुर्य-भाव की एकमात्र उपासना है। गौड़ीय वैष्णव गण मानवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार सख्य, दास्य तथा वात्सल्य भावों को भी उपासना में उपादेय

---

१ बोस—पोस्टचैतन्य सहजिया कल्ट पृ० १२५–१३०

मानते हैं तथा किसी किसी भाग्यशाली योग्यतम साधक के लिए माधुर्य भाव की उपासना का भी निर्देश करते हैं, परंतु सहजिया वैष्णवों में केवल एक ही भाव की उपासना मान्य तथा ग्राह्य है और वह है माधुर्य भाव की। इस उपासना में साधक भगवान् को पुरुष मानता है और अपने को स्त्री। पतिपत्नी भाव को आध्यात्मिक भाव-जगत में प्रतिष्ठित करनेवाली यही उपासना 'माधुर्य-भाव' के नाम से प्रसिद्ध है। सहजिया लोग इसी भाव के उपासक अवश्य हैं, परंतु वे ही इस भाव के आद्य प्रतिष्ठापक नहीं हैं। इस भाव का प्रतिष्ठापक स्वयं श्रीमद्भागवत ही है जिसने गोपियों के प्रेम को सर्वश्रेष्ठ, विशुद्ध, कामनाविरहित तथा स्वार्थविहीन बतलाया है। उद्धव जैसे ज्ञानी भक्त को भी गोपियों की विशुद्ध भक्तिभावनाके सामने श्रद्धासे अपना मस्तक नत करना पड़ा था और वे भी व्रज की लताओं में जन्म ग्रहण के इच्छुक इसीलिए थे कि गोपियों के पादरज के कण उनके देह पर पड़ उन्हें विशुद्ध कर देंगे। नारदजी ने इसीलिए गोपिकाओं को आदर्श भक्तों की श्रेणी में रखा है। साधक जब अपने को गोपीस्थानीय मानकर प्रियतमस्थानीय श्री कृष्ण की उपासना एकनिष्ठ चित्त से करता है, तभी माधुर्य-भावमयी उपासना का जन्म होता है।

भक्ति संप्रदाय के इतिहास में सहजिया लोगों तथा गौडीय भक्तों से भी पहिले आळवार भक्तों की उपासना में माधुर्य भाव को स्थान दिया गया हम पाते हैं। नम्म आलवार ने उपास्य-देव के मिलन को 'आध्यात्मिक सहवास' की संज्ञा दी है और इसके लिए माधुर्य भाव की ही प्रधानता दी है और प्रसिद्धि है कि इस भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कभी कभी वे स्त्री का

भी वेष धारण कर लिया करते थे[1]। वे अपने पदों में इस आंतरिक भाव के प्रकाशन से भी पराङ्मुख नहीं हैं। वे कहते हैं—"विरहिणी अपने प्रियतम के प्रति संदेश भेजने की उत्सुकता में किसी दूत को न पाकर हंस को ही भेजना चाहती है; परंतु ये दुष्ट पक्षी अपनी हंसिनी के साथ उड़ भागते हैं और उसके शब्दों को ध्यान तक में नहीं लाते। क्या उस नीलोत्पल देहधारी विष्णु के विस्तृत लोक में पहुँचने के लिए हम विरहिणियों के संदेशों का कोई अधिकार नहीं है[2]?" स्त्री आड़वार आंडाल की भक्ति तो निःसंदेह गोपीभाव की थी। वह इस भाव में इतनी पग जाती थी कि उसने अपने गाँव को ही गोकुल मान लिया था; वहाँ की लड़कियों को गोपियाँ, भगवान् के मंदिर को नंद का घर, मूर्ति को श्री कृष्ण का विग्रह मानकर प्रेम-विह्वल हो जाती थी। अंडाल अपनी रचनाओं के पाँचवें दशक में एक विरहिणी की भाँति प्रियतम के पास अपने संदेश को ले जाने के लिए कोयल से आग्रह करती है।

फलतः माधुर्य भाव की उपासना प्राचीनकाल से इस भारतवर्ष में प्रचलित थी। सहजिया लोगों ने इस उपासना को खूब ही महत्त्व दिया। इसकी पूर्णता के निमित्त वे लोग परकीया के माध्यम द्वारा प्रेम साधना में व्यावहारिक रूप से अग्रसर रहते थे। गौड़ीय वैष्णवों के यहाँ परकीया-तत्त्व सिद्धांतरूपेण स्थापित होने पर भी केवल एक वादमात्र था, परंतु सहजिया लोगों ने इसे अपनी साधना का प्रधान पीठ-स्थल बनाया था और इसको अपने व्यावहारिक जीवन में

---

१ चतुर्थ प्राच्यसम्मेलन प्रयाग का कार्यविवरण, १९२६।

२ हूपर—हिम्स आफ दी आड्वार्स पृ० ६६।

भी वे प्रयोग करते थे। परकीया तत्त्व वैष्णवशास्त्र का एक निगूढ़ गुरु-मुखैकगम्य सिद्धांत है[1]। यहाँ केवल स्थूल बातों के वर्णन से ही हमें संतोष करना होगा।

परकीयातत्त्व

परकीया के दो पक्ष हैं—समाजपक्ष तथा अध्यात्मपक्ष। सामाजिक दृष्टि से परकीया नितांत गर्हणीय तथा त्याज्य सिद्धांत है, परंतु आत्म-साधना की दृष्टि से वह एकांत उपादेय तथा महणीय आदर्श है। उज्ज्वल नीलमणि के शब्दों में परकीयादि विषयों की जो निंदा शास्त्रों में दृष्टिगोचर होती है, वह लौकिक नायक को ही दृष्टि में रखकर की गयी है, परंतु रस के आस्वादन के निमित्त अवतीर्ण लीला धारण करनेवाले अलौकिक नायकभूत कृष्ण के विषय में वह निंद्य न होकर ग्राह्य है[2]। मानव को आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने के लिए अपनी काम-वासना के परिशोधन की नितांत आवश्यकता होती है। काम स्वतः एक पुरुषार्थ है जिसकी उपयोगिता का परिचय मानव-समाज के कल्याण के लिए सब किसी को है। परंतु स्वार्थभावना से युक्त यह काम काल-सर्प के समान मनुष्य को सदा डसा करता है

---

१ इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए
बोस—पोस्टचैतन्य सहजिया कल्ट पृ० २९—९६।

२ बहु वार्यते यतः खलु, यत्र प्रच्छन्नकामुका।
या च मिथो दुर्लभता सा मन्मथस्य परमा रतिः॥
लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत—नायके।
न कृष्णे रसनिर्यास—स्वादार्थमवतारिणि॥
—१।१५,१६।

और मनुष्य इसके बुरे प्रभावों से बचने के लिए कथमपि कृत-कार्य नहीं होता। इस 'काम' वृत्ति के विषदंश को दूर करने के लिए अध्यात्म-पथ में दो उपाय मान्य माने जाते हैं। निवृत्ति-प्रधान आचार्य लोग काम-वृत्ति के दबाने का उपदेश देते हैं, परंतु दुर्बल मानव काम की कारा में निबद्ध एक लाचार जीव है और वह अपनी नैसर्गिक वृत्तियों के दबाने में, अपनयन में, कथमपि समर्थ नहीं होता। इसीलिए सहजिया लोगों ने दूसरे मार्ग को अपनाया है। वे स्त्रियों को छोड़ देने की शिक्षा नहीं देते, अपितु उनके संग में ऐसी कतिपय क्रियाओं तथा अनुष्ठानों का आश्रय लेते हैं जिससे साधक का मन इस प्रलोभन के द्वारा कथमपि आकृष्ट तथा आसक्त न हो सके। "साधक का प्रथम कर्तव्य स्त्रियों की संगति में रति की साधना है जिसके द्वारा उसके विकार स्वतः दूर हो जाते हैं। नियमन से उसकी उच्छृंखल अभिलाषायें विघटित हो जाती हैं और स्वार्थ-परायण वृत्ति के स्थान पर विशुद्ध प्रेम-रति का उदय होता है[1]।" इसी प्रेम-साधना की पूर्णता के लिए ही सहजिया मत में परकीया की उपादेयता अंगीकृत की गई है।

स्वकीया की अपेक्षा परकीया में उद्दाम प्रेम के संचार का साधन विशेष-रूप से निवास करता है। सहजिया साधकों की मान्य धारणा के अनुसार प्रेम के द्वारा ही आध्यात्मिक मुक्ति की

---

१ प्रथम साधन रति संभोग शृंगार।
साधिबे संभोग रति पालिबे विकार॥
जीव रति दूरे याबे करिले साधन।
तार पर प्रेमरति करि निवेदन॥
—अमृत रत्नावली, पृ० ६—७।

उपलब्धि हो सकती है और इसीलिए अपने हृदय में प्रेम के संचरण करने की नितांत आवश्यकता है। इसी 'प्रेम के प्रथम प्रभात' के निमित्त परकीया का आश्रयण समुचित माना जाता है। रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा महाभाव—प्रेम साधना का यही अष्टांगिक मार्ग है[1] जिससे होकर प्रत्येक साधक को जाना पड़ता है। इसमें आदर्श तो है महाभाव की प्राप्ति, परंतु इसका निदान 'रति' ही है और इसी रति के उदय के निमित्त इस विशिष्ट मार्ग का अवलंबन न्याय्य माना जाता है।

सहजिया शास्त्र का उपदेश है कि साधक को स्वयं स्त्री भाव से ही भगवान् की आराधना करनी चाहिए। माधुर्य-भाव का साधन साधना-साम्राज्य में मुक्ति-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। पुरुष को बिना प्रकृति हुए प्रेमतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। और इस प्रकृतिभाव को पाने के लिए साधक को परकीया की संगति नितांत उचित है[2]। स्त्री-संगति के अभाव में स्त्रीभावापत्ति की पूर्णता कहाँ से उत्पन्न हो सकती है ?

विरह के ताप में संतप्त होने पर ही साधक की चित्तवृत्ति विशुद्ध होती है, क्योंकि उसकी वासनाओं का कालुष्य जलकर अंतर्हित हो जाता है और हृदय खरे सोने के समान चमकने लगता है। संयोग से तृप्त मानव हृदय में संतोष की भावना प्रेम के अतिरेक का अभाव ही उत्पन्न करती है, परंतु विरह से दग्ध विदग्ध हृदय में प्रेम की भावना संतत जागरूक रहती है। विरही

---

१ द्रष्टव्य भक्तिरसामृतसिंधु १।३—११ तथा
चैतन्य चरितामृत २।२३।

२ प्रकृति आचार पुरुष वेभार। ये जना जानिते पारे।
—अमृतरसावली।

अपनी प्रियतमा को आगे-पीछे, यहाँ-वहाँ सर्वत्र समभावेन देखता हुआ जिस प्रेमाद्वैत का अनुभव करता है वह संयोगी के भाग्य में कहाँ ? रास में गोपियों की विरह की भावना की वृद्धि के लिए भगवान् श्रृंगार-शिरोमणि कृष्णके अंतर्धान का यही आध्यात्मिक तात्पर्य है (भागवत १०।२६) जिसे 'विवर्तविलास' में सहजिया-तथ्य की पुष्टि के निमित्त निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार रति की उदात्तता, प्रेम की पूर्णता, विरह की संपन्नता तथा काम की विशुद्धता के निमित्त रसमार्गी सहजिया लोगों ने अपनी विशिष्ट तांत्रिक साधना में 'परकीया'का आश्रय न्याय्य माना है। बौद्ध सहजयानियों के 'महामुद्रा' ग्रहण का भी यही रहस्य है।

परकीया के दो प्रकार माने जाते हैं—बाह्य तथा अंतर। 'बाह्य परकीया' प्रेमभाव के विकाश के लिए शारीरिक संपर्क में रखी जाती है और इसलिए वह गौण अथवा प्राकृत भी कही जाती है। मुख्य या मर्म परकीया की केवल मानसिक भावना करके ही साधक अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करता है। बाह्य परकीया की अष्टविध पूजा का वर्णन सहजिया ग्रंथों में विस्तार से उपलब्ध होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि इस प्रकार की विधिवत् पूजा करने से सुषुम्ना नाडी के द्वारा क्रमशः शक्ति का उत्थान हो जाता है। मर्म परकीया में केवल परकीया की मानसिक भावना ही विद्यमान रहती है। इस भावना का फल साधक को प्रेमिका के रूप में परिणत करने में समर्थ होता है। इस प्रकार सहजिया लोगों की साधना में परकीया का आश्रयण एक विशिष्ट आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया जाता है। 'बाह्यपरकीया' की साधना से सूफी मत में निर्दिष्ट प्रेम-साधना का बड़ा ही घनिष्ठ साम्य है। बाउल लोग भी सहजिया के ही एक उपभेद माने जाते हैं, यद्यपि साधना प्रणाली में किंचित्

अंतर भी उपलब्ध होता है। जहाँ सहजिया लोगों का प्रेम राधा और कृष्ण रूपी दो व्यक्तियों के स्वरूपाश्रित प्रेम की अपेक्षा रखता था, वहाँ बाउलों का प्रेम 'मनेर मानुस' के प्रति ही रहता है अर्थात् वह अपना प्रेम प्रत्येक व्यक्ति के भीतर वर्तमान किसी अलौकिक प्रेमपात्र के प्रति ही प्रदर्शित करता है[1]।

ऊपर वर्णित बौद्ध सहज-यान के सिद्धांतों के साथ सहजिया वैष्णवों के सिद्धांतों का साम्य बहुत घनिष्ठ है। प्रसिद्ध सहजिया वैष्णव चण्डीदास की आराध्य 'बाशुली' देवी वज्रयानियों की 'वज्रवात्वीश्वरी' का ही रूपांतर मानी जाती है। यह प्रसिद्ध है कि चैतन्य मत की सार्वजनिक उन्नति के समय में बौद्धधर्म की भिक्षु तथा भिक्षुणी 'नेडा-नेडी' के रूप में वैष्णव समाज में गृहीत कर ली गईं और इस प्रसंग में नित्यानंद महाप्रभु के पुत्र वीरभद्र के प्रयत्न की महती प्रशंसा सुनी जाती है जिन्होंने 'नेड़ा नेड़ी' लोगों का उद्धार किया था। यह सहजिया मत गौडीय वैष्णव धर्म के उदय से भी प्राचीन है और चैतन्य तथा उनके पीछे भी उनके सिद्धांतो से प्रभावित हुआ है। यह आज कल भी विद्यमान है। वैष्णव सहजिया के अतिरिक्त बंगाल प्रांत के आउल-बाउल, साईं, दरवेश और कर्ताभजा भी कुछ ऐसे संप्रदाय हैं जो प्रायः 'सहजिया' कहलाते हैं। सहजिया लोगों के वैष्णव साहित्य के भी अनेक सिद्धांत-प्रतिपादक ग्रंथ हैं जिसे संप्रदाय वाले गुप्त ही रखते हैं। तथापि कतिपय ग्रंथ प्रकाशित भी किये गये हैं जिनमें अकिंचनदासका 'विवर्त विलास', गौरीदास का 'निगूढार्थ

---

१ ऊपर के उद्धरण बोस के पोस्ट-चैतन्य सहजिया कल्ट (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १६३०) ग्रन्थ से लिये गये हैं।

२

चैतन्यमत

समस्त बंगाल तथा उड़िसा को भक्तिरस से आप्लावित करनेवाले महाप्रभु चैतन्य के धार्मिक सिद्धांतों का तथा आध्यात्मिक तथ्यों का शास्त्रीय विवेचन वृंदावन की पवित्र तीर्थस्थली में संपन्न हुआ था। चैतन्यमत माध्वमत की ही गौडीय शाखा है, परंतु दोनों के दार्शनिक सिद्धांतों में पर्याप्त अंतर है। माध्वमत द्वैतवाद का पक्षपाती है, चैतन्यमत अचिंत्य-भेदाभेद-सिद्धांत का अनुयायी है। निंबार्कमत के अनंतर यह दूसरा वैष्णव संप्रदाय है जो वृंदावन से श्लाघनीय संबंध रखता है। चैतन्य बंगाल के ही निवासी थे, । परंतु उनके अनुयायी गोस्वामियों ने वृंदावन को ही अपनी उपासना तथा शास्त्र-चिंतन का निकेतन बनाया। इस परिच्छेद में चैतन्य संप्रदाय, उत्कलीन वैष्णव धर्म तथा असम प्रांत में पनपने वाले महापुरुषधर्म का प्रामाणिक, परंतु संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

माधवेंद्रपुरी

माध्वमतानुयायी आचार्यों में (१६) माधवेन्द्रपुरी ही प्रथम आचार्य हैं जिनका नाम बंगाल के वैष्णव ग्रंथों में बड़े आदर तथा सम्मान के साथ उल्लिखित किया गया है। इनका जन्म १४५७ वि० (१४०० ईस्वी) के आसपास हुआ था और ये अपनी भक्ति तथा निष्ठा के कारण 'भक्तिचंद्रोदय' की उपाधि से सम्मानित किये गये थे। 'चैतन्य चरितामृत' में उल्लिखित एक घटना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये बंगाली थे। कहा जाता है कि माधवेंद्रपुरी ने वृंदावन में गोपाल की मूर्ति की स्थापना की और इसकी पूजा

के निमित्त इन्होंने बंगाल से दो ब्राह्मणों को बुलवाया। 'चैतन्य चरितामृत' का यह उल्लेख महत्त्व का है। बंगाल वैदिक कर्म-कांड का स्थान कभी भी नहीं माना जाता था, विशेषतः अन्य प्रांत वासियों की दृष्टि में। ऐसी दशा में बंगाल से ब्राह्मणों को पूजा के निमित्त बुलाना स्पष्टतः बुलानेवाले के बंगाल का पक्षपाती होना बतला रहा है। माधवेंद्रपुरी ही गौडीय वैष्णव संप्रदाय के आद्य आचार्य के रूप में गृहीत किये जाते हैं, क्योंकि इन्हींके पट्टशिष्य ईश्वरपुरी के शिष्य महाप्रभु चैतन्य थे जिन्होंने अपने भजनों तथा कीर्तनों से बंगाल में ही नहीं, प्रत्युत समस्त उत्तरी भारत में, विशेषतः ब्रजमंडल में, कृष्ण-भक्ति की विमल सरिता बहाई।

माधवेंद्रपुरी उच्चकोटि के विष्णु-भक्त थे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। वे घनश्याम के इतने बड़े भक्त थे कि बंगाल की श्याम-प्रस्तर की बनी कृष्ण मूर्तियों को देखकर वे ध्यान-मग्न हो जाया करते थे। उनके जीवनचरित के विषय में 'चैतन्य चरितामृत' में दो विशिष्ट घटनाओं का निर्देश किया गया है। पहिली घटना गोपाल की मूर्ति की प्राप्ति के विषय में है। माधवेंद्रजी उन वैष्णवों में थे जिन्होंने वृंदावन को अपनी उपासना का प्रधान स्थल बनाया। श्रीचैतन्य के उद्योग तथा उपदेश से वृंदावन वैष्णवों का अखाड़ा कैसे बना, इसका वर्णन आगे किया जायगा। चैतन्यपूर्व युग के वैष्णवों में माधवेंद्रपुरी ने वृंदावन की आध्यात्मिक महिमा जागृत करने में अश्रांत परिश्रम किया।

सुनते हैं कि माधवेंद्र जी एक बार अन्नकूट पर्वत के पास बैठ कर श्रीकृष्ण के ध्यान में निमग्न थे। उन्हें अपने शरीर की

सुध न थी, भोजन की भी स्पृहा न थी। वे निराहार तथा निर्जल बैठे हुए भगवान् के ध्यान में निरत थे। उनका नियम था अयाचित भिक्षा; बिना माँगे हुए जो भिक्षा मिल जाय उसी से उदर-पूर्ति करना। इतने में एक श्यामल बालक आया और उसने फल और दूध भोजन करने के लिए दिया[१]। माधवेंद्र जी ने उन द्रव्यों को ग्रहण कर भोजन किया और उनके आश्चर्य की सीमा न रही जब रात के समय सपने में वही बालक दिखलाई पड़ा और उनसे कहने लगा—'माधव, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में इतने दिनों तक भूगर्भ के भीतर पड़ा हुआ हूँ। तुम मेरे विशेष प्रेमी हो, परंतु तुम नहीं जानते कि मुसलमानों के डर से एक ब्राह्मण ने मुझे इस जंगल के भीतर तालाब में डाल दिया था। तालाब मिट्टी से भर गया है और मैं उसी के भीतर गड़ा हुआ अपना दिन गिन रहा हूँ। खोद कर मुझे निकालो और प्रतिष्ठित करो'। माधवेंद्र जी आनंद से गद्‌गद हो गए और आसपास के ग्रामनिवासियों के सहयोग से उन्होंने उस मूर्ति को खोद निकाला और उसकी विधिवत् प्रतिष्ठा तथा पूजा की व्यवस्था की। यही इनके आराध्य देवता थे—गोपाल जी।

इनके विषय में एक अन्य आख्यान भी प्रसिद्ध है। गोपाल जी ने माधवेंद्रपुरी को स्वप्न दिया कि उड़ीसा जाकर वहाँ का सुगंधित चंदन लाइए। ये उड़ीसे के रेमुना नामक स्थान पर गये।

---

१ बालक कहे गोप आमि एइ ग्रामे वसि।
आमार ग्रामेते केह ना रहे उपवासी॥
केह अन्न मागि खाय केह दुग्धाहार।
अयाचक जने आमि दिये आहार॥
—चैतन्य चरितामृत, मध्य खण्ड, अ० ४।

वहाँ गोपीनाथ जी की विशिष्ट पूजा होती और उन्हें खीर का भोग लगाया जाता था। माधवेंद्र ने खीर बनाने की कला सीख कर अपने गोपाल जी को भोग लगाना चाहा, परंतु पंडों के कारण उनकी इच्छा-पूर्ति नहीं हुई। तब स्वयं गोपीनाथ जी ने अपने वस्त्र में थोड़ा सा खीर चुरा कर रख लिया और पंडों को इसका सपना दिया। माधवेंद्र जी को उन्होंने खोज निकाला और उन्हें खीर का प्रसाद दिया। इस प्रकार भक्तवर माधवेंद्र के लिए गोपीनाथ ने 'खीर चोर' बनना स्वीकार किया!

ईश्वरपुरी

आचार्य ईश्वरपुरी का वर्णन 'प्रेमविलास' आदि अनेक वैष्णव ग्रंथों में दिया गया है। इनका जन्म १४३६ ई० में हुआ था। इनके पिता श्यामसुंदरजी राढ़ी ब्राह्मण थे तथा कुमारहट्ट के आचार्य थे। इन्होंने वेदशास्त्र का यथावत् अध्ययन किया था और माधवेंद्रपुरी के द्वारा वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर प्रसिद्ध भक्त हुए। इन्हीं के प्रभाव में आकर चैतन्य महाप्रभु के ऊपर भक्ति का इतना रंग चढ़ा। चैतन्य के जीवन में युगांतरकारिणी घटना है—उनकी गया-यात्रा। इस यात्रा से पहिले ही उनका चित्त संसार के मायिक प्रपंचों से हटकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविंदों में निमग्न होने लगा था। उन्होंने कुमारहट्ट जाकर ईश्वरपुरी का दर्शन किया तथा अपने साथ वहाँ की मिट्टी बाँध कर लाये। उन्होंने कहा था—

प्रभु कहे ईश्वर पुरीर जन्मस्थान।
ए मृत्तिका आमार जीवन धन प्राण॥

—(चैतन्य भागवत)

गया जी में भी चैतन्य को ईश्वरपुरी का दर्शन हुआ और उन्होंने इस भक्तवर के दर्शन से अपनी यात्रा सफल मानी। इस प्रकार ईश्वरपुरी की निष्ठा तथा उपदेश का प्रभाव चैतन्य के जीवन में पूर्णतः प्रतिफलित हुआ।

केशव भारती

परंतु चैतन्य को संन्यास की दीक्षा देनेवाले आचार्य इनसे भिन्न थे और उनका नाम केशव भारती था। दीक्षा लेने से पहिले इनका नाम कालिनाथ आचार्य था और ये नवद्वीप में कुलिया गाँव के निवासी थे। ये भी माधवेंद्रपुरी के ही शिष्य थे और काटवा गाँव में अधिकतर रहते थे। यहीं पर चैतन्य का संन्यास हुआ था। इस प्रकार चैतन्य महाप्रभु को वैष्णव धर्म में दीक्षित करने का श्रेय इन्हीं दोनों आचार्यों को है। ईश्वरपुरी चैतन्य के दीक्षा-गुरु थे जिन्होंने उन्हें वैष्णव मत में दीक्षित किया और केशव भारती उनके संन्यास-गुरु थे जिन्होंने उन्हें संन्यास मार्ग में दीक्षित किया। चैतन्य महाप्रभु ने अपने भजन, कीर्तन तथा प्रेम-विह्वल चरित्र से जिस वैष्णव धर्म की सरिता बंगाल में बहाई उसका नाम है—गौडीय वैष्णव धर्म या चैतन्य मत। इस प्रकार यह मत माध्व मत की ही एक प्रमुख शाखा है। उत्पन्न हुआ यह बंगाल में परंतु इसका व्यापक प्रभाव पड़ा व्रज-मण्डल पर।

(१) महाप्रभु चैतन्य

समग्र उत्तरी भारत को, विशेषतः बंगाल को भक्ति से आप्लावित करने का श्रेय महाप्रभु चैतन्य को है। आप थे भक्तिरस की जीवित-मूर्ति, उदात्त मधुर-भाव का जाज्वल्यमान प्रतीक। नदिया के एक पवित्र ब्राह्मणकुल में आपका जन्म सं० १५४२ (१४८५ ई०) में हुआ था। बालकाल का नाम था विश्वंभर मिश्र।

नदिया के प्रख्यात पंडित गंगादास से आपने विद्याध्ययन किया था। बुद्धि बड़ी तीव्र थी। आपने समस्त शास्त्रों में, विशेषत: तर्कशास्त्र में बड़ी विचक्षणता प्राप्त की थी। दुर्दांत पंडितों को शास्त्रार्थ में हराया भी था। अपनी पाठशाला खोलकर छात्रों को विद्याभ्यास भी कराते थे। इनके जीवन-प्रवाह को बदलने वाली घटना है इनकी गया यात्रा। वि० सं० १५४६ (=१५०७ ई०) में अपने पिता के श्राद्ध करने के लिए ये गया धाम गए और वहाँ ईश्वरपुरी से साक्षात्कार हुआ। पुरी जी से इनकी भेंट पहिले ही हो चुकी थी। वे उनकी भक्तिभावना तथा वैराग्य के नितांत पक्षपाती थे, परंतु इस गयायात्रा ने विश्वंभर को प्रपंच से हटाकर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की ओर स्वतः अग्रसर किया। पुरी जी इनकी वैष्णव दीक्षा के गुरु हुए। वि० सं० १५६६= (१५०८ ई०) में इन्होंने पुरी जी के गुरुभाई केशव भारती से संन्यास दीक्षा ग्रहण की। और तभी से वे कृष्ण चैतन्य के नाम से विख्यात हुए। वृद्धा माता तथा तरुणपत्नी के स्नेह तथा ममत्व को तिलांजलि देकर चैतन्य भगवान् की भक्ति के प्रचार में जुट गए।

इन्होंने भारतवर्ष के विख्यात तीर्थों की यात्रा की। इन्होंने वि० सं० १५५७—५८=(१५१०—११ ई०) में दक्षिण भारत की यात्रा की तथा वहाँ के प्रसिद्ध तीर्थों का दर्शन करते हुए भक्ति प्रचार किया। इसी समय इनकी दृष्टि वृंदावन के उद्धार की ओर झुकी और इन्होंने अपने सहपाठी लोकनाथ गोस्वामी को इस पवित्र कार्य के लिए भेजा। ये स्वयं भी काशी, प्रयाग होते हुए वृंदावन गये और कुछ महीनों तक वहाँ भी निवास किया, परंतु इनकी लीला-स्थली बनी जगन्नाथ पुरी जहाँ रथयात्रा के अवसर पर दर्शन के लिए बंगाल से भक्तों की अपार भीड़ जुटती थी।

भजन और संकीर्तन को इन्होंने भक्ति के प्रचार का सर्वसुलभ साधन बनाया। वैष्णवधर्म के प्रचार में इन्हें नित्यानंद से खूब सहायता मिली। सच तो यह है कि बंगाल में कृष्ण-भक्ति के प्रचार का श्रेय निमाई (चैतन्य) तथा निताई (नित्यानंद) दोनों महापुरुषों को है। इनकी कीर्ति इनके जीवित-काल में ही खूब फैली। उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्रदेव (राज्यकाल १५०३=१५३० ई०) तथा उनके विद्वान् मंत्री राय रामानंद इनके पट्ट शिष्य बन गये। बंगाल के नवाब के अधिकारी होने पर भी रूप और सनातन ने इनकी शिष्यता स्वीकार की और इन लोगों ने इनही के उपदेश से वृंदावन का उद्धार किया। वहीं रहकर भक्ति-शास्त्र का प्रणयन ही नहीं किया; प्रत्युत भक्तों के सामने सच्चे भक्त का आदर्श उपस्थित किया। भक्त लोग इन्हें भगवान् श्री कृष्ण का अवतार मानते हैं। भक्तवर नाभाजी ने इनके विषय में बहुत ही ठीक लिखा है—

> गौड देश पाखंड मेटि कियो भजन परायन।
> करुणासिंधु कृतज्ञ भये अगनित गतिदायन।
> दशधा रस आक्रांति महत जन चरन उपासे।
> नाम लेत निहपाप दुरित तिहि नरके नासे।
> अवतार विदित पूरब मही, उभै महत देही परी।
> श्री नित्यानंद कृष्णचैतन्य की भक्ति दसो दिसि विस्तरी ॥
>
> —भक्तमाल, छप्पय नं० ७२

चैतन्य का भक्ति-आन्दोलन

भक्ति का उत्कृष्ट आदर्श श्री चैतन्यदेव ने स्वयं अपने जीवन में प्रदर्शित किया। भगवान् के नाम का संकीर्तन चैतन्य का अत्यंत लोकप्रिय आध्यात्मिक साधन था जिसके द्वारा जन साधा-

रण को अपने आंदोलन के प्रति आकृष्ट करने में सर्वथा कृतकार्य हुए। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर तत्कालीन अनेक आदरणीय संतों तथा विद्वानों ने मिलकर उनके आंदोलन को अत्यंत लोकप्रिय बनाया तथा उनके भक्ति-संदेश को जनता के हृदय पर पहुँचाया। ऐसे संतों में दो मुख्य थे—अद्वैताचार्य तथा नित्यानंद। जब चैतन्यदेव जगन्नाथपुरी में नियमित रूप से निवास करने लगे, तब उन्होंने इन्हीं के ऊपर बंगाल में इस आंदोलन की देख-रेख का उत्तरदायित्व रखा। अद्वैत भक्त ही न थे, उस समय के महनीय शास्त्रवेत्ता भी थे। उन्होंने इस मत में दीक्षा देने का कार्य योग्य व्यक्तियों तक ही सीमित रखने पर आग्रह किया, परंतु नित्यानंद ने सब किसी के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। इनके पुत्र वीरभद्र ने तो बंगाल के बौद्धधर्म के अवशिष्ट अनुयायियों को भी, जो समाज में नितांत निम्न स्तर के थे, वैष्णव धर्म की दीक्षा देने का साहसपूर्ण कार्य कर दिखलाया। इस विषय में अद्वैताचार्य के द्वारा समर्थन न पाने पर भी नित्यानंद ने अपने असामान्य व्यक्तित्व के बल पर निम्नश्रेणी के लोगों को भी वैष्णवधर्म के अंतर्भुक्त करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। नित्यानंद के बारह शिष्यों ने भी, जो द्वादश गोपाल के नाम से विख्यात हैं, इस कार्य में गुरु की पर्याप्त सहायता दी और इस प्रकार यह पंथ धीरे धीरे बढ़ता हुआ समग्र बंगाल में व्याप्त हो गया।

चैतन्य के जीवित काल में ही बहुत से लोगों को उनके अवतार होने में विश्वास हो गया था। परंतु उनकी मूर्ति की पूजा सम्प्रदाय में कब आरंभ हुई? इसका निर्णय करना कठिन है। इस कार्य में वंशीदास और नरहरि सरकार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय माना जाता है। 'वंशी शिक्षा' के अनुसार वंशी-

दास ने चैतन्य की मूर्ति-पूजा का प्रचार किया। उन्होंने चैतन्य की धर्मपत्नी-श्रीविष्णुप्रिया देवी के लिये चैतन्य की काष्ठ-मूर्ति बनाई। और नरहरि सरकार ने चैतन्य के विषय में बहुत से पदों को बनाया तथा चैतन्य-पूजा के विधि विधानों को भी व्यवस्थित किया। चैतन्य के अनंतर तीन व्यक्तियों का इस धर्म के प्रचार में विशेष हाथ है—(१) श्रीनिवास आचार्य (२) श्री नरोत्तमदत्त, (३) श्यामानंद दास। इन व्यक्तियों ने चैतन्य-मत का प्रचार १७ वें शतक में विशेष रूप से प्रचार किया। श्यामानंद का कार्य उड़ीसा में चैतन्य-मत का प्रचार करना था परंतु अन्य दोनों आचार्यों ने बंगाल में इस मत का प्रचुर प्रसार किया।

परंतु चैतन्य मत का शास्त्रीय रूप, विधि-विधानों की व्यवस्था, भक्ति शास्त्र के सिद्धांतों का निर्णय बंगाल में न होकर सुदूर वृंदावन में विद्वान् गोस्वामियों के द्वारा किया गया। ये ही लोग चैतन्य मत के प्रतिष्ठा तथा सिद्धांतों की व्यवस्था में नितांत प्रयत्नशील तथा कृतकार्य थे। उनकी मान्यता इतनी अधिक थी कि जब तक इन लोगों की स्वीकृति नहीं मिल जाती, बंगाल में लिखे हुए किसी भी ग्रंथ को संप्रदाय की ओर से प्रामाणिकता नहीं मिलती थी। इसी कार्य का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

मथुरा वृंदावन के तीर्थोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य के आरंभ करने का श्रेय माधवेंद्रपुरी को दिया जाना चाहिए क्योंकि वृंदावन में गोपाल की गड़ी मूर्ति को खोज निकालने तथा प्रतिष्ठित करनेका गौरव प्रथमतः उन्हीं को प्राप्त है। उसके अनंतर चैतन्यका काल आरंभ होता है। इन्होंने सर्वप्रथम इस कार्य को सुचारुरूप से चलाने के लिए अपने दो भक्तों को भेजा जिनके नाम हैं—(१) लोकनाथ गोस्वामी तथा (२) भूगर्भ आचार्य। कहना न होगा कि ये दोनों भक्त बंगाली थे और अनेक कोशों

सहकर अपने महनीय कार्य में कृतकार्य हुए थे। लोकनाथ
न्य के सहाध्यायी थे, क्योंकि दोनों ही गंगादासपंडित के टोल
साथ साथ विद्याभ्यास करते थे। १६१० ई० में चैतन्य ने
कनाथ को वृंदावन जाकर कृष्ण की लीला से संबद्ध स्थानों
खोज निकालने का आदेश दिया। अपने मित्र भूगर्भ
चार्य के साथ लोकनाथ मथुरा आये तथा अश्रांत परिश्रम कर
ीन स्थानों का उद्धार किया, परंतु चैतन्य के लीलाव-
कनसे वंचित रहने की पीड़ा इन्हें सदा क्लेश पहुँचाती थी[१]।
ान्य का दर्शन इन्हे फिर मिला ही होगा। इन्होंने सुना कि
ान्य दक्षिण भारत में यात्रा करने के लिए निकल पड़े हैं।
भी मिलने की उत्सुकता से पराभूत होकर निकल पड़े। परंतु
ाश होकर लौट आये। भेंट न हुई। वृंदावन भी तब पहुँचे
। चैतन्य वहाँ आकार चले गये थे। इस प्रकार चैतन्य के
ाने की आशा को अपने हृदय के कोने में लिए हुए ही यह
त्वर वृंदावन की सेवा में डटा रहा और अंततः परमधाम
लीन हो गया।

(२) षट् गोस्वामी

चैतन्यमत के प्रधान थे स्वयं महाप्रभु चैतन्य, नित्यानंद और
द्वैताचार्य। इनसे उतर कर प्रामाणिकता मानी जाती
छः गोस्वामियों की (षट् गोस्वामी) जिनका कार्य इस मत के

---

१ आर न देखिव गोरा तोमार चरण
रहिलाम आज्ञामात्र करिया धारण।
भक्तगण संगे प्रभु ये करिला लीला
वंचित करिया मोरे हेथा पाठाइला॥
—प्रेमविलास

छोड़ने की आज्ञा माँगी। पर चैतन्य ने माता पिता के जीवित काल में संन्यास का नितान्त प्रतिषेध किया। ये काशी लौट आये और अपने जननी-जनक के देहावसान के अनंतर महाप्रभु की आज्ञा से गृहद्वार का त्यागकर वृंदावन पधारे। ये भागवत के बड़े भारी पंडित थे। इनका स्वर बड़ा कोमल था। ये रूप गोस्वामी की सभा में श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे। भागवत के श्लोकों को इतने लय से कहते थे कि श्रोतागण मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। एक ही श्लोक को कई प्रकार से कहते थे। इस प्रकार साधुमण्डली में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के साथ भगवद्भजन करते हुए भट्ट जी ने अपना जीवन यापन किया।

(५) गोपाल भट्ट

ये श्रीरंगम् क्षेत्र के निवासी वेङ्कट भट्ट के पुत्र तथा श्री प्रबोधानंद सरस्वती के भतीजे थे। गोपाल भट्ट का जन्म १५०३ ई० में हुआ था। कुछ लोग कहते हैं कि चैतन्य महाप्रभु ने दक्षिण भारत में इनके पिता के घर में चातुर्मास्य बिताया था। इसका उल्लेख प्रामाणिक ग्रंथों में न होने से विद्वान् लोग इस पर आस्था नहीं रखते। कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु ने पत्र लिखकर रूप-सनातन को आदेश किया था कि इन्हें अपना भाई समझना। महाप्रभुने इनके बैठनेके लिए अपना आसन और डोरी भेजी थी। ध्यान के समय प्रभुजी के इन प्रसादों को ग्रहण कर ये भजन किया करते थे। इनके उपास्य देव श्रीराधारमण जी थे। नाभादास जी ने इनकी विलक्षण भक्ति का परिचय देते हुए इस विचित्र घटना का उल्लेख किया है कि इनकी उत्कट इच्छा होते ही शालग्राम जी की मूर्ति में हाथ पैर निकल आये और वे मुरलीधारी राधारमण जी बन गये।

गोपाल भट्ट जी वैष्णव शास्त्रों के उत्कट विद्वान् थे। इन्हीं के विख्यात शिष्य थे—श्रीनिवासाचार्य जो पीछे बड़े भारी भक्त तथा विद्वान् हुए। सनातन गोस्वामी जी के 'हरिभक्ति विलास' का उपबृंहण गोपाल भट्ट ने ही किया था। इनके परलोकगमन के अनंतर इनके मंदिर के पुजारी तथा शिष्य श्रीगोपालनाथ दास उस गद्दी के अधिकारी हुए। इनके शिष्य श्रीगोपीनाथदास जी ने अपने छोटे भाई दामोदर दास जी को शिष्य बनाकर उनसे विवाह करने क लिए कहा। वर्तमान श्रीराधारमणजी के गोस्वामी-गण इन्हीं दामोदर दास जी के वंशज हैं। यह मंदिर अपनी समृद्धि तथा पूजा अर्चा के लिए वृंदावन में आज भी सुवि-ख्यात है।

(६) जीव गोस्वामी

ये रूप—सनातन के अनुज वल्लभ (या अनूप) के पुत्र थे। 'दुर्गम संगमनी' टीका के आरंभ में इन्होंने अपने पितृव्यों का निर्देश किया है—

> सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः।
> श्रीवल्लभोऽनुजो योऽसौ श्रीरूपो जीवसद्गतिः॥

बाल्यकाल में ही पिता का देहांत हो गया था। अतः माता की देखरेख में इनकी शिक्षा हुई। अपने भक्त पितृव्यों की भक्ति तथा वैराग्य का उज्ज्वल आदर्श इनके सामने इतना जागरूक था कि कम उम्र में ही ये घरद्वार छोड़ कर परम विरक्त बन गए। काशी में मधुसूदन वाचस्पति से वेदांत-शास्त्र का पूर्ण अध्ययन किया। अनंतर वृंदावन में अपने चाचा लोगों की संगतिमें आकर रहने लगे। अपने समय के प्रकाण्ड पंडित के रूप में इनकी

ख्याति सर्वत्र व्याप्त थी। सुनते हैं कि इन्होंने आसाम के रूप-नारायण नामक किसी उद्धत संन्यासी को शास्त्रार्थ में परास्त कर उनका मद चूर्ण किया था, परंतु इनके पितृव्य सनातन जी इनसे इस वैष्णव-विरुद्ध कार्य से नितांत रुष्ट हुए थे, परंतु रूप गोस्वामी ने बड़ी युक्ति से इन्हें क्षमा प्रदान कराया था। अकबर के आग्रह करने पर ये एक दिन आगरे भी आये थे।

इन्होंने अपने पूज्य पितृव्यों के जीवन को अपने लिए आदर्श बनाया। भजन और भक्ति-ग्रंथ-प्रणयन ही इनके जीवनका महान् व्रत था। इनके ग्रंथ गौडीय वैष्णव संप्रदाय के सिद्धांतों के प्रकाश-स्तंभ हैं जिनमें इनकी दार्शनिक विद्वत्ता पाठकों को पद-पद पर आश्चर्यचकित करती है। इनके ग्रंथों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(१) षट्संदर्भ—भक्ति-शास्त्र के मौलिक तत्त्वों का प्रति-पादक उत्कट कोटिका यह ग्रंथ है। भागवत विषयक छ प्रौढ निबंधों का यह उत्कृष्ट समुच्चय है। इसके ऊपर ग्रंथकार ने ही सर्वसंवादिनी नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्या लिखी है।

(२) क्रमसंदर्भ—भागवत पुराण की पाण्डित्यपूर्ण टीका।

(३) दुर्गमसंगमनी—रूप गोस्वामी के 'भक्ति रसामृत-सिंधु' की टीका।

(४)—ब्रह्मसंहिता } की टीकायें। चैतन्य महाप्रभु
(५)—कृष्णकर्णामृत } अपनी दक्षिणयात्रा में इन दोनों ग्रंथों को अपने साथ लाये थे। दक्षिण की पयोष्णी नदी के तीर पर मल्लहार नामक स्थान से वे ब्रह्मसंहिता लाये थे। यह अध्यात्म-परक ग्रंथ है। 'कृष्णकर्णामृत' बिल्वमंगल की कमनीय

रचना है जिसमें सरस शब्दों में कृष्ण की स्तुति गाई गई है। इन्हीं दोनों की टीका जीव गोस्वामी ने की है।

(६) हरिनामामृत व्याकरण—इसमें व्याकरण के पारिभाषिक शब्द कृष्ण के नामों से संबद्ध नये गढ़े गये हैं।

(७) कृष्णार्चन दीपिका - कृष्ण-पूजा की विधि विस्तार से लिखी गई है।

इनके अतिरिक्त इनकी अन्य रचनायें भी मिलती हैं। जीव गोस्वामी जी इन छहों गोस्वामियों में निःसंदेह प्रौढतम विद्वान थे। 'चैतन्यमत के इतिहास में इन षट् गोस्वामियों का वही स्थान और सम्मान है जो वल्लभमत में 'अष्टछाप' का। अंतर इतना ही है कि अष्टछाप के कवियों की रचनायें देश भाषा में ही है, गोस्वामियों की संस्कृत में। अष्टछाप में कवि-जनों की ही गणना है, पर गोस्वामियों में कवि तथा दार्शनिक दोनों की। परंतु प्रामाणिकता दोनों की एक समान है। इनमें एक ही कुटुंब के तीन गोस्वामी थे—रूप, सनातन तथा जीव तथा ये ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। इनका अलौकिक कार्य किस विवेचक को आश्चर्य में नहीं डालता?

कृष्णदास कविराज

इन गोस्वामियों के अतिरिक्त अनेक चैतन्यमतानुयायी विद्वान् भक्त वृंदावन में इस काल में निवास करते थे तथा अपने ग्रंथ तथा आचरण से भक्ति की प्रभा चारों ओर छिटकाते थे। ऐसे भक्तों में कृष्णदास कविराज की ख्याति सबसे अधिक है। ये बंगाल के बर्दवान जिले के निवासी थे। इनका जन्म १४६६ ई० में हुआ था। जाति से ये कायस्थ थे। इनके माता

पिता बाल्यकाल में ही मर गये—पिता का नाम था भागीरथ तथा माता का सुनन्दा देवी। श्यामादास नामक इनके भाई भी थे जिनके नास्तिक विचारों के कारण ये बड़े ही दुःखित रहते। बालकपन में घर छोड़कर वैरागी बन गये। वृंदावन में नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर भजन तथा ग्रंथ-रचना में जीवन बिताने लगे। इनके ग्रंथ अधिकतर संस्कृत में ही हैं—(१) गोविंद लीलामृत-कमनीय काव्य है जिसमें राधाकृष्ण की वृंदावन लीला का सुचारु वर्णन किया गया है। इसका बंगभाषा में अनुवाद यदुनंदनदास ने १६१० ई० में किया। (२) कृष्णकर्णामृत की टीका, (३) प्रेमरत्नावली, (४) वैष्णवाष्टक, (५) रागमाल आदि अन्य संस्कृत ग्रंथ भी उपलब्ध हैं।

परंतु इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है—चैतन्यचरितामृत जो इनकी विपुल उज्ज्वल कीर्ति का सर्वप्रधान आधारपीठ है। ग्रंथ बंगभाषा में है, परंतु उसमें व्रजभाषा का भी पर्याप्त मिश्रण है। इसी मिश्रित भाषा को 'व्रजबुली' (व्रजबोली) के नाम से पुकारते हैं। वैष्णव साहित्य का यह रत्न है। बंगला में इसको वही नाम और सम्मान प्राप्त है जो हिंदी में तुलसीदास के रामचरित-मानस को। जिस प्रकार तुलसीदास का ग्रंथ हिंदी जनता के लिए सकल शास्त्रों का सार तथा निःस्यन्द है, उसी प्रकार चैतन्य चरितामृत बंगाल की धार्मिक जनता के गले का हार है। है भी यह बड़ी प्रौढ़ रचना। सुगम भाषा में दुर्गम तत्त्वों का विशदीकरण इस ग्रंथरत्न की विशेषता है। कविराज महोदय की नितांत वृद्धावस्था की यह कृति है। ७६ वर्ष की अवस्था में भक्तों की प्रार्थना पर इन्होंने महाप्रभु चैतन्य की जीवन लीला लिखने का उपक्रम किया। पूरे सात वर्षों में

इसकी रचना की गई। १५०३ शाके (=१५८२ ई०) में ८६ वर्ष की उम्र में यह ग्रंथ समाप्त हुआ[1]।

इस ग्रंथ में चैतन्य के जीवन चरित का विस्तृत वर्णन है। ग्रंथ में तीन खंड हैं—(१) आदिलीला (१७ सर्ग) में चैतन्य के अवतार की पूर्वपीठिका तथा भक्तिमार्ग का मुख्यतः विवरण है। (२) मध्यलीला (२५ सर्ग) में चैतन्य के जन्म, लीला तथा यात्राओं का वर्णन है। प्रसंगतः उनके उपदेशों का बड़ा ही विशद विवेचन उपलब्ध होता है। (३) अंतलीला (२० सर्ग) में चैतन्य के अंतिम जीवन की घटनायें वर्णित हैं। साथ ही साथ उनके कीर्तनों की प्रक्रिया तथा तज्जन्य दिव्योन्माद का कमनीय वर्णन है। इस प्रकार यह ग्रंथ काव्य तथा शास्त्र दोनों की दृष्टि से उपादेय है। चैतन्य चरित का विस्तृत वर्णन तो है ही, साथ ही साथ वैष्णव मत के दार्शनिक रहस्यों का विशद तथा सांगोपांग विवेचन है। ग्रंथकार के समकालीन नित्यानंददास के विख्यात ग्रंथ प्रेमविलास में इनके अवसान की विचित्र घटना उल्लिखित है। कविराज जी ने जब सुना कि उनके ग्रंथ की एकमात्र हस्तलिखित प्रति को डाकुओं ने लूट लिया, तब उनकी मृत्यु उसी समय हो गई। यह घटना १५९८ ई० की है। अतः इनकी मृत्यु पूरे १०२ वर्ष में हुई थी।

इस प्रकार १६ वीं शताब्दी में वृंदावन चैतन्य मत के प्रचार तथा प्रसार का केंद्रबिंदु था। चैतन्य मतानुयायी गौडीय वैष्णवों के सिद्धांत का परिष्कार यहीं किया गया। छहों-गोस्वामियों ने यहीं रहकर अपने संप्रदाय के सिद्धांतों तथा

---

१ शाकेऽग्निबिन्दुबाणेन्दौ ज्येष्ठे वृन्दावनान्तरे।
सूर्याहेऽसितपञ्चम्यां ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः ॥

आचारों का पर्याप्त रूपेण उपबृंहण किया। वर्तमान वृंदावन इन गौडीय वैष्णवों की घोर तपस्या, अश्रांत अध्यवसाय, दृढ भगवन्निष्ठा तथा व्यापक प्रभाव का जाज्वल्यमान प्रतिनिधि है।

(३)

दार्शनिक सिद्धांत

माध्वमत की शाखा होने पर भी चैतन्यमत का दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वथा स्वतंत्र तथा पृथक् है। माध्वमत की मूल दृष्टि द्वैतवाद की है जिससे भिन्न चैतन्य मत का नाम है—अचिन्त्य भेदाभेद। भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं। उनकी अनंत शक्तियाँ हैं। शक्ति और शक्तिमान् में न तो परस्पर भेद ही सिद्ध होता है और न अभेद, इन दोनों का संबंध तर्क के द्वारा अचिन्त्य है। इसीलिए इस मत की प्रसिद्धि 'अचिन्त्यभेदाभेद' नाम से की जाती है। इस विषय में रूप गोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' में स्पष्ट ही लिखा है—

> एकत्वं च पृथक्त्वं च तथांशत्वमुतांशिता।
> तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानन्तशक्तितः॥ —१।५०

अचिन्त्य अनंत शक्तियों के कारण उस एक ही पुरुषोत्तम में एकत्व और पृथक्त्व, अंशत्व तथा अंशित्व का रहना कथमपि अयुक्त नहीं रहता। श्री जीव गोस्वामी के कथनानुसार[1] भगवान्

---

[1] स्वरूपाद्यभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदौ अङ्गीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्। —जीव गोस्वामी : भगवत्सन्दर्भ।

श्री कृष्ण में उनकी स्वरूप आदि शक्तियों से अभिन्न रूप से चिंतन करना अशक्य होने से वह भिन्न प्रतीत होता है और उनसे भिन्न रूप से चिंतन करना अशक्य होने के कारण वह अभिन्न प्रतीत होता है। अतः शक्ति और शक्तिमान् में भेद और अभेद दोनों सिद्ध होते हैं और ये दोनों ही अचिंत्य शक्ति होने के कारण 'अचिन्त्य' माने जाते हैं। इस प्रकार अचिंत्य शक्ति के कारण यह प्रपंच न तो भगवान के साथ ही एकांततया भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। इसीलिए इस मत का दार्शनिक दृष्टिकोण 'अचिन्त्यभेदाभेद' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

इस मत का सार अंश निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य में दिया गया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं, प्रेमा पुमर्थो महान्
श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

व्रजस्वामी नंद के पुत्र श्री कृष्ण ही आराधनीय भगवान् हैं। उनका धाम है—वृंदावन। व्रज की गोपिकाओं के द्वारा की गई रमणीय उपासना ही साधकों के लिए माननीय प्रामाणिक उपासना है। श्रीमद्भागवत निर्मल प्रमाणशास्त्र है। प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है—चैतन्यमत का यही सारांश है।

चैतन्यानुसार महान् पुरुषार्थ है—प्रेम। 'प्रेमा पुमर्थो महान्'—भक्ति को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मानना अपना महत्त्व रखता है। दार्शनिकों के द्वारा निर्णीत पुरुषार्थ चार प्रसिद्ध हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। परंतु यह मत भक्ति को 'पंचम

पुरुषार्थ' के रूप में ग्रहण करता है। भक्ति दोनों प्रकार की होती है—साधनरूपा और साध्यरूपा। भक्ति स्वतः साधन भी है तथा साध्य भी है। श्री कृष्ण का भक्त मुक्ति को भी अपनी उपासना में अंतराय समझ कर उसकी प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाता। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है—श्रीकृष्ण की रागात्मिका भक्ति। रूपगोस्वामी के अनुसार भक्ति है श्री-कृष्ण का अनुकूलता से अनुशीलन या सेवन जिसमें अन्य अभि-लाषाओं की कोई भी सत्ता नहीं रहती और जो ज्ञान, कर्म आदि से कथमपि आवृत नहीं रहता—

> अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
> आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
> —भक्तिरसामृतसिंधु १।१।११

श्रीमद्भागवत में स्पष्ट ही इसी भक्ति की श्रेष्ठता का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। भगवान् ने स्वयं ही अहैतुकी तथा अव्यवहिता भक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा है—

> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

चैतन्यमत की पंचम पुरुषार्थ की कल्पना का आधार श्री-मद्भागवत के ही वचन हैं। श्रीकृष्ण का स्वयं कथन है—

> न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
> वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

अर्थात् भगवान् के सदाचार-संपन्न, धैर्यवान् तथा एकांत निष्ठावाले भक्त उनके द्वारा दिये गये आत्यंतिक मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं करते।

श्रीकृष्ण ही अचिन्त्य शक्तिमान् भगवान् परम तत्त्व हैं। वे अपने तीन विशिष्ट रूपों से विभिन्न लोकों में प्रकाशित होते हैं। श्री कृष्ण के इन रूपों के नाम हैं[1]—(१) स्वयं रूप, (२) तदेकात्म रूप, (३) आवेश। भगवान् का 'स्वयं रूप' वह है जो दूसरे के ऊपर आश्रित न होकर, अन्य की अपेक्षा न रखते हुए, स्वयं आविर्भूत होता है[2]। ब्रह्मसंहिता का यह कथन इसी रूप की पुष्टि में है—अनादिरादिर्गोविंदः सर्वकारणकारणम्। भगवान् स्वयं इस विशाल सृष्टि के आदि है तथा समग्र कारणों के भी कारण है, परंतु वे स्वयं अनादि हैं—उनका आदि या कारण कहीं से भी नहीं है। 'तदेकात्मरूप' का अर्थ है वह रूप जो स्वरूप से तो स्वयरूप के साथ अभिन्न रहता है, परंतु आकृति, अंग-सन्निवेश तथा चरित से उससे भिन्न रहता है[3]। यह रूप भी दो प्रकार का होता है—विलास और और स्वांश। विलास रूप वह है जो स्वरूपतः[4] दूसरे आकार का होता है तथा शक्ति में प्रायः उसके तुल्य होता है। जैसे

---

१ लघुभागवतामृत १।११

२ अनन्यापेक्षि यद् रूपं स्वयंरूपः स उच्यते।

—वहीं, १।१२

३ यद्रूपं तदभेदेन स्वरूपेण विराजते।
आकृत्यादिभिरन्यादृक् स तदेकात्मरूपकः॥

—वहीं १।१४

४ स्वरूपमन्याकारं यत् तस्य भाति विलासतः
प्रायेणात्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते।

—वही, १।१५

गोविंद के विलास हैं परमव्योम के अधिपति नारायण और परमव्योमेश नारायण के विलास है आदि वासुदेव। इन दोनों के आकारों में समानता होने पर भी मूल देवता तथा आवरण की भिन्नता के कारण पृथकता हो रहती है। स्वांश रूप[1] विलासरूप के आकृत्या समान होने पर भी शक्ति में न्यून होता है जैसे संकर्षण आदि पुरुषावतार तथा मत्स्य आदि लीलावतार। (३) आवेश रूप[2] इन दोनों भेदों से सर्वथा भिन्न होता है। वे महत्तम जीव आवेश कहे जाते हैं जिनमें ज्ञान शक्ति आदि की स्थिति से भगवान् आविष्ट प्रतीत होते हैं जैसे वैकुंठ में शेष, नारद तथा सनकादि ऋषि गण।

भगवान् अचिन्त्याकार अनंत शक्तियों से संपन्न है, परंतु उनकी तीन ही शक्तियाँ मुख्य होती हैं—

(१) अंतरंगा शक्ति=चित्‌शक्ति=स्वरूप शक्ति

(२) तटस्थ शक्ति=जीवशक्ति

(३) बहिरंग शक्ति=माया शक्ति

अंतरंग शक्ति भगवद्रूपिणी होती है। सत्, चित् तथा आनंद के कारण भगवान् की यह स्वरूपशक्ति एकात्मिका होने पर भी त्रिविधा होती है—

(क) संधिनी=इसके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरों को सत्ता प्रधान करते हैं और समस्त देशकाल

---

१ तादृशो न्यूनशक्तिं यो व्यनक्ति स्वांश ईरितः।
१।१६

२ ज्ञान-शक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः।
त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः॥
१।७॥

तथा द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं (सदात्मापि यया सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्ति-हेतुः संधिनीशक्तिः[1])

(ख) संवित्—भगवान् स्वयं चिदात्मा है। इसी शक्ति के बल पर वह स्वयं अपने को जानते हैं और दूसरे को ज्ञान प्रदान करते हैं (=संविदात्मापि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्[2])

(ग) ह्लादिनी—भगवान् आनंदरूप हैं। वह शक्ति जिससे वे स्वयं आनंदका अनुभव करते हैं तथा दूसरों को आनंद का प्रदान करते हैं 'ह्लादिनी शक्ति' कही जाती है। इस विषय में वैदूर्यमणि का दृष्टांत भक्तिग्रंथों में दिया जाता है। एकही वैदूर्य-मणि नील पीत आदि त्रिविधरूप धारण करता है, वैसे ही एका परा शक्ति त्रिविधरूपों में विभक्त होकर तीन रूप धारण करती है (=ह्लादात्मापि यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनीशक्तिः। तत्तत् प्राधान्येन स्फूर्तेः तत्तद्रूपं तस्या एकस्या वैदूर्यवद्व्यसीयते[3])

तटस्थ शक्ति वह है जो परिच्छिन्नस्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है। मायाशक्ति का ही नाम है बहिरंग शक्ति। यही जगत् के आविर्भाव का कारण बनती है। स्वरूपशक्ति तथा मायाशक्ति के बीच में स्थित होने के कारण ही जीवशक्ति तटस्थ (या दोनों के तट पर रहने वाली) शक्ति कहलाती है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय की संज्ञा है—पराशक्ति। भगवान् स्वरूप-शक्ति से जगत् के निमित्त कारण होते हैं और जीव-माया शक्तियों से उपादान कारण होते हैं। माध्वमत ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानता

१ बलदेव विद्याभूषण—सिद्धान्तरत्न पृ० ३९।

२, ३ सिद्धांतरत्न पृष्ठ ४० (सरस्वती भवन सीरीज़ काशी)

है, परंतु इसके विपरीत चैतन्यमत उन्हें अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानता है अर्थात् चैतन्यमत में ईश्वर निमित्त कारण भी होते हैं तथा उपादान कारण भी। जगत् में धर्म की वृद्धि तथा अधर्म के नाश के लिए भगवान् का अवतार होता है।

जगत्—चैतन्यमत में जगत् नितरां सत्यभूत पदार्थ है, क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्वविद् हरि की बहिरंगशक्ति का विलास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रमाणित करती हैं। ईशावास्य उपनिषत् कहता है कि भगवान् ने शाश्वतकाल तक यथार्थ भाव से अर्थों या पदार्थों का निर्माण किया[1]। विष्णुपुराण ने स्पष्टतः कहा है कि यह अखिल जगत् आविर्भाव तथा तिरोभाव, जन्म और नाश आदि विकल्पों से युक्त होकर भी 'अक्षय' तथा 'नित्य' है[2]। महाभारत का भी इस विषय में ऐकमत्य है[3]—**सत्यं भूतमयं जगत्**। फिर भी इसको अनित्य बतलाना वैराग्य के निमित्त है। सृष्टि के नाश होने पर प्रलय दशा में भी यह जगत् ब्रह्म में अनभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है जिस प्रकार जंगल में रात के समय पक्षियों

---

१ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
यर्थातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—ईशा० (८)

२ तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव-तिरोभाव-जन्मनाश-विकल्पवत्।
—विष्णु पुराण १।२२।६०

३ ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद्गतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥
—महाभारत, अश्व० पर्व ३५।३४

की सत्ता। वे वर्तमान रहती हैं, परंतु कालवशात् उनकी व्यक्ति नहीं होती। (वनलीन विहगवत्—प्रमेयरत्नावली ३।२)

साधनमार्ग—भगवान् को अपने वश करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है—भक्ति। कर्म का भी उपयोग है। वह चित्त को शुद्ध बनाकर उसे ज्ञान तथा भक्ति के पात्र बनने की योग्यता प्रदान करता है। भक्ति भी ज्ञान का एक विशिष्ट प्रकार है। वह केवल ज्ञान से नितांत भिन्न होती है। ज्ञान के दो प्रकार होते हैं—केवल ज्ञान तथा विज्ञान। दर्शनके भी दो ढंग होते हैं—बिना पलक गिराये हुए हुए निर्निमेष दृष्टि से अवलोकन तथा दूसरा है कटाक्ष-वीक्षण। इनमें निर्निमेष वीक्षण की तरह तत्त्वं पदार्थ का अनुभव प्रथम प्रकार का ज्ञान है तथा अपाङ्गवीक्षण के समान विचित्र ज्ञान का नाम है—भक्ति। भगवान् के वशीकरण के निमित्त यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ उपाय है। संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों का संमिश्रण भक्ति का सार है। यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का अपृथग् विशेषण है तथा भक्तों का पृथग् विशेषण। भक्ति के दो प्रकार हैं—विधि-भक्ति तथा रुचिभक्ति या रागात्मिका भक्ति। विधि-भक्ति के उदय में शास्त्रों में निर्दिष्ट उपाय श्रेयस्कर होते हैं, परंतु रागात्मिका के उदय के लिए भक्त की आर्तता या दयनीयता ही प्रधान कारण हैं। भागवत का यह पद्य रागात्मिका की ही व्याख्या है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष! दिदृक्षते त्वाम्॥

है, परंतु इसके विपरीत चैतन्यमत उन्हें अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानता है अर्थात् चैतन्यमत में ईश्वर निमित्त कारण भी होते हैं तथा उपादान कारण भी। जगत् में धर्म की वृद्धि तथा अधर्म के नाश के लिए भगवान् का अवतार होता है।

जगत्—चैतन्यमत में जगत् नितरां सत्यभूत पदार्थ है, क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्वविद् हरि की बहिरंगशक्ति का विलास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रमाणित करती हैं। ईशावास्य उपनिषत् कहता है कि भगवान् ने शाश्वतकाल तक यथार्थ भाव से अर्थों या पदार्थों का निर्माण किया[1]। विष्णुपुराण ने स्पष्टतः कहा है कि यह अखिल जगत् आविर्भाव तथा तिरोभाव, जन्म और नाश आदि विकल्पों से युक्त होकर भी 'अक्षय' तथा 'नित्य' है[2]। महाभारत का भी इस विषय में ऐकमत्य है[3]—**सत्यं भूतमयं जगत्**। फिर भी इसको अनित्य बतलाना वैराग्य के निमित्त है। सृष्टि के नाश होने पर प्रलय दशा में भी यह जगत् ब्रह्म में अनभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है जिस प्रकार जंगल में रात के समय पक्षियों

---

१ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
यथातथ्यतो ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—ईशा० (८)

२ तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव-तिरोभाव-जन्मनाश–विकल्पवत्।
—विष्णु पुराण १।२२।६०

३ ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद्गतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥
—महाभारत, अश्व० पर्व ३५।३४

किसी व्यक्ति से पुरुषोत्तम क्षेत्र की सत्ता का पता पाकर राजा ने अपने पुरोहित के भाई विद्यापति को स्थान तथा भगवान् की स्थिति जानने के लिए भेजा। अनेक संकटों को झेल कर जब विद्यापति इस क्षेत्र में पहुँचे तब घनघोर जंगल से घिरे रहने के कारण उन्हें भगवान् का दर्शन न हो सका। खोज करने से पता चला कि कोई विश्वावसु शवर भगवान् नीलमाधव की एकनिष्ठ उपासना करता है और भगवान् का दर्शन उसी की इच्छा के ऊपर निर्भर है। विद्यापति ने उससे भेंट की और विशेष आग्रह पर उसकी कन्या से उन्हें शादी भी करनी पड़ी। बड़ी प्रार्थना करने पर विश्वावसु उनकी आँख के ऊपर पट्टी बाँध कर वहाँ ले जाने के लिए राजी हुआ। विद्यापति ने यह शर्त भी मान ली और वह वृक्ष के मूल में भगवान् नीलमाधव की ललित मूर्ति को देख कर अपने चिर प्रार्थित इच्छा को पूर्ण किया। शवर के कार्य-विशेष से बाहर चले जाने पर उनके अचरज की सीमा न रही, जब पास के रोहिणी कुंड में स्नानमात्र से उन्होंने एक कौवे को चतुर्भुजी विष्णु के रूप में परिणत होते देखा।

विद्यापति अपने उद्देश्य में सफल होकर अवंती लौटे और उनके संकेत से राजा पुरुषोत्तम क्षेत्र में पहुँचा। राजा ने यहाँ वेदी के ऊपर सौ यज्ञ किये जिसके फल-स्वरूप श्वेत-द्वीपपति विष्णु ने स्वप्न में दर्शन दे कर काष्ठ की मूर्ति बनाने का आदेश दिया। आदेशानुसार राजा अगले दिन प्रातः काल समुद्र में स्नान करने गया और स्वप्न में निर्दिष्ट वृक्ष के तने को घर ले आया। स्वयं विश्वकर्मा ने इससे भगवान् की विशिष्ट मूर्ति बनाने का प्रण किया। परंतु अपनी महारानी गुंडिचा देवी के आग्रह से राजा ने निर्दिष्ट दिनों के पहले ही घर के दरवाजे को खोल कर मूर्ति को अपूर्ण तथा उसके शिल्पी को अंतर्हित पाया।

(३)

उत्कल में वैष्णव-धर्म

आजकल उत्कल देश भागवत धर्म का एक महनीय प्रांत है जहाँ पर मोक्षदायिनी सप्त पुरियों में जगन्नाथपुरी अन्यतम है। यह स्थान नीलाचल तथा पुरुषोत्तम क्षेत्र के नाम से ही अभिहित किया जाता है। पुरी में भगवान् विष्णु का नाना परकोटों, शिखरों तथा जगमोहनों से युक्त विशालकाय मंदिर विराजमान है जिसमें कृष्ण और बलराम अपनी भगिनी सुभद्रा जी के साथ प्रतिष्ठित हैं। ये तीनों मूर्तियां लकड़ी की बनी हुई हैं, इसीलिए जगन्नाथ जी दारुमय विग्रह होने के कारण 'दारुब्रह्म' कहलाते हैं। उत्कल में वैष्णव धर्म की उत्पत्ति का काल-निरूपण जगन्नाथ जी के प्राकट्य के ऊपर आश्रित माना जा सकता है। इसलिए जगन्नाथ के आविर्भाव की मीमांसा प्रथमतः अपेक्षित है, जिसके विषय में नारद-पुराण (उत्तर खंड), ब्रह्म-पुराण, स्कंद पुराण (उत्कल खंड), कपिल संहिता तथा नीलाद्रि-महोदय आदि संस्कृत ग्रंथों में तथा प्राचीन परंपरा को निबद्ध करने वाले आधुनिक उड़िया-भाषा में लिखित ग्रंथों में विपुल सामग्री उपलब्ध है। इन सब में प्रायः एक ही कथानक कतिपय अवांतर घटनाओं की भिन्नता के साथ उपलब्ध होता है। आविर्भाव की कथा संक्षेप में दी जाती है।

सत्ययुग में अवंती के महाराज इंद्रद्युम्न के चित्त में भगवान् नीलमाधव के दर्शन की इच्छा प्रबल रूप से जाग पड़ी। परंतु नीलमाधव के स्थान से वह अपरिचित था। किसी तीर्थयात्रा के प्रसंग से अखिल भारतवर्ष के तीर्थों के निरीक्षण करने वाले

किसी व्यक्ति से पुरुषोत्तम क्षेत्र की सत्ता का पता पाकर राजा ने अपने पुरोहित के भाई विद्यापति को स्थान तथा भगवान् की स्थिति जानने के लिए भेजा। अनेक संकटों को झेल कर जब विद्यापति इस क्षेत्र में पहुँचे तब घनघोर जंगल से घिरे रहने के कारण उन्हें भगवान् का दर्शन न हो सका। खोज करने से पता चला कि कोई विश्वावसु शवर भगवान् नीलमाधव की एकनिष्ट उपासना करता है और भगवान् का दर्शन उसी की इच्छा के ऊपर निर्भर है। विद्यापति ने उससे भेंट की और विशेष आग्रह पर उसकी कन्या से उन्हें शादी भी करनी पड़ी। बड़ी प्रार्थना करने पर विश्वावसु उनकी आँख के ऊपर पट्टी बाँध कर वहाँ ले जाने के लिए राजी हुआ। विद्यापति ने यह शर्त भी मान ली और वह वृक्ष के मूल में भगवान् नीलमाधव की ललित मूर्ति को देख कर अपने चिर प्रार्थित इच्छा को पूर्ण किया। शवर के कार्य-विशेष से बाहर चले जाने पर उनके अचरज की सीमा न रही, जब पास के रोहिणी कुंड में स्नानमात्र से उन्होंने एक कौवे को चतुर्भुजी विष्णु के रूप मे परिणत होते देखा।

विद्यापति अपने उद्देश्य में सफल होकर अवंती लौटे और उनके संकेत से राजा पुरुषोत्तम क्षेत्र में पहुँचा। राजा ने यहाँ वेदी के ऊपर सौ यज्ञ किये जिसके फल-स्वरूप श्वेत-द्वीपपति विष्णु ने स्वप्न में दर्शन दे कर काष्ट की मूर्ति बनाने का आदेश दिया। आदेशानुसार राजा अगले दिन प्रातः काल समुद्र में स्नान करने गया और स्वप्न में निर्दिष्ट वृक्ष के तने को घर ले आया। स्वयं विश्वकर्मा ने इससे भगवान् की विशिष्ट मूर्ति बनाने का प्रण किया। परंतु अपनी महारानी गुंडिचा देवी के आग्रह से राजा ने निर्दिष्ट दिनों के पहले ही घर के दरवाजे को खोल कर मूर्ति को अपूर्ण तथा उसके शिल्पी को अंतर्हित पाया।

इसी मूर्ति की प्रतिष्ठा पुराने उपासक विश्वावसु शवर के उत्तराधिकारी के सहयोग से वैशाख शुक्ल अष्टमी को की गई। पूजा तथा भोग का अधिकार शवर जाति के लोगों के ही सुपुर्द किया गाया। तब से आजतक इसी जाति के बलभद्रगोत्री ब्राह्मणीकृत पाचक भगवान् के भोगराग की व्यवस्था करते हैं।

कृष्ण और बलराम के साथ सुभद्रा के स्वरूप की व्याख्या पुराणों में उपलब्ध होती है। स्कंद पुराण (उत्कल खंड; अध्याय १६) के अनुसार सुभद्रा स्वयं चैतन्यरूपिणी लक्ष्मी है[1]। सुभद्रा तथा बलराम का जन्म रोहिणी के ही गर्भ से हुआ था। फलतः दोनों में साहचर्य है। अनंत रूप से जगत् के धारण करने वाले संकर्षण कृष्ण से अभिन्न है और उनकी शक्ति रूपा लक्ष्मी यहाँ भगिनी रूप से वर्णित की गई है। दारुब्रह्म का उल्लेख शांखायन ब्राह्मण में प्रथमतः उपलब्ध होता है और उसी का संकेत पुराणों मे भी मिलता है। ब्राह्मण का श्लोक यह है—

आदौ यद् दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदालभस्व दुर्दूनो तेन याहि परं स्थलम्॥

यहाँ पर पहले शवर जाति के राजा राज्य करते थे। जंगल के निवासी होने से बहुत संभव है कि इन शवरों ने लकड़ी की मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने की प्रथा चलाई होगी। अतः शवर जाति के प्राधान्य वाले स्थान मे यदि जगन्नाथ जी की मूर्ति काष्ठ की बनाई जाती है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास से पता चलता है कि ये शवर राजा विष्णु के उपासक थे तथा इन्होंने विष्णु की प्रतिष्ठा के लिए सैकड़ों मंदिरों

---

१ तस्य शक्तिस्वरूपेयं भगिनी छोप्रवर्तिका।
—स्कंदपुराण, उत्कलखंड १६।१७

का निर्माण किया था। शिवगुप्त नामक राजा के विषय में यह कहा जाता है कि जब अष्टम अथवा नवम शतक में यवनों के राजा रक्तबाहु ने पुरी पर आक्रमण कर उसे ध्वस्त करने का उद्योग किया तब वे जगन्नाथ जी की मूर्ति को यहाँ से उठा कर अपनी राजधानी 'राजिम' में ले गये और उपद्रव के शांत होने पर पुनः उस मूर्ति को पूर्व मंदिर में रख दिया। आज भी राजिम नगरी में महानदी के किनारे जगन्नाथ जी की मूर्ति प्रतिष्ठित है। नगेंद्र नाथ वसु का अनुमान है कि यवनों ने नहीं, अपि तु जावा द्वीप के निवासियों ने भारत के पूर्वी समुद्र पर स्थित प्रदेशों पर आक्रमण किया था और तभी मूर्ति के स्थानांतर करने का प्रसंग उपस्थित हुआ[1]।

सुनते हैं कि इंद्रद्युम्न का बनाया हुआ प्राचीन मंदिर कालांतर में वालुकाशायी हो गया। यही कारण है कि सप्तम शतक के मध्य में जब हुएन-सांग ने इस स्थान की यात्रा की थी तब उसने केवल मंदिरों के शिखर ही देखे थे। इसी का उद्धार कर राजा ययाति केशरी ने मंदिर का पुनः निर्माण किया और इंद्रद्युम्न द्वितीय की उपाधि धारण की। एकादश शतक में चोड़ गंग ने उत्कल के राजा उद्योत केशरी या उनके किसी वंशज को जीत कर उत्कल में अपना राज्य स्थापित किया। इस घटना से उत्कलीय वैष्णव धर्म दक्षिण के आलवार संतों के संपर्क में आकर और भी अग्रसर हुआ। राजा पुरुषोत्तमदेव जगन्नाथ जी के विशेष भक्त थे और इन्होंने ही भगवान् की चूड़ा में नीलचक्र लगवाया जो आज भी वर्तमान है। इन्हीं के पुत्र हुए राजा प्रतापरुद्र जो १५०३ ई० में सिंहासन पर बैठे और जिनके राज्यकाल में महा-

---

१ हिंदी विश्वकोष, भाग ७, पृष्ठ ७०८—९।

प्रभु चैतन्यदेव ने नीलाचल को अपना प्रचार क्षेत्र बनाया और यहीं विशेष रूप से रहने लगे। चैतन्य देव के इस आगमन से उत्कलीय वैष्णव धर्म का सुवर्ण युग आरंभ होता है।

पुरी पर बौद्ध प्रभाव

आजकल के प्रायः समस्त इतिहासविदों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह मूर्ति बिलकुल बौद्ध है। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि उड़ीसा में अशोकवर्धन के समय में ही बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ और महायान, मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान आदि जितने बौद्ध धर्म के परिवर्तन हुए, उनमें से प्रत्येक का प्रवाह यहाँ पूरी तौर से अनुभूत हुआ। बौद्ध महाविद्यालय पुष्पगिरि के भग्नावशेष आज भी कटक जिले के रत्नगिरि नामक स्थान में वर्तमान हैं। तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए गये हुए अनेक बौद्ध पंडितों का जन्म-स्थान यही उत्कल प्रांत था। मयूरभंज के नाना स्थानों में अवलोकितेश्वर वज्रपाणि, आर्यतारा आदि बौद्ध देवता पाये जाते हैं। अतः उत्कल में बौद्ध धर्म का प्रसार मात्रा में अधिक रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता। इस स्थानीय बौद्धधर्म के प्रभाव से जगन्नाथ क्षेत्र के अछूता बचने की संभावना बिलकुल नहीं है। उधर जगन्नाथ की मूर्ति हिंदू धर्म की अन्य परिचित देवमूर्तियों से नितांत विलक्षण है। सुनते हैं कि भगवान के कलेवर-परिवर्तन के समय मूर्ति के भीतर विष्णु-पंजर रक्खा जाता है। विद्वानों की धारणा है कि संभवतः बुद्ध के शरीर की हड्डी का कोई टुकड़ा इसके भीतर रक्खा जाता है। साँची से मिले हुए धर्म यंत्रों (बुद्ध, धर्म तथा संघ के सूचक यंत्रों) से इन तीनों र्तियों की इतनी अधिक समानता है कि इन्हें बौद्ध मूर्ति मानने

के लिए बाध्य होना पड़ता है। हुएन सॉंग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि उसने मध्य एशिया के खोतान नामक स्थान में बुद्ध, धर्म, तथा संघ की मूर्तियों से समन्वित रथयात्रा देखी थी जो जगन्नाथ जी की रथयात्रा से साम्य रखती है। इन्हीं सब कारणों से आजकल इतिहासवेत्ता लोग जगन्नाथ की मूर्ति को बुद्ध, धर्म, तथा संघ की ही प्रतिमा मानते हैं[1]। उड़िया पुस्तक 'धर्मपूजा विधान' में तथा अन्य ग्रंथों में जगन्नाथ जी बुद्ध के ही रूप माने गये हैं।

ऐतिहासिक छानबीन करने पर यह मत बिलकुल अभ्रांत नहीं प्रतीत होता। बौद्ध धर्म का प्रभाव देश में बद्धमूल होने के कारण किसी न किसी मात्रा में अवश्य पड़ा होगा। परंतु धर्म-यंत्रों के साथ पार्थक्य रखने के कारण हम जगन्नाथ जी को पूरा बौद्ध विग्रह नहीं मान सकते। तथ्य तो यह है कि जगन्नाथपुरी शवर संस्कृति बौद्ध संस्कृति तथा ब्राह्मण संस्कृति की त्रिवेणी का संगम है। जो आचार-विषयक बातें ब्राह्मण धर्म से विपरीत प्रतीत होती हैं, उनका कारण शवर संस्कृति है जो तीनों में प्राचीनतम अवश्य है। महाप्रसाद की पवित्रता तथा उसके ग्रहण का व्यापक आदर शवरराजाओं के उद्योग के फल हैं। सोमवंशी उत्कल नरेश शवर राज शिवगुप्त तथा भवगुप्त के अधीन थे और इन्हीं लोगों के आग्रह पर महाप्रसाद के ग्रहण का प्रचलन हुआ। यह शवर प्रभाव का द्योतक है, बौद्ध प्रभाव का नहीं। ययाति केशरी ने ब्राह्मणों के द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा अवश्य कराई; परंतु पूजा के विषय में शवर पद्धति का ही अनुसरण हुआ। आज भी जगन्नाथ जी के लेप संस्कार आदि के ऊपर

१ जलधिर तीरे स्थान बौद्धरूपे भगवान्
हय्या तुमि कृपावलोकन।

प्रभु चैतन्यदेव ने नीलाचल को अपना प्रचार क्षेत्र बनाया और यहीं विशेष रूप से रहने लगे। चैतन्य देव के इस आगमन से उत्कलीय वैष्णव धर्म का सुवर्ण युग आरंभ होता है।

पुरी पर बौद्ध प्रभाव

आजकल के प्रायः समस्त इतिहासविदों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह मूर्ति बिलकुल बौद्ध है। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि उड़ीसा में अशोकवर्धन के समय में ही बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ और महायान, मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान आदि जितने बौद्ध धर्म के परिवर्तन हुए, उनमें से प्रत्येक का प्रवाह यहाँ पूरी तौर से अनुभूत हुआ। बौद्ध महाविद्यालय पुष्पगिरि के भग्नावशेष आज भी कटक जिले के रत्नगिरि नामक स्थान में वर्तमान हैं। तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए गये हुए अनेक बौद्ध पंडितों का जन्म-स्थान यही उत्कल प्रांत था। मयूरभंज के नाना स्थानों में अवलोकितेश्वर वज्रपाणि, आर्यतारा आदि बौद्ध देवता पाये जाते हैं। अतः उत्कल में बौद्ध धर्म का प्रसार मात्रा में अधिक रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता। इस स्थानीय बौद्धधर्म के प्रभाव से जगन्नाथ क्षेत्र के अछूता बचने की संभावना बिलकुल नहीं है। उधर जगन्नाथ की मूर्ति हिंदू धर्म की अन्य परिचित देवमूर्तियों से नितांत विलक्षण है। सुनते हैं कि भगवान के कलेवर-परिवर्तन के समय मूर्ति के भीतर विष्णु–पंजर रक्खा जाता है। विद्वानों की धारणा है कि संभवतः बुद्ध के शरीर की हड्डी का कोई टुकड़ा इसके भीतर रक्खा जाता है। साँची से मिले हुए धर्म यंत्रों (बुद्ध, धर्म तथा संघ के सूचक यंत्रों) से इन तीनों मूर्तियों की इतनी अधिक समानता है कि इन्हें बौद्ध मूर्ति मानने

तथा जगन्नाथ जी के एकनिष्ट उपासक हो गये थे। शाक्त ग्रंथकार लक्ष्मीधर भी इनकी सभा को सुशोभित करते थे। चैतन्य के प्रभाव से उत्कल साहित्य में पाँच बड़े वैष्णव कवि हुए जो 'पंच सखा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी भावना, विचारधारा, योगाभ्यास तथा भगवद्भक्ति की कल्पना में इतना साम्य है कि एक ही चिंता-सरित् के 'पाँच प्रवाह' माने जाते हैं अथवा एक ही ज्ञानदीपक के भिन्न भिन्न पाँच शिखा होने के कारण ये पंचशिखा के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

इन पाँचों कवियों के नाम हैं—(१) बलराम दास, (२) अनंत दास, (३) यशोवंत दास (४) जगन्नाथ दास, (५) अच्युतानंद दास। इनमें बलराम दास सबसे वयोश्रेष्ठ थे तथा अच्युत दास सबसे छोटे थे। अच्युतानंद की लिखी हुई 'उदयकहाणी' नामक ग्रंथ के उल्लेख से इनका जन्मकाल इस प्रकार माना जा सकता है—बलराम—१४७२ ई०, अनंत—१४७५ ई०, यशोवंत और जगन्नाथ—१४८६ ई० और अच्युत—१४८६ ई०। इस प्रकार ये पाँचों कवि एक ही समय पैदा हुये। अच्युतानंद का कहना है, 'कृष्ण की इच्छा से हम पैदा हुए हैं। राधा और लीला प्रचार करने के लिए हमने पंचसखा का जन्म लिया है'।

पंचसखाओं के जातिनिर्णय का कार्य भी दुरूह है। सामान्य रीति से ये समाज की निम्न श्रेणी के व्यक्ति माने जाते हैं। बलरामदास बाउरि (उत्कल की एक आर्येतर जाति) जाति के माने जाते हैं। 'प्रणवगीता' के आरंभ में उन्होंने अपना जो परिचय दिया है[1] उससे ब्राह्मणों के द्वारा उनके तिरस्कार की बात स्पष्ट रूप से झलकती है। 'मुक्तिमंडप' में शूद्र के मुँह से वेदांत की

[1] नगेंद्रनाथ वसु—माडर्न बुद्धिजम पृ० ६५—६६ पर उद्धृत।

शवरों का पूर्ण अधिकार है। उनके वंशधर 'दैतापति' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा पूजा के विषय में अधिकारी हैं।

तथ्य जो कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि इस देश में वैष्णव धर्म का प्रचार पहले से था। हाथी गुम्फा के शिलालेख (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के एक वर्णन से अनुमान लगाया जाता है कि उड़ीसा कृष्ण भक्ति शाखा से परिचित था। भव-वंश की दो रानी दंडी और त्रिभुवन महादेवी ने दान-पत्र में अपने को परम वैष्णवी लिखा है। चैतन्य के आगमन के बहुत पहले भागवत का उड़िया अनुवाद हो चुका था। सन् १०७८ में गंगा वंश की स्थापना के बाद उत्कल आलवार वैष्णवों के संपर्क में भी आया था। उड़ीसा के वैष्णव विद्वान् राय रामानंद चैतन्य-देव से पहले ही प्रसिद्ध हो चुके थे। इससे सिद्ध होता है कि उत्कल देश में वैष्णव धर्म का प्रचार गुप्त काल में भागवत धर्म की सर्वदेशीय उन्नति के युग में ही सम्पन्न हुआ।

(२)

मध्ययुग में वैष्णव धर्म

१६ शतक में चैतन्यदेव ने जगन्नाथ क्षेत्र को अपनी भक्ति और तपस्या का मुख्य केंद्र बनाया और बंगाल से आकर वे यहीं रहने लगे। उनका आगमन उत्कल-देश में धर्म तथा साहित्य की क्रांति का युग है। इस समय के उत्कल नरेश प्रताप रुद्रदेव स्वयं बड़े पंडित थे। उनका दरबार धर्म-संमेलन का प्रतीक था। वे स्वयं चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव में आकर परम वैष्णव

तथा जगन्नाथ जी के एकनिष्ठ उपासक हो गये थे। शाक्त ग्रंथकार लक्ष्मीधर भी उनकी सभा को सुशोभित करते थे। चैतन्य के प्रभाव से उत्कल साहित्य में पाँच बड़े वैष्णव कवि हुए जो 'पंच सखा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी भावना, विचारधारा, योगाभ्यास तथा भगवद्भक्ति की कल्पना में इतना साम्य है कि एक ही चिंता-सरित् के 'पाँच प्रवाह' माने जाते हैं अथवा एक ही ज्ञानदीपक के भिन्न भिन्न पाँच शिखा होने के कारण ये पंचशिखा के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

इन पाँचों कवियों के नाम हैं—(१) बलराम दास, (२) अनंत दास, (३) यशोवंत दास (४) जगन्नाथ दास, (५) अच्युतानंद दास। इनमें बलराम दास सबसे वयोश्रेष्ठ थे तथा अच्युत दास सबसे छोटे थे। अच्युतानंद की लिखी हुई 'उदय-कहाणी' नामक ग्रंथ के उल्लेख से इनका जन्मकाल इस प्रकार माना जा सकता है—बलराम—१४७२ ई०, अनंत—१४७५ ई०, यशोवंत और जगन्नाथ—१४७६ ई० और अच्युत—१४८६ ई०। इस प्रकार ये पाँचों कवि एक ही समय पैदा हुये। अच्युतानंद का कहना है, 'कृष्ण की इच्छा से हम पैदा हुए हैं। राधा और लीला प्रचार करने के लिए हमने पंचसखा का जन्म लिया है'।

पंचसखाओं के जातिनिर्णय का कार्य भी दुरूह है। सामान्य रीति से ये समाज की निम्न श्रेणी के व्यक्ति माने जाते हैं। बलरामदास बाउरि (उत्कल की एक आर्येतर जाति) जाति के माने जाते हैं। 'प्रणवगीता' के आरंभ में उन्होंने अपना जो परिचय दिया है[1] उससे ब्राह्मणों के द्वारा उनके तिरस्कार की बात स्पष्ट रूप से झलकती है। 'मुक्तिमंडप' में शूद्र के मुँह से वेदांत की

१ नगेंद्रनाथ वसु—माडर्न बुद्धिज़म पृ० ६५—६६ पर उद्धृत।

चर्चा सुनकर प्रतापदेव इनसे नितांत अप्रसन्न हुए थे, परंतु जड व्यक्ति को शास्त्र प्रवचन की पटुता प्रदान कर इन्होंने अपने चमत्कार का परिचय दिया। तब कहीं जाकर इन्हें आदर तथा सम्मान प्राप्त हुआ। परंतु कारणवश ये राजा के सम्मान तथा सत्कार से पीछे वंचित किये गये। प्रतापरुद्रदेव की मृत्यु के बीस वर्ष अनंतर १५५१ ई० मुकुंददेव के सिंहासनारूढ़ होने पर इन्हें वह प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त हुआ।

कोई अच्युतानंद को ग्वाला बतलाता है तो कोई क्षत्रिय। परंतु वे स्वयं लिखते हैं कि उनके पितामह करण थे और राज दरबार में नकलनवीस का काम करते थे। उनके पिता जगन्नाथ जी के मंदिर में नौकर थे और इसलिए उनकी उपाधि 'खुँटिया' थी। लेकिन वह स्वयं भक्त तथा भक्ति के प्रचारक होने के कारण अपने को शूद्र कहते हैं। इन पंच सखाओं के नाम के अंत में जो दास पद उपाधि के लिए प्रयुक्त है वह जाति का सूचक न होकर धर्म-संप्रदाय का चिन्ह है। दास शब्द का अर्थ है ब्रह्म के स्वरूप को यथाथतः जाननेवाला अर्थात् ब्रह्मज्ञानी। 'शून्य संहिता' में दास पद की यही व्याख्या है—

> नामतत्त्व चिन्हि आत्मातत्त्वज्ञानी नामब्रह्म यार आश।
> ब्रह्मदर्शी सहि अवश्य अटइ प्रभुङ्कर सेहि दास॥
>
> अध्याय १६

संतों को जाति पाँति के ऊपर विशेष आग्रह नहीं होता। प्रतीत होता है कि भगवान् के चरणारविंद की श्रद्धापूर्वक सेवा को शूद्रवृत्ति का प्रतीक मानकर ये परम वैष्णव लोग अपनी दीनता सूचित करने के लिए अपने को शूद्र कहने लगे थे।

इन लोगों ने उड़िया भाषा में अनेक ग्रंथों का भी प्रणयन किया था जिनमें से कुछ ही ग्रंथ अब तक प्रकाशित हो सके हैं। बलराम की रचनाओं में गुप्तगीता, प्रणवगीता, विराटगीता, सारस्वतगीता तथा ब्रह्माण्डभूगोल गीता मुख्य हैं। उड़िया भागवत के अमर रचयिता जगन्नाथ दास संस्कृत ग्रंथों के भी लेखक हैं। अच्युतदास की 'शून्य संहिता' शून्यतत्त्व का प्रतिपादक सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है जो 'अनादिसंहिता' तथा 'अनाकार संहिता' की अपेक्षा नितान्त महत्त्वशाली, उपादेय तथा लोकप्रिय है।

(३)

पंचसखा-धर्म

पंचसखा के द्वारा उपदिष्ट शिक्षा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। मुख्यतया ये लोग श्री चैतन्यमहाप्रभु के लीला-परिकर माने जाते हैं। चैतन्य देव के आने पर प्रेमाभक्ति की जो बाढ़ उत्कल देश में आई, उसी को इन लोगों ने इस प्रांत के घर घर में पहुँचाया। अतः ये पूर्ण वैष्णव ही हैं। उड़ीसा के साहित्यिक विद्वानों तथा आलोचकों का यही मत है। श्री नगेंद्र-नाथ वसु महोदय इनके ग्रंथों में महायानीय बौद्ध सिद्धांतों जैसे शून्य, धर्म, महाशून्य आदि की प्रचुरता देखकर उन वैष्णव संतों को प्रच्छन्न बौद्ध मानते हैं। १८७५ ई० में उत्कल में जब 'महिमाधर्म' नामक बौद्धभावापन्न नवीन धर्म का उदय हुआ तब इन पंचसखाओंके ग्रंथ उसके लिए मान्य तथा सिद्धांत-प्रतिपादक

चैतन्यदेव के घनिष्ठ संबंध में आये थे और इसीलिए वे उनके लीलापरिकर माने जाते हैं।

(४)

पंचसखाधर्म की शिक्षा

उत्तर प्रदेशीय आचार्यों ने अपने धर्म की शिक्षा के निमित्त जिस प्रकार लोक भाषा का आश्रय लिया था, उसी भाँति पंच सखाओं ने भी अपने धर्मोपदेश के लिए व्यावहारिक उड़ीया भाषा को ही अपनाया। इसीलिए धार्मिक महत्त्व के साथ ही साथ इनका साहित्यिक महत्त्व भी अत्यन्त अधिक है। लोक-भाषा के आश्रय से इन्होंने दर्शन तथा धर्म को जनता के हृदय तक पहुँचा दिया। जगन्नाथदास का भागवत तथा बलराम दास का 'दाण्डि रामायण' उड़िया साहित्य के रत्न हैं। जग-न्नाथ का भागवत तुलसीदास के रामायण के समान उड़ीसा के प्रत्येक व्यक्ति का एकमात्र लोकप्रिय धर्म-ग्रंथ है।

योग तथा भक्ति दोनों आत्म-दर्शन के सच्चे उपाय हैं। इनका ज्ञान विना गुरु कृपा के नहीं हो सकता। इसलिए इन्हें गुरु की उपादेयता मानने पर विशेष आग्रह है। मुख्य लक्ष्य तो परमात्मा की प्राप्ति है; गुरु का उपयोग मार्ग-दर्शक के रूप में ही है। इन लोगों के ग्रंथों में मंत्र, यंत्र और योग का बहुत ही अधिक वर्णन इसीलिए मिलता है। तत्त्वप्राप्ति में पंचसखा ने योग को प्रथम सोपान माना है। अच्युतानंद के अनुसार मन के पाँच भेद हैं—सुमन, कुमन, अमन, विमन तथा मन। साधक का कार्य है कि वह मन तथा अमन की दशा से ऊपर उठकर सुमन की दशा तक पहुँच जाय। इसके लिए अच्युतानंद ने बारह वर्ष के लिए एक विशिष्ट योगाभ्यास क्रम की शिक्षा दी है। इस प्रकार पंचसखा भगवान् की प्राप्ति में मन की व्यवस्था के लिए योग को तथा अनुराग उत्पन्न करने के लिए भक्ति को प्रधान साधन मानते हैं।

ये सगुण तथा निर्गुण उभय ब्रह्म का निरूपण अपने ग्रंथों में आग्रह के साथ करते हैं। ये ब्रह्म को शून्य के नाम से पुकारते हैं। इनके अनुसार जगत् के आदि में एक ही निराकार, अलेख, सच्चिदानंद, महाशून्य तत्त्व था और उसी से प्रथमतः शून्य की उत्पत्ति हुई, शून्य में ओंकार की, ओंकार से वेदों की और वेदों से सकल स्थावर जंगम पदार्थों की। जगन्नाथ दास ने अपने 'तुलाभिना' ग्रंथ में इसका कथन इन शब्दों में किया है—

सकल मंत्र तीर्थ ज्ञान। बोइल शून्य ये प्रमाण।
येते कहिलुं गो पार्वती। ए सर्व शून्यरे अच्छन्ति॥
महाशून्यरु शून्य जात। से शून्य प्रणव संभूत।
प्रणव परमक कहि। सकल शास्त्र से बोलाइ॥

अच्युतानंद दास ने अपनी सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचना 'शून्य संहिता' में शून्य पुरुष की लीला का गायन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है—

> शून्य पुरुष दयालु अटइ । शून्य पुरुष सर्वघटे रहि ।
> शून्य पुरुष करे नटघट । शून्य पुरुष जाणे छंदकूट ।
> शून्य पुरुष शून्यरे मारइ । मारि शून्य पुण्यगति करइ ॥

अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण के चरण की शरण स्वयं जाने का उल्लेख करते हैं, क्योंकि बिना कृष्ण की सहायता से कोई भी साधक परम-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। इन अव्यक्त श्री हरि का निवास 'अनाकार' के लोक में है जिसके अनुग्रह पर अच्युत दास ने अपने को न्यौछावर कर दिया है।

> व्रजकुल तारि आपण तरिवि
> श्री कृष्ण सहाय हइछि ।
> अव्यक्त हरि अनाकार पूरि
> तेणु पद पुरु अछि ॥
>
> —अनाकार संहिता ।

निष्कर्ष यह है कि इन भक्तों के अनुसार परमतत्त्व अनाकार 'शून्यपुरुष' है। उस निराकार 'महाविष्णु' ने ही समस्त जगत् की रचना की है। वही आदिब्रह्म है जो बिंदुब्रह्म के रूप में भौतिक स्वरूप ग्रहण करता है और आदिशक्ति के द्वारा जगत् का निर्माण करता है। बिंदु ब्रह्म से निकलने वाला बिंदु दो रूपों में दिखाई पड़ता है—रा और म। और यही लीला के निमित्त राधा और कृष्ण का रूप धारण करता है। यहाँ निराकार

शून्यपुरुष साकार होने पर राम तथा कृष्ण का रूप धारण करता है। संसार का सर्जन वे करुणा के कारण ही करते हैं। पंच-सखाओं के अनुसार रूप के द्वारा ही नाम की प्राप्ति होती है। उनकी दृष्टि में राधा जीव तथा श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। किसी रूप-भावना में अपने को आबद्ध रखने की वे निंदा करते हैं। वेदांत के अनुसार वे भी पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड का एकता मानते हैं। इस प्रकार पंचसखा धर्म में अपना एक वैशिष्ट्य है जिसमें वैष्णव, तांत्रिक तथा बौद्ध तत्त्वों का एक मंजुल सामरस्य उपस्थित किया गया है[1]।



१ 'पंच सखा' के इस परिचय के लिए हम निम्नलिखित लेखकों के विशेष ऋणी हैं—

(क) नगेंद्रनाथ वसु—माडर्न बुद्धिज़्म, कलकत्ता १९११।

(ख) प्रो० चित्तरंजन दास—जनवाणी पत्रिका, अप्रैल १९५०, काशी पृ० २६६—२७४।

(४)

असम का वैष्णव मत

मध्ययुग में वृंदावन से कृष्णभक्ति की सरिता इतने प्रवाह से बहने लगी कि उसने उत्तरी भारत के किसी भी प्रांत को अछूता नहीं छोड़ा। भारत का सबसे पूरबी प्रांत भी इस वैष्णवता के प्रचुर प्रभाव से बच नहीं सका। असम प्रांत शाक्त उपासना का दृढ़ गढ़ रहा है। कामाख्या पीठ शाक्त पीठों में मूर्धन्य-स्थानीय है और वह कामरूप (आसाम) में ही स्थित है। ऐसे शाक्त प्रांत को विशुद्ध वैष्णव प्रांत में परिणत कर देना हँसी खेल की बात न थी, परंतु असम-प्रांतीय वैष्णव प्रचारकों के अदम्य उत्साह, अश्रांत परिश्रम तथा अमिट लगन का ही यह परिणाम है कि आज वहाँ की ९८ प्रतिशत जनता वैष्णव धर्म में दीक्षित है तथा भगवान् कृष्ण को अपना उपास्य देव मानती है। इस विपुल परिवर्तन का श्रेय है असम के वैष्णवाग्रणी शंकरदेव तथा उनके प्रिय शिष्य माधवदेव को। इसी वैष्णव युगल की मनोरम कीर्ति-कौमुदी असम-प्रांत के साहित्य के ऊपर तथा तद्देशीय जनता की कोमल मनोवृत्ति, अहिंसामय आचरण तथा उदात्त धर्म भावना के ऊपर सदा के लिए अंकित है।

---

१ द्रष्टव्य श्रीयुत मेधी का विद्वत्तापूर्ण लेख 'असम के व्रजबुलि साहित्यका दार्शनिक स्वरूप'—संमेलन पत्रिका भाग ३० संख्या ६–७ तथा सं० ११–१२; सं० १९९९ (माघ–फाल्गुन) तथा सं० २००० (आषाढ़-श्रावण)। ग्रंथकार इस लेखक का असमीय वैष्णवमत के विवरण के लिए विशेष आभारी है।

(१)

शंकरदेव

शंकरदेव का जन्म सन् १४४६ ई० में असम प्रांत के एक साधारण कायस्थ कुल में हुआ था। वह कुल शक्ति का घोर उपासक था। बाल्यावस्था में ही माता की ममता से तथा पिता की रक्षा से विरहित यह बालक पढ़ने में इतनी लगन से जुट गया कि उनने थोड़ी उम्र में ही विद्याध्ययन समाप्त कर दिया। योग तथा अन्य शास्त्रों में अलौकिक पाण्डित्य के कारण समाज में इनका प्रभाव बढ़ने लगा। वृद्धा पितामही तथा युवति भार्या की मृत्यु ने संसार की असारता का सच्चा चित्र इनके सामने खड़ा कर दिया। फलतः गृहस्थी से नाता तोड़ कर इन्होंने श्रीकृष्ण से अपना नाता जोड़ा। उत्तरी भारत के पवित्र तीर्थों की यात्रा करने के अनंतर ये एक महनीय भागवत उपदेशक के रूप में जनता के आगे आये। तत्कालीन कोच राजा नर नारायण (१५१४—१५८४ ई०) प्रथमतः विद्वेषियों की कुमंत्रणा के कारण इनका द्वेषी था, परंतु इनके उपदेश तथा चमत्कार से प्रभावित होकर वह इनका सहायक तथा शिष्य बन गया। फलतः भक्तिरस में सराबोर इस महात्मा ने अपने ग्रंथों से तथा उपदेशों से कृष्ण-भक्ति का इतना प्रचार किया कि समग्र असम प्रांत भक्तिभावना से उच्छलित हो उठा। यदि शंकरदेव को हम आसाम का महाप्रभु चैतन्य कहें तो इसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है। इस कार्य में इनके प्रधान सहायक थे इनके पट्ट शिष्य माधवदेव। आप गोविंद-गिरि के पुत्र तथा बांढुका स्थान के निवासी थे। आरंभ में घोर शाक्त थे, परंतु शंकरदेव के अलौकिक पांडित्य के सामने

परास्त होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया तथा गुरु के वैष्णव धर्म के प्रचार कार्य को भलीभाँति संपन्न कर १५६८ ई० में गोलोकवासी हुए।

शंकरदेव के द्वारा चलाये गये धर्म को कहते हैं **महाधर्म**, या **महापुरुष धर्म** अथवा **महापुरुषिया धर्म**। शंकरदेव अपनी महनीयता के कारण 'महापुरुष' के नाम से अभिहित किये जाते थे और इसी लिए तत्प्रचारित धर्म का तथाविध नाम है। इस धर्म में आने को 'शरण' कहते हैं तथा दीक्षित व्यक्ति को 'शरणिया'। इनका दीक्षा मंत्र है 'शरणं मे जगन्नाथ श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम' और इसी मंत्र के द्वारा ये लोगों को अपने धर्म में दीक्षित बनाते थे। ये कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म मानते थे तथा उनकी पूजा से अतिरिक्त पूजा का सदा निषेध करते थे। इन्होंने भागवत धर्म के प्रचार के लिए अक्लांत परिश्रम किया तथा जीवन भर धर्मोपयोगी ग्रंथों की रचना संस्कृत में, विशेषतः अपनी मातृभाषा में, करते रहे। असम साहित्य का उद्गम शंकरदेव की श्लाघनीय रचनाओं से ही होता है। इन्होंने भगवान् व्रजनंदन की रूपमाधुरी तथा स्नेहसुधा से सिक्त अलौकिक पदों तथा कीर्तनों द्वारा असम प्रांत में भक्ति की सरिता उच्छलित कर दी। असम प्रांतीय वैष्णव भक्तिके आध्यात्मिक रूपका सर्वांग-सुंदर प्रतिपादक ग्रंथ है शंकरदेव का संस्कृत-निबद्ध 'भक्ति रत्नाकर' जिसका अनुवाद असमिया भाषा में श्री रामचरण ठाकुर ने किया है। भक्ति रत्नावली में भी भक्तितत्त्व का विवेचन बड़ी मार्मिकता तथा विशदता के साथ किया गया है। यह भक्तिरत्नावली असम की उन चार पवित्र धार्मिक पुस्तकों में अन्यतम है जिसे प्रत्येक भक्त को पढ़ना या सुनना पड़ता है। शेष तीन ग्रंथों के नाम

हैं—कीर्तन, दशम और नामघोष। बड़गीत, धार्मिक नाटक तथा समग्र धार्मिक पद इन्हीं चार ग्रंथों के परिशिष्ट रूप में हैं तथा व्रजबुली (व्रजबोली) में निबद्ध किये गये हैं।

२

सिद्धान्त

शंकरदेव का अध्यात्म-पक्ष है पूर्ण अद्वैतवाद तथा व्यवहार पक्ष है भक्ति की साधना। यह मत श्रीमद्भागवत के ही भक्ति-सिद्धांतों का विलास है और भागवत के समान ही यह संप्रदाय अद्वैत के साथ भक्ति के पूर्ण सामञ्जस्य का पक्षपाती है। जीव भगवान् का ही रूप है, परंतु माया के कारण वह दयनीय स्थिति में अपना जीवन यापन कर रहा है। प्राणी-मात्र उस सर्व-शक्तिमान् के ही अभिव्यक्त रूप हैं। अतः जीव का यह प्राकृतिक धर्म है कि यह उस परमपिता को पहचाने तथा श्रद्धा-भक्ति से उसका सांनिध्य प्राप्त करे। परंतु माया के हाथों जीव की कितनी दयनीय दशा हो गई है? इसका शंकरदेव के शब्दों में विवरण पढ़िए। वे जीव के भाग्य पर विलाप कर रहे हैं—यह संसार एक गहन वन है जो चारों ओर से सांसारिक तृष्णारूपी मोहपाशों से घिरा हुआ है। इस निविड़ अरण्य में माया के फंदे मे जकड़ा हुआ जीव हरिण के समान इधर से उधर भटक रहा है। काल-रूपी व्याधा उसे पकड़ने के लिए दौड़ा चला आ रहा है। काम क्रोध रूपी कुत्ते उसे काट खाने के लिए उसका पीछा कर रहे हैं। लोभ तथा मोहरूपी दो बाघ उसे चैन लेने नहीं देते। उसकी चेतना खो गई है। वह जान नहीं पाता कि इस भय तथ विपाद-

मय भवसागर को किस प्रकार पार करें। बड़े सुंदर रूपक में कवि ने निबद्ध किया है जीव की हीन दीन दयनीय दशा को—

> ए भव गहन वन, अति मोह पारो चन,
>
> ताते हामो हरिया वेड़ाय।
>
> फंदिलो मायार पाशे, काल व्याध धाया आसे,
>
> काम क्रोध कुत्ता खेदि खाय।
>
> हराइल चेतन हरि, न जानो किमते तरि,
>
> गुणिते दगध भेल जीव।
>
> लोभ मोह दुहो बाघ, सतते न छाड़े लाग,
>
> राखु राखु राखु सदाशिव॥
>
> —बड़गीत १६।

माया के चक्कर से उद्धार पाने का सरल सुगम उपाय है हरि-भक्ति जो माया के बंधनों को तोड़ कर जीव को जन्ममरण की विषम बाधा से मुक्त कर देती है[1] तथा सबके लिए सहज-साध्य है। भक्ति-मार्ग में जात-पाँत का कोई भी व्याघात नहीं है[2]।

---

१ हरिक भक्ति अहि परम संपद।
दोहे दोस सब मिलाव्य मनोरथ॥
—केलि-गोपाल नाट।

तेजिए सयल मनोरथ आवरि, हरि पदे प्रेम मिलायो।
पुनु आवा गमन एड़ायो, माया भरम बाहुड़ायो॥
—बड़गीत ७७।

२ न लागे भक्तित देव, द्विज सदाचार हुइवे।
समस्त प्राणीर अधिकार।
—नृसिंहलीला नाटक।

यह सब के लिए उन्मुक्त राजमार्ग है जिसका सेवन गंतव्य स्थान पर अवश्य ही पहुँचा देता है। इसके लिए न क्रिया की आवश्यकता होती है, न ज्ञान की, न धन की और न दान की—

जप तप तीरथ करसि गया, काशी वास थयस गोवाइ।
जानि योग युगुति मन मोहित, विने हरि भकति गति नाइ॥
—बड़गीत १३।

भागवत के मतानुसार माधव देव ने भी ईश्वर प्रेम की तीन अवस्थाएँ निर्दिष्ट की हैं[1]—(१) श्रद्धा, (२) रति, (३) भक्ति। अध्यात्ममार्ग के पथिक के लिए श्रद्धा के संबल की नितांत आवश्यकता होती है। आस्तिक्य बुद्धि का ही नाम है श्रद्धा अर्थात् ईश्वर में पूर्ण विश्वास। रति का अर्थ है—मन के द्वारा अभीष्ट किसी व्यक्ति के प्रति मन की अनुकूलता होना (=रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्—साहित्य-दर्पण) तब परानुरक्ति रूपा भक्ति का उदय होता है। भक्त के मानस का यही क्रम-विकाश है। इस प्रकार शंकरदेव के द्वारा भक्ति पंथ का मुख्य उद्देश्य था—ईश्वर के प्रति विश्वास की भावना के साथ साथ उसके प्रति प्रेम की भावना का संमिलन। इसके लिए इन्होंने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदि भक्ति के विविध प्रकारों को अपनाया है परंतु इस नवधा भक्ति में उन्होंने श्रवण, कीर्तन

१ मोक्षदाता मजि भोत शीघ्रे अतिशय।
अनुक्रमे श्रद्धा रति भकति मिलय॥
—भक्ति रत्नावली, २८६
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि।
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
—भागवत ३।२५।२५।

तथा स्मरण को विशेष महत्त्व दिया है[1]। यह ध्यान देने की बात है कि कृष्ण को आराध्य देव मानने पर भी शंकरदेवके भक्ति-मार्ग में दास्य भक्ति पर ही सबसे अधिक आग्रह दिखलाया गया है। 'यही कारण है कि माधुर्य भक्ति के उपासक गौडीय वैष्णव पंथ के विपरीत यहाँ राधा का स्थान नितांत महत्त्वहीन है। शंकरदेव के तत्त्वोपदेश में राधा के लिए कोई स्थान नहीं है। असम के नाटकों में राधा का नाम कहीं भी देखने में नहीं आता। 'केलि गोपाल', 'रास कुमुरा' तथा 'भूषण हरण' केवल इन्हीं तीन नाटों (नाटकों) में राधा का नाम निर्दिष्ट मिलता है परंतु यह यही सूचित करता है कि अन्य गोपियों की अपेक्षा उसका स्थान महत्त्वशाली न था। वह सामान्य गोपियों के समान ही कृष्ण का पूजन तथा आदर करती है। गौडीय वैष्णव तथा वल्लभ मत में निर्दिष्ट रसपेशलता तथा प्रेम-स्निग्धता असम प्रांतीय राधा में देखने को भी नहीं मिलती। राधा साधारण गोपिका के सदृश कृष्ण से पूछती है—

जादव हे, केछन बात वेगारि।
सकल निगम तेरि अंत न पावत।
हाम पामर गोप नारि॥ ध्रुव॥
गुरु परम गुरु निखिल निगम पति,
मानुख भाव तोहारि।

---

१ पुरुब वासना दुर करहु हामारि।
वचने स्होक गुणनाम तोहारि॥
तुआ कथा श्रवणे रहोक अविराम।
कर मोरि रहोक तोहारि करे काम॥
—अर्जुन भंजन नाट।

चतुर वयन तेरि, माया विमोहित,
जाने नाँहि योग विचारि।
तेरा अद्भुत भाव न जानिए,
कयालु गरव नाथ तोह।
राधा उचित वात, कहय माधव दिन,
गति गोविंद-पद मोह॥

—रास झुमुरा, ४

(३)

एकशरण

शंकरदेव के द्वारा व्याख्यात भक्तिपंथ की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है उनका 'एक शरण' संबंधी सिद्धांत। परम-तत्त्व कृष्ण ही जीवों के एकमात्र अंतिम आश्रय हैं। अतः उनकी शरण में जाना जीव का परम कर्तव्य होता है। भवपारावर से मुक्ति पाने के लिए भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण ही 'एकशरण' का तात्पर्य है। श्रीरामानुज के 'प्रपत्ति' का भी यह लक्ष्य है। असम वैष्णवाचार्य का स्पष्ट कथन है—

कृष्ण किंकर कह, विछोदि विसयकामा।
रामचरण लेहु शरण, जप गोविंदकु नामा॥

—वड़गीत।

साधारण भक्त-समाज में 'शरण' का अर्थ है—प्रार्थना तथा भजनके क्षेत्रमें आना तथा वैष्णवमतमें दीक्षित होना। इसी कारण इनके वैष्णव अनुयायी 'शरणिया' नाम से पुकारे जाते हैं। 'शरण'

की विशेषता के साथ ही असम भक्तिपंथ की एक अन्य विशिष्टता है—नाम पर आग्रह जिसे यहाँ नाम-धर्म कहते हैं। भक्ति का सर्वोत्तम रूप है नाम की साधना। भगवान् की शरण जाने की अपेक्षा भगवान् के नाम के शरण जाने का वे उचित उपदेश देते हैं। शंकरदेव ने नामधर्म की भावना को इस गीत में चारु रूप से दर्शाया है—

राग धनाश्री

बोलहु राम नामे से मुकुति निदान।
भव वैतरणी तरणी सुख सरणी
नाहि नाहि नाम समान ॥ ध्रुव ॥
नाम पंचानन नादे पलावत
पापदंती भयभीत ।
बुलिते एक सुनिते सत नितरे
नाम धरम विपरीत ॥
वचने बुलि राम धरम अरथ काम
मुकुति सुख सुखे पाइ।
सब कहु परमा, सुहृद् हरि नामा
छुटे अन्तकेरि दाइ ॥
नारद शुकमुनि राम नाम चिनि
नाहि कहल गति आर।
'कृष्णकिंकर' कय छोड़ मायामय
राम परम तत्त्व सार ॥

—बरगीत ८

इस भक्ति पंथ में दास्य भक्ति का प्राधान्य है। भक्ति की पवित्रता तथा उपादेयता पर समधिक आदर है। माधवदेव का

कथन है कि हरि सब के हृदय में विराजमान होने पर भी कर्म पर विश्वास रखनेवाले से दूर हट जाते हैं—दूर भाग जाते हैं, परंतु श्रवण तथा कीर्तन के द्वारा भगवान् का भक्त अहंकारी होने पर भी अपने अभीष्ट को पा लेता है। माधव के शब्द बड़े स्पष्ट तथा विशद हैं—

कर्मत विश्वास यार, हियात थाकंतो हरि।
अतिशय दूर हंत तार।
दूरतो चिदूर हंत तार॥
अहंकार थाकंते ओ, साक्षात् कृष्णक पावे।
श्रवण कीर्तन धर्म यार॥

—नामघोषा ६.

शंकरदेव के कीर्तनों तथा पदों में काव्यसुलभ सुषमा तथा माधुरी का अभाव नहीं है। उनके पद भक्त के भावुक हृदय के रसस्निग्ध उद्गार हैं। एक उदाहरण देखिए—

उपवन वर्णन

पाछे त्रिनयन दिवा उपवन देखिलंत विद्यमान।
फल फुल धरि जकमक करि आछे यत वृक्षमान॥
शिरीष सेउती तमाल मालती लवंग वागी गुलाल।
करवीर वक कांचन चंपक फलभरि मागे डाल॥
शेवाली नेवाली पलाश पारली पारिजात युति जाइ।
वकुल चंदुली आछे फुलि फुलि तार सीमा संख्या नाइ॥
कनौर कनारी कदंब वावरी नागेश्वर सिंहचंपा।
अशोक अपार देवांग मंदार मणिराज राजचंपा॥

समचरणसरोजं सान्द्रनीलाम्बुदाभं
जघननिहितपाणिं मण्डनं मण्डनानाम् ।
तरुणतुलसिमाला-कन्धरं कञ्जनेत्रं
सदयधवलहासं विठ्ठलं चिन्तयामि ॥

(१)

(क)

महानुभाव पंथ

महाराष्ट्र प्रांत भागवत धर्म का बहुत प्राचीन काल से मुख्य क्षेत्र बना हुआ है। यहाँ का प्रधान वैष्णवपंथ वारकरी के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी लोकप्रियता तथा विपुल प्रचार के कारण यह पंथ तो महाराष्ट्र का सार्वभौम पंथ है, परंतु इससे भिन्न एक वैष्णव पंथ और भी है जो मानभाव नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के लोगों ने अपने ग्रंथों और सिद्धांतों को इतनी कड़ाई से छिपा रखा था कि इसके विषय में भ्रांति फैलना स्वाभाविक ही है। परंतु मराठी साहित्य की विपुल सेवा करने के कारण तथा मुसलमानों के आक्रमणों से अपने धर्म की रक्षा करने के हेतु मानभावों का नाम भारत के धार्मिक इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा।

इस पंथ के भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न नाम हैं। महाराष्ट्र में इसे महात्मा पंथ तथा मानभाव (जो महानुभाव शब्द का अपभ्रंश है) पंथ कहते हैं। गुजरात में अच्युत पंथ और पंजाब में जयकृष्णि पंथ के नाम से पुकारते हैं। इस नामकरण का कारण पंथ में कृष्णभक्ति की प्रधानता है। इस पंथके वास्तविक इतिहास का पता अभी लगा है क्योंकि इसके अनुयायी अपने धर्म-ग्रंथों को अत्यंत गुप्त रखा करते थे। वे उसे अन्य मतावलंबियोंकी दृष्टि

(ख)

पंथ के आचार्य

श्री गोविंद प्रभु

विक्रमी संवत् १२४५ के लगभग विदर्भ (वर्तमान बरार) प्रदेश में ऋद्धिपुर स्थान के समीप काठ सूरे ग्राममें श्रीगोविंद प्रभु उर्फ गुण्डम प्रभु या गुण्डोबा का जन्म हुआ। ये काण्व शाखीय ब्राह्मण थे। बचपन में इनके माता-पिता परलोकवासी हुये, तब उनकी मौसी इन्हें ऋद्धिपुर ले आयी और यहीं उनका पालन पोषण, उपनयन तथा विद्याध्ययन हुआ। इसी अवस्था में इन्हें परमार्थ सुख का चसका लगा और क्रमशः उस सुखानुभव की वृद्धि होती गयी और ये सिद्धि कोटि को प्राप्त हुये। ये भगवान् श्री कृष्ण के परम भक्त थे। पंढरपुर के वारकरी भागवत पंथ के साथ साथ या उससे कुछ पहले ही विदर्भ देश में जो महानुभाव पंथ उदित हुआ था, उसके ये ही आद्यपुरुष थे। संवत् १३४२ (= १२८५ ईस्वी) समाधिस्थ हुये।

श्री चक्रधर

श्री गोविंद प्रभु के शिष्य श्री चक्रधर हुए जो महानुभाव पंथ के प्रवर्तक कहे जाते हैं। ये गुजरात से विदर्भ देश में आये थे। गुजरात के भड़ौच प्रांत के राजा मलदेव के प्रधान मंत्री विशालदेव नामक कोई नागर ब्राह्मण थे जिनके ये चक्रधर पुत्र हैं। राजा मलदेव को कोई सन्तान न थी। इस कारण मृत्युसमय में उन्हों ने अपना राज विशालदेव को

दे दिया। विशालदेव के पुत्र हरपाल (ये ही बाद में चक्रधर हुये) बड़े पराक्रमी थे। पिता के राजत्व में तथा उनके पश्चात् इन्होंने कई लड़ाइयाँ जीतीं। इनके दो तीन विवाह भी हुए थे। इन्होंने बड़ा ऐश्वर्य भोगा पर ऐसे ऐश्वर्य और विलास भोग से इनका जी उचटा कि माता की आज्ञा ले कर ये रामटेक की यात्रा के लिये जो निकले सो रास्ते में ऋद्धिपुर आकर ठहर ही गये। वहाँ श्रीगोविंद प्रभु के उन्हें दर्शन हुये; प्रभु के चरणों में उनकी निष्ठा हुई और सदाके लिये ऋद्धिपुर में बस गये। गोविंद प्रभु का इन पर पूर्ण अनुग्रह हुआ और उन्होंने इनका सांप्रदायिक नाम चक्रधर रखा। महानुभाव पंथ में चक्रधर श्रीकृष्ण को कहते हैं। गुरु के समान चक्रधर भी दीर्घायु थे। श्रीचक्रधर का जन्म जगुरात में हुआ था। संवत् १३२० में इन्हें भगवान् दत्तात्रेय का साक्षात्कार हुआ और तब इन्होंने संन्यास दीक्षा ली और ऋद्धिपुर लौट कर महानुभाव पंथ की स्थापना की। सं० १३२० से १३२६ तक इन ६ वर्ष में इनके इर्दगिर्द ५०० शिष्य जमा हो गये। इनमें १३ स्त्रियां थीं। इस पंथ के श्रीकृष्ण और श्रीदत्त दोनों ही उपास्य देव हुये। श्री चक्रधर ने इस पंथ को चलाकर जो लोक-संग्रह करना आरंभ किया उसमें श्री भगवद् गीता के (अ० ६ श्लोक ३२ के) "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्" इस श्लोकार्ध पर बड़ा जोर दिया था। इसके आधार पर श्री चक्रधर ने स्त्रियों और शूद्रों को संन्यास दिलाना शुरू किया। इससे उनका पंथ लोक में सर्वमान्य नहीं हुआ। संवत् १३२६ में श्रीचक्रधर बद्रीनारायण की ओर गये और फिर नहीं लौटे।

श्रीनागदेवाचार्य (सं० १२६३—१३५६)—श्री चक्रधर के पट्ट शिष्य थे। ये ही महानुभाव पंथ के मुख्य प्रचारक थे। कहते हैं 'श्रीगोविंद प्रभु का तप', चक्रधर की वेध-शक्ति और नाग-

देव की संगठन शक्ति, इन तीन शक्तियों के एकीभूत होने से ही यह संप्रदाय खड़ा हुआ।

श्रीगोविंद प्रभु, श्रीचक्रधर और श्रीनागदेवाचार्य महानुभाव पंथ के इन तीनों आचार्य महानुभावों में से किसी ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा है। श्रीचक्रधर के मुख से समय समय पर जो वचन निकले उनको उनके शिष्यों ने संग्रहीत कर रखा है। चक्रधर के शिष्य महींद्र व्यास या महीभट्ट ने 'लीलाचरित्र' नाम से एक मराठी ग्रंथ लिखा है जिसमें चक्रधर की १५०० लीलाएं वर्णित हैं। इन-लीला प्रसंगों में श्रीचक्रधर के जो वचन आये हैं उन्हें ही एकत्र करके सं० १३५५ में केशवराजसूरि ने इस संप्रदाय का एक सूत्रग्रंथ निर्माण किया जिसे 'सिद्धांत सूत्र पाठ' या आचार्य-सूत्र कहते हैं। महानुभाव पंथ इस ग्रंथ को आदि ग्रंथ मानता है। इसमें १६०६ सूत्र हैं। इस आदि ग्रंथ के अतिरिक्त यह पंथ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत को भी प्रमाण ग्रंथ मानता है। महानुभाव पथ के उपर्युक्त आदि-ग्रंथ के अनुसार चार युगों के चार अवतार माने जाते हैं। कृतयुग में हंसावतार, त्रेता में दत्तावतार (दत्त का स्वरूप एकमुखी चतुर्भुज विष्णु), द्वापर में द्वारकाधीश श्रीकृष्ण और कलियुग में श्रीचक्रधर। श्रीचक्रधर के शिष्य उन्हें श्रीकृष्ण का स्वरूप ही मानते थे और शिष्यों के साथ गुरु का वर्ताव भी विलक्षण प्रेम का होता था।

महानुभाव पंथ में स्त्री पुरुष दोनों को संन्यास दीक्षा दी जाती थी। स्त्री के रहते पुरुष के समान ही पुरुष के रहते स्त्री को भी इस पंथ में सन्यास लेने का अधिकार था।

कोई दामोदर पंडित थे उनकी पत्नी 'हिराम्बा' को पति के पहले ही वैराग्य हुआ और उसने श्रीनागदेवाचार्य से १३२६ सं०

में संन्यास दीक्षा ली। पति अब भी संसार में अटके पड़े रहे। दो वर्ष बाद संन्यासिनी ने अपने इन पूर्व पति को समझा कर चेत दिलाया। तब सं० १३३१ में दामोदर पंडित ने भी संन्यास दीक्षा ली और पहले के पति पत्नी भाई-बहन की तरह रहने लगे। इस पंथ के लोग सं० १४२० तक काषाय वस्त्र परिधान करते थे। पीछे मुसलमानों के जमाने में इन्होंने काले वस्त्र पहनना प्रारंभ किया। काले वस्त्र पहनने के कारण ये "शाहपोश" कहलाने लगे और इन्हें जजिया कर मुआफ था। अब आज कल इन काले कपड़ों को त्याग कर फिर काषाय वस्त्र पहनने का आंदोलन इन लोगों में चल रहा है।

इस पंथ के ७ ग्रंथ मुख्य हैं जो पूज्य माने जाते हैं। १—कवीश्वर भास्कर कृत शिशुपाल वध, २—इन्हीं का एकादश स्कंध (ये दोनों ग्रंथ क्रमशः सं० १३३० और १३३१ में लिखे गये।) ३—दामोदर पंडित कृत 'वत्स-हरण' (सं० १३२५) ४—नरेंद्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर' (सं० १३४५) ५—विश्वनाथ बालापुरकर कृत 'ज्ञानबोध' (सं० १३८८) ६—रवलो व्यास कृत 'सह्याद्रि वर्णन (सं० १३८६) और ७—नरोव्यास कृत 'ऋद्धिपुर वर्णन' (सं० १४२०)। ये सभी ग्रंथ मराठी भाषा में हैं। पहले तीन कृष्ण लीला परक हैं और बाकी चार सांप्रदायिक हैं।

इनके अलावे महदंबा के कुछ मंगल गीत हैं। महदम्बा नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थी और इन्हें श्रीचक्रधर से दीक्षा मिली थी। इनके दादा गुरु ने एक बार श्रीकृष्ण विवाहोत्सव की लीला करायी थी। उसमें महदंबा ने ये मंगल गीत गाये थे। महानुभाव पंथी लोग इन्हें संत मानते हैं और इनका वही मान है जो वारकरी भागवत पंथ में जनाबाई का जो इनके समकालीन

थीं। 'भावे व्यास' नामक एक संत उसी समय और हो गये हैं जिन्होंने 'पूजा-अवसर' या श्रीचक्रधर जी की दिनचर्या नामक ग्रंथ लिखा है। ये बड़े ज्ञानी और विरक्त थे।

नागदेवाचार्य के शिष्य केशवराज सूरि के अनेक ग्रंथ हैं जिनमें सिद्धांत सूत्र-पाठ और 'मूर्ति प्रकाश' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'सिद्धांत-सूत्र-पाठ' में जैसा हम पहले वर्णन कर चुके हैं श्रीचक्रधर के वचनों का सुव्यवस्थित संग्रह है और 'मूर्तिप्रकाश' में श्रीचक्रधर के रूप गुणों का वर्णन है। इस प्रकार मानभाव पंथ की साहित्यिक संपत्ति प्राचीन तथा प्रचुर है। इन ग्रंथों का अनुशीलन अब होने लगा है। आशा है कि गहरी छानबीन करने से इनके सिद्धांतों का विशेष परिचय जिज्ञासु जनों को होगा।

(ग)

सिद्धांत तथा ग्रंथ

इस धर्म के उदय का कारण यह था कि हिंदुओं में वर्ण-विद्वेष के कारण हिंदूधर्म में नाना प्रकार की कुरीतियों ने घर बना गया था। इन्हीं को दूर कर पारस्परिक सहयोग तथा मैत्रीभाव को दृढ़ करने के लिए इस महात्मा पंथ का उदय हुआ। मत के अनुयायियों में दो वर्ग हैं—(१) उपदेशी तथा (२) संन्यासी। उपदेशी गृहस्थ हैं, वर्ण-व्यवस्था मानते हैं। इनकी विवाह शादी पंथ के भीतर तथा बाहर सजातीयों में ही हुआ करती है। संन्यास की व्यवस्था बड़ी उदार है। चक्रधर ने संन्यास विरक्तियों के अतिरिक्त शूद्रों तथा स्त्रियों के लिए भी मान्य बना कर अपनी उदारता का परिचय दिया है। सनातनी संन्यासी भगवा वस्त्र धारण करते हैं, परंतु इनकी निशानी काले

रखने के विचार से और मुसलमानों के विद्वेष से आत्मरक्षण की भावना से प्रेरित होकर मानभावी संन्यासी काला वस्त्र धारण करते हैं। ये मूर्ति बनाकर भगवान् के विग्रह की पूजा नहीं करते, परंतु अपने महात्माओं के जन्म-स्थल तथा सिद्धि-क्षेत्रों में 'चबूतरा' बाँधते हैं।

सिद्धांत—इनके उपास्य देवता श्रीदत्तात्रेय तथा श्रीकृष्ण हैं। इनके देवताओं की उपासना से स्पष्ट है कि ये भक्ति के साथ योगमार्ग को भी संमिलित करते थे। इनका सर्वश्रेष्ठ मान्य ग्रंथ भगवद्गीता है, जिसके ऊपर चक्रधर से लेकर आज तक इस मत के अनुयायी लेखकों ने अपने सिद्धांतानुसार टीकायें लिखी हैं। इनकी सिद्धांत-दृष्टि द्वैतवाद की है। ये जीव तथा शिव को भिन्न तत्त्व मानते हैं। परमेश्वर स्वयं निर्गुण तथा निराकार होता है, परंतु भक्तों के ऊपर दया से वही सगुण रूप धारण करता है। उसकी शक्ति माया है जो जीव को जीवत्व तथा निर्गुण परमेश्वर को सगुणत्व प्रदान करती है। वही जीवों से समग्र व्यापारों का विधान कराया करती है। मनुष्य इस शरीर में पूर्वकर्मों के अनुसार फल भोगता है और ये फल चार प्रकार के होते हैं—स्वर्ग, नरक, कर्मभूमि तथा मोक्ष। सामान्य-रूप से ये ही मानभावों के आध्यात्मिक मान्य सिद्धांत हैं।

आद्य ग्रंथ—गीता के अनंतर श्रीकृष्ण के लीलापरक भागवत पुराण के दशम तथा एकादश स्कंधों को भी ये पूर्ण आस्था से मानते हैं। अन्य ग्रंथ मराठी भाषा में ही निबद्ध हैं। इनमें सर्वमान्य 'सिद्धांत सूत्रपाठ' है जिसमें चक्रधर के वचनामृतों का संग्रह केशवराज सूरि ने किया है। चक्रधर ने किसी ग्रंथ की तो रचना नहीं की। उनके मुख से निकले हुए उपदेश ही इस पंथ के सर्वस्व हैं जिन्हें 'महीन्द्रभट्ट' ने 'लीलाचरित्र'

नामक चक्रधर के चरित्र में प्रसंगवश सम्मिलित किया था। इन्हीं को अलग पुस्तक के रूप में संग्रह करके इस 'सूत्रपाठ' का निर्माण किया गया है। प्रतिदिन 'सूत्रपाठ' का पाठ करना तथा अनुशीलन करना प्रत्येक मानभावी का परम कर्तव्य है। इस 'सूत्रपाठ' ग्रंथ के ऊपर एक बड़ा भारी साहित्य संपन्न किया गया है। 'पारिमंडल' आम्नायके मूल-पुरुष गोपाल पंडित ने इन सूत्रों की 'अन्वय व्यवस्था' लिखी है (१२४७ शक= १३२५ ई०)। परशुराम ने 'प्रकरणवश' नामक ग्रंथ में इन सूत्रों के कथन का प्रसंग लिखा है। इसी प्रकार के नाना टीका-ग्रंथों का प्रणयन इस ग्रंथ की महनीयता तथा गूढ़ार्थता को प्रकट कर रहा है।

ग्रंथों का प्रकाशन भी कर रहे हैं। इस मत के महंत लोग भी अब अपने धर्मग्रंथों को, जिनकी विपुल संख्या आज भी मराठी भाषा में विद्यमान है, प्रकाशित करने की ओर अग्रसर दीखते हैं। यह मराठी साहित्य के लिए शुभ अवसर है[१]।



१ द्रष्टव्य देशपांडे का लेख; महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश भाग १८।

२

वारकरी पंथ

महाराष्ट्र में भागवत धर्म का विपुल प्रचार है। समग्र महाराष्ट्र देश का यही मान्य धर्म है। महाराष्ट्र का भागवत धर्म जो वारकरी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है पूर्ण रूप से वैदिक है। अपनी विशिष्टताओं से मण्डित हो कर यह सम्प्रदाय वहीं जन्मा, वहीं पनपा, वहीं इसने अपनी शाखाओं का विस्तार किया और आज भी पूरे देश भर में यह अपनी शीतल स्निग्ध छाया में हजारों नर-नारियों को विश्राम देता हुआ उन्हें संसार के शाप तथा ताप से मुक्त कर रहा है। समस्त महाराष्ट्रीय संत इसी मत के अनुयायी थे।

(क)

महाराष्ट्र का यह भागवत संप्रदाय पंढरपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल से संबद्ध है। वहीं पर ईंट के ऊपर खड़े विट्ठल जी की मूर्ति है, तथा उसके बगल में रुक्मिणी जी की मूर्ति है, जो वहाँ रखुमाई के नाम से प्रसिद्ध हैं। विट्ठल कृष्णचंद्र के प्रतिरूप हैं। आषाढ़ की शुक्ला एकादशी तथा कार्तिक की शुक्ला एकादशी विट्ठल के आतुर भक्त भगवान की भव्य मूर्ति के दर्शन से अपने जन्म तथा जीवन को सफल बनाने के लिये साल में कम से कम दो बार पण्ढरपुर की यात्रा किया करते हैं। इस यात्रा का नाम 'वारी' और इस प्रकार यात्रा के करने वालों का नाम हुआ 'वारकरी'। इसी कारण यह पंथ वारकरी के नाम से प्रसिद्ध है।

सुनते हैं कि प्राचीनकाल में महाराष्ट्र में "पुण्डरीक" नामक एक बड़े महात्मा हो गये हैं जो पण्ढरपुर में ही तपस्या करते थे। इनकी भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान् श्यामसुंदर बालक का मनोरम रूप धारण कर उनके सामने उपस्थित हुए तब भक्त ने उनके बैठने के लिए सामने पड़ी हुई ईंट रख दी। उसी ईंट पर भगवान् बालकृष्ण खड़े हो गये और वह मूर्ति उसी बांकी झांकी के साथ आज भी खड़ी है। शंकराचार्य ने पाण्डु-रङ्गाष्टक में इनकी स्तुति करते हुये इसी घटना की ओर संकेत किया है।

> महायोग-पीठे तटे भीमरथ्यां
> वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
> समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं
> परब्रह्म-लिङ्गं भजे पाण्डुरङ्गम् ॥

भक्त-प्रवर ज्ञानदेवने भी विट्ठलनाथकी बड़ी ही मनोरम स्तुति अपनी ज्ञानेश्वरी में की है—

> जय जय देव निर्मल। निजजनाखिलमंगल ॥
> जन्म जरा जलद जाल। प्रभंजन ॥१॥
> जय जय देव प्रबल। विदलितामङ्गल — कुल।
> निगमागम द्रुम फल। फल प्रद ॥२॥
> जय जय देव निश्चल। चलित चित्तपान तुन्दिल।
> जगदुन्मीलना-विरल। केलि — प्रिय ॥३॥
> जय जय देव निष्फल। स्फुरदमन्दानंद बहल।
> नित्य निरस्ताखिलमल। मूलभूत ॥४॥

बालकृष्णरूपी विट्ठल को तुलसी बहुत ही प्यारी है। अतः भक्त लोग गले में तुलसी की माला डालकर पूर्वोक्त एका-

२

वारकरी पंथ

महाराष्ट्र में भागवत धर्म का विपुल प्रचार है। समग्र महाराष्ट्र देश का यही मान्य धर्म है। महाराष्ट्र का भागवत धर्म जो वारकरी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है पूर्ण रूप से वैदिक है। अपनी विशिष्टताओं से मण्डित हो कर यह सम्प्रदाय वहीं जन्मा, वहीं पनपा, वहीं इसने अपनी शाखाओं का विस्तार किया और आज भी पूरे देश भर में यह अपनी शीतल स्निग्ध छाया में हजारों नर-नारियों को विश्राम देता हुआ उन्हें संसार के शाप तथा ताप से मुक्त कर रहा है। समस्त महाराष्ट्रीय संत इसी मत के अनुयायी थे।

(क)

महाराष्ट्र का यह भागवत संप्रदाय पंढरपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल से संबद्ध है। यहीं पर ईंट के ऊपर खड़े विठ्ठल जी की मूर्ति है, तथा उसके बगल में रुक्मिणी जी की मूर्ति है जो यहाँ रुखू माई के नाम से प्रसिद्ध हैं। विठ्ठल कृष्णचंद्र के बालरूप हैं। आषाढ़ की शुक्ला एकादशी तथा कार्तिक की शुक्ला एकादशी विठ्ठल के भावुक भक्त भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन से अपने जन्म तथा जीवन को सफल बनाने के लिये साल में कम से कम दो बार पण्ढरपुर की यात्रा किया करते हैं। इस यात्रा का नाम 'वारी' और इस पुण्य यात्रा के करने वालों का नाम हुआ 'वारकरी'। इसी कारण यह पंथ वारकरी के नाम से प्रसिद्ध है।

के आधार पर विठोबा विष्णु का ही अपभ्रंश है। विष्णु का ही प्राकृत रूप हुआ विठु जिसमें प्रेमसूचक 'ल' प्रत्यय तथा आदरसूचक 'बा' प्रत्यय जोड़ने से ही क्रमशः विट्ठल तथा विठोबा शब्द निष्पन्न होते हैं। शब्द के धात्वर्थ में भले ही मतभेद हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि विठोबा कहने से पण्ढरी में ईंट पर खड़े भगवान श्रीकृष्ण का ही ध्यान होता है। भगवान के बगल में पास ही श्रीरुक्मिणीजी विराजमान हैं जिनको भक्त लोग 'रखूमाई' के नाम से पुकारते हैं।

वारकरी-पंथ 'मालकरी-पंथ' अथवा 'भागवत-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध है। वारकरी का मुख्य बाहरी चिन्ह है तुलसी की माला का धारण। जिस प्रकार बिना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण की कल्पना असंभव है उसी प्रकार कृष्ण की प्रिय तुलसी की माला बिना धारण किये कृष्ण-भक्त वारकरी की सत्ता असिद्ध है। तुलसी की माला का इस संप्रदाय में अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही यह पंथ मालकरी भी कहलाता है।

वारकरी भागवत-धर्म का पूर्ण अनुयायी है। इसका पांचरात्र सिद्धांत के साथ स्पष्ट भेद होने पर भी विट्ठल की उपासना तथा भक्ति की मुख्यता के कारण यह निस्संदेह भागवत-धर्म है। वारकरी-पंथ चतुर्व्यूह के सिद्धांत को बिलकुल ही नहीं मानता। अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का मंजुल संमिलन वारकरी-पंथ का वैशिष्ट्य है। इस पंथ के उपास्य देवता श्री पांडुरंग हैं जो श्री कृष्ण के ही बाल-रूप माने जाते हैं और इसी लिए पण्ढरपुर दक्षिण द्वारिका के नाम से प्रसिद्ध है—

पावन पांडुरंगक्षिति। जे कां दक्षिण द्वारावती।
जेथ विराजे श्री विट्ठलमूर्ति। नामें गर्जती पंढरी॥

(श्री एकनाथ भागवत २९। २४३)

दशी को लाखों की संख्या में विट्ठलजी के मधुर दर्शन के लिये उपस्थित होते हैं, और जब उनके भक्तिकलित कण्ठ से 'पुण्डरीक वरदे हरि विट्ठल' मंत्र की सान्द्रमन्द्र-ध्वनि गगनमंडल को भेदन करती हुई निकलती है तब दृश्य शब्दों में वर्णन करने योग्य नहीं होता। उस समय प्रतीत होता है कि धार्मिकता की बाढ़ आ गयी हो। भक्तजनों के मनोमयूर नाचने लगते हैं। आनन्द की सरिता उमड़ पड़ती है। हरिशयनी (आषाढ़ी) एकादशी की वारी में सबसे अधिक भीड़ दर्शनार्थियों की होती है। तीन लाख से भी ऊपर भक्तजन एकत्र होकर भगवान का दर्शन करते हैं। इस दृश्य की मानसिक कल्पना भी वारकरी संतों के व्यापक प्रभाव को आज भी बतलाने में समर्थ हो सकती है।

विट्ठल शब्द की व्युत्पत्ति

भगवान् विष्णु विट्ठल या विठोबा के नाम से महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति पंडितों ने नाना प्रकार से की है। धर्मसिंधु के लेखक काशीनाथ पाध्ये के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति है:—विदा ज्ञानेन ठान् शून्यान् लाति गृह्णाति इति विट्ठलः अर्थात् ज्ञानशून्य भोलेभाले अज्ञ जनों को जो अपनाते हैं वही विट्ठल हैं। तुकाराम के अनुसार गरुड़ वाहन होने के कारण ही विष्णु विठोबा नाम से प्रख्यात हुए (वि = पक्षी, गरुड़; ठोबा = वाहन = गरुड़ वाहन) इसके समर्थन में तुकारामजी के अभङ्ग का यह चरण है:—वोचा केला ठावा। म्होणोनि नांव विठोबा॥ कोई विद्वान विठ्ठल को विटस्थल का अपभ्रंश रूप मानते हैं। विटस्थल का अर्थ है ईंट पर खड़ा होनेवाला परंतु भाषाविज्ञान

के आधार पर विठोवा विष्णु का ही अपभ्रंश है। विष्णु का ही प्राकृत रूप हुआ विठु जिसमें प्रेमसूचक 'ल' प्रत्यय तथा आदरसूचक 'बा' प्रत्यय जोड़ने से ही क्रमशः विट्ठल तथा विठोवा शब्द निष्पन्न होते हैं। शब्द के धात्वर्थ में भले ही मतभेद हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि विठोबा कहने से पण्ढरी में ईंट पर खड़े भगवान श्रीकृष्ण का ही ध्यान होता है। भगवान के बगल में पास ही श्रीरुक्मिणीजी विराजमान हैं जिनको भक्त लोग 'रखुमाई' के नाम से पुकारते हैं।

वारकरी-पंथ 'मालकरी-पंथ' अथवा 'भागवत-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध है। वारकरी का मुख्य बाहरी चिन्ह है तुलसी की माला का धारण। जिस प्रकार बिना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण की कल्पना असंभव है उसी प्रकार कृष्ण की प्रिय तुलसी की माला बिना धारण किये कृष्ण-भक्त वारकरी की सत्ता असिद्ध है। तुलसी की माला का इस संप्रदाय में अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही यह पंथ मालकरी भी कहलाता है।

वारकरी भागवत-धर्म का पूर्ण अनुयायी है। इसका पांचरात्र सिद्धांत के साथ स्पष्ट भेद होने पर भी विट्ठल की उपासना तथा भक्ति की मुख्यता के कारण यह निस्संदेह भागवत-धर्म है। वारकरी-पंथ चतुर्व्यूह के सिद्धांत को बिलकुल ही नहीं मानता। अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का मंजुल संमिलन वारकरी-पंथ का वैशिष्ट्य है। इस पंथ के उपास्य देवता श्री पांडुरंग हैं जो श्री कृष्ण के ही बाल-रूप माने जाते हैं और इसी लिए पण्ढरपुर दक्षिण द्वारिका के नाम से प्रसिद्ध है—

पावन पांडुरंगक्षिति। जे कां दक्षिण द्वारावती।
जेथ विराजे श्री विट्ठलमूर्ति। नामें गजंती पंढरी॥

(श्री एकनाथ भागवत २९। २४३)

इस पंथ के मान्य ग्रंथ हैं भागवत और भगवद्गीता। भागवत के एकादश स्कंध के ऊपर श्री एकनाथ ने ओवी छंदोबद्ध मराठी टीका लिखी है। वह नाथ भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की पूर्ण मान्यता इस संप्रदाय में है। यह संप्रदाय अपना आदर्श यही मानता है कि अपने स्त्री, पुत्र, घरबार, यहाँ तक कि अपने प्रिय प्राणों को भी भगवान् के चरणारविंद में अर्पण कर दे तथा भगवान् के नाम का कीर्तन करता हुआ अपने जीवन को बितावे[1]। भागवत-धर्म का भी यही पूर्ण लक्ष्य है। अतः वारकरी मत को भागवत-संप्रदाय के अंतर्गत मानना नितांत उपयुक्त है।

(ख)

पंथ का उदय

इस संप्रदाय का उदय कब हुआ, इस विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। साधारण विद्वानों की यह मान्यता है कि ज्ञानदेव ने तेरहवीं शताब्दी में इस पंथ का आरंभ किया। यह सिद्धांत ठीक नहीं, क्योंकि यह संभवतः बहिणा बाई नामक तुकाराम की शिष्याके एक प्रसिद्ध अभंग के ऊपर आधारित है—

संत कृपा झाली। इमारत फला आली ॥ १ ॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया। रचियेलें देवालय ॥ २ ॥
नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार ॥ ३ ॥

१—दारासुतगृहप्राण, करावें भगवंतासी अर्पण।
हे भागवतधर्म पूर्ण, मुख्यत्वें भजन या नांव ॥
[नाथ-भागवत २।२६१]

जनार्दन एकनाथ । ध्वज उभारिला भागवत ॥ ४ ॥
भजन करा सावकाश । तुका झाला से कलश ॥ ५ ॥

इस अभंग में वारकरी मंदिर के निर्माण का बड़ा ही आलंकारिक वर्णन है जो इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं से विरोध नहीं खाता । परंतु यहाँ ज्ञानदेव के द्वारा पाया रखने का मतलब यह नहीं है कि उन्होंने ही इस मत का प्रारंभ किया । सच्ची बात तो यह है कि ज्ञानदेव के पूर्व ही इस संप्रदाय के भक्त लोगों की सत्ता थी परंतु ये इधर उधर बिखरे हुए थे । इन सबों को एक सूत्र में संगठित कर पंथ को सुव्यवस्था देने का श्लाघनीय उद्योग ज्ञानेश्वर ने किया और इसीलिए वे इस संप्रदाय के मान्य आचार्य हैं ।

पुण्डलीक भक्त के काल का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो सका जिससे इस पंथ के उद्गम का काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । इतना तो निश्चित है कि पण्ढरपुर में बिट्ठल जी के आविर्भाव का संबंध भक्त पुण्डलीक से है । जिस प्रकार प्रह्लाद के लिए भगवान् ने नरसिंह का रूप धारण किया, उसी प्रकार पितृभक्त पुंडलीकके लिए द्वारिकाधीश श्रीकृष्णने विट्ठल का रूप धारण किया[1] । इस घटना का प्रत्यक्ष प्रमाण वारकरी भक्तों के शांति वाक्य से भी लगता है । ये भक्त विट्ठल की यात्रा करते समय 'पुंडलीक वरदा हरिविट्ठल' का जय घोष करते हैं ।

---

१ पुंडलीकाच्या भावार्था । गोकुलीहुनीं जाला येता ।
निज प्रेम भक्ति भक्तां । ध्या ज्या आतां म्हणतसे ॥
(श्री ज्ञानदेव अभंग १८४ सकल संतगाथा)

इस पंथ के मान्य ग्रंथ हैं भागवत और भगवद्गीता। भागवत के एकादश स्कंध के ऊपर श्री एकनाथ ने ओवी छंदोबद्ध मराठी टीका लिखी है। वह नाथ भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की पूर्ण मान्यता इस संप्रदाय में है। यह संप्रदाय अपना आदर्श यही मानता है कि अपने स्त्री, पुत्र, घरबार, यहाँ तक कि अपने प्रिय प्राणों को भी भगवान् के चरणारविंद में अर्पण कर दे तथा भगवान् के नाम का कीर्तन करता हुआ अपने जीवन को बितावे[1]। भागवत-धर्म का भी यही पूर्ण लक्ष्य है। अतः वारकरी मत को भागवत-संप्रदाय के अंतर्गत मानना नितांत उपयुक्त है।

(ख)

पंथ का उदय

इस संप्रदाय का उदय कब हुआ, इस विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। साधारण विद्वानों की यह मान्यता है कि ज्ञानदेव ने तेरहवीं शताब्दी में इस पंथ का आरंभ किया। यह सिद्धांत ठीक नहीं, क्योंकि यह संभवतः बहिणा बाई नामक तुकाराम की शिष्याके एक प्रसिद्ध अभंग के ऊपर आधारित है—

संत कृपा झाली। इमारत फला आली ॥ १ ॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया। रचियेलें देवालय ॥ २ ॥
नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार ॥ ३ ॥

१—दारासुतगृहप्राण, करावें भगवंतासी अर्पण।
हे भागवतधर्म पूर्ण, मुख्यत्वें भजन या नांव ॥
[नाथ-भागवत २।२६१]

जनार्दन एकनाथ। ध्वज उभारिला भागवत ॥ ४ ॥
भजन करा सावकाश। तुका झाला से कलश ॥ ५ ॥

इस अभंग में वारकरी मंदिर के निर्माण का बड़ा ही आलंकारिक वर्णन है जो इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं से विरोध नहीं खाता। परंतु यहाँ ज्ञानदेव के द्वारा पाया रखने का मतलब यह नहीं है कि उन्होंने ही इस मत का प्रारंभ किया। सच्ची बात तो यह है कि ज्ञानदेव के पूर्व ही इस संप्रदाय के भक्त लोगों की सत्ता थी परंतु ये इधर उधर बिखरे हुए थे। इन सबों को एक सूत्र में संगठित कर पंथ को सुव्यवस्था देने का श्लाघनीय उद्योग ज्ञानेश्वर ने किया और इसीलिए वे इस संप्रदाय के मान्य आचार्य हैं।

पुण्डलीक भक्त के काल का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो सका जिससे इस पंथ के उद्गम का काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना तो निश्चित है कि पण्ढ़रपुर में विट्ठल जी के आविर्भाव का संबंध भक्त पुण्डलीक से है। जिस प्रकार प्रह्लाद के लिए भगवान् ने नरसिंह का रूप धारण किया, उसी प्रकार पितृभक्त पुंडलीकके लिए द्वारिकाधीश श्रीकृष्णने विट्ठल का रूप धारण किया[1]। इस घटना का प्रत्यक्ष प्रमाण वारकरी भक्तों के शांति वाक्य से भी लगता है। ये भक्त विट्ठल की यात्रा करते समय 'पुंडलीक वरदा हरिविट्ठल' का जय घोष करते हैं।

---

१ पुंडलीकाच्या भावार्थी। गोकुलीहुनीं जाला येता।
निज प्रेम भक्ति भक्तां। ध्या ध्या आतां म्हणतसे ॥
(श्री ज्ञानदेव अभंग १८४ सकल संतगाथा)

ज्ञानेश्वरी में श्री ज्ञानेश्वर जी ने विट्ठलजी की मूर्ति की ओर स्पष्ट संकेत किया है। विट्ठल जी के मस्तक के ऊपर शिवलिंग विद्यमान है, इस बात का उल्लेख उन्होंने स्पष्ट शब्दों में किया है[1]। इतना तो निश्चित है कि ज्ञानेश्वर से भी पूर्व उनके जन्म-स्थान आलंदी में विट्ठल-भक्ति का बहुत प्रचार था। हरिहरेंद्र स्वामी के मठ में १२०६ ई० का एक शिलालेख है जो ज्ञानेश्वर के जन्म से लगभग ७० वर्ष पूर्व का है। यहाँ समाधि के ऊपर विट्ठल और रुक्मिणी दोनों की मूर्तियाँ पत्थर पर खुदी हुई हैं। विट्ठल संप्रदाय का यह सबसे प्राचीन निर्देश है जिससे पता चलता है कि ज्ञानदेव के जन्म-स्थान आलंदी में विट्ठल की उपासना तथा भक्ति का विपुल प्रचार था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बारह शतक में अर्थात् ज्ञानेश्वर के जन्म से एक सौ वर्ष पूर्व इस मत का उदय महाराष्ट्र में हो चुका था।

पांडुरंग की उपासना से इस संप्रदाय का इतना अधिक संबंध है कि उसके द्वारा मत के आविर्भाव-काल का निर्णय भली-भाँति किया जा सकता है। परंतु अभी तक पांडुरंग के आविर्भाव-काल का ही निश्चय नहीं हुआ है। अवश्य ही शंकराचार्य ने अपने पांडुरंगाष्टक स्तोत्र में पुण्डरीक के लिए पांडुरंग के आविर्भाव का संकेत किया है[2]। यदि यह स्तोत्र आद्य शंकराचार्य की रचना हो तो पांडुरंग का आविर्भाव सप्तम शतक से पूर्व माना जा सकता है। परंतु इस स्तोत्र के आदि शंकराचार्य की कृति होने

---

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय १२ पद्य २१४—२१८.

२ महायोगपीठे तटे भीमरथ्यां वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानंदकंदं परब्रह्मलिंग भजे पांडुरंगम्॥
—(पाण्डुरंगाष्टक)

में आलोचकों को अभी तक संदेह बना हुआ है। सन् १२४६ ई० के एक ताम्रलेख से पता चलता है कि देवगिरि के यादववंशी नरेश 'कृष्ण' के सेनापति ने वेलगाँव जिले के अंतर्गत पवित्रस्थान 'पौण्डरीक' क्षेत्रको दान दिया था। इस क्षेत्रकी स्थिति भीमरथी नदी की तीर पर बतलाई गई है जिससे वर्तमान समय में भीमनदी पर बसे हुए पंढरपुर का एकीकरण इस स्थान से किया जाता है। 'पौंडरीक' शब्द को पुण्डरीक से बना हुआ मान कर इस भक्त शिरोमणि का समय तेरहवीं शताब्दी के पूर्व ही समझना चाहिये।

ऐसी परिस्थितियों में जब न तो भक्तवर पुण्डरीक का ही काल निश्चयरूप से निर्णीत हो सका है, और न पांडुरंग के ही आविर्भाव का परिचय हमें प्राप्त है तब हम यही कह सकते हैं कि लगभग हजार वर्ष से वारकरी संप्रदाय का प्रचलन महाराष्ट्र में है तथा तबसे कार्तिक और आषाढ़ की शुक्ला एकादशी को वारकरी भक्त श्री विट्ठल की यात्रा भक्तिनिष्ठ हृदय से करते आते हैं। इससे अधिक निश्चयात्मक रूप से इस मत के आविर्भाव के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

(ग)

संप्रदाय का अभ्युदय

वारकरी संप्रदाय की उत्पत्ति तथा पंढरपुर में श्री विट्ठल की उपासना तो १३ शतक से अर्थात् ज्ञानदेव महाराज के समय से प्राचीन है; इसका निर्णय ऐतिहासिक साधनों द्वारा ऊपर किया गया है। परंतु इस संप्रदाय को व्यवस्थित, सुगठित तथा प्रतिष्ठित करने का श्रेय श्री ज्ञानदेवजी को है। कृष्णभक्ति के

प्रचार के निमित्त ज्ञानदेव ने अपने भ्राता निवृत्तिनाथ तथा सोपान देव तथा भगिनी मुक्ताबाई के सहयोग से जो महनीय कार्य संपादित किया उसके कारण आज भी महाराष्ट्र प्रांत में अद्वैतवाद के साथ कृष्णभक्ति का मनोरम सामञ्जस्य प्रस्तुत दीखता है। प्रसिद्धि है कि इनके पिता विट्ठलपंत संन्यासधर्म में दीक्षित हो गये, परंतु अपने गुरु रामानंद स्वामी के वरदान-प्रयुक्त अत्याग्रह से फिर संसार में प्रवृत्त हुए। इन्हीं की पूर्वोक्त चार संतानें हुईं। निवृत्तिनाथ का जन्म सं० १३३० में, ज्ञानेश्वर महाराज का सं० १३३२ में, सोपानदेव का सं० १३३४ में तथा मुक्ताबाई का सं० १३३६ में हुआ था। इन चारों पुरुषों को चतुर्विध मोक्ष अथवा चतुर्विध पुरुषार्थ का ही अवतार मानना न्यायसंगत होगा। इन लोगों की गुरुपरंपरा नाथ-संप्रदाय के आचार्यों से संबद्ध मानी जाती है। गोरखनाथ के शिष्य गैनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को स्वयं कृष्णभक्ति की दीक्षा दी थी और निवृत्ति ने फिर अपने दोनों अनुजों तथा भगिनी को स्वयं दीक्षा देकर अध्यात्म-मार्ग का पथिक बनाया था। निवृत्तिनाथ का कथन है[1]—प्राणियों का उद्धार जो कुछ है वह सब श्रीधर है। वह कर्म-सहित ब्रह्म साक्षात् श्री कृष्णमूर्ति है। वह रूप इस भूमंडल पर सचमुच पांडुरंग रूप है जो पुण्डलीक के निर्धार से यहाँ खड़ा है।

निवृत्ति की शिक्षा में योग के साथ भक्ति का मंजुल मिश्रण था। सन्यासी की संतान होने के कारण इन चारों को

---

१ प्राणिया उद्धार सर्व हा श्रीधर। ब्रह्म हें साचार कृष्णमूर्ती।
तें रूप भीवरें पाण्डुरंग खरें। पुण्डलीक निर्धारे उभे असे॥



महाराष्ट्र संत ज्ञानेश्वरजी

ब्राह्मणों के हाथ तिरस्कार और अनादर सहना पड़ा था, परंतु ज्ञानदेव अलौकिक सहज सिद्ध योगी थे। पैठण के ब्राह्मणों के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन लोगों ने भैंसे के मुँह से, जिस पर ज्ञानदेव ने अपना हाथ रख दिया था, ऋक्, यजु और साम के मंत्रों को विधिवत् उच्चारित होते सुना। तब इनकी अलौकिकता का पता लोगों को चला और वे इनके वास्तव रूप से परिचित हो गये। इनकी प्रसिद्धि इतनी बढ़ी कि उस समय के यशस्वी योगी चांगदेव को अपनी हार मान कर ज्ञानेश्वर के शरण आनी पड़ी। २२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने जीवित समाधि ली और उसके एक साल के भीतर ही इनके भाई तथा बहिन भी एक एक करके इस धराधाम से चल गये।

इनके ये ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—(१) भावार्थदीपिका—गीता की नितांत मौलिक ओवी छंद में निबद्ध व्याख्या जो 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी सुंदर गूढ़ार्थ-संपन्न आध्यात्मिक व्याख्या की रचना अपने उम्र के १५ वें वर्ष में ही उन्होंने की (शक १२१२)। (२) अमृतानुभव—अध्यात्म के सुंदर उपदेश। (३) हरिपाठ (४) चांगदेव पासष्टी—चांगदेव को दिये गये उपदेशों का विवरण। (५) योगवासिष्ठ टीका (६) इतर अभंग। इन में अभंगों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। ज्ञानेश्वरी मराठी साहित्य के आरंभिक युग का महनीय ग्रंथ है जिसमें कमनीय उपमा तथा रमणीय रूपकों के द्वारा अध्यात्म के तत्त्वों का बोधगम्य विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार २२ वर्षों की अल्प आयु में अद्भुत सिद्धि दिखलाने वाले व्यक्ति को यदि संत लोग विष्णु का ग्यारहवाँ अवतार मानते हैं, तो क्या आश्चर्य ?

(२) **नामदेव** ज्ञानेश्वर के ही समकालीन थे और अपनी भक्ति-भावना के कारण अपने समय में ही महाराष्ट्र के बाहर भी पर्याप्त रूप से विख्यात हो चुके थे। इनके पिता का नाम दामा सेठ था। और इनकी परंपरा से दर्जी की वृत्ति थी। अधिकतर पण्ढ़रपुर में ही विठोवा की उपासना करते हुए दिन बिताते थे। इनका परिवार भी बड़ा लंबा चौड़ा था परंतु गृह में आसक्ति इनकी कभी नहीं हुई। पण्ढरपुर में ही ज्ञानदेव के साथ इनका मिलन हुआ और दोनों में खूब गाढ़ी मैत्री हुई। ज्ञानदेव की समाधि के अनंतर नामदेव तीर्थयात्रा के लिये उत्तर भारत में आये और मथुरा वृंदावन में भगवान् श्री कृष्ण के लीला-स्थलों का दर्शन कर ये पंजाब की ओर निकल गये और पंजाब में इन्होंने भगवन्नाम का खूब प्रचार किया। गुरु ग्रंथ साहब में इनके ६० से भी अधिक पद में संगृहीत मिलते हैं। महाराष्ट्र में इनके मनोहर अभंग जैसे सर्वत्र प्रिय हुये उसी प्रकार पंजाब में भी उनकी मधुर बानियाँ गायी जाने लगीं।

नामदेव ने मरी हुयी गाय को जिलाया था इस प्रसङ्ग का बड़ा सुंदर वर्णन ग्रंथ-साहब में उपलब्ध होता है;। नामदेव १८ वर्ष तक पंजाब में रहे और पीछे पण्ढरपुर लौट आये और यहीं विट्ठल मंदिर के द्वार की सीढ़ी पर अस्सी वर्ष की दीर्घ उम्र में इन्होंने सं० १४०७ वि० (१३५० ई०) में अपना शरीर त्यागा। नामदेव के पदों से उनके हृदय की शुद्धता, दीनता, आत्मसमर्पण की भावना भली भाँति प्रकट होती है। इन्होंने भक्ति के राज्य में जाति पांति का कोई भी बंधन नहीं माना। सगुण भक्ति के साथ साथ निर्गुण भक्ति के आद्य प्रवर्तक होने का श्रेय नामदेव को ही दिया जाता है। इस विषय में इनकी

तुलना कबीरदास जी के साथ की जा सकती है। कबीर की बानियों के समान ही नामदेव के अभंग महाराष्ट्र जनता में भक्ति तथा ज्ञान के प्रचारक हैं तथा दम्भ और बनावटी धार्मिक आडंबर के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने हिंदी में भी विशेष कविता की है। नाभादास जी ने इनके अलौकिक चरित्र का वर्णन इन छप्पय में किया है—

बाल दसा विट्ठल पान जाके पय पीयो
मृतक गऊ जिवाय परचो असुरनि को दीयो
सेज सलिल ते काढि पहिले जैसी ही होती
देवल उलटो देखि सकुचि रहे सबहि सोती
पँढरिनाथ कृति अनुगत्यौ छानि सुकर छाई दासकी
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की ॥

ज्ञानेश्वर—नामदेव का युग महाराष्ट्र के भागवत संप्रदाय के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग में समग्र प्रदेश उदात्त भक्ति की भावना से ओतप्रोत हो गया। भक्ति का व्यापक प्रभाव समाज के निम्नतम स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक सर्वत्र जागरूक हो रहा था। जिस प्रकार ब्राह्मण-कुल में भगवद्-भक्तों का जन्म हुआ उसी प्रकार महार जैसे कुल में भी भक्ति से समुज्ज्वल दिव्य आत्माओं का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। पुरुषों में ही नहीं, प्रत्युत स्त्री जाति में भी भक्त आत्माओं का प्रादुर्भाव हुआ। प्रतीत होता था कि भक्ति के इस उत्थान-काल में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वितरण समाज के हित साधन के लिए समभाव से कर रखा है। विसोबा खेचर जैसे योगी, गोरा कुम्हार, सांवता माली, चोखा मेला (महार), सेना नाई, नरहरि

सोनार जैसे ब्राह्मणेतर संत, जनाबाई जैसी भक्त दासी, कान्हूपात्रा जैसी वेश्या, सखूबाई जैसी साध्वी का अभ्युदय तथा पवित्र चरित्र किसी भी आलोचक को इस निष्कर्ष पर पहुँचाये बिना नहीं रह सकता कि इस युग के महाराष्ट्र के वातावरण में ही भगवान की दिव्यकला भक्ति के रूप में सर्वत्र द्योतित हो रही थी।

एकनाथ

इस युग के लगभग सौ वर्ष के अनंतर महाराष्ट्र भागवत धर्म के ऊपर अपनी दिव्य पताका फहरानेवाले भक्तराज श्री एकनाथ महाराज का उदय हुआ। इनका जन्म सं० १५९० वि० (१५३३ ई०) के आसपास हुआ था। मूलनक्षत्र में जन्म लेने के कारण इनके माता-पिता जनमते ही मर गये।

इनका जन्म एक उदात्त वैष्णव ब्राह्मण कुल में हुआ था जहाँ विट्ठल भक्ति की परंपरा जागरूक रूप से विद्यमान थी। इनके प्रपितामह भानुदास अपने समय के एक बड़े भारी वैष्णव संत थे। इन्हों ने विट्ठल जी की मूर्ति का पुनरुद्धार कर वारकरी भक्तों के साथ बड़ा भारी उपकार किया था। कहा जाता है कि विजयनगर के विख्यात महाराज कृष्णराय एक बार विट्ठल के दर्शन से इतने प्रभावित हुए कि वे इस मूर्ति को अपनी राजधानी अनागोंदी ले गये और वहीं राजसी वैभव के साथ रखा। इधर वारकरी भक्तों को बिना विट्ठल के पंढरपुर का मंदिर सूना लगता था। भानुदासजी ने अपनी भक्ति के प्रभाव से कृष्णराय को अनुकूल बनाया और ये मूर्ति को पुनः पंढरपुर ला कर भक्तों के विपुल यश के भाजन बने। अतः इन्हीं भानुदास के प्रपौत्र

एकनाथ जी के हृदय में भक्ति की तीव्र भावना के उदय होने से हमें आश्चर्य नहीं होता।

किसी आकाशवाणी को सुनकर ये देवगढ़ के निवासी जनार्दन स्वामी को अपना गुरु बनाने के लिए सं० १६०२ में पहुँचे। जनार्दन स्वामी उस समय गुरु दत्तात्रय के बड़े भारी उपासक थे और सिद्ध पुरुष माने जाते थे। इन्हीं के संपर्क में आकर एकनाथ ने मंत्र दीक्षा ली और घोर तपस्या की। तपस्या में सिद्धि लाभ कर इन्होंने भारत के तीर्थों की यात्रा की। तदनतर ये अपने जन्म-स्थान पैठन लौट आये और गुरु की आज्ञा से गृहस्थ आश्रम में दीक्षित हुये। गृहस्थ के जीवन को परोपकार के निमित्त बिताना, साधु संतों की सेवा, भगवान् की पूजा अर्चा, भागवत तथा ज्ञानेश्वरी जैसे धर्म ग्रंथों का प्रवचन-इनके नित्य की दिनचर्या थी। ये क्षमा, त्याग, दया तथा संतोष के जीवित मूर्ति थे। इनके विषय में नाना प्रकार की अलौकिक घटनायें सुनी जाती हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ भागवत एकादश स्कंध की अति विस्तृत छंदोमयी व्याख्या जो भक्तों में 'नाथभागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। भगवद्भक्ति के विशद विवेचन तथा भगवान् की अलौकिक लीलाओं के वर्णन में 'नाथ भागवत' मराठी साहित्य में एक अद्वितीय ग्रंथरत्न है जिसकी प्रभा आज उतनी ही शीतल तथा अम्लान है जिस प्रकार वह उस युग में थी। इसके अतिरिक्त 'रुक्मिणी स्वयंवर' तथा 'भावार्थ रामायण' इनके मान्य तथा मौलिक ग्रंथ हैं जिनमें अध्यात्म पक्ष में अद्वैत तथा भक्ति का मनोरम विवेचन बड़ी ही सुबोध भाषा तथा चित्ताकर्षक शैली में किया गया है। इस प्रकार आदर्श भक्त का जीवन बिताकर सं० १६५६ (१६०० ई०) में एकनाथ ने गोदावरी के तट पर अपना शरीर छोड़ा।

तुकाराम

तुकाराम—वारकरी संप्रदाय को अपने अभंगों के द्वारा लोकप्रिय बनाने का समस्त श्रेय श्री तुकाराम महाराज को है जिनका जन्म एकनाथ की मृत्यु के ग्यारहवें साल पूनाप्रांत के देहू नामक ग्राम में भगवद्-भक्तों के एक पवित्र कुल में सं० १६६५ वि० में हुआ। इनके माता पिता का नाम था—कनकाबाई और बोलोजी। लड़कपन में ही इनकी दो शादियाँ कर दी गयी थीं। इनके दो भाई और भी थे, पिता ने बड़े भाई के ऊपर अपने व्यापार की देखरेख का भार रखा, पर उनकी असावधानी से सारा व्यापार चौपट हो गया। तुकाराम को इसके कारण से बहुत ही कष्ट झेलने पड़े। पारिवारिक प्रपंचोंकी आग में तुकाराम का वैराग्य-कंचन खरा उतरा। गृहस्थी से मुख मोड़कर इन्होंने भगवान से नाता जोड़ा। नाथ-भागवत का पारायण करते और भगवान् के नामस्मरण में अपना दिन बिताते। भक्ति की प्रखरता के कारण इनके मुख से अभंगों की धारा लगातार बहती। धार्मिक जगत् में इनके प्रभाव को देखकर रामेश्वर भट्ट नामक ब्राह्मण इनसे बहुत ही द्वेष करने लगा और उसकी आज्ञा से तुकाराम ने अपने अभंगों की पुस्तक को इंद्रायणी के दह में डुबा दिया। परंतु भगवत्कृपा से वह पुस्तक डूबने से बच गई। तुकाराम को पांडुरंग भगवान् का दिव्य दर्शन भी प्राप्त हुआ और इनके द्वेषी रामेश्वर भट्ट भी उनकी शरण में आए। ये शूद्र जाति के थे और ब्राह्मणों को साक्षात् देवता समझकर प्रणाम किया करते थे। छत्रपति शिवाजी भी इनके नितांत भक्त अनुगामी थे। शिवाजी इन्हें अपना गुरु बनाना चाहते थे। परंतु इन्होंने ही शिवाजी को रामदास स्वामी से मंत्र दीक्षा लेने का

उपदेश दिया। सं० १७०६ वि० [१६५० ई०] में देहावसान हो गया। तुकाराम के अभंग मराठी साहित्य के रत्न हैं तथा भक्त जनों के जीवनाधायक और स्फूर्तिदायक संबल हैं।

प्रसिद्ध संत

संतनाम	काल : शक	समाधिस्थान
निवृत्तिनाथ	११९५–१२१९	त्र्यंबकेश्वर
ज्ञानेश्वर महाराज	११९७–१२१८	आलंदी
सोपानदेव	११९९–१२१८	सासवड
मुक्ताबाई . .	१२०१–१२१९	एदलाबाद
विसोबा खेचर . .	१२३१	
नामदेव . .	११९२–१२७२	पंढरपुर
गोरा कुंभार . .	११८९–१२३९	तेर
सावता माली . .	१२१७	अरणभेंडी
नरहरी सोनार . .	१२३५	पंढरपुर
चोखा मेला . .	१२६०	पंढरपुर
जगमित्र नागा . .	१२५२	परली (वैजनाथ)
कूर्मदास . .	१२५३	लऊल
जनाबाई . .	..	पंढरपुर
चांगदेव . .	१२२७	पुणतांबे
भानुदास . .	१२७०	पैठण
एकनाथ . .	१४७०–१५२१	पैठण
राघव चैतन्य . .	..	ओतूर
केशव चैतन्य . .	१३९३	गुलवर्गा
तुकाराम . .	१५७२	देहू

निलोबा राय	. . . .	पिंपलनेर
शंकर स्वामी	. . . .	शिरूर
मल्लाप्पा	. . . .	आलंदी
मुकुंद राज	. . . .	आंवें
कान्होपात्रा	. . . .	पंढरपुर
जोगा परनंद	. . . .	बार्शी[1]

ये सब संत महात्मा कृष्णभक्ति के प्रसारक हुए। इन में बड़ा-छोटा कहना अपराध है। फिर भी इन में से चार महात्माओं ने कृष्ण-भक्ति के देवालय को महाराष्ट्र में बनाया और सजाया। पंथ की उत्पत्ति का पता नहीं, परंतु ज्ञानदेव महाराज ने इस मंदिर का पाया 'ज्ञानेश्वरी' के द्वारा खड़ा किया; नामदेव ने अपने भजनों से इस का विस्तार किया; एकनाथ महाराज ने अपने 'भागवत' की पताका फहराई और तुकाराम महाराज ने अपने अभंगों की रचना कर इस के ऊपर कलश स्थापन किया। तुकाराम की शिष्या बहिणाबाई ने अपने निम्नलिखित अभंगों में इसी बात को कितने सरल शब्दों में कहा है—

संत कृपा झाली।
इमारत फला आली ॥१॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया।
रचियेलें देवालया ॥२॥
नामा तया चा किंकर।
तेणें केला हा विस्तार ॥३॥

---

१ यह सूची प्रोफेसर शंकर वामन दांडेकर के लेख ('महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशके भाग २०, पृ० १७६) से यहां उद्धृत की गई है।

जनार्दन एकनाथ ।
ध्वज उभारिला भागवत ॥४॥
भजन करा सावकाश ।
तुका झाला से कलश ॥५॥

वारकरी मत के चार उपसम्प्रदाय

वारकरी मत के चार संप्रदाय माने जाते हैं[1]—

(१) चैतन्य, (२) स्वरूप, (३) आनंद, (४) प्रकाश ।

(१) चैतन्य—इस संप्रदाय के दो भेद हैं। पहले में 'राम कृष्ण हरि' यह ६ अक्षरों का मंत्र मान्य है तथा दूसरे में 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' यह द्वादशाक्षर मंत्र मान्य है। श्री निलोबाराय के अनुसार प्रथम चैतन्य मत के आदि प्रवर्तक श्री महाविष्णु हैं जिन्होंने हंसरूप धारण करने वाले ब्रह्मा को चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश दिया। ब्रह्मा ने नारद जी को और उन्होंने व्यासजी को इस मत का उपदेश दिया। व्यास जी ने कृपा करके राघव चैतन्य नामक संत को इस मत में दीक्षित किया जिसकी समाधि कल्याण गुलबर्गा के पास आज भी विद्यमान है। इनके शिष्य हुए केशव चैतन्य और आगे चलकर तुकाराम ने इस चैतन्य मत की शाखा को अपने उपदेशों से लोकप्रिय तथा व्यापक बनाया। चैतन्य-मत के दूसरे उप-संप्रदाय की गुरु परंपरा इस प्रकार है—

---

१ द्रष्टव्य-महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोश भाग २०, पृ० १७०—७१

आदिनाथ
|
मच्छिन्द्रनाथ
|
गोरखनाथ
|
गहिनीनाथ
|
निवृत्तिनाथ
|
ज्ञानेश्वर

यही गुरु-परंपरा ज्ञानदेव ने अपनी ज्ञानेश्वरी के अंत में दी है जिससे स्पष्ट है कि ज्ञानेश्वर महाराज इसी चैतन्य शाखा के अंतर्गत थे। आजकल बहुत से वारकरी संप्रदाय चैतन्य मत के ही अंतर्गत हैं।

(२) **स्वरूप सम्प्रदाय**—इस संप्रदाय का मान्य मंत्र यह त्रयोदशाक्षर मंत्र है—श्रीराम जय राम जय जय राम। इसमें भी दो उपसंप्रदाय हैं—(१) रामानुजी जो अपने माथे पर लाल रंग का तिलक लगाते हैं। तथा (२) रामानन्दी जो अपने माथे पर सफेद रंग का तिलक लगाते हैं। रामदासी लोगों का समावेश इसी द्वितीय रामानन्दी मत के अंतर्गत है।

(३) **आनन्द सम्प्रदाय**—इस संप्रदाय का मूलमंत्र राम अथवा श्री राम है। इसके अतर्गत नारद, वाल्मीकि, रामानंद, कबीर सेनानायी आदि भक्त माने जाते हैं।

(४) **प्रकाश सम्प्रदाय**—इसका मंत्र है—नमो नारायण। इस संप्रदाय के अनुसार इसके मूल पुरुष निर्गुण ब्रह्म से उत्पन्न

होनेवाले नारायण ही हैं। उनके बाद की शिष्य परंपरा इस प्रकार है :—

आदिनारायण—> ब्रह्मा—> अत्रि—> दत्तात्रेय—> (१) सहस्रार्जुन (२) यदु (३) जनार्दन—> एकनाथ।

(घ)

मत के सिद्धांत

(१) विट्ठल—वारकरी मत में सर्वश्रेष्ठ देवता पंढरीनाथ हैं जो बालकृष्ण के ही रूप हैं। इस प्रकार यह कृष्णोपासक संप्रदाय है, तथापि यह राम का भी उसी प्रकार एकनिष्ठ उपासक है। यह राम-कृष्ण दोनों को दुर्जनों के संहार करने के लिए भगवान् का अवतार मानता है। इस संप्रदाय में हरि और हर, विष्णु और शंकर दोनों का ऐक्यभाव माना जाता है। इसका निदर्शन स्वयं विट्ठलनाथ की मूर्ति है जिसके सिर के ऊपर महादेव बैठे हैं।[1] इसी लिए एकादशी के साथ सोमवार व्रत तथा शिवरात्रि का व्रत समभावेन मान्य है। तात्पर्य यह है कि इस संप्रदाय में दक्षिण भारत के शैवों और वैष्णवों के

---

१ रूप पाहतां डोलसूं। सुंदर पाहतां गोपवेषु॥
महिमा वर्णितां महेशू। जेणें मस्तकीं वंदिला॥
—श्री ज्ञानेश्वर अभंग

तुका म्हणे भक्ति साठीं हरिहर।
हरिहरा भेद नाहीं। नका करूं वाद॥
—तुकाराम

गंगा समुद्र से भिन्न होती, तो उसके साथ मिलकर वह एकाकार कैसे बन जाती[1] ? इसी प्रकार भगवान् का भक्त भगवान् को अद्वैत रीति से जानकर ही उनका सच्चा भक्त बन जाता है। नामदेव ने इस संप्रदाय की महती विशिष्टता अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का मृदुल सामञ्जस्य बतलायी है। इन भक्तों की पूर्ण निष्ठा थी कि उपनिषदों का परब्रह्म ही विट्ठल के रूप में प्रकट हुआ है। ज्ञान के साथ भक्ति का योग हो जाने से इनकी वाणी में अतीव मृदुता और मधुरता आ गई है। इनका विश्वास था कि निर्गुण ब्रह्म ही नाम-रूप को ग्रहण कर भक्तों की मंगल-कामना के निमित्त इंद्रियगम्य बन गया है। नामदेव ने अनेक अभंगों के द्वारा ब्रह्मरस तथा भक्तिरस के ऐक्य का प्रतिपादन किया है। नामदेव भगवान् को लक्ष्य कर पुकार रहे हैं कि भगवन्, जल्दी आइए, पुकारते पुकारते गला सूख गया, शरीर पुलकित हो गया तथा अश्रु धाराओं से पृथिवी भींग गई। हे दीनदयालु, आने में इतनी देर क्यों कर रहे हो ? किसी भक्त के यहाँ तो नहीं फँस गये ?

> यवढा वेल का लाविला। कोण्या भक्ताने गोविला ?
> झडकरि येई गा विट्ठला। कंठ आलवितां सोकला।
> 'नामा' गहिवरें दाटला। पूर धरणिये लोटला॥

(२) भगवद्रूप—इस पंथ को भगवान् के दोनों रूप—सगुण

---

१ साडे पंधरा मिसलावें। तें साडे पंधरेंचि हो आवें
तेविं मी जालिया संभवे। भक्ति माझी ॥५६७॥
हां गा सिंधूसि आनी होती। तरि गंगा कैसेनि मिलती
म्हणौनि मी न होता भक्ती। अन्वयो आहे ॥५६८॥
—ज्ञानेश्वरी, अ० १५

तथा निर्गुण-मान्य हैं। पूर्ण सगुणोपासक होने पर यह परमात्मा को व्यापक एवं निर्गुण-निराकार भी मानता है तथा इस निराकार ब्रह्म की प्राप्ति का साधन सगुणोपासना, नाम-स्मरण तथा भजन है। वारकरी संतों ने ज्ञान तथा भक्ति के परस्पर सहयोग तथा मैत्रीभाव पर विशेष आग्रह रखा है। एक-नाथ महाराज ने भक्ति तथा ज्ञान के परस्पर संबंध की सूचना बड़े ही रोचक उदाहरणों के सहारे दी है। वे भक्ति को मूल, ज्ञान को फल, तथा वैराग्य को फूल बतलाते हैं। जिस प्रकार बिना मूल के फल उत्पन्न नहीं हो सकता और बिना फूल के फल असंभव है, उसी प्रकार बिना भक्ति और वैराग्य के ज्ञान का उदय हो नहीं सकता। भक्ति के उदर से ज्ञान उत्पन्न होता है। भक्ति ने ही ज्ञान को उसका गौरव प्रदान किया है। अतः दोनों का मञ्जुल समन्वय ही साधक के लिए अवश्यमेव संपाद-नीय व्यापार होता है—

भक्ती चे उदरीं जन्मले ज्ञान।
भक्ती ने ज्ञानासी दिधलें महिमान॥
भक्ति तें मूळ ज्ञान ते फल।
वैराग्य केवल तेथीं चे फूल॥

ये लोग गीता में प्रतिपादित 'स्वधर्म' के तथ्य पर पूर्ण आग्रह रखते हैं। जो मनुष्य मानव-समाज के जिस वर्ण में जिस स्थान पर वर्तमान है उसका यह नियमित धर्म है कि वह अपने नियत कार्यों का पूर्ण अनुष्ठान करे। अपना काम छोड़ दूसरे के काम को; वह कितना भी सुंदर क्यों न हो, कभी न ग्रहण करे। भग-वान् के प्रति पूर्ण अनुराग के साथ उनके नाम का कीर्तन तथा भजन करना ही भक्ति का मुख्य साधन है।

(४) **राम और कृष्ण**—राम तथा कृष्ण को समभावेन भगवान् का अवतार मानना इस पंथ को सर्वथा मान्य है। उत्तर भारत में दोनों को प्रधान इष्ट देवता मानकर भिन्न भिन्न संप्रदायों की उत्पत्ति हुई है, परंतु महाराष्ट्र इस विषय में अपना वैशिष्ट्य पृथक् रखता है। 'नाथ भागवत' में कृष्णलीला का गायन करने वाले एकनाथ जी ने 'भावार्थ रामायण' में राम की मधुर लीला का कीर्तन किया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"जैसे बीज ही वृक्ष हुआ, सुवर्ण ही अलंकार बना, वैसे ही निर्विकार श्रीराम हा साकार हुए। सुनो, मेरा पागल प्रेम ऐसा है कि सुंदरश्याम श्रीराम ही हमारे अद्वितीय ब्रह्म हैं; और कुछ मुझे मालूम नहीं। राम के बिना जो बह्म-ज्ञान है, हनुमान जी गरज कर कहते हैं कि उसकी हमें जरूरत नहीं। हमारा ब्रह्म तो श्रीराम है"।

निष्कर्ष यह है कि वारकरी पंथ में समन्वय का साम्राज्य है। जिस प्रकार राम और कृष्ण में, शिव तथा विट्ठल में, इनकी समान आदर बुद्धि है, उसी प्रकार अद्वैत ज्ञान तथा भक्ति में भी यह पूर्ण सामरस्य का पोषक है।

(५) **संत तथा ग्रंथ**—वारकरी संप्रदाय में अपने अनेक सिद्ध महात्मा हुए जिनमें चार मुख्य हैं—ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम। इनके अतिरिक्त अन्य महात्माओं ने अपनी वाणी तथा शिक्षा से भगवान् की भक्ति-नाम कीर्तन-का प्रचुर प्रचार किया। पंथ के मान्य ग्रंथों में गीता तथा भागवत ही मुख्य हैं और इनकी व्याख्या ज्ञानेश्वरी तथा नाथ-भागवत भी उसी प्रकार आदरणीय हैं। तुकाराम के अभंग भी इस पंथ को लोकप्रिय बनाने में तथा भजन कीर्तन को जनधर्म बनाने

में विशेष कृतकार्य होने से विशेष मान्य हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण को 'अहरहः संध्यामुपासीत' का, संध्यावंदन का, नियम है, उसी प्रकार प्रत्येक वारकरी को ज्ञानेश्वर कृत 'हरिपाठ' का नित्य पाठ करना आवश्यक नियम है। इस संप्रदाय के संत ज्ञानेश्वरी तथा नाथभागवत की कथा भावुक जनता के सामने बड़े प्रेम तथा उत्साह से करते हैं। वे अपने कीर्तनों में अपने ही संप्रदाय की संत वाणी को प्रमाणकोटि से उद्धृत किया करते हैं। कुछ आलोचक इसे उन लोगों की संकीर्ण मनोवृत्ति का सूचक मानते हैं, परंतुः वस्तुतः इसमें आत्मरक्षण की भावना ही बलवत्तर है। यदि उनके वचनों का उद्धरण तथा उनकी बातों का शिक्षण जनता में न होगा, तो बहुत संभव है कि इन संतों की बानियाँ धीरे धीरे जनता से दूर जाकर लुप्तप्राय हो जाँय। इसी लिए वारकरी कीर्तनकारों का यह ढंग किसी प्रकार आक्षेप-योग्य नहीं है।

(ङ)

वारकरी पंथ का आचार

(१) स्वधर्म पालन—यह पथ पूर्णतया वैदिक है तथा वर्णाश्रमधर्म में पूर्ण श्रद्धालु है। अतः प्रत्येक प्राणी को अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल धर्म का आचरण करना नितांत आवश्यक है। परंतु इस भीषण कलिकाल में भक्ति से बढ़कर कोई अन्य साधन सुगम तथा सरल नहीं है। भक्ति के नौ प्रकार पंथ को मान्य है, परंतु उनमें भी नाम-स्मरण तथा कीर्तन को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(२) एकादशी व्रत—एकादशी को व्रत रखकर भगवान् का स्मरण तथा कीर्तन करने का विधान प्रत्येक वारकरी को है। नामदेव के समय से लेकर कार्तिक तथा आषाढ़ की शुक्ला एकादशी को विट्ठल जी की यात्रा सामूहिक रूप में करना भक्तों का मुख्य कर्तव्य है।[1] कुछ भक्त माघ तथा चैत्र मास की शुल्का एकादशी को वारी करते हैं। कार्तिकी एकादशी की वारी की महिमा तब बढ़ी जब भानुदास पैठणकर अनागोंदी से कृष्णराय को अनुकूल बनाकर विट्ठल की मूर्ति पुनः पंढरपुर लाने में समर्थ हुए। इसके अतिरिक्त संतों के समाधि स्थलों की भी पवित्रता मान्य होने से उनकी भी यात्रा का प्रचलन पंथ में है। नामदेव के समय से कार्तिक की कृष्ण एकादशी को ज्ञानेश्वर महाराज के जन्मस्थान 'आलंदी' की यात्रा प्रचलित हुई और इसी के समान अन्य वारकरी संतों के समाधिस्थल भी तीर्थ के समान पूत माने जाते हैं। भक्तों की मंडलियां हैं जो उक्त एकादशी को समूह बाँध कर "पुंडरीक वरदे हरि विट्ठल" का जयघोष करती हुई पंढरपुर पहुँचती है तथा चंद्रभागा में स्नान, विट्ठल का दर्शन तथा भगवान् के नाम का कीर्तन—राम कृष्ण हरि मंत्र का कीर्तन-करती हैं। देवों की एकादशी शुक्लपक्ष की होती तथा संतों की एकादशी कृष्णपक्ष की अर्थात् उन्हीं तिथियों को देवों तथा संतों के स्थानों की यात्रा संपन्न की जाती है। गले में तुलसी की माला, माथे पर गोपी चंदन का तिलक, हाथ में बाँस के टुकड़े में बँधी भगवावस्त्र की पताका, मुख में

---

१ आषाढ़ी कार्तिक विसरूँ नका मज।
सांगतसे गुज पाण्डुरंग॥
—नामदेव

'रामकृष्ण हरि' मन्त्र का जप अथवा 'पुंडरीक वरदा हरिविट्ठल' का जयघोष—वारी के लिए यात्रा करने वाले वारकरी की य वेषभूषा है।

एकादशी व्रत की महिमा का वर्णन इन संतों ने बड़ी नि के साथ किया है। इस व्रत का पालन तुकाराम जी यावज्जीवन किया तथा लोगों को इसका बोध कराया। सम रामदास स्वामी ने 'हरिपंचक' में कहा है कि जो हरि को पा चाहता है वह हरिदिनी (एकादशी) करे। एकादशी व्रत न है, वैकुंठ का महापंथ है—

एकादशी नव्हे व्रत। वैकुंठी चा महापंथ॥

तुकाराम ने बड़े संक्षेप में वारकरी पंथ की शिक्षा का स कहा है—

संग सज्जनाचा उधार नामाचा
घोष कीर्तनाचा। अहर्निशी॥

(३) नाम कीर्तन—वारकरी संप्रदाय के आचार्यों ने लो और परलोक दोनों के सुधारने का उपाय जनता के सामने रख भगवान् की प्राप्तिका सरल उपाय सगुण रूप की भक्ति है। भ के नाना प्रकारों में नाम-स्मरण तथा कीर्तन को सबसे मह शाली तथा प्रभावशील बतलाया गया है। तुकाराम ने स्पष्ट क है कि हरि का नाम ही बीज और हरि का नाम ही फल साधन और साध्य दोनों हरि का नाम ही है। नाम ही स पुण्य तथा सब कलाओं का सार है। जहाँ हरि के द लोकलाज त्याग कर हरि कीर्तन तथा नाम स्मरण किया क

हैं वहीं सब रस आकर भर जाते हैं। और संसार के बांध को लांघ कर बहने लगते हैं। वेद के नारायण, योगियों के शून्य ब्रह्म तथा मुक्त जीवों के परिपूर्णात्मा तुकाराम की दृष्टि में भोले भाले जीवों के लिये सगुण तथा साकार बालकृष्ण हैं—

बीज आणि फल हरी चें नाम। सकल पुण्य सकल धर्म॥
सकलां कलांचें हे वर्म। निवारी श्रम सकलहीं॥
जेथें हरि कीर्तन हें नाम घोष। करिती निर्लज्ज हरिचे दास।
सकल वोथंबले रस। तुटती पाश भव-बंधाचे॥

× × ×

वेद पुरुष नारायण। योगियांचे ब्रह्म शून्य।
मुक्ता आत्मा परिपूर्ण। 'तुका' म्हणे सगुण मोलूया आम्हा।

(च)

सिद्धांत का वैशिष्टय

वारकरी पंथ के सिद्धांत का एकत्र प्रतिपादक यह प्रसिद्ध अभंग है जिसको तुकाराम ने शिवाजी के पास भेजा था :—

आम्ही तेणे सुखी म्हाणा विट्ठल विट्ठल मुखीं।
कंठी मिरवा तुलसी व्रत करा एकादशी॥

अर्थात् विट्ठल के नाम का उच्चारण, कंठ में तुलसी माला का धारण और एकादशी व्रत का सेवन—ये तीन ही इस पंथ के मान्य सिद्धांत हैं। उपास्य देवता श्री विट्ठलनाथ हैं; विष्णु के सभी अवतार मान्य हैं परंतु राम-कृष्ण की मान्यता विशेषरूप से

अभीष्ट है। भगवान के सगुण तथा निर्गुण रूप एक ही हैं। ध्येय है अभेद-भक्ति, अद्वैत-भक्ति, अथवा मुक्ति के परे की भक्ति। अद्वैत का सिद्धांत इस संप्रदाय को स्वीकार है, परंतु इस कौशल से इस ध्येय को प्राप्त करना उचित है कि अभेद को सिद्ध करके भी संसार में प्रेम-सुख बढ़ाने के लिये भेद को भी अभेद कर रखना। इस पंथ में भक्ति और ज्ञान दोनों की एकरूपता मानी गई है जिसके केंद्रस्थल में हैं स्वयं भगवान् श्रीहरि विट्ठल। संप्रदाय का मुख्य मंत्र है—राम कृष्ण हरि। यह सम्प्रदाय चैतन्य संप्रदाय के समान युगल उपासना में कृष्ण के साथ राधा को सम्मिलित नहीं करता बल्कि उसके स्थान में रुक्मिणी को महत्त्व देता है। इसका यह सुपरिणाम हुआ कि महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्तिका नितांत समुज्ज्वल तथा उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है और यहाँ उस विकृत रूप का दर्शन नहीं होता जो उत्तर भारत के कतिपय प्रांतों में अश्लीलता की कोटि तक पहुँच कर भावुकों के चित्त में उद्वेगजनक होता है।

महाराष्ट्र का यह वैष्णव संप्रदाय नितांत लोकसंग्रही है। इसकी भक्ति उस व्यक्ति की भक्ति के समान नहीं है, जो एक ओर इतना आसक्त हो जाता है कि न तो संसारकी ओर वह दृष्टि रखता है और न संसार उस क जीवन या उपदेश से शिक्षा ग्रहण करता है। अध्यात्म तथा व्यवहार—इन दोनों की व्यवस्था तथा संतुलन करने में जो उपासक संप्रदाय जितना ही समर्थ है जनता की दृष्टि से उसका महत्त्व उतना ही अधिक होता है। चैतन्य तथा वल्लभ संप्रदाय की उपासना के ऊपर आलोचक लोग यह दोष लगाया करते हैं कि उन्होंने भगवान के लोकानुरंजन रूप के प्रति इतना आग्रह दिखलाया कि उनका लोकरक्षक तथा लोकसंग्रही रूप जनता के नेत्रों से ओझल हो गया। यह आरोप अनेक अंश में ठीक है।

इन संप्रदायों में बालकृष्ण की उपासना का इतना प्राधान्य हो गया कि गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण की कथा लोगों के कानों तक न पहुँच सकी। यह आरोप महाराष्ट्र के भागवत संप्रदाय पर कथमपि नहीं किया जा सकता; क्योंकि इसने बालकृष्ण की भक्ति के साथ साथ कृष्ण के उपदेशों तथा उनके मंगलकारी स्वरूप की ओर भी अपना ध्यान दिया है।



(३)

रामदासी पंथ

वारकरी संप्रदाय के साथ ही साथ महाराष्ट्र में रामदासी पंथ की भी वैष्णव संप्रदाय के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि है। इसकी स्थापना छत्रपति महाराज शिवा जी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास ने की। स्वामी जी अपने समय के महान् विभूति थे, तथा उन्होंने शिवा जी को धार्मिक उपदेश देकर महाराष्ट्र प्रदेश में राजनीति को धर्मप्रवण बनाया था। स्वामी जी की शिक्षा तथा उपदेश का ही यह शोभन परिणाम था कि शिवा जी के मन में सनातनधर्म के ऊपर अवलंबित हिंदूराष्ट्र की स्थापना का विचार जागृत हुआ और उन्हों ने उस विचार को कार्यरूप में बड़ी योग्यता से परिणत कर दिखाया। संसार के दुःख प्रपंच से घबरा कर निवृत्ति में ही सुख का मार्ग बतलाने वाले बहुत से महात्मा मिलेंगे, परंतु पात्रापात्र का विशद विचार कर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों के यथायोग्य सम्मेलन पर ज़ोर देने वाले संतजन कम ही दीखते हैं। स्वामी रामदास जी इस दूसरे प्रकार के महात्माओं में अग्रगण्य थे। अतः इस रामदासी सम्प्रदाय का मुख्य अंग समाज की ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों तरह की उन्नति करना है। स्वयं स्वामी जी ने हरिकथा निरूपण, राजकारण तथा सावधानीपना को अपने सम्प्रदाय का मुख्य लक्षण बतलाया है। प्रयत्न, प्रत्यय और प्रबोध—इन्हीं तकारादि तीन शब्दों में रामदास के उदात्त जीवन तथा बहुमूल्य ग्रंथों का सार है।

(क)

रामदास

स्वामी रामदास के पिता का नाम सूर्याजी पंत तथा माता का रेणुकाबाई था। सं० १६६५ वि० चैत शुक्ल नवमी के दिन ठीक रामजन्म के समय इस महापुरुष का जन्म हुआ। इस प्रकार इनका तथा तुकाराम का जन्म एक ही संवत् मे होने से ये दोनों समकालीन संत रहे। बाल्य-काल का नाम था नारायण। बारह वर्ष की अवस्था में विवाह-मण्डप में वर-बधू के बीच अंतःपट डाल कर जब ब्राह्मण लोग मंगलाचरण पाठ के अनंतर 'शुभ लग्न सावधान' की गंभीर घोषणा करने लगे, तब रामदास जी सचमुच ही सावधान होकर वहाँ से ऐसे भागे कि बारह वर्ष तक लोगों को पता ही न चला कि कहाँ गये। इस बीच में इन्होंने कठोर पुरश्चरण किया और अपनी तपस्या के बल पर भगवान् श्री रामचंद्र का साक्षात्कार किया। भारतवर्ष के समग्र तीर्थों का भ्रमण किया। इसी प्रसंग में ये काशी भी पधारे थे। बारह वर्ष तक तीर्थ-यात्रा करने के अनंतर इन्होंने सं० १७०१ के वैशाख मास में कृष्णानदी के तट पर अपना निवास स्थिर किया। दूसरे वर्ष से इन्होंने रामनवमी का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाना आरंभ किया। सं० १७०६ में (१६५० ई०) चाफल के समीप शिंगणवाड़ी नामक स्थान में रामदास ने शिवाजी को शिष्य रूप में ग्रहण किया और रामचंद्र के त्रयोदशाक्षर मंत्रका उपदेश किया। सं० १७१२ (१६५६ ई०)में शिवाजी महाराज सतारे में थे तब श्री समर्थ भिक्षा माँगते हुये राजद्वार पर पहुँचे। शिवाजी ने इनकी झोली में अपनी समग्र संपत्ति

तथा राज्य को एक पत्र में लिखकर डाल दिया तथा स्वयं भी उनके साथ झोली लेकर भिक्षाटन के लिये निकल पड़े। परंतु स्वामी जी के समझाने बुझाने पर शिवाजी ने राज्य का कार्य पुनः संभाला और शासन-कार्य में तथा अपने जीवन में जो निष्ठा, जो दीन-सेवा, जो गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन संपन्न कर दिखलाया वह भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित है।

सं० १७०८ (=१६५१ ई०) में स्वामी जी ने पंढरपुरकी यात्रा की थी जिसमें उनकी भेंट अपने समय के दूसरे वारकरी भक्त श्रीतुकाराम जी के साथ हुई। सं० १७३१ (=१६७४ ई०) मे शिवा जी राज्याभिषेक होने पर स्वामी जी के पास सज्जनगढ़ में आये तथा लगभग डेढ़ महीनों तक वहीं निवास किया तथा दरिद्रों को खिलाया। इसके पाँच वर्ष बाद सं० १७३६ (=१६६६ ई०) में दोनों की अंतिम भेंट हुई और इसी समय समर्थ जी ने छत्रपति शिवाजी को उनकी निकट भविष्य में होने वाली मृत्यु की सूचना दी और यह घटना अगले वर्ष चैत्र के महीने में हुई। स्वामीजी ने राम, सीता, लक्ष्मण तथा हनुमान की मूर्तियाँ तंजोर से बनवा कर सज्जनगढ़में स्थापित की। शिवा जी की मृत्यु के लगभग एक डेढ़ साल बाद सं० १७३८ माघ वदी नवमी (=१६८१ ई०) को श्रीरामदास जी ने श्रीरामचद्र की मूर्ति के सामने ७३ वर्ष की आयु में महाप्रयाण किया।

स्वामी जी तथा छत्रपति शिवाजी के परस्पर प्रथम मिलन की घटना कब घटी? इस विषय में मराठी इतिहासकारों में कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। परम्परागत मिलन का समय १६४६ ई० माना जाता है, परंतु कतिपय इतिहासवेत्ता १६७२ ई० में ही दोनों में प्रथम मिलन की बात मानते हैं। इस विषय में गंभीर आलोचन के अनंतर प्रोफेसर रानाडे साहब

परम्परागत मत को ही ठीक मानने के पक्ष में हैं[1]। सं० १७३८ (सन १६७८ ई०) में लिखित एक सनद में शिवाजी ने स्वामीजी के साथ अपने पूरे संबंध तथा सहयोग का पूर्ण विवरण दिया है जिसके अध्ययन से मालूम पड़ता है कि चाफड़ में राममंदिर की प्रतिष्ठा के समय से ही दोनों का संबंध आरंभ होता है। फलतः मिलन तथा उपदेश की परंपरागत तिथि ही उचित तथा इतिहास-सम्मत है। अतः शिवाजी के जीवन में राष्ट्रीय चेतना तथा धार्मिक भावना की स्फूर्ति करने में निःसंदेह स्वामी रामदास जी का हाथ रहा है।

(ख)

स्वामी रामदासजी का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'दासबोध' है जिसे हम इनकी आध्यात्मिक आत्मकथा कह सकते हैं। समर्थजी ने किन उपायों का अवलंबन कर संसार के बंधनों से मुक्त कर अध्यात्म-मार्ग में उन्नति की तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति की; इसका बोधक सुबोध छंदों में निबद्ध यह 'दासबोध' ग्रंथ है। इन्होंने मनोबोध, करुणाष्टक, आत्माराम आदि अन्य ग्रंथों की भी रचना की है।

रामदास स्वामी ने भगवान् रामचंद्र को अपना उपास्य देव मानकर 'रामदासी संप्रदाय' की स्थापना की। इस पंथ के साधु बड़ा ही सीधा तथा साधु जीवन बिताते हैं। 'रघुपति राघव राजा राम पतित-पावन सीताराम' की जय ध्वनि करते हुए ये मधुकरी माँग कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं तथा जनता के बीच विमल भक्ति का प्रचार करते हैं। वारकरी संप्रदाय पूर्ण

---

१ प्रोफेसर रानाडे—मिस्टिसिजम इन महाराष्ट्र, पृ० ३६५–३६६

रूप से निवृत्तिपरक है, परंतु रामदासी संप्रदाय में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों का यथानुरूप मिश्रण है; यही इसकी विशेषता है। ये ब्रह्मज्ञान तथा कर्मकाण्ड दोनों के साथ रामभक्ति को संपुटित कर अपने पंथ का साधनामार्ग प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी ने निष्काम कर्मयोग के उच्च आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखलाया। अपने मनोबोध श्लोकों में इन्होंने बड़े ही सुबोध शब्दों में मन को चेतावनी दी है कि रे मन, तुम्हें बहुत ही जन्मों के पुण्य के फल से यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है। इसे तू संसार के झूठे प्रपंचों में मत लगाओ, अपि तु 'हरे राम' जैसे सीधे मंत्र का जप सदा करता जा। अंत समय का विश्वास क्या? कफ के मारे कंठ रूँध जाने पर 'हरे राम' का जप ही तो सहायता करेगा तेरा?

तुला हि तनू मानवी प्राप्त झाली
यहू जन्म पुण्यें फला लागि आली।
तिला तू कसा गोंविसी विषयीं रे
'हरे राम' हा मंत्र सोपा जपा रे॥

(ग)

रामदास की शिक्षा

स्वार्थ और परमार्थ के परस्पर सहयोग का मार्ग किस प्रकार निश्चित किया जा सकता है? इसका विवेचन संतों के उपदेशों में किया जाता है। स्वामी रामदास जी ने भी इसका वर्णन दासबोध में बड़े विस्तार के साथ किया है। वे अध्यात्म-शास्त्र से जितने परिचित थे, उतने ही वे व्यवहार के भी मर्मज्ञ थे।

तभी तो उन्होंने शिवाजी के द्वारा महाराष्ट्र में हिन्दूधर्म के उत्थान का कार्य सुचारुरूप से संपन्न किया। एक सच्चे संत के समान श्रीसमर्थ ने वर्णाश्रम धर्म पर पूरी अवस्था प्रकट की है। उनका आग्रह है कि प्रत्येक प्राणी को अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार विहित कर्मों का अनुष्ठान करना नितांत आवश्यक है। ब्राह्मणों के उच्च सात्त्विक-जीवन को उन्होंने बहुत ही महत्त्व दिया है। स्वधर्म करते हुए भगवान् के चिंतन तथा ज्ञान से ही साधकको मुक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य को समस्त सांसारिक विषयों का परित्याग करके अपनी दृष्टि और विचारों का इतना अधिक विस्तार करना चाहिये कि अपने समेत सारा संसार ब्रह्ममय दिखाई पड़ने लगे और अपनी आत्मा में, लोगों के आत्मा में और उस विश्वात्मा में किसी प्रकार का भेद न रह जाय।

श्री समर्थ का आदेश है कि गृहस्थाश्रम में ही रहकर लोग परमार्थ का अधिक से अधिक साधन करें, क्योंकि संसार के सभी लोग त्यागी, विरक्त और वीतराग नहीं हो सकते। इन्होंने गृहस्थाश्रम को इहलोक तथा परलोक के साधन का मुख्य आधार बतलाया है। वे पाखंडियों से सचेत होने की शिक्षा देते हैं तथा सच्चा त्यागी बनने पर आग्रह दिखलाते हैं। श्री समर्थ ने आचार और विचार दोनों की शुद्धता पर अधिक जोर दिया है। ज्ञान की सबसे अधिक महिमा बतलाई गई है, क्योंकि आचार और विचार दोनों की शुद्धि इसी से होती है और इस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय उन्होंने गुरु की प्राप्ति तथा सेवा बतलाया है।

दासबोध में परमात्मा तथा उससे उत्पन्न सृष्टि का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया गया है। वह निराकार ब्रह्म किस प्रकार साकार रूप धारण करता है? इसका विवेचन समर्थजी ने रोचक उदाहरणों के सहारे किया है। इस परमात्मा को प्रसन्न करने का

सुगम मार्ग है भक्ति। श्रीसमर्थ ने मेघ से होने वाली वृष्टि का उदाहरण देकर बड़ी युक्ति से समझाया है कि संसार के लोगों की सेवा करने में ईश्वर प्रसन्न होता है। भगवान् की कृपा से मनुष्य का यह दुर्लभ शरीर हमें प्राप्त हुआ है। इसका प्रधान उद्देश मनुष्य को संसार के बंधन से मुक्त करना है। यदि जीव अपने शरीर का दुरुपयोग करता है तो वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है। रामदास जी के आराध्य देव श्रीरामचंद्र जी हैं जिनकी दास्यभाव से उपासना इस मत को मान्य है। इसी लिये समर्थ जी हनुमान् जी के अवतार माने जाते हैं।

(४) हरिदासी मत –पंढरपुर के श्री विट्ठल जी की उपासना केवल वारकरी संप्रदायमें ही मान्य नहीं है, अपि तु तैलंग देश तथा कर्णाटक प्रांत के संतों तथा भक्तों के भी ये ही उपास्य देव माने जाते हैं। १३ वीं शती में विजयनगर के सम्राट कृष्णदेव राय ने पंढरपुर की यात्रा की थी। मूर्ति के रूप से इतने आकृष्ट हुए थे कि वे इसे बड़ी पवित्रता से उठाकर अपनी राजधानी में ले गये थे। किस प्रकार इस मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा पंढरपुर में श्री एकनाथ जी के प्रपितामह भानुदास जीके द्वारा की गई ? इसका उल्लेख हमने गत पृष्ठों में किया है। यहाँ इसके उल्लेख का यही तात्पर्य है कि पंढरपुर केवल महाराष्ट्र देश के ही संतों का उपासनाक्षेत्र नहीं था, प्रत्युत दक्षिण भारत के भी संत महात्मा यहाँ जुटते थे तथा भगवद्भजन में लीन रहा करते थे। कर्णाटक देश के बहुत से संत जो हरिदासी नाम से विख्यात हैं विट्ठल जी को अपना उपास्य-देव मानते थे। ये हरिदासी संत मध्वाचार्य के द्वैत-संप्रदाय के अंतर्भुक्त थे। इनमें से सबसे प्रसिद्ध हुए पुरंदर-दास (सं० १५४१–१६२१) जिनका काव्य भक्ति भावना से ओत-प्रोत होने से नितांत सरस तथा अत्यन्त लोकप्रिय है।

इनके अतिरिक्त विजय दास, जगन्नाथ दास तथा कनकदास की गणना हरिदासी संतों में विशेष रूप से की जाती है। ये लोग बाह्य-पूजा विधानों से उदासीन रहा करते हैं और इनका अधिक झुकाव निवृत्ति मार्ग की ओर है। आध्यात्मिक जीवन केवल इने गिने व्यक्ति के लिये ही अनुकूल नहीं है, बल्कि उसके अधिकारी जनसाधारण भी माने जा करते हैं। ये संत कर्णाटक देश के हैं। ये विट्ठल के अनुयायी होने के अतिरिक्त तिरुपति के वेङ्कटेश तथा उडुपी के कृष्ण के भी उपासक हैं।

(५) *गुजरात में वैष्णव धर्म*

गुजरात प्रदेश में द्वारिका और डाकोरजी ये दो मुख्य वैष्णव पीठ हैं। अतः वैष्णव धर्म का यह भी एक महनीय प्रदेश है परंतु यहाँ वैष्णव-धर्मका प्रचार कब हुआ ? इसका निर्णय ठीक २ नहीं हो सकता। गुप्त-युग में जब समग्र उत्तर भारत में वैष्णवता की लहर प्रवाहित हो रही थी यह प्रदेश भी उससे अछूता नहीं बच सका। वल्लभी के राजा ध्रुवसेन का ५२६ ई० में एक शिलालेख मिलता है जिसमें वह अपने को परम भागवत के नाम में अभिहित करता है। दशम शतक में वैष्णव धर्म का प्रचार गुजरात तथा सौराष्ट्र में भली भाँति था। कृष्ण की उपासना का निर्देश करने वाला पहला शिलालेख १२६२ ई० का मिलता है जिसमें वघेल शारंगदेव राजा के एक अधिकारी ने एक मंदिर में कृष्ण पूजा के निरंतर होने के लिए कुछ दान दिया है। १३ वें शतक में गुजरात वैष्णव धर्म का एक प्रधान प्रांत माना जाने लगा, क्योंकि द्वारिका तथा डाकोर जी इन दोनों वैष्णव तीर्थों की ख्याति इस समय पूर्ण रूप से फैल गई। द्वारिका जी में भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति है और स्थान के महत्त्व से आकृष्ट होकर आद्यशंकरा-

चार्य ने अष्टम शतक में ही अपना एक पीठ यहीं स्थापित किया था। डाकोर में रणछोड़ राय जी के वर्तमान विशाल मंदिर का निर्माण १७७२ ई० में पेशवा के एक बड़े अधिकारी गोपाल यदुनाथ तांबेकर ने किया था।

मध्ययुग में यहाँ भक्ति के प्रचुर प्रचार का श्रेय दो गुजराती कवियों को दिया जाना चाहिए—नरसी मेहता तथा मीराँबाई को। नरसिंह मेहता के उदयकाल में आलोचकों में अभी मतभेद बना हुआ है। अधिकांश लोग इनका जन्म १४७० विक्रमी (=१४१४ ई०) मानते हैं और इस प्रकार ये वल्लभाचार्य जी से प्राचीन माने जाते हैं। नरसी मेहता की अधिकांश कविता राधाकृष्ण की ललित लीलाओं को आश्रित कर लिखी गई हैं और वे विशुद्ध प्रेम का कमनीय चित्रण प्रस्तुत करती हैं। ये गुजराती भाषा के सब से प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय वैष्णव कवि हैं जिन्होंने अपनी कविता के द्वारा श्रीराधाकृष्ण की विमल भक्ति का प्रचुर प्रचार गुजरात देश में किया। मीराँबाई तो मेवाड़की रहने वाली थीं, परंतु अंत समय में उन्होंने द्वारिकापुरी को ही अपनी दिव्य भक्ति का प्रचार क्षेत्र बनाया। मीराँ के समय से पहिले वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी की कृपा तथा अश्रांत उद्योग से पुष्टि-मार्ग का प्रचार यहाँ हो चुका था और समस्त देश भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति से आप्यायित हो चुका था। आज गुजरात में वैष्णव धर्म की वैजयंती फहराने का श्रेय गोसाईं जी को दिया जाना चाहिए जिन्होंने अपने कर्मठ जीवन में छः वार गुजरात की यात्रा पुष्टिमार्ग के प्रचार के लिए की।

आजकाल गुजरात में एक अन्य वैष्णव धर्म का भी विपुल प्रसार है जो श्री स्वामी नारायण पंथ के नाम से विख्यात है। इस मत के संस्थापक श्रीस्वामी नारायण जी का जन्म १८२७

वि० (=१७८१ ईस्वी) में अयोध्या के पास 'छपिया' ग्राम में एक सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में हुआ था। पिता का नाम था धर्मदेव जी तथा माता का भक्तिमती देवी और इनका भी बाल्यकाल का नाम था घनश्याम। १२ वें वर्ष में ही पिता के देहावसान के अनंतर ये 'नीलकण्ठ वर्णि' नाम रखकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े और 'पीपलाणा' नामक स्थान पर उद्धव के अवतार श्री रामानंद स्वामी से १८५७ विक्रमी में बीस साल की उम्र में वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की। अगले ही वर्ष इनके गुरु ने जेतपुर नगर की गद्दी पर अपने अधिकारी के रूप में इन्हें अभिषिक्त किया। १८८६ विक्रमी में ४६ वर्ष की आयु में इन्होंने अपना लीलासंवरण किया।

इस पंथ का संबद्ध श्री विशिष्टाद्वैत मत से है। अतः इनके सिद्धांतों के ऊपर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से अनुमित किया जा सकता है। श्रीस्वामी जी का 'शिक्षापत्री' नामक संस्कृत में निबद्ध ग्रंथ इनकी शिक्षाओं तथा उपदेशों का सार प्रस्तुत करता है। दूसरे ग्रंथ 'वचनामृत' में सांख्य, योग तथा वेदांत के सिद्धांतों का समन्वय है। 'शिक्षापत्री' में उन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन संक्षेप में किया है—

> मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
> तत्र ब्रह्मात्मना कृष्ण-सेवा मुक्तिश्च गम्यताम्॥

अर्थात् विशिष्टाद्वैत मेरा सिद्धांत है। गोलोक मेरा अभीष्ट धाम है। ब्रह्म रूप से श्रीकृष्ण की सेवा तथा मुक्ति ही मेरा लक्ष्य है। भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वांतर्यामी पुरुषोत्तम हैं। वे कल्याण-गुणगण-विशिष्ट हैं। ज्ञान, शक्ति आदि छः गुणों से युक्त होने के कारण वे भगवान् कहलाते हैं तथा पर-पुरुष

तथा अक्षर पुरुष दोनों से परे हैं। इन्हीं की दृढ़ निष्ठापूर्वक सेवा करने से भक्त की अभिलाषा-पूर्ति होती है। देवनिंदा, अहिंसा आदि एकादश दोषों का परिहार कर श्री पुरुषोत्तम के शरणापन्न होना ही जीवन का परम कर्तव्य है। अतः यह भी श्री कृष्णभक्ति का प्रचार करने वाला ही वैष्णव पंथ है जिसने गुजरात के निवासियों में वैष्णवता का प्रचुर प्रचार किया है—

स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भाव-कारणम् ॥

—शिक्षापत्री

गुजरात के परमभागवत कवि नरसी मेहता का वैष्णव भक्त के लक्षण का प्रतिपादक यह पद महात्मा गांधी जी की कृपा से भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया है—

वैष्णव जण तो तेणे कहीये जे पीर पराई जाणे रे।

—०—



(१२)

वैष्णव साधना

(१) वैष्णव दर्शन की विशिष्टता
(२) साम्य और वैषम्य
(३) पंचधा भक्ति
(४) गोपी भाव
(५) रस साधना
(६) उपासना तत्त्व

मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ॥

—गीतगोविन्द

(१)

वैष्णव दर्शन की विशिष्टता

भारतवर्ष की साधना-प्रणाली में वैष्णव धर्म की एक अपनी विशिष्टता है। साधना ही किसी धार्मिक संप्रदाय का मेरुदण्ड है। साधना के वैशिष्ट्य से ही संप्रदाय-विशेष का वैशिष्ट्य संपन्न होता है। वैष्णव धर्म की मूल तात्त्विक भावना की मीमांसा उसके वैशिष्ट्य के अनुशीलन के लिए नितांत आवश्यक है। उपास्य देवता की विभिन्नता को किसी संप्रदाय-विशेष की भिन्नता का कारण मानना वस्तुतः न्यायसंगत नहीं है। शिव को उपास्य-देव मानने के कारण ही कोई संप्रदाय 'शैव' माना जाय तथा विष्णु को उपास्य देव मानने के ही हेतु कोई मत 'वैष्णव' समझा जाय; यह पार्थक्य का पूर्ण तथा सयुक्तिक हेतु नहीं है। उनके तत्त्वविषयक सिद्धांत की विषमता ही उनके पार्थक्यका सबल हेतु माना जाना चाहिए।

(१) शैव तथा वैष्णव मतोंमें जीवकी कल्पना में पर्याप्त अंतर है। शैव दर्शन के अनुसार जीव वस्तुतः शिव ही है, परंतु त्रिविध मल के कारण वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वकर्तृत्व तथा सर्वज्ञत्व से वंचित होकर अल्प-शक्तिमान्, किंचिज्ज्ञ तथा किंचित्कर्तृमान् ही बन जाता है। जीव की शक्ति को परिच्छिन्न करने वाला दोष 'आणव मल' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। आणव मल के कारण ही जीव विभु के स्थान पर अणु बन जाता है। अपरिच्छिन्न शक्ति के स्थान पर केवल परिच्छिन्न

शक्ति का पात्र बन कर संसार के कार्यों में वह व्यापृत रहता है। दीक्षा के द्वारा ही जीव इस मल से नितान्त मुक्त होकर शिव के साथ ऐक्यभाव को प्राप्तकर अपने लक्ष्य साधन में कृतकार्य होता है। शैवतंत्र के अनुसार मुक्त जीव शिव ही है, वह स्वतंत्र है, क्रिया और ज्ञान का वह एक ही अभिन्न आधार है। स्वातंत्र्य के साथ कर्तृत्व की कल्पना नितांत संश्लिष्ट है। स्वतंत्र वही होता है जो कर्ता हो, क्रियासंपादन की योग्यता रखता हो। स्वतंत्रः कर्ता। इस प्रकार मुक्त जीव केवल ज्ञान-रूप ही नहीं होता, प्रत्युत वह कर्ता भी होता है। शैव कल्पना में जीव स्वतंत्र है; उसके रूप को परिच्छिन्न बनाने वाली अणुता केवल मलरूप ही होती है।

परंतु वैष्णव मत में जीव का अणुभाव नैसर्गिक है। जीव सदा ही अणु है, परिच्छिन्न है। जीव सदा ही अंश है, अंशी रूप भगवान् के सर्वदा अधीन है। भागवत मत का यही मौलिक सिद्धांत है कि भगवान् स्वामी, विभु तथा अंशी है तथा जीव सर्वदा ही दास, अणु तथा अंश है। जीवका अणुत्व किसी भी दशा में निवृत्त नहीं होता। संसारी दशा में तो वह अशुद्ध मन, प्राण, देह आदि के बंधनों से बद्ध रहता ही है, मुक्तदशा में वह इन बन्धनों से तो मुक्त अवश्य हो जाता है, तथापि उसके अणुत्व की निवृत्ति उस समय में भी नहीं होती। द्वैतवादी माध्व मत में तो मुक्त दशा में भी स्पष्टतः जीवों में तारतम्य का सिद्धांत मान्य है। संसार-दशा के समान मुक्ति-दशा में भी जीवों में परस्पर तारतम्य विद्यमान रहता है और वह भगवान् से पृथक् सत्ता ही धारण करता है। माध्व मत में मुक्त पुरुषों की आनंदानुभूति में भी तारतम्य होता है। सब मुक्त पुरुष एक समान ही आनंद का अनुभव नहीं करते। द्वैतवादी के समान

इतना दूर न जाने पर भी जीव के अणुत्व की सत्ता में प्रत्येक वैष्णव संप्रदाय का आग्रह है। मुक्त दशा में जीव अपनी पृथक् सत्ता बनाये हुए ही रहता है। मुक्ति के किसी प्रकार में भी उसके अणुत्व की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार राजा का प्रिय सेवक राजमहल में पहुँच कर सब सुखों को भोगता है, परंतु स्वतंत्र रूप से नहीं, अपि तु राजा के परतंत्र रूपसे ही। वह सब वैभव का उपभोग करता है परंतु दास्यत्वेन, स्वामित्वेन नहीं। जीव का यह अधीनभाव स्वभाव ही है। इस स्वभाव की निवृत्ति न तो संसारी दशा में होती है और न मुक्ति दशा में। तथ्य यह है कि भक्ति संप्रदाय में अत्यन्त अल्प मात्रा में ही सही द्वैत भाव अवश्यमेव विद्यमान रहता है। इस प्रकार शैव मत जहां स्वातंत्र्य के ऊपर आश्रित है, वहां वैष्णव मत पारतन्त्र्य के तथ्य पर अवलंबित है। दोनों में यह मौलिक भेद ध्यान देने योग्य है।

(२) शैवमत की तुलनामें वैष्णवमतका साधन तत्त्व भी भिन्न है। शैवमत में ज्ञान तथा भक्ति दोनों का शिवत्व प्राप्ति में साधनत्व है। द्वैतवादी 'शैवसिद्धांत' मत में भक्ति की उपादेयता मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती, परंतु अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञामत में भी ज्ञान के साथ भक्ति का उपयोग है। अद्वैत ज्ञान की संपत्तिदशा में अद्वैत सत्ता का ही साम्राज्य रहता है। एक ही शिव अपनी नाना आकृतियों से खेला करता है। वही राजा है और वही प्रजा है। फलतः एकत्व-संपन्न शिव अपनी ही विभिन्न अभिव्यक्तियों के साथ लीला किया करता है। फलतः यहाँ ज्ञान तथा भक्ति का एकत्व तथा अभिन्नत्व अभीष्ट होता है शैव संप्रदाय में।

परंतु वैष्णव मत में भगवत्प्राप्ति में भक्ति ही केवल साधन है, ज्ञान और कर्म तो गौणरूप से उसके सहायकमात्र हैं। रामानुज मत में तीनों के परस्पर फल की मीमांसा नितांत स्पष्ट है। रामानुजके मतमें भगवत्-रूप विशेष्यकी प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अचित् (जड़) तथा चित् (जीव) तो उस विशेष्य के विशेषणमात्र होते हैं। साधक कर्म के द्वारा अचित् तत्त्व अथवा प्रकृति को अपने वश में कर लेता तथा ज्ञान के द्वारा वह चित् तत्त्व अर्थात् आत्मा को वश में कर लेता है। इस प्रकार कर्म ज्ञान को उद्बुद्ध करता है तथा ज्ञान भक्ति को। और चरम लक्ष्य की प्राप्ति में भक्ति ही एकमात्र साधन है। अन्य भागवत संप्रदायों में भी भक्ति की उपादेयता अक्षुण्ण ही रहती है।

(३) मुक्तावस्था में भी वैष्णव संप्रदाय की कल्पना शैव संप्रदाय से नितांत भिन्न है। वैष्णवमत में जीव संसार-दशा से मुक्त होकर उत्क्रमण-काल में माया के आवरण को भंग कर महामाया के राज्य में प्रवेश करता है और अपनी योग्यता के अनुसार वहीं भ्रमण किया करता है। वैकुण्ठ तथा गोलोक आदि लोक इसी त्रिपादविभूति में स्थित होने से शुद्ध सत्त्व से बने रहते हैं। मुक्त जीव भी भगवान् के कैंकर्य तथा सेवा के निमित्त शुद्ध सत्त्व से विनिर्मित देह को धारण करता है। इस प्रकार वह योगमाया के लोक का कदापि अतिक्रमण नहीं करता है, क्योंकि वैष्णवों के मान्य ऊर्ध्व लोकों का अस्तित्व इसी लोक में होता है जहाँ जीव को 'पूर्ण अहं' की प्राप्ति का अवसर नहीं मिलता। 'पूर्ण अहं' का स्थान योगमाया के लोक के भी ऊपर है और वहीं शैव-मतानुसार जीव अपने आणव मल से भी उन्मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य रूप 'पूर्ण अहं'

भाव में प्रतिष्ठित होता है। 'स्वातंत्र्यवाद' को पुरस्सर करने वाले शैवमत में जीव का अणुत्व मल होने के कारण 'पूर्ण अहं' भाव की उपलब्धि में बाधक का काम कथमपि नहीं करता।

(२)

वैष्णव मतों में साम्य और वैषम्य

वैष्णव सम्प्रदायों में कतिपय सिद्धांतों को लेकर परस्पर में मतभेद तथा वैषम्य अवश्यमेव वर्तमान है, तथापि कतिपय ऐसे तथ्य हैं जिनमें वैष्णवमात्र, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी हो, समभावेन श्रद्धा रखता है और उनकी सत्यता में पूर्ण विश्वास रखता है।

(क)

साम्य

वैष्णवों के अनुसार भगवत् तत्त्व सगुण तथा साकार है जिसकी पृष्ठ-भूमि में निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म सर्वदैव विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिए हम सूर्य तथा उससे विनिर्गत प्रभापुंज को ले सकते हैं। सूर्य स्वयं सगुण तथा साकार रूप में विद्यमान रहता है, परंतु उससे निकलने वाला प्रभापुंज जगत् में व्यापक होने पर भी निराकार ही रहता है। गीता के अनुसार अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम में यही सूक्ष्म विवेचनीय अंतर है। अक्षर ब्रह्म तो निर्गुण रूप ही है, परंतु भगवान् अनंत-कल्याण-गुण-निकेतन, समस्त-प्राकृत-गुण

विहीन, हेयप्रत्यनीक होता है तथा भक्तों की रसमयी भक्ति के परवश होकर इस प्राकृत लोक में अपनी लीला के आस्वाद के लिए भी अवतार धारण करता है। वह अपने भगवद्धाम में विग्रह धारण करता है और यह विग्रह छः गुणों के समुच्चय से संपन्न होता है जिनके नाम हैं—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। भगवान् निर्गुण होकर भी सगुण होता है। अप्राकृत गुणों से हीन होने के कारण वह 'निर्गुण' कहलाता है और उपर्युक्त छः गुणों से संवलित होने के हेतु वह 'सगुण' अथवा 'षाड्गुण्यविग्रह' कहलाता है। यह भगवान सर्वदा स्वामी, विभु तथा शेषी होता है और जीव स्वभाव से ही दास, अणु तथा शेष होता है। वैष्णव मत की यह मौलिक कल्पना है जिसकी स्थापना शैव मत की तत्सदृश भावना के साथ तुलना कर के ऊपर सप्रमाण की गई है।

भगवान् केवल भक्ति के द्वारा ही प्राप्य हैं। ज्ञान तथा कर्म का आश्रय भी वैष्णव मत में मान्य है, परंतु अंगत्वेन, मुख्यत्वेन नहीं अर्थात् कर्म के अवलंबन से भक्त का चित्त शुद्ध होता है तथा ज्ञान के द्वारा आत्मा का बोध होता है, परंतु परमात्मा की उपलब्धि में भक्ति ही एकमात्र साधन है। भक्ति साधनरूपा भी है तथा साध्य-रूपा भी। साधनभक्ति नवधा मानी जाती है जिसमें 'आत्मनिवेदन' ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। सब वैष्णव-संप्रदाय 'शरणागति' की श्रेष्ठता तथा उपादेयता पर एकमत हैं। 'शक्तिपात' के द्वारा ही जीव का परम कल्याण होता है। भक्ति इस लोक की वस्तु नहीं है। बिना भगवान् के अनुग्रह के जीव में न तो भक्ति का उदय हो सकता है, न वह भगवान् के कैंकर्य को ही प्राप्त कर सकता है।

वैष्णव मतों की आस्था केवल विदेहमुक्ति के ऊपर ही है, जीवन्मुक्ति के ऊपर नहीं। जब तक जीव देह धारण किये रहता है, तब तक दुःखों के क्षीण होने पर भी वे सर्वदा के लिए क्षीण तथा ध्वस्त नहीं हो जाते। देह की सत्ता उनके पुनः उदय की संभावना लिये रहती है। विदेह मुक्ति होने पर ही जीव भगवान् के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करता हुआ आनंदमय जीवन बिताता है। मुक्त दशा में भी जीव सेवा के निमित्त देह धारण करता है, परंतु यह शरीर शुद्ध सत्त्व के उपादान से निर्मित होने के कारण अप्राकृत, शुद्ध चिन्मय, नितांत विशुद्ध होता है। सामीप्यादि मुक्तिभेदों में भक्त का भगवान् से किंचिदंश में भेद बना रहना स्वाभाविक ही है, परंतु सायुज्यमुक्ति में भी जहाँ मुक्त जीव भगवान् के साथ एकभावापन्न हो जाता है, वहाँ भी जीव का पृथग्भाव ही रहता है। वैष्णवों की मुक्ति समुद्र में बिंदु के विलय समान नहीं है, प्रत्युत वह दो समकेंद्री वृत्तों के मिलन के सदृश है जिसमें एक के ऊपर रखने से दूसरा वृत्त एकाकार अवश्य हो जाता है, तथापि वह अपनी पृथक सत्ता तथा वैशिष्ट्य बनाये रखता है।

(ख)

वैषम्य

इस प्रकार ईश्वर, जीव तथा मुक्ति की कल्पना में बहुशः साम्य होने पर भी जीव तथा ईश्वर के परस्पर संबंध को लेकर वैष्णव-संप्रदायों में पर्याप्त पार्थक्य है। भक्ति भावना के विरोधी होने के कारण शंकराचार्य द्वारा निर्दिष्ट मायावाद का खंडन

(३)

पंचधा भक्ति

आत्मसंसिद्धि के साधनों में भक्तिमार्ग का साधन बहुत अमोघ साधन माना जाता है। परब्रह्म के विषय में भागवत संप्रदाय का बीज इस श्रुतिवाक्य में निहित है—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति। श्रीमद्‌भागवत में इसी बीज का विस्तार लक्षित होता है। समस्त वैष्णव संप्रदायों में रससिद्धांत का कुछ न कुछ वर्णन मिलता है, परंतु गौडीय वैष्णव संप्रदाय का यह तो सर्वस्व है।

'रस' एक समग्र मानसिक वृत्ति है और 'भाव' उसी का प्रारंभिक आधार है। 'रस' भाव की ही एक दशा है और वह भावमयी अवस्था एक अनन्य अखण्ड मनोऽवस्था है। रस के उन्मेष के निमित्त मुख्य आधार को बाह्य वस्तुओं के परिपोष की आवश्यकता होती है। इसमें अंदर की वस्तु है—भाव और बाहरी वस्तुएँ हैं—विभाव, अनुभाव आदि। रस के उन्मीलन के निमित्त 'भाव' ही मुख्य आधार है। 'भक्ति रसामृत सिंधु' में 'भाव' की यह परिभाषा है—

> शुद्धसत्त्व-विशेषात्मा प्रेमसूर्यांशु-साम्यभाक्।
> रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥

विशेष शुद्धसत्त्व से संपन्न जीव प्रेम सूर्य के किरण के समान है। रुचि (अर्थात् भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा, भगवान् के अनुकूल होने की इच्छा) के द्वारा चित्त को स्निग्ध बनानेवाली जो इसकी शक्ति है वही 'भाव' कहलाती है।

भाव एक मनःस्थिति है जो परब्रह्म परमात्मा की चिच्छक्ति की दिव्य अभिव्यक्तियों का प्राकृतिक गुण होने के कारण स्वभावतः तथा स्वरूपतः शुद्ध चित् ही है। इस स्थिति में भगवत्-संबंधी नानाविध तदनुकूल इच्छायें मन को मृदु तथा शांत बना देती हैं जिससे वह अनेकविध भावों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। भाव की इस परिभाषा के अनुसार श्रीकृष्ण के नित्य सहचरों तथा सहचरियों के मन के भाव को ही 'भाव' कहते हैं। और जब यही भाव चित्त में अचल हो जाता है तब उसे 'स्थायी भाव' कहते हैं। वैष्णव शास्त्रों के अनुसार रस का स्थायी भाव कृष्ण रति' ही है। 'अलंकार कौस्तुभ' के अनुसार यह स्थायी भाव चित्त का आस्वाद के अंकुर का मूलस्थानीय कोई धर्म है अर्थात् यह भगवान् की ही आनंदमयी शक्ति है जो जीव के अंदर सूक्ष्म तथा अप्रकट रूप से अवस्थित रहती है, पर है यह सनातन। इसका आविर्भाव मन में तभी होता है जब वह रज तथा तम से रहित होकर शुद्धसत्त्व में प्रतिष्ठित होता है—

> आस्वादाङ्कुर-कन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।
> रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया मनः।
> स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया॥
> (अलंकार कौस्तुभ, किरण ५. श्लोक २)

कृष्णरति वस्तुतः एकरूपा ही है, फिर भी एक ही व्यापक भाव चित्तभेद से विभिन्न रूपों में उदित हो सकता है। और इसीलिए यह 'कृष्णरति' वैष्णव ग्रंथों में पाँच प्रकार की मानी गई है—शांति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता (अथवा माधुर्य) और इन्हीं से तत्तद् नामक पाँच रसों का उदय होता है।

(१) 'शांति रति' से शांतिरसका उदय होता है। रूप गोस्वामी की इस रस की व्याख्या आलंकारिकों की व्याख्या से नितांत भिन्न है। शांति का अर्थ शम और भागवत के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण में निरंतर अनुराग होना ही 'शम' है[1]। और जहाँ भगवान् में चित्त अनुरक्त हो जाता है वहाँ वह सांसारिक विषयों से विरक्त हो जाता है। शांतरस के अनुयायी भक्तों का प्रधान लक्षण है भगवान् में चित्त का अबाध गति से अनुरक्त होना। इनकी पहिचान भी कई चिन्हों से होती है—(१) नासाग्र दृष्टि, (२) तपस्वी का सा ऊपरी व्यवहार, (३) अभक्तों से द्वेष नहीं और भक्तों से राग नहीं, (४) सांसारिक बातों में रागद्वेष का अभाव आदि। जिस प्रेम से शांतरस के परमानंद की प्राप्ति होती है उसमें एक बड़ा दोष यह है कि वह भगवान् के साथ किसी वैयक्तिक संबंध के ऊपर आश्रित नहीं रहता है और इसी लिए वैष्णव शास्त्र में रस के आरोहण क्रम में शांतरस का स्थान बहुत ही नीचा है।

(२) प्रीतिरस या दास्यरस का स्थायीभाव भक्त की यह संतत भावना ही है कि मैं भगवान् का अनुग्राह्य हूँ और वे मेरे अनुग्रहकर्ता हैं। मैं उनका सेवक हूँ और वे मेरे स्वामी हैं[2]। प्रीति दो प्रकार की होती है—(१) संभ्रम प्रीति और (२) गौरवप्रीति। 'संभ्रमप्रीति' में भक्त का भगवान् में परभाव होता

---

१ भक्ति रसामृत सिन्धु २।५।१३—१४

२ स्वस्माद् भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता ।।
—भक्तिरसामृतसिन्धु २।५।२३

है; भक्त अपने को भगवान् से अत्यंत हीन तथा दीन समझता है और भगवान् के अनुग्रह की इच्छा रखता है। 'गौरवप्रीति'-संपन्न भक्त सदा भगवान् के द्वारा रक्षित तथा पालित होने की इच्छा रखता है। भक्त के चित्त में जो यह भावना निरंतर जाग्रत रहती है कि श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु तथा रक्षक हैं इसी को शास्त्र में 'गौरव' कहा जाता है और 'गौरव प्रीति' में इसी भावना से भक्त को आनंद मिलता है। इस 'प्रीति रस' में भक्त के चित्त में हीनता, दीनता तथा मर्यादा का भाव सदा जाग्रत रहता है। मर्यादा के अंतर्गत होने से 'दास' भक्त के कार्यों से भगवान् को विशेष आनंद की प्राप्ति नहीं होती। दास भक्तों के चार भेद होते हैं:—

(१) अधिकृत, (२) आश्रित, (३) पारिषद् और (४) अनुग। अधिकृतदास भक्तों में ब्रह्मा, इंद्र, कुबेर आदि मुख्य माने जाते हैं। आश्रित भक्त तीन प्रकार के होते हैं—

(क) शरणागत—भगवान् के शरण में आये हुए सुग्रीव, विभीषण आदि भक्त।

(ख) ज्ञाननिष्ठ—भगवान् के तत्त्व को जानकर जिन लोगों ने मोक्ष की इच्छा छोड़कर कर केवल भगवान् का ही आश्रय ग्रहण किया है, जैसे सनक, शुकदेव आदि।

(ग) सेवानिष्ठ—भुक्ति-मुक्ति की सकल स्पृहा को छोड़कर केवल भगवान् की सेवा ही जिनका-जीवन व्रत है जैसे हनुमान्, पुण्डरीक आदि

जो सारथि आदि के कार्यद्वारा भगवान् की सेवा करते हैं और समय समय पर साथ रहकर सलाह आदि भी दिया करते हैं उनकी गणना पारिषदों में की जाती है जैसे उद्धव, भीष्म,

विदुर, संजय आदि। अनुगभक्तों का कार्य भगवान् का सदा अनुगमन करना तथा सेवा करना होता है। ये भी अपने स्थान के कारण 'पुरस्थ' तथा 'व्रजस्थ' भेद से दो प्रकार के माने गये हैं।

दास्यरस का स्थायी भाव है संभ्रमप्रीति जो प्रेमा, स्नेह तथा राग का रूप धारण कर उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जब संभ्रमप्रीति इतनी बद्धमूल होती है कि इसमें साधक को ह्रास की तनिक भी आशंका नहीं होती, तब इसे प्रेमा कहते हैं। यही प्रेमा गाढ़ होने पर चित्त को द्रवीभूत करता है तब स्नेह की पदवी पाता है। स्नेह का प्रधान चिह्न है—क्षणिक भी वियोग को न सहना[1]। प्रिय के विरहमें भक्त की आकुलता का कारण यही स्नेह होता हैं। 'राग' स्नेह के ही उत्कर्ष का अभिधान है।

'राग' दशा में भक्त भगवान् श्रीकृष्ण के साक्षात्कार से या तत्तुल्य स्फुरण से या कृपालाभ से भगवान् का अंतरंग बन जाता है और तब दुःख भी सुख बन जाता है और भक्त अपने प्राणनाश की तनिक भी चिंता बिना किये हुए उनकी प्रीति के अर्जन में आसक्त रहता है। इस प्रकार 'राग' 'प्रीति' की चरमावस्था का अभिधान है।

(३) प्रेयोरस—'दास्य रस' में एक प्रतिबंध रहता है जिससे भक्त भगवान् के सामने मर्यादा का पालन करता हुआ उनके प्रति गौरव भाव तथा आदर भाव से विजृम्भित रहता है। उनके सामने अपना हृदय खोल कर दिखलाने से सदा पराङ्मुख रहता

---

१ सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते।
क्षणिकस्यापि नेह स्याद् विश्लेषस्य सहिष्णुता॥
—भक्ति रसामृतसिंधु ३।२।४५

है। 'दास्य' की यह विलक्षण भावना 'संभ्रम' शब्द के द्वारा व्यक्त की जाती है। 'सभ्रम' का अर्थ है गौरव के द्वारा उत्पन्न व्यग्रता (गौरवकृत-वैयग्रम)। सख्य रति का मुख्य चिन्ह है विश्रम्भ अर्थात् किसी प्रकार के प्रतिबन्ध से रहित गाढ़ विश्वास[1]। सखा अपने सखा से अपने हृदय की गोपनीयतम घटना को भी स्पष्ट शब्दों में प्रगट करने में तनिक भी आनाकानी नहीं करता। सख्य है एक वर्ण, एक वेश, एक से ही गुण, एक से ही पद तथा एक ही सी स्थिति वाले दो मनुष्यों का अपनी गुह्य से गुह्य वस्तु को न छिपा रखना। यही सख्यरति विभाव आदि उचित उपकरणों के द्वारा परिपुष्ट होने पर सख्य रस में परिणत हो जाती है। दास्यरस की अपेक्षा सख्यरस (प्रेयोरस) की महनीयता बहुत ही अधिक है। यहाँ भक्त भगवान् के सामने अपने मनोगत भावों को, गुह्य से गुह्य होने पर भी, निर्भयता तथा स्वच्छंदता के साथ प्रकट करता है। अतः आदर्श प्रेमस्वरूप भगवान् के साक्षात्कार की इसमें बहुत अधिक संभावना रहती है। विश्रंभ का गाढविश्वास–विशेष आपस में सर्वथा अभेद प्रतीत रूप होता है अर्थात् मित्रों में किसी प्रकार की भेद-भावना को स्थान नहीं मिलता। इसलिए इसमें किसी प्रकार की 'यंत्रणा' (बंधन, प्रतिबंध या संकोच) नहीं रहती और इसी कारण सख्य की भूयसी महत्ता है।

---

१ विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः ॥ ५४ ॥
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक् ।
विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः ॥ ५५ ॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिमविभाग, तृतीय लहरी

सख्यरस के भक्तों के दो प्रकार होते हैं—

(१) पुरसंबंधी जैसे अर्जुन, भीम, द्रौपदी आदि—

(२) व्रज-संबंधी में चार अवांतर भेद माने जाते हैं—

(क) सुहृत् सखा—श्रीकृष्ण से उम्र में कुछ अधिक, वात्सल्य भाव से युक्त सदा श्रीकृष्ण की रक्षा में तत्पर सुभद्र, बलभद्र आदि।

(ख) सखा—उम्र में श्रीकृष्ण से कुछ कम और उनके सेवा-सुख के आकांक्षी देवप्रस्थ, मरन्द, मणिबन्ध आदि।

(ग) प्रिय सखा—उम्रमें श्रीकृष्ण के समान, श्रीकृष्ण के साथ सदा निः संकोच भावसे खेलने वाले श्रीदाम, सुदाम आदि।

(घ) प्रियनर्म सखा—इनसे भी अधिक भाववाले, अत्यंत अंतरंग. गोपनीय लीलाओं के सहचर सुबल, उज्ज्वल, अर्जुन गोप आदि।

सख्यरति में विश्रम्भ के विद्यमान होने पर भी उसमें एक त्रुटि लक्षित होती है। देश, काल तथा परिस्थिति-जन्य ऐसे प्रतिबंध उत्पन्न हो जाते हैं कि भक्त का पूरा समय इसी भाव में पूरा पूरा निमग्न नहीं रहता। फलतः रस की पूर्णता के निमित्त जिस आह्लादमयी दशा की आवश्यकता होती है, उसका यहाँ नितांत अभाव रहता है। इसी से 'वात्सल्यरति' की श्रेष्ठता तथा ग्राह्यता इसकी अपेक्षा अधिक होती है।

(४) **वात्सल्यरस** का स्थायिभाव वात्सल्यरति है। इसमें न तो 'संभ्रम' के लिए स्थान रहता है न विश्रम्भ के लिए, प्रत्युत इनसे भी ऊपर उठकर अनुकंपा करने वाले व्यक्ति का अनुकम्प्य व्यक्ति

के लिए स्वाभाविकी रति या प्रेम रहता है इसी का नाम वात्सल्य है[1]। 'कृष्ण मेरा है,' 'मेरा प्यारा दुलारा है' यह 'ममता' के नाम से प्रसिद्ध भावना वात्सल्य का ही रूप है। इस संबंध की विशेषता यह होती है कि इसमें भगवान् का ऐश्वर्य-भाव बहुत कुछ दबा रहता है। माता यशोदा श्रीकृष्ण के अद्भुत ऐश्वर्य को अपनी वात्सल्य-भावना के सामने भूल सी जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण समय समय पर अपनी भगवत्ता दिखलाते हैं, परंतु न नंदबाबा को उसकी सुधि रहती है और न यशोदा मैया को। दोनों श्रीकृष्ण को अपना प्रिय पुत्र मानते हैं और उसके लिए आनंद देने वाली सब वस्तुएँ इकट्ठा किया करते हैं। उनका हृदय कृष्ण की चिंता तथा भय से व्याकुल हो उठता है। बाल कृष्ण का कल्याण चिंतन ही उनके जीवन की मंगलमयी भावना है।

पूर्व वर्णित तीनों रसों में वात्सल्य ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होता है। इसका मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक है। भगवान् तथा भक्त के हृदय का परस्पर आकर्षण सर्वत्र एक समान नहीं है। भगवान् हमारी ओर प्रेम भाव रखते हैं; इस बात का निर्णय न होने पर प्रीति पुष्ट नहीं होती, और प्रेयोरस का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है, परंतु वात्सल्यरति को इससे कुछ भी क्षति नहीं होती। माता का हृदय पुत्र के प्रति संतत दयार्द्र तथा प्रेमसिक्त होता है चाहे वह पुत्र माता के प्रति स्नेह रखे या न रखे। श्रीकृष्ण प्रेम रखें या न रखें, यशोदा के प्रेम में किसी प्रकार की कमी नहीं

---

१ संभ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते॥ २४॥

—भक्तिरसामृत सिंधु
पश्चिमविभाग, ४ लहरी

रहती है। इसी वैशिष्ट्य के कारण वात्सल्य पूर्व दोनों रसों से आनंद वृद्धि की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है—

> अप्रतीतौ तु हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
> प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः॥
>
> —भक्तिरसामृतसिंधु ३।४।२८

वात्सल्यरस का विशिष्ट लक्षण 'स्तन्यस्राव' है जिसे प्रसिद्ध स्तम्भ स्वेदादि अष्टविध सात्त्विक भावों के अतिरिक्त नवम सात्त्विक भाव मानना चाहिए। श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा का जो वात्सल्यभाव है 'स्तन्यस्राव' उसी का प्रतीक है। यशोदा के चित्त की जो भावमयी स्थिति है उस में अंगभूत भाव अनेक हैं और जिस समय जिस भाव का प्राधान्य होता है उस समय उसी के अनुकूल सात्त्विक भाव का उदय होता है। इन में सब भावों की जो समष्टि है उससे 'स्तन्यस्राव' होता है। दशरथ, नन्द, कौशल्या, यशोदा, देवकी आदि गुरुवर्गीय जन वात्सल्यरस के भक्त हैं। इन भक्तों की शुद्ध वात्सल्यमयी भक्ति है, अन्यत्र दास्य, सख्य तथा वात्सल्य का भाव-मिश्रण भी अन्य भक्तों में दृष्टिगोचर होता है। संकर्षण का सख्य भाव प्रीति तथा वात्सल्य से युक्त था, तो युधिष्ठिर का वात्सल्य प्रीति और सख्य से संपुटित था। नारद का सख्य प्रीति से युक्त था, तो उद्धवजी की प्रीति सख्य से मिश्रित थी। इस प्रकार 'भाव मिश्रण' के भी अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

(५) माधुर्यरस के स्थायीभाव का नाम है प्रियता जो श्रीकृष्ण तथा मृगनयनी सुंदरियों के संभोग का आदि कारण माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण को कांतभाव से उपासना करना माधुर्य-

भाव के नाम से अभिहित होता है। यह भक्ति की चरमावस्था माना जाता है क्योंकि इस अवस्था में सब प्रकार की मर्यादा तथा संकोच दूर हो जाते हैं और भगवान् की निरन्तर सेवा अबाधगति से होती है और इस प्रकार सुख का समास्वादन प्रगाढ़ रूप से होता है। यह मधुररस लौकिक दाम्पत्यरस से सर्वथा भिन्न है। लौकिक रस के जितने संबंध हैं वे सब स्वार्थमूलक होते हैं अर्थात् अपने ही सुख के लिए होते हैं। परंतु श्रीकृष्ण के प्रति जो यह स्नेहभाव है वह स्वार्थभावना से सर्वथा उन्मुक्त अथच अलौकिक है। लौकिक दाम्पत्य-प्रेम अहंकारमूलक है और भगवत्सम्बन्धी माधुर्यरस परसुखमूलक होता है। एक की संज्ञा 'काम' है, तो दूसरे का नाम 'प्रेम' है और दोनों में आकाश-पाताल का, अंधकार-प्रकाश का अंतर है। माधुर्यभाव ही जब इतना प्रगाढ़ तथा बद्धमूल हो जाता है कि अत्यन्त प्रतिकूल दशा में पड़ने पर भी भक्त का चित्त उससे विचलित नहीं होता, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेम बराबर आगे बढ़ता हुआ स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग की अवस्था को पार कर अंत में 'महाभाव' की चरम सीमा को पहुँच जाता है। यही सर्वसमाहारिणी इन्द्रियातीत भावमयी परा स्थिति है जो परमभक्तरूपिणी श्रीराधिका के जीवन तथा आत्मा का स्वरूप है। भक्त का यही परम ध्येय है जिसकी प्राप्ति प्रत्येक साधक का कर्तव्य है और जिसके लिए पूर्वोक्त भावों में से किसी एक भाव का आश्रयण श्रेयस्कर माना जाता है।

—o—

(४)

गोपी-भाव

गोपीभाव रस-साधना की उच्चतम कोटि का नाम है। कुछ लोगों की यह भ्रांत धारणा बनी हुई है कि गोपीभाव की उपासना का अधिकार स्त्री-समाज के भीतर ही सीमित है, गोपीभाव के पूर्ण निर्वाह के लिये पुरुषों को स्त्रियों की वेशभूषा का पूर्ण ग्रहण करना नितांत आवश्यक है और इसी धारणा को कार्य रूप में चरितार्थ करने के लिये हम कतिपय पुरुष भक्तों को मूँछ मुड़ाकर तथा चटकीली लाल साडी, तथा कड़ा छड़ा पहन कर भगवान् के सामने नाचने का स्वांग भरते हुए भी पाते हैं परंतु यह धारणा नितांत भ्रांत है। गोपीभाव स्त्री-सुलभ बाह्य-वेष के ऊपर आश्रित नहीं होता, प्रत्युत एक उदात्त आंतरिक भाव की संज्ञा है। वह भक्ति-साधना की उदात्त-कोटि का उज्ज्वलतम प्रतीक है। भगवान् व्रजनन्दन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में अपने समस्त आचार-व्यवहार, कार्य-कलाप, धर्मकर्म का पूर्ण समर्पण तथा उनके विरह में परम व्याकुलता की भावना—गोपीभाव के ये ही दो परिचायक लक्षण हैं। महर्षि नारद की सम्मति में भक्ति का पूर्ण आदर्श व्रज-गोपिकाओं के जीवन में विकसित तथा प्रफुल्लित हुआ था और भक्ति का पूर्ण आदर्श है क्या ? 'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विरहे परमव्याकुलता च' अर्थात् भगवान्‌को अपने समग्र आचारोंका समर्पण तथा उनके विरह में परम व्याकुलता। संसार के समग्र निजी कर्मों, व्यापारों तथा नाना प्रपंचों को छोड़कर चित्त को रसिक-शिरोमणि किशोर-मूर्ति श्रीकृष्ण में सन्तत लगाना जिसमें एक

क्षण का व्यवधान न जनमे और यदि किसी प्रकार उनसे विरह हो, तो इसमें इतनी तड़पन हो, इतनी व्याकुलता हो कि संसार के कार्यों से चित्त सिमिट कर उसी व्याकुलता की दशा में आत्म-विभोर हो उठे।

भक्ति शास्त्र में व्रज गोपिकायें प्रेम की धवल ध्वजा मानी गई हैं तथा उनकी प्रेम गरिमा के चित्रण में भक्तों की तथा कवियों की वाणी ने मूक भाव को ही अपना अलंकार समझा है। भक्ति-शास्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ-रत्न श्रीमद्भागवत गोपिकाओं की प्रेम-माला गूँथने में सबसे अधिक रूपवान् तथा सरस शास्त्र है। भागवत में 'गेह शृंखला' दुर्जर मानी गई है। गृहस्थाश्रम की नाना संबंधों की शृंखला मानव को इतनी दृढ़ता से जकड़ी हुई रहती है कि उसे तोड़ देना एक टेढ़ी खीर है—दुर्गम व्यापार है। कलितकलेवरा कामिनी की मंद मुसुकान पर बिकने वाला प्राणी क्या कभी अपने हित का चिंतन करता है? अपने सुकुमार शिशु की तोतली बोली पर रीझकर वह संसार को ही व्यर्थ का ढकोसला समझ बैठता है। रसिया मित्रों की संगति को ही वह जगत् का सार समझकर उसी में चित्त रमाये रहता है। सद्गुरु के उपदेशामृत का एक कण भी किसी क्षण में उसके कर्ण-पुट में यदि पड़ जाता है तो वह अपने को इन प्रपचों से छुड़ाने के लिए जी तोड़ परिश्रम करता है, परन्तु इनके तोड़ने में उसे चाहिये अश्रान्त अध्यवसाय, अक्लांत-परिश्रम तथा सर्वाधिक भगवद्-रसिक हृदय। विना इस साधना सामग्री के वह गेह-शृंखला को कभी नहीं तोड़ सकता। व्रज गोपियाँ इस दुर्जर गेह शृंखला को अच्छी तरह से तोड़ कर भगवान् की ओर अग्रसर हुई थीं। पति, पिता, माता, भाई, बंधु आदि समस्त संबंधों को तिलांजलि देकर ही ये भगवान् के चरणारविंद के मकरंदपान के लिये

भ्रमरी बनीं थीं। इसलिए श्रीकृष्ण ने स्वयं उनकी स्तुति में कहा था—

> न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
> स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
> या माभजन् दुर्जरगेह–श्रृंखलाः
> संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥
>
> भागवत १०।३२।२२

भगवान् का कथन है कि गृहस्थी की दुर्जर श्रृंखलाओं को अच्छी तरह काटकर तुम लोगों ने मेरा भजन किया है, आपकी मैत्री दोषहीन है। उसमें किसी प्रकार के स्वार्थ का गंध नहीं है। देवताओं की आयु पाकर भी मैं इसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता। इसलिए आप लोग स्वयं अपनी उदारता तथा उदराशयता से मुझे इस ऋण से उन्मुक्त कर दें।

उद्धव जी को व्रज भेजते समय श्रीकृष्ण ने प्रेम-गद्गद कंठ से गोपीभाव की विशुद्धता तथा उच्चता का परिचय दिया है। वे कहते हैं कि उद्धवजी, गोपियों का मन मुझमें रमा हुआ है। उनका प्राण मैं ही हूँ, मेरे लिए उन्होंने समस्त देह-कार्यों का विसर्जन कर दिया है तथा लोकधर्मों का भी परित्याग कर दिया है। मैं उनका आभरण-पोषण करता हूँ। मैं उनके लिए प्रियतमों का भी प्रिय हूँ। जब मैं व्रज से दूर चला जाता हूँ तब ये विरह की उत्कंठा से विह्वल होकर मेरी स्मृति में मूर्च्छित होकर गिर जाती हैं। मेरे व्रज-प्रत्यागमन के संदेशों से ही वे किसी प्रकार अत्यन्त क्लेश से अपना प्राण धारण कर रही हैं। तत्त्व की बात है—वल्लव्यो मे मदात्मिकाः। गोपियों की आत्मा

मेरे साथ एकाकार है तथा मैं गोपियों के साथ एकाकार हूँ। (भागवत १०।४६।४-६)। 'वल्लव्यो में मदात्मिकाः' (भागवत) की 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' से तुलना यही बताती है कि वृज की गोपियाँ उक्त ज्ञानी भक्ति की प्रतिनिधि हैं जिसे गीता भक्त-चतुष्टय में शिरोमणि मानती है।

सोलहो आने सच्ची बात यह है कि स्वजन का परित्याग नितांत दुष्कर है। भगवान् की मोहिनी माया का पाश इतना ढीला नहीं है कि कोई अपना गला छुड़ाकर झाड़कर अलग हट जाय। वह प्राणी-मात्र के ऊपर इतनी दृढ़ता से रक्खा गया है कि उसको हटाना एक दूभर व्यापार है और इसी पाश को काट डाला गोपियों ने। इसीलिए स्वयं उद्धव जी ने अपनी हृद्यगत अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा था कि मैं चाहता हूं कि वृंदावन के इस वीहड़ कानन में मैं लता, ओषधि या झाड़ियों में किसी रूप रहता जिससे मुझे गोपियों के चरण रजःकण के स्पर्श से से पवित्र होने का अवसर मिलता। इन गोपियों की स्तुति हीं क्या की जाय जिन्होंने कठिनता से छोड़ने योग्य अपने सगे संबन्धियों को तथा आर्यपथ को छोड़कर वेदों के द्वारा खोजे गये मुकुंद की चरण सेवा को स्वीकार किया था :—

आसामहो चरणरेणु-जुपामहं स्याम्
वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
याः दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजे मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

आत्म-विस्मृतिकी दशामें भी भगवान् के माहात्म्यकी विस्मृति कभी न होनी चाहिए। गोपियाँ प्रेम की अधिकता के कारण आपा भले ही भूल जाय, परंतु यह याद उन्हें भूल नहीं सकती

कि हमारे प्रेम का आधार, हमारी कामना का निकेतन, हमारे स्नेह का आश्रय वह किशोरमूर्ति श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है, अखिल घट में वास करनेवाला नित्य नूतन प्रेमागार है, जगत् का नियमन करनेवाला अंतर्यामी है। उनका प्रेम किसी मानव के प्रति नहीं है, किसी भौतिक देहधारी के प्रति नहीं है, प्रत्युत जगन्नियंता के प्रति है, षड् ऐश्वर्य से मंडित भगवान् के प्रति है। तभी तो गोपियों ने श्रीमुख से कहा था—

> न खलु गोपिका–नन्दनो भवा–
> नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
> विखनसार्थितो विश्व–गुप्तये
> सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

आप गोपिका यशोदा के नन्दन नहीं हैं, प्रत्युत संपूर्ण प्राणियों के अंतरात्मा के साक्षी तथा द्रष्टा हैं। यादव कुल में आप का उदय ब्रह्मा की निरंतर प्रार्थना करने पर विश्व की रक्षा के निमित्त हुआ है। अतः आनंदातिरेक की दशा में भी गोपियाँ कृष्ण के अंतर्यामी रूप तथा लोकसंग्रहकारी स्वरूप से भली भाँति परिचित हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो यह प्रेम जार के प्रेम से अधिक महत्व का नहीं होता। जो महिला अपने धर्म पति के प्रेमको तिलांजलि देकर किसी उपपतिको वरण करती है वह समाज में हेय तथा अग्राह्य आदर्श प्रस्तुत करती है। गोपियों के विशुद्ध प्रेम पर छींटाकशी करने वाले आलोचकों का टोटा नहीं है, परंतु उन्हें ध्यान में रखना चाहिए कि गोपियों ने अपना हृदय समर्पण किया था किसी परपुरुष को नहीं बल्कि उस परमपुरुष को जो अंतर्यामी रूप में हृदय के कोने में बैठा हुआ हमारा संचालन किया करता है तथा हमारे समग्र व्यापारों का निरीक्षक

बन कर हमारे पुण्य-पाप का लेखा जोखा किया करता है। इसीलिए महर्षि नारद जी का कहना है—

'तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः' 'तद्विहीनं जाराणामिव'

नारद-भक्तिसूत्र २२, २३

प्रेम तथा काम का तारतम्य

प्रेम तथा काम का तारतम्य समझ लेना इस प्रसंग में नितांत आवश्यक है। प्रेम में त्याग की भावना का प्राबल्य रहता है और काम में स्वार्थ की भावना का प्राधान्य रहता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिए अपने सौख्य तथा सम्पत्ति को न्योछावर करने के लिए उद्यत रहता है, परंतु कामी की दृष्टि अपने ही सौख्य की ओर लगी रहती है। वह केवल अपना ही स्वार्थ चाहता है, अपनी इच्छा की पूर्ति की कामना करता है; उसका दृष्टिबिन्दु प्रियपात्र न होकर स्वयं अपना ही क्षुद्र आत्मा होता है। वह अपने प्रिय की ओर कभी फूटी नजरों से भी नहीं देखता। वह देखता है केवल अपने को, अपने क्षुद्र स्वार्थ को तथा अपने व्यक्तिगत सौख्य को। नारदजी की सम्मति में प्रेम की प्रधान पहिचान है—तत्सुखसुखित्वम्=प्रियतम के सुख में अपने आपको सुखी मानना। परंतु काम में इस भावना का एकदम अभाव रहता है। गोपियों के जीवन में हम प्रेम की ही प्रधानता पाते हैं। उनका एक ही उद्देश्य था कि किसी न किसी प्रकार से कृष्णचंद्र को अपने कार्यों से आनंद पहुँचाना। इसी सेवा से ही उन्हें अपार आह्लाद प्राप्त होता था; उनके हृदय में और किसी भी स्वार्थमूलक वासना का अस्तित्व नहीं था।

भगवान् के प्रति समर्पित जीवन में स्वार्थवासना के लिए कहीं स्थान नहीं होता। भक्त भगवान् से इतना तादात्म्य रखता है कि उसके पृथक् अस्तित्व का कोई मूल्य ही नहीं होता। वह केवल भगवान् की ही सेवा को अपने जीवन का चरम अवसान मानता है। काम दूसरों के द्वारा अपनी तृप्ति चाहता है, परंतु प्रेम अपने द्वारा प्रेमपात्र की तृप्ति चाहता है और उसीके आनन्द से स्वयं आनन्द का अनुभव करता है। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्यचरितामृत' में प्रेम तथा काम के इस परस्पर पार्थक्य का बड़ा ही सुंदर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका कहना है—

आत्मेन्द्रियप्रीति इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रियप्रीति इच्छा, धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
आत्म दुःखसुख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार॥
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म कर्म।
लज्जा धैर्य देह सुख आत्मसुख मर्म॥
सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन।
कृष्णसुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग।
स्वच्छ धौत वस्त्र जैछे नाहि कौन दाग॥
अत एव काम प्रेमेर बहुत अन्तर।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अत एव गोपी गणे नाहि काम गन्ध।
कृष्णसुख हेतु-मात्र कृष्णेर सम्बन्ध॥

आशय है कि अपनी ही इंद्रियों की जो इच्छा होती है उसी का नाम है काम और श्रीकृष्ण की इंद्रियों को प्रसन्न करने की इच्छा की संज्ञा है प्रेम। काम हृदय की सकुचित वृत्ति है जिसका तात्पर्य केवल अपने ही सुख तथा संयोग की भावना रहती है। इसके विपरीत प्रेम हृदय की उदात्त वृत्ति है जिसका अभिप्राय केवल प्रेमपात्र श्रीकृष्ण को ही सुख पहुँचाना होता है। गोपियों का जीवन प्रेम का उज्ज्वल प्रतीक है। इसलिए गोपियाँ कभी अपने सुख की ओर ध्यान ही नहीं देतीं। उन्होंने लोकधर्म वेदधर्म, लज्जा, धैर्य आदि समस्त वस्तुओं को छोड़कर केवल भगवान् श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने का दृढ़ नियम तथा निश्चय ले रखा था। प्रेम उस स्वच्छ धोए हुए वस्त्र के समान है जिसके ऊपर एक भी काला छींटा या दाग नहीं रहता। काम अंधा होता है, परंतु प्रेम सूय के समान प्रकाशमान तथा निर्मल होता है। गोपियाँ प्रेम की ध्वजा थीं। अतः उनके जीवन में काम का गंध भी देखने को नहीं मिल सकता। कृष्ण के साथ उनका संबंध इतना ही था कि वे व्रजनन्दन कृष्ण के हृदय में आनद उत्पन्न करने का कारण बनती थीं।

इस प्रकार गोपीभाव के परिचायक चार गुणों की सत्ता माननी चाहिए—(१) समग्र स्वत्व तथा संपत्ति को भी कृष्ण के प्रति समर्पण कर देना; (२) एक क्षण के लिए भी कृष्ण की विस्मृति में नितांत व्याकुलता, (३) श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा यश की गरिमा का पूर्ण ज्ञान, (४) श्रीकृष्ण के सुख में अपना सुख मानना तथा उनके आनंदित होने पर स्वतः आनंदित होना। इन चारों महनीय गुणों का विलास जिस प्रेम में झलकता है वही गोपीभाव का चरम आदर्श है। अष्टछाप के मान्य कवि परमानन्ददास की यह श्लाघनीय स्तुति सचमुच यथार्थ है—

ये हरिरस ओपी गोपी सब तिय तें न्यारी।
कमल नयन गोविंद चँद की प्रान पियारी।
निरमत्सर जे संत तिनहिं चूड़ामनि गोपी।
निर्मल प्रेम प्रवाह सकल मरजादा लोपी।
जे ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावैं।
क्यों नहिं परमानंद प्रेम-भगती–सुख पावैं॥

इस प्रकार गोपीभाव साधनाके एक उत्कट कोटि का नामांतर है। वह बाह्य आलंबन पर आश्रित न होकर आंतरभाव ऊपर अवलंबित होता है।

———

(५)

रससाधना

साधना के विविध मार्गों को सुभीते के लिए तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रवर्तक दशा, (२) साधक दशा तथा (३) सिद्ध दशा। ये तीनों दशायें साधक की विशिष्ट स्थिति की द्योतिका हैं। प्रवर्तक दशा में साधक अपनी साधना का प्रारंभ करता है। इसके भी साधन की विभिन्नता से दो भेद होते हैं—नामसाधना और मन्त्र साधना। भगवान् के स्वरूप के समान ही उनका नाम भी चिन्मय, विशुद्ध तथा अप्राकृत होता है। भगवन्नाम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, वह अप्राकृतिक वस्तु है और अचिन्त्य शक्ति-संपन्न है। नाम तथा नामी का नित्य संबंध होता है। साधक अपने उपास्य-देवता के अभीष्ट नाम का सन्तत उच्चारण तथा जप करता हुआ नामी की प्राप्ति में कृतकार्य होता है। स्फोट शब्द से ही अर्थ की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, परंतु स्फोट 'अन्त्यबुद्धि-निर्ग्राह्य' होता है अर्थात् अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ स्फोट शब्द की पूर्णता होती है और तब अर्थ की अभिव्यक्ति स्वतः बिना किसी बाह्य कारण की सहायता से होती है। उदाहरण के लिए 'राम' शब्द की पूर्णता तभी संपन्न होती है जब रेफ, आकार और मकारके अनन्तर अकारका भी उच्चारण किया जाता है। जब तक इस अंतिम ध्वनिका उच्चारण नहीं होता, तब तक राम शब्द के द्वारा द्योत्य अर्थ की स्फूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार नाम-साधक का कर्तव्य है कि वह नाम की साधना में पूर्ण निष्ठा से लगा रहे। जब अन्तिम नाम का उच्चारण पूर्ण होगा, तब नामी की अभिव्यक्ति आप से आप एक क्षण में हो

जावेगी। नामोच्चारण में भी साधक का कर्तृत्वाभिमान किसी प्रकार कृतकार्य नहीं होता, अपि तु नामी की कृपा से ही किसी भाग्यशाली पुण्यवान् के कण्ठ से नाम फूट उठता है।

दीर्घकाल तक नियमित रूप से नाम साधना करते रहने से यथासमय भगवान् की करुणा का उद्रेक होता है और वे पथ-प्रदर्शक गुरु के रूप में नाम-साधक भक्त के सामने आविर्भूत होते हैं और मंत्रोपदेश करते हैं। मंत्र की यथावत् साधना से बीज-मंत्र की अभिव्यक्ति होती है तथा साधक का चित्त मलिनता का पूर्ण परिहार कर नितांत शुद्ध सात्त्विक रूप में विद्योतित हो जाता है। साधक का पूर्वसंचित अशुद्ध काम विगलित हो जाता है तथा वह अपने भाव के अनुसार शुद्ध सात्त्विक देहको धारण करता है। इस विशुद्ध शरीर का पारिभाषिक नाम होता है—भाव देह। यह देह निर्मल, अजर तथा अमर होता है। भौतिक-देह से संबद्ध भूख-प्यास, काम-क्रोध, आदि प्राकृत धर्म इसे स्पर्श तक नहीं करते। इस भावदेह का उदय प्रवर्तक दशा के अवसान तथा साधक दशा के आरंभ का सूचक होता है। अब सच्ची साधना का आरंभ होता है, क्योंकि अब तक की गई साधना साधक को केवल आरंभिक योग्यता प्रदान करने के लिए ही कृतकार्य होती है। स्थूल देह में अभिनिवेश या तादात्म्यपूर्वक जो उपासना साधारण रीति से की जाती है, वह वस्तुतः साधना ही नहीं है। सच्ची साधना तो भाव का साधन है। इस साधन को अग्रसर करने के लिए नाम तथा मंत्र दोनों साधक की आरंभिक चेष्टायें होती हैं।

साधक दशा में भावभक्ति का उदय होता है। इस भक्ति के आविर्भाव के कारण की समीक्षा करते समय आचार्यों ने दो कारण बतलाये हैं। भाव का उदय कर्म से या कृत्रिम उपायों से

होता है अर्थात् स्मरण, कीर्तन, आत्मनिवेदन आदि उपायों के अवलंबन करने से साधन-भक्ति भाव-भक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। परंतु कर्मकी अपेक्षा भगवत्कृपा ही इस परिणाम का समर्थ कारण मानी गई है। कभी कभी भक्तों के हृदय में साधन-भक्ति के अनुष्ठान के बिना ही भावभक्ति का आविर्भाव देखा जाता है। ऐसे कर्म के अभाव में भाव का उदय भगवान् की अथवा उनके भक्तों की कृपा का परिणत फल माना जाता है। कुछ आचार्य लोग प्रथम को कारण मानते नहीं। वे तो केवल कृपा को ही भावोदय में जागरूक कारण मानते हैं। इसका एक हेतु है। भक्ति ह्लादिनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी शक्ति महाभावरूपा होती है। अतः भाव-भक्ति चाहे वह साधनपूर्वक हो या कृपापूवक हो महाभाव का ही एक अंश है। जीव कर्म कर सकता है, क्योंकि वह इस कर्म-लोक का प्राणी है। यह संसार कर्मभूमि है—कर्मो की भूमि है जहाँ मनुष्य स्वेच्छया नाना कर्मों को करता है, परंतु वह भाव के लिए या भक्ति के निमित्त भगवत्कृपा पर ही आश्रित रहता है। कर्ममूल में जीव रहता और भावमूल मे भगवान् रहता है। भक्ति स्वरूपशक्ति का विलास होने से भगवत्स्वरूप से ही संबद्ध रहती है। इसीलिए जीव कर्म तो कर सकता है, परंतु कृत्रिम उपायों से भक्ति या भाव को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह भावमय नहीं होता। इसीलिए वैष्णव आचार्यों का पूर्ण आग्रह है कि भाव का भक्त-हृदय में स्फुरण भगवत्कृपाकटाक्ष से ही होता है।

भावदेह और बाह्यदेह

बिना योग्य आधार के आधेय की सत्ता नहीं हो सकती। बिना विशुद्ध देह के भाव का उदय नहीं हो सकता। यह प्राकृत

देह अशुद्धियों के आगार होने से नितांत मलिन, दोषपूर्ण तथा अशुद्ध होता है। इसमें भाव जैसे विशुद्ध पदार्थ के धारण करने का सामर्थ्य ही नहीं रहता। इसीलिए भावदेह की आवश्यकता होती है। प्राकृत मालिन्य आदि दोषों से विरहित शुद्ध देह ही 'भाव देह' के नाम से अभिहित किया जाता है। भावदेह आंतर विशुद्ध देह होता है और बाह्यदेह बाहरी अशुद्ध देह होता है। दोनों देहों में प्रथमतः योग या परस्पर सामञ्जस्य नहीं होता। मातृभाव के साधक का भाव-देह शिशु के आकार का ही होता है चाहे उसका बाह्य प्राकृत शरीर भले ही जीर्ण-शीर्ण, जरा-पलित तथा विगलित-दंत हो। सिद्धांत का मूल है प्रकृति तथा आकृति की एकरूपता। जो साधक प्रकृतितः शिशु है (अर्थात् मातृभाव का उपासक है) वह आकृतितः शिशु ही है (अर्थात् उसका भावदेह शिशु के आकार का ही होता है); इसमें तनिक भी संदेह नहीं। सारांश है कि भावदेह के सिद्ध होने पर ही साधक के हृदय में 'भाव' का उदय होता है और यही भाव नाना साधनों से विकसित होकर 'प्रेम' के रूप में परिणत हो जाता है। बिना प्रेम के उदय हुए भगवान् के अपरोक्ष ज्ञान का उदय नहीं होता है। भाव तथा रस में अंतर यही है कि भाव होता है अपक्व दशा तथा रस होता है पक्व दशा।

भाव दो प्रकार का होता है—स्थायीभाव तथा संचारीभाव। संचरणशील होने के कारण संचारीभाव कतिपय क्षण स्थायी रहता है और अपना कार्य समाप्त कर तिरोहित हो जाता है। रसका उन्मेष संचारी भाव के द्वारा नहीं होता, अपि तु स्थायी भाव के द्वारा होता है। भक्त लोग नाम तथा मंत्र की साधना को इसीलिए उपादेय मानते हैं कि इसके द्वारा भाव को संचारी दशा से स्थायी दशा में पहुँचाया जा सकता है। भाव के विकास

के साथ साथ भक्त हृदय प्रदेश में प्रवेश पाता है। यह अंतरंग कमल अष्टदलों में विभक्त रहता है जिसके एक एक दल के ऊपर एक एक भाव की स्थिति मानी जाती है। स्थायी भाव के अष्ट प्रकार होने का यही कारण है। भिन्न भिन्न दल तो भाव के प्रतीक तथा स्वरूप होते हैं और कर्णिका में महाभाव की स्थिति अंगीकृत की जाती है। साधक का चरम लक्ष्य है महाभाव की प्राप्ति और इसके लिए आठों भावों में से प्रत्येक भाव को क्रमशः एक एक कर उसे जगाना पड़ता है, नहीं तो कोई भी भाव अपने चरम विकाश की अवस्था तक प्रस्फुटित नहीं किया जा सकता। विभिन्न अष्ट भावों का समष्टिरूप ही 'महाभाव' होता है। जिस प्रकार हाथ, पैर, आँख, कान आदि अवयवों को छोड़कर स्वतंत्र रूप से शरीर का अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार अष्टभावों का परिहार कर 'महाभाव' की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। श्रीकविराज जी के शब्दों में "अष्टदल की कर्णिका के रूप में जो बिंदु है, वही अष्टदल का सार है। इसी का दूसरा नाम 'महाभाव' है। वस्तुतः अष्टदल महाभाव का ही अष्टविध विभक्त स्वरूपमात्र है। इसे महाभाव का काय-व्यूह भी कहा जा सकता है। ये आठ भाव महाभाव के स्वगत आठ अंगमात्र हैं और महाभाव का स्वरूप ही इन अष्टभावों की समष्टि है[1]।"

वैष्णव शास्त्र में अष्टदल कमल का एक एक दल भाव का प्रतीक होकर सखी का भी प्रतिनिधि है। कर्णिकागत बिंदु महाभाव का प्रतीक बनकर श्रीराधा का प्रतिनिधित्व करता है। सखियाँ महाभावरूपा श्रीराधा की ही काव्यव्यूह हैं। सखियों की समष्टिरूपा राधा उनके बिना नितांत अपूर्ण है।

---

१ भक्तिरहस्य पृ० ४४६.

इसीलिए सखियों के सहयोग से ही साधक राधारूप की उपलब्धि कर सकता है। श्रीराधा तत्त्व का विवेचन भक्ति-ग्रंथों में बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रेमरूपिणी राधा आनंद-विग्रह श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। आनंद तथा प्रेम का नितांत घनिष्ठ संबंध रहता है। आनंद न तो प्रेम के अभाव में जी सकता है और न प्रेम ही आनंद के अभाव में रह सकता है। आनंद के घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण हैं, तो प्रेम की घनीभूत मूर्ति श्रीराधिका हैं। दोनों का साहचर्य नित्य है। न कृष्ण के बिना राधा की स्थिति रह सकती है और न राधा के बिना कृष्ण रह सकते हैं। श्रीकृष्ण ही राधा के जीवन हैं। श्रीकृष्ण भोक्ता हैं; श्रीराधा भोग्या हैं। पुरुष सेव्य तथा आराध्य है। प्रकृति सेव्या तथा आराधिका है। इसीलिए प्रेमस्वरूपिणी राधिका अपने प्राण और मन को अर्पण कर श्रीकृष्णको सदा प्रसन्न किया करती है।

ह्लादिनी शक्तिके रूप-निर्देश के अवसर पर कृष्णदास कविराज कहते हैं कि ह्लादिनी कृष्ण को आनंद का अनुभव कराती है। ह्लादिनी के द्वारा ही भगवान् भक्तों का पोषण करते हैं। ह्लादिनी का सार है प्रेम और प्रेम का सार है भाव और भाव की परमकाष्ठा का अभिधान है 'महाभाव'। श्रीराधा ठकुरानी महाभाव-स्वरूपा हैं। वह सब गुणों की खानि होने से श्रीकृष्ण की कांताओं में शिरोमणि हैं:—

ह्लादिनी कराय कृष्णेर आनन्दास्वादन।
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तेर पोषन॥
ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेमसार भाव।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव॥

महाभावस्वरूपा श्रीराधा ठाकुरानी।
सर्वगुणखानि कृष्णकान्ताशिरोमनी॥

"कृष्ण के द्वारा आराधना किये जानेवाली अथवा कृष्ण की आराधना करनेवाली ही 'राधा' है। महिषी, गोपियाँ तथा लक्ष्मी इन्हीं की कायव्यूह हैं। राधा तथा श्रीकृष्ण रससागर महाविष्णु के देह से ही दो रूप हो गये हैं"। राधिकोपनिषद् के इस कथन[1] से राधा तथा सखियों के परस्पर संबंध की कल्पना का निर्णय हो सकता है। सखियाँ राधा की कायव्यूहरूपा हैं[2]। अतः वे भी नित्य सखी तथा सहचरी रूप से श्रीराधा-कृष्ण की निरंतर सेवा, भजन तथा उपासना कर उन्हें आनंदरस-निर्भर बनाती हैं। पहिले वर्णन किया गया है कि गोपियों का जीवन परार्थ की एक दीर्घ परंपरा है। कृष्ण की आनंदोद्भूति ही उनके जीवन का लक्ष्य है। वे प्रेम की जीवित प्रतिमायें हैं। इनका जीवन ही श्रीकृष्ण के सुख तथा आनंद के लिए होता है। सखी भाव को प्राप्त कर कृष्ण की निरंतर उपासना तथा आनंदातिरेक ही साधक का परम कर्तव्य होता है।

---

१ कृष्णेन आराध्यते इति राधा। कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका। अस्या एव कायव्यूहरूपा महिष्यो गोप्यः श्रीश्चेति। येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहेनैकः क्रीडार्थं द्विधाऽभूत्।
—राधिकोपनिषत्।

२ महाभाव चिन्तामणि राधार स्वरूप।
ललितादि सखी तार कायव्यूहरूप॥
—चैतन्यचरितामृत।

भगवान् श्रीकृष्ण के 'गोपरूप' का रहस्य यही है कि वे आनंदरूप से जगत् के रक्षक तथा स्रष्टा हैं। आनंद के बिना कोई एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि आनंदमय भगवान् श्रीकृष्ण निजानंद के किंचित् आभास के द्वारा अखिल जगत् के गोप, गोप्ता अथवा रक्षक है। 'विष्णु॰ र्गोपा अदाभ्यः' इस श्रुतिवाक्य का यही तात्पर्य है। 'उपजीवंति मात्रां हि तस्यानंदस्य सर्वदा भूतानि सकलानि' अर्थात् समस्त जीवगण उस एकमात्र अद्वितीय परमानंद के आभासमात्र के आश्रय से जीवित रहते हैं। फलतः जगत् के संतत रक्षक होने के कारण श्री कृष्ण ही नित्य गोप हैं तथा उनकी सेवा करने वाली श्रीराधा आदि सहचरियाँ नित्य गोपियाँ है।

भाव से महाभाव की प्राप्ति के दो मार्ग हैं—प्रकट मार्ग तथा गुप्त मार्ग। एक है आवर्तक्रम से और दूसरा है साक्षात् तथा सरल रूप से। आवर्तमार्ग के अवलंबन करते समय प्रदक्षिण तथा परिक्रमा के द्वारा साधक भाव से भावांतर में जाता है और अंततः महाभाव में पहुँच जाता है। इस मार्ग से चलने पर महाभाव का पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है। सरलमार्ग से महाभाव की प्राप्ति संभव है- परंतु उसके पूर्ण विकास की संभावना नहीं है। वैष्णवों की भाषा में हम कह सकते हैं कि कृष्ण का प्रकट रूप से मिलन राधा के साथ ही होता है। ललिता या चंद्रावली के साथ श्रीकृष्ण का मिलन गुप्तरूप से ही होता है।

इसका आशय यह है कि साधक का जिस भाव का उपासक है उस भाव की पूर्णता होने पर वह साक्षात् रूप से महाभाव के साथ संपर्क स्थापित कर सकता है तथा तद्रूप बन सकता है। परंतु आवर्तक्रम से चलने में पूर्णता आती है। साधक एक

भाव को पूर्ण कर दूसरे भाव में जाता है और फिर भावांतर में। इस प्रकार प्रतिभावों के आवर्तन करने पर वह स्वयं अपने भाव की ओर जब लौट कर आता है तब वह भाव के पूर्ण विकाश से संपन्न होकर सीधे 'महाभाव' में प्रवेश करता है। इस प्रकार स्थायीभाव आवर्तक्रम से रसरूप में परिणत हो जाता है। जीव इसी क्रम से गोपी भाव का आश्रय करता हुआ अपनी पूर्णता से संपन्न होकर राधा की सेवा में उपस्थित हो जाता है और उसे अखंड आनंद की अनुभूति करने में तब तनिक भी विलंब नही लगता[1]।

(६)

लीला-तत्त्व

भगवान् की लीला भी उन्हीं के समान नित्य, अनंत तथा चिन्मय होती है। लीला साम्यभाव, सख्यकी भावना पर, आश्रित रहती है, असमानता या वैषम्यभाव के उदय होने पर लीला का प्रादुर्भाव कथमपि नहीं हो सकता। लीला के विषय में वैष्णव मतों में पर्याप्त मत विभिन्नता लक्षित होती है। श्रीवैष्णव तथा माध्व भक्त दास्यभाव का साधक होता है। वह भगवान् के ऐश्वर्य भाव का उपासक होता है। भगवान् के माधुर्यभाव के प्राधान्य होने पर तद्रूप लीलाका प्रसंग उठता है। भगवान् ऐश्वर्य-

---

१ महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजजी के गम्भीर लेख 'भक्तिरहस्य' के ऊपर आधारित। द्रष्टव्य कल्याण का 'हिन्दू संस्कृति-अंक,' वर्ष १६५०; पृष्ठ ४३६—४४४।

भावकी पुष्टि होने पर लीलाका प्रसंग सामान्यतः उठता ही नहीं। भगवान्‌के ऐश्वर्य भावका उपासक श्रीवैष्णव तथा माध्वमतमें बड़ी ही श्रद्धा, बड़ी ही निष्ठासे भगवान् से कुछ दूर पर ही रहकर अपनी भक्ति प्रकट करता है। बहुत हुआ तो अवसर पर वह उनका चरण स्पर्श करके ही अपने को कृतार्थ तथा अपनी दास्यभक्ति को चरितार्थ मानता है। वल्लभ संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना का प्राधान्य है, क्योंकि वह वात्सल्य भक्ति को ही साधक के लिए आदर्श मानता है। बालकृष्ण की यथार्थ सेवा की बड़ी ही सुंदर व्यवस्था इस पुष्टिमार्ग में की गई है। प्रातः काल से लेकर रात्रिकाल तक के समय को ८ भिन्न भिन्न भागों में बाँटकर अष्ट प्रकार के शृंगार, वेषभूषा और भोगराग का विधान यहाँ किया गया है। मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या तथा शयन—वल्लभ संप्रदायकी यही अष्टांगिक सेवापद्धति बालकृष्ण को आश्रय मानकर प्रवर्तित की गई है। वात्सल्य भाव का यह पूजन सर्वसाधारण के निमित्त है, परंतु इस संप्रदाय में कैशोर भाव की भी उपासना है जो सामान्यतः गुप्त तथा रहस्यमयी मानी जाती है। वल्लभ संप्रदाय में माना जाता है कि मधुर भाव से उपासक भक्त सखीरूप होते हैं और सख्यभाव से उपासक भक्त सखारूप होते हैं। सर्वानंद की सिद्धिरूपा राधिका सब सखियों में मुख्य होने से 'स्वामिनी जी' के नाम से अभिहित की जाती हैं। मुख्य सखियाँ आठ होती हैं और मुख्य सखा भी संख्या में आठ ही होते हैं। इन सखियों तथा सखाओं के अलग अलग यूथ होते हैं जिन में सखियाँ तथा सखायें सैकड़ोंकी संख्या में होते हैं। अष्टछाप के कवि गोचारणलीला के तो सखा और रात्रिकालीन कुंजलीला के सखीरूप माने जाते हैं। इन कवियों के काव्यों में गोपियों के दो रूप स्वीकृत किये गये हैं—

(क) भगवान् की आनंदरूपा तथा सृष्टि करने वाली शक्ति का रूप; (ख) कान्ताभाव से भगवान् के उपासक अनन्य भक्तों का प्रतीक ।

निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभी सम्प्रदायों में भगवल्लीला के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है । चैतन्य मतानुसार भगवान श्री कृष्ण अपनी ही स्वरूपशक्ति के साथ लीला किया करते हैं । जीव का लीला में प्रवेश का अधिकार केवल द्रष्टा रूप से ही है, क्योंकि वह तटस्थ शक्ति ठहरा । ताटस्थ्यवृत्ति के आश्रय होने वाले जीव के साथ भगवान् की लीला कथमपि नहीं हो सकती । भगवान् आह्लादिनी शक्तिभूता श्री राधारानी तथा उनकी सेविका गोपीजनों के साथ ही लीला किया करते हैं । श्रीमद्भागवत के अनुसार इस लीला की तुलना बालक की क्रीडा के साथ की जा सकती है । बालक दर्पण में प्रतिबिंबित अपने ही प्रतिबिंबों से खेलता है । भगवान् भी अपनी स्वरूपशक्ति के साथ स्वाभाविक रीति से लीला किया करते हैं, तब जीव केवल साक्षी या द्रष्टा रूप से अवलोकन करता है । दूसरे प्रकारसे जीवके साथ भगवल्लीला हो भी सकती है । जीव मंजरी[1]

---

१ मंजरी गोपियों की सेविकायें मानी जाती हैं । एक एक सखी के साथ एक एक मंजरी रहती है । चैतन्य मतानुसार इन मंजरियोंके नाम ये हैं—रूपमंजरी, जीवमंजरी, अनंगमंजरी, रसमंजरी, विलासमंजरी, प्रेममंजरी, रागमंजरी, लीलामंजरी तथा कस्तूरीमंजरी । अष्ट सखियों के नाम, रूप तथा काम में भी पर्याप्त मतभेद है ।

पुराणों में भी इस विषय में विशेष मतभेद है । चैतन्यमतानुसार इन अष्टसखियों के नाम ये हैं—ललिता, विशाखा, सुमित्रा, चंपकलता, रंग-

भावकी पुष्टि होने पर लीलाका प्रसंग सामान्यतः उठता ही नहीं। भगवान्‌के ऐश्वर्य भावका उपासक श्रीवैष्णव तथा माध्वमतमें बड़ी ही श्रद्धा, बड़ी ही निष्ठासे भगवान् से कुछ दूर पर ही रहकर अपनी भक्ति प्रकट करता है। बहुत हुआ तो अवसर पर वह उनका चरण स्पर्श करके ही अपने को कृतार्थ तथा अपनी दास्यभक्ति को चरितार्थ मानता है। वल्लभ संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना का प्राधान्य है, क्योंकि वह वात्सल्य भक्ति को ही साधक के लिए आदर्श मानता है। बालकृष्ण की यथार्थ सेवा की बड़ी ही सुंदर व्यवस्था इस पुष्टिमार्ग में की गई है। प्रातः काल से लेकर रात्रिकाल तक के समय को ८ भिन्न भिन्न भागों में बाँटकर अष्ट प्रकार के शृंगार, वेषभूषा और भोगराग का विधान यहाँ किया गया है। मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या तथा शयन—वल्लभ संप्रदायकी यही अष्टांगिक सेवापद्धति बालकृष्ण को आश्रय मानकर प्रवर्तित की गई है। वात्सल्य भाव का यह पूजन सर्वसाधारण के निमित्त है, परंतु इस संप्रदाय में कैशोर भाव की भी उपासना है जो सामान्यतः गुप्त तथा रहस्यमयी मानी जाती है। वल्लभ संप्रदाय में माना जाता है कि मधुर भाव से उपासक भक्त सखीरूप होते हैं और सख्यभाव से उपासक भक्त सखारूप होते हैं। सर्वानंद की सिद्धिरूपा राधिका सब सखियों में मुख्य होने से 'स्वामिनी जी' के नाम से अभिहित की जाती हैं। मुख्य सखियाँ आठ होती हैं और मुख्य सखा भी संख्या में आठ ही होते हैं। इन सखियों तथा सखाओं के अलग अलग यूथ होते हैं जिन में सखियाँ तथा सखायें सैकड़ोंकी संख्या में होते हैं। अष्टछाप के कवि गोचारणलीला के तो सखा और रात्रिकालीन कुंजलीला के सखीरूप माने जाते हैं। इन कवियों के काव्यों में गोपियों के दो रूप स्वीकृत किये गये हैं—

(क) भगवान् की आनंदरूपा तथा सृष्टि करने वाली शक्ति का रूप; (ख) कान्ताभाव से भगवान् के उपासक अनन्य भक्तों का प्रतीक।

निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभी सम्प्रदायों में भगवल्लीला के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। चैतन्य मतानुसार भगवान श्री कृष्ण अपनी ही स्वरूपशक्ति के साथ लीला किया करते हैं। जीव का लीला में प्रवेश का अधिकार केवल द्रष्टा रूप से ही है, क्योंकि वह तटस्थ शक्ति ठहरा। ताटस्थ्यवृत्ति के आश्रय होने वाले जीव के साथ भगवान् की लीला कथमपि नहीं हो सकती। भगवान् आह्लादिनी शक्तिभूता श्री राधारानी तथा उनकी सेविका गोपीजनों के साथ ही लीला किया करते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार इस लीला की तुलना बालक की क्रीडा के साथ की जा सकती है। बालक दर्पण में प्रतिबिंबित अपने ही प्रतिबिंबों से खेलता है। भगवान् भी अपनी स्वरूप-शक्ति के साथ स्वाभाविक रीति से लीला किया करते हैं, तब जीव केवल साक्षी या द्रष्टा रूप से अवलोकन करता है। दूसरे प्रकारसे जीवके साथ भगवल्लीला हो भी सकती है। जीव मंजरी[1]

---

१ मंजरी गोपियों की सेविकायें मानी जाती हैं। एक एक सखी के साथ एक एक मंजरी रहती है। चैतन्य मतानुसार इन मंजरियोंके नाम ये हैं—रूपमंजरी, जीवमंजरी, अनंगमंजरी, रसमंजरी, विलासमंजरी, प्रेममंजरी, रागमंजरी, लीलामंजरी तथा कस्तूरीमंजरी। अष्ट सखियों के नाम, रूप तथा काम में भी पर्याप्त मतभेद है।

पुराणों में भी इस विषय में विशेष मतभेद है। चैतन्यमतानुसार इन अष्टसखियों के नाम ये हैं—ललिता, विशाखा, सुमित्रा, चंपकलता, रंग-

के पास पहुँच कर उन्हीं के समान गोपिकायों की सेवा में संलग्न होने से उनका कृपापात्र बन सकता है और गोपियों की कृपा से वह राधा के पास पहुँच सकता है। महाभावमयी राधा की कृपा से ही जीव भगवल्लीला का आस्वाद ग्रहण कर सकता तथा उसमें सम्मिलित भी हो सकता है परंतु तब वह जीव नहीं रहता—ताटस्थ्यशक्ति का प्रतीक नहीं रहता; अपि तु राधा की कृपा से वह स्वरूपशक्ति के रूप में ही परिणत हो जाता है। ऐसी ही दशा में जीव भी लीलारस के आस्वादन का अधिकारी बनता है, अन्यथा नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की सब अवस्थायें—बाल्य, पौगण्ड, कैशोर तथा यौवन—एक साथ ही होती हैं और ये सबही नित्य होती हैं। तथापि अधिकांश भक्तगण भगवान् के कैशोर रूप के उपासक होते हैं। अनादि होने के कारण भगवान् प्रत्नतम हैं, किन्तु दर्शन में नित्य नवीन हैं। ऋग्वेद में इसीलिए विष्णु को 'नवीयस्' अर्थात् अत्यन्त नवीन बतलाया गया है—

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे।
समुज्जानये विष्णवे दिदाशति॥
(ऋ० १।१५६।२)

भगवान सदा कैशोर वय में रहते हैं; भागवत इसका स्पष्टतया समर्थक है—

देवी, सुन्दरी, तुंगदेवी, इन्दुरेखा। विशेष के लिए देखिए भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र लिखित 'युगल सर्वस्व' (प्रकाशक खड्गविलासप्रेस, पटना; १६११)

सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रह-कातरम् ।
(भाग० ३।२८।१७)

जहाँ भगवान् 'तरुण' बतलाये गये हैं (भाग० ४।८।४६), वहाँ भी इसी कैशोर वय से ही तात्पर्य मानना चाहिए। क्योंकि यौवन से भी अधिक माधुर्य इस कैशोर में है। यौवन में पूर्णता की सिद्धि अवश्य है, परंतु उसमें नव-नवोन्मेषशालिता कहाँ है जो हमें कैशोर में दृष्टिगोचर होती है। भगवान् के समान भगवद्धाम के निवासी भगवत्पार्षद भी 'नूतनवयसः' अर्थात् कैशोर वयः प्राप्त हैं[1]। यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य ने भगवान में 'नित्य यौवन' के द्वारा कैशोर का ही संकेत किया है[2]। रूप गोस्वामी ने तो स्पष्ट ही कहा है कि श्री भगवान प्रायः किशोर रूप में ही सब भक्तों को दिखलाई पड़ते हैं—प्रायः किशोर एवायं सर्वभक्तेषु भासते।

किशोर कृष्ण की दो लीलायें मुख्य हैं—कुंजलीला तथा निकुंजलीला, जिनमें पहिली की अपेक्षा दूसरी लीला अंतरंगतम है। व्रजलीला के सभी उपासकों ने गोपीभाव से अपने को अनुभावित कर व्रजवधूवल्लभ श्रीकृष्ण को परमाराध्य तथा परमोपास्य माना है। कुंजलीला में स्थायिभाव श्रीकृष्ण रति है; विषयालंबन श्रीकृष्ण है तथा आश्रयालंबन व्रजगोपिकायें हैं

---

१ सर्वे च नूत्नवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।
—भाग० ६।१।३५

२ अचिन्त्यदिव्याद्भुत-नित्ययौवनम्
—स्तोत्ररत्न

अर्थात् श्रीकृष्ण-चरण की ही प्रधान उपासना है। यहाँ रसकी समृद्धि तथा परिपक्वता के लिए विरह स्वीकार किया गया है। अतः विप्रलंभ शृंगार की मुख्यता है। गोपियों को कुछ आचार्य परकीया मानते हैं। किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने नित्य संयोग शृंगार की उपासनामें स्वकीयाका भी विधान किया है, परंतु इष्ट तत्त्व श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया है।

निकुंजलीला उपर्युक्त कुंजलीलासे रस की दृष्टि से तथा उपकरणकी दृष्टिसे नितांत भिन्न तथा अंतरंग है। इस निकुंजोपासना को राधावल्लभीय आचार्य श्रीहित हरिवंश जी 'वृंदावन रस' के नाम से अभिहित करते हैं। यह लीला नितांत गुह्य, गोप्य तथा रहस्यभूत है और इसीलिए यहाँ न तो नंद यशोदा का और न सुबल सुबाहु आदि सखाओं का भी प्रवेश है; न शुक आदि महावैष्णवों को गोचर है। और तो क्या? स्वयं व्रज-गोपिकाओं का भी वहाँ प्रवेश नहीं है। श्री गोस्वामी दामोदर वर की 'हस्तामलक' में यह उक्ति है--

गोपी जन सब भक्तन में श्रेष्ठ हैं। काहे ते जु किशोर रूप को भजी हैं अरु उद्धव, विधि उनकी चरणरज वांछी हैं, ते व्रज देवी श्री जुगल किशोर के स्वरूप को जो 'निजु विहार' है ताके दरसवे को अधिकारी नाहीं[1]।

---

१ नारदादि सनकादि सब ऊद्धव अरु ब्रह्मादि।
गोपिन कौ सुख देखि किय भजन आपनौ बादि॥
तिन गोपिन कौं दुर्लभ माई।
नित्य विहार सहज सुखदाई॥
—श्रीध्रुव वाणी।

परमरसामृतमूर्ति सकल सौंदर्य-निकेतन श्री रसरूप भगवान् रसास्वादन के निमित्त दो रूप धारण करते हैं जिनमें एक रूप है श्रीकृष्ण तथा दूसरा है राधा। इनका रंग, रुचि, वय, स्नेह, शील तथा स्वभाव एक ही होता है। ये दोनों रसिककिशोर निकुंज में आनंदार्णव में गोते लगाते हुए रसकेलि में निमग्न रहते हैं। कभी प्रियतम प्रिया बन जाता है और कभी प्रिया प्रियतम बन जाती है और दो रूप होकर भी एकाकार संपन्न होकर रस में प्रतिष्ठित बन जाते हैं। निकुंजोपासनाके इस नित्य वृंदावन की रसकेलि में मान, विरह तथा वियोग का गंध तक नहीं है। यहाँ एक अखण्ड माधुर्य-रस अपनी भव्य शुभ्रता के साथ उच्छलित होता रहता है। इस निकुंजलीला में चैतन्य वैष्णव लोग श्री कृष्ण को विषय तथा श्री राधिका को आश्रय मानते हैं।

परंतु श्रीराधावल्लभी संप्रदाय के अनुसार इस 'वृंदावन-रस' में राधारति ही स्थायीभाव है; श्रीराधा विषय तथा श्रीकृष्ण आश्रय हैं। तात्पर्य यह है कि राधा जी आराध्य है और लालजी उनके अनन्य आराधक हैं। इस प्रकारकी उपासनामें श्रीराधाचरण प्रधान है, कृष्ण-चरण नहीं। संयोग में प्रेम की चटपटी चाह तो रहती है, परंतु वेदना का भय लगा रहता है। उधर वियोग में हृदय की विचित्र गति रहती है। नित्य लीला का यह रस संयोग तथा वियोग उभय दशाओं से भिन्न अथच उदात्ततर है। हितहरिवंश जी ने चकई तथा सारस के परस्पर कथोपकथन के द्वारा अपने सिद्धांत को पुष्ट करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अनवरत रसपान की दशा में भी रसपान की चिरपिपासा रस की चरमोत्कृष्ट दशा है और इसी का प्राधान्य रहता है इस निकुंजलीला में। इस उपासना का अधिकारी वही भाग्यशाली

अर्थात् श्रीकृष्ण-चरण की ही प्रधान उपासना है। यहाँ रसकी समृद्धि तथा परिपक्वता के लिए विरह स्वीकार किया गया है। अतः विप्रलंभ शृंगार की मुख्यता है। गोपियों को कुछ आचार्य परकीया मानते हैं। किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने नित्य संयोग शृंगार की उपासनामें स्वकीयाका भी विधान किया है, परंतु इष्ट तत्त्व श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया है।

निकुंजलीला उपर्युक्त कुंजलीलासे रस की दृष्टि से तथा उपकरणकी दृष्टिसे नितांत भिन्न तथा अंतरंग है। इस निकुंजोपासना को राधावल्लभीय आचार्य श्रीहित हरिवंश जी 'वृंदावन रस' के नाम से अभिहित करते हैं। यह लीला नितांत गुह्य, गोप्य तथा रहस्यभूत है और इसीलिए यहाँ न तो नंद यशोदा का और न सुबल सुबाहु आदि सखाओं का भी प्रवेश है; न शुक आदि महावैष्णवों को गोचर है। और तो क्या? स्वयं व्रज-गोपिकाओं का भी वहाँ प्रवेश नहीं है। श्री गोस्वामी दामोदर वर की 'हस्तामलक' में यह उक्ति है--

गोपी जन सब भक्तन में श्रेष्ठ हैं। काहे ते जु किशोर रूप को भजी हैं अरु उद्धव, विधि उनकी चरणरज वांछी हैं, ते व्रज देवी श्री जुगल किशोर के स्वरूप को जो 'निजु विहार' है ताके दरसवे की अधिकारी नाहीं[१]।

---

१ नारदादि सनकादि सब उद्धव अरु ब्रह्मादि।
गोपिन को सुख देखि किय भजन आपनो बादि॥

तिन गोपिन कों दुर्लभ माई।
नित्य विहार सहज सुखदाई॥

—श्रीध्रुव वाणी।

परमरसामृतमूर्ति सकल सौंदर्य-निकेतन श्री रसरूप भगवान् रसास्वादन के निमित्त दो रूप धारण करते हैं जिनमें एक रूप है श्रीकृष्ण तथा दूसरी है राधा। इनका रंग, रुचि, वय, स्नेह, शील तथा स्वभाव एक ही होता है। ये दोनों रसिककिशोर निकुंज में आनंदार्णव में गोते लगाते हुए रसकेलि में निमग्न रहते हैं। कभी प्रियतम प्रिया बन जाता है और कभी प्रिया प्रियतम बन जाती है और दो रूप होकर भी एकाकार संपन्न होकर रस में प्रतिष्ठित बन जाते हैं। निकुंजोपासनाके इस नित्य वृंदावन की रसकेलि में मान, विरह तथा वियोग का गंध तक नहीं है। यहाँ एक अखण्ड माधुर्य-रस अपनी भव्य शुभ्रता के साथ उच्छलित होता रहता है। इस निकुंजलीला में चैतन्य वैष्णव लोग श्री कृष्ण को विषय तथा श्री राधिका को आश्रय मानते हैं।

परंतु श्रीराधावल्लभी संप्रदाय के अनुसार इस 'वृंदावन-रस' में राधारति ही स्थायीभाव है; श्रीराधा विषय तथा श्रीकृष्ण आश्रय हैं। तात्पर्य यह है कि राधा जी आराध्य हैं और लालजी उनके अनन्य आराधक हैं। इस प्रकारकी उपासनामें श्रीराधाचरण प्रधान है, कृष्ण-चरण नहीं। संयोग में प्रेम की चटपटी चाह तो रहती है, परंतु वेदना का भय लगा रहता है। उधर वियोग में हृदय की विचित्र गति रहती है। नित्य लीला का यह रस संयोग तथा वियोग उभय दशाओं से भिन्न अथच उदात्ततर है। हितहरिवंश जी ने चकई तथा सारस के परस्पर कथोपकथन के द्वारा अपने सिद्धांत को पुष्ट करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अनवरत रसपान की दशा में भी रसपान की चिरपिपासा रस की चरमोत्कृष्ट दशा है और इसी का प्राधान्य रहता है इस निकुंजलीला में। इस उपासना का अधिकारी वही भाग्यशाली

हो सकता है जो अनन्यभाव से, विशुद्ध मन, विशुद्ध कर्म तथा विशुद्ध वचन से भी राधाजी के शरणापन्न होता है।

यहाँ महाभाव की पूर्णता रहती है और श्रीराधा और कृष्ण-चंद्र का नित्य मिलन संपन्न होता है जो पूर्ण रस तथा सामरस्य का सूचक होता है—

परस्परं प्रेमरसे निमग्नमशेषसंमोहनरूपकेलि।
वृन्दावनान्तर्नवकुञ्जगेहे तन्नीलपीतं मिथुनं चकास्ति॥
(राधासुधानिधि)

७

उपासना-तत्त्व

उपासक उपासना के द्वारा ही भगवत्प्राप्ति में कृतकार्य होता है। उपासना एक महनीय शक्ति है जिसका उपयोग सद्यः फल-प्रद तथा अवश्यमेव कार्यसाधक होता है। उपासना शब्द का अर्थ है 'उप समीपे आसनं स्थितिः' अर्थात् भगवान् के पास में उपासक की स्थिति वा अवस्थान। भगवान् अनंत अलौकिक शक्तियोंका निकेतन है। उसी अलौकिक शक्तिकेन्द्रके साथ अपना साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करना 'उपासना'का लक्ष्य है। बिजुलीका बल्ब पासमें विद्यमान भले ही, परंतु यदि विद्युत्-गृहके साथ संपर्क नहीं स्थापित होता, तो वह बल्ब क्या प्रकाश करने में समर्थ हो सकता है? अल्पशक्ति-संपन्न जीव को सर्वशक्तिमान् विभु परमात्मा के साथ बिना साक्षात् संपर्क स्थापित किये उसका न तो ऐहिक मंगल सिद्ध हो सकता है और न आमुष्मिक कल्याण।

साधक को अपने विशिष्ट भाव के अनुसार ही देवता का निर्वचन तथा ध्यानादिका विधान करना सर्वथा उचित होता है।

परंतु वैष्णव शास्त्रों का एक मान्य सिद्धांत है कि शक्ति-विशिष्ट शक्तिमान् की ही उपासना अपने कार्य में सफल तथा जागरूक होती है। संमोहनतंत्र के अनुसार किशोरी राधारानी के संग में ही कृष्णचंद्र के ध्यान का विधान है। जो साधक गौर तेज के बिना केवल श्याम तेज का ही ध्यान धरता है, उसे वैष्णव तंत्र पातकी बतलाते हैं—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत् ।
जपेद्वा ध्यायते वाऽपि स भवेत् पातकी शिवे ॥
(सम्मोहनतंत्र)

श्रीनिंबार्कमतीय औदुंबराचार्य ने इस युगलमूर्ति की उपासना की ओर इस पद्य में संकेत किया है—

जयति जयति राधायुग्मतत्त्वं वरिष्ठं
व्रतसुकृत-निदानं यत् सदैतिह्यमूलम् ।
विरल–सुजन–गम्यं सच्चिदानन्दरूपं
व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम् ॥

(१) अतः युगल उपासना के ऊपर वैष्णव शास्त्रों का परम आग्रह है। इस आग्रह का रहस्य यह है कि जीव स्वतः विभु परमात्मा के सामने उपस्थित होने पर उसके प्रकृष्ट तेज सहने की क्षमता नहीं रखता। भला अल्पशक्तिमान् अणु जीव आकाश में हजारों एक साथ चमकने वाले सूर्यों के प्रभापुंज के समान तेजस्वी ब्रह्म के सान्निध्य में जाकर कभी अपनी व्यक्तिगत सत्ता की रक्षा में सक्षम हो सकता है? इसकी रक्षा का एकमात्र उपाय है मातृशक्ति के द्वारा सुरक्षित होकर ही पितृस्थानीय भगवान्

के सान्निध्य में आना। ऐसी दशा में उभयतेज में परस्पर संमिलन कर एक दूसरे को सहिष्णु बनाते हैं तथा माता की गोद में हँसते हुए बालक के समान जीव अपनी सुरक्षा में कृत-कार्य होता है।

(२) शक्ति तथा शक्तिमान् में सर्वथा ऐक्य है। तुलसीदास के शब्दों में जानकी गिरा-रूपिणी हैं तथा राम अर्थरूप हैं। जिस प्रकार संगमर्मर के एक खंड के ऊपर कलावंत रामकृष्ण की मूर्ति गढ़ने में कृतकार्य होता है, उसी प्रकार अर्थ के ऊपर गिरा के प्रभाव से समग्र जगत् उद्भासित तथा उन्मीलित होता है। शब्द के द्वारा ही सृष्टि होती है, यह वैदिक धर्म का ही मूल तत्त्व नहीं है, अपि तु ईसाई धर्म का भी। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने कहा कि प्रकाश उत्पन्न होवे और प्रकाश तुरंत उत्पन्न हो गया—

God said let there be light and there was light.

शब्द तथा प्रकाश का अन्योन्याश्रय संबंध है। वाक्‌रूपा शक्ति, राधा या सीता के द्वारा ही अर्थमय आश्रय के ऊपर यह विराट विश्व उन्मीलित होता है। फलतः जगत् की सृष्टि में शक्तिरूपा सीता की कार्य-कारिता विशेषरूप से विद्यमान है।

(३) नारद पांचरात्र के अनुसार श्रीलक्ष्मी जी भगवान् की प्राप्ति में पुरुषकार का कार्य करती है अर्थात् घटक बनती हैं। लक्ष्मीपति भगवान् अपनी प्राप्ति में स्वयं उपायरूप हैं और उसकी प्राप्ति से योग करने वाली, घटक का कार्य करने वाली स्वयं श्रीलक्ष्मी जी हैं। वही जीवों के अपराध के क्षमापन के निमित्त नारायण से प्रार्थना किया करती हैं। माता का हृदय

अधिक आर्द्र तथा कोमल ठहरा। वह बालक के क्लेशों से अधिक उद्विग्न बन जाती है और लक्ष्मीपति से सद्यः प्रार्थना करती है[1]—

पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने
हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित् कलुषधीः।
किमेतद् ? निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः॥
(भट्टार्यस्वामी—गुणरत्नकोष)

आशय है कि अपराधी जीव के ऊपर भगवान् के क्रोध करने पर लक्ष्मी स्वयं पैरवी करती है कि भगवन्! आप क्रुद्ध क्यों हैं? क्या इस जगत् में कोई भी प्राणी अपराधरहित है? इस प्रकार उन्हें समझा बुझाकर हम जीवों को अपनाती हो। माता का तो यही कार्य होता है।

भगवान् के शरण में जाना साधक की एक क्रिया है, परंतु जानकी जी के लिए किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं होती। वह तो अपराधी जीवों को हरि-शरणागति का अधिकारी न देखकर अपने मृदुल चित्त से उनकी ओर से पैरवी (पुरुषकार) करती हैं। वह केवल प्रणामसे प्रसन्न होकर मनोरथ पूर्ण कर देती हैं—

---

१ अहं मत्प्राप्त्युपायो वै साक्षात् लक्ष्मीपतिः स्वयम्।
लक्ष्मीः पुरुषकारेण वल्लभा प्राप्तियोगिनी॥
—नारदपांचरात्र

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा ।
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात् ।
—वाल्मीकीय सुंदर काण्ड ।

गोस्वामी तुलसीदास जी जानकी जी के इसी कार्य की ओर यहाँ संकेत कर रहे हैं—

कबहुँक अंब अवसर पाई ।
मोरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाई ॥
—विनयपत्रिका

(४) सीता का स्वभाव निर्हेतुक क्षमामय तथा कृपामय है। वह उपासित होने पर श्रीराम जी से जीवों के ऊपर क्षमा करने के लिए स्वयं आग्रह करती हैं। श्री सीता जी का रूप भी तो यही है। 'सिनोति वशं करोति स्वचेष्टया भगवन्तं सा सीता' अर्थात् अपनी चेष्टा से भगवान् को वश में करनेवाली। भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होते हैं। फलतः वह जीवों के अपराधों को शीघ्र जान लेते हैं और उसे दंड देने के लिए झटसे उद्यत हो जाते हैं, परंतु श्री सीता जी ही अपने नैसर्गिक कारुण्य-भाव से जीवों की ओर से इतना पुरुषकार करती हैं कि भगवान् के दोनों गुण—सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता—निरुद्यम हो जाते हैं। कृपालुता भगवान् का सहज गुण है। भगवान् सोचते हैं कि समग्र प्राणियों की रक्षा करने में मैं ही समर्थ हूँ। इस प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसन्धान को भगवान् की कृपा कहते हैं—

रक्षणे; सर्वभूतानामहमेव परो विभुः ।
इति सामर्थ्यसन्धाना कृपा सा पारमेश्वरी ॥

कृपा का निवास हृदय है, सर्वज्ञता का निवास मस्तिष्क तथा सर्वशक्तिमत्ता का निवास बाहु रहता है। समीपवर्तिनी होने से कृपादेवी हृदयस्थ भगवान् के ऊपर शीघ्रता से प्रभाव डालती है। अन्य दोनों शक्तियों के दूर वर्तिनी होने से उनका उतना प्रभाव नहीं होता[1]।

इस प्रकार जीवों के प्रति भगवान् की नैसर्गिकी कृपा को जागरूक होने के लिए जानकी जी सदा पुरुषकार करती हैं। वह राम के साथ सदा त्रिपाद विभूति साकेत नामक परमधाम में निवास करती हैं। अतः अपना कल्याण चाहने वाले उपासक को युगल मूर्ति की उपासना करनी चाहिए तथा दोनों का नाम-जप एक साथ करना चाहिए।



---

१ विशेष द्रष्टव्य कल्याण वर्ष २७; संख्या ५ तथा ६; मई तथा जून १९५३।

साहित्य-निर्देश

(मूल ग्रंथ के नाम ग्रंथ के भीतर निर्दिष्ट हैं। यहाँ प्रमुख आधुनिक ग्रंथों के नाम दिए जाते हैं।)

सामान्य ग्रंथ

R. G. Bhandarkar—Vaisnavism, S'aivism and Minor Sects, Poona, 1928

Rai Choudhary—Early History of the Vaisnava Sect (Calcutta University, Calcutta, 1920)

Bhagavat Kumar Goswami—Bhakti cult in Ancient India, Calcutta. 1922

दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री—वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती), बंबई, १९३९.

बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, काशी १९४५.

„ —धर्म और दर्शन, काशी, १९४४.

Dr. J. N. Farquhar—An Outline of the Religious Literature of India, Oxford, 1920.

Ramananda to Ramatirtha (Natesan, Madras.)

J. P. Carpentar—Theism in Mediaeval India, Oxford.

गोपीनाथ कविराज—'भक्ति रहस्य'; 'कल्याण' का 'हिंदू संस्कृति—अंक', पृ० ४३६-४४४.

गोपीनाथ कविराज—'दीक्षा रहस्य' (कल्याण सं० १५, अंक ४)

रामानुज मत

J. S. M. Hooper—Hymns of the Alvars (Heritage of India Series, Calcutta 1929)

'Nammalvar' (Natesan, Madras)

A. Govindacharya—Life of Ramanuja-charya, Madras, 1906

Otto Schrader—Introduction to the'Pancha-ratra and theAhirbudhnya Samhita, Adyar Library, Madras, 1916.

V. Rangachary—Heritage of Indian Culture, (Vol II pp. 69-103) Calcutta

माध्वमत

Padmanabhacharya—Life and Teachings of Sri Madhva, Natesan, Madras.

Nagaraja Sharma—Reign of Realism in Indian Philosophy, Madras.

C· R. krishna Rao—Sri Madhva : Life and Teachings, Madras.

वल्लभसंप्रदाय

Bhai Manilal Pareckh—Shri Vallabhacharya, Shri Bhagavata Dharma Mission, Rajkot, 1943.

" —Shri Swami Narayan Rajkot, 1941.

दीनदयालु गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, सं० २००४

सहजिया वैष्णवधर्म

Manindra Mohan Bose—Post - chaitanya Sahajia Cult of Bengal (Calcutta University, 1930)

Dr. S. Dasgupta—Obscure Religious Sects of Bengal (Calcutta University, 1940)

चैतन्यमत

D. C. Sen—Vaishnava Litrature of Mediaeval Bengal (Calcutta, 1917)

„ —Chaitanya and his Companions (Calcutta 1917)

Jadunath Sarkar—Chaitanya's Pilgrimages and;Teaching (Calcutta, 1911)

M. T. Kennedy—The Chaitanya Movement, The Religions Life of India Series, Calcutta, 1925.

हरिदास दास—श्री गौडीय वैष्णव साहित्य (बँगला), हरिबोल कुटीर नवद्वीप, ४६२ चैतन्याब्द ।

G. N. Mallick—Philosophy of the Vaishnva Religion. Lahore, 1923,

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—चैतन्य चरितावली (५ भाग), गीता प्रेस गोरखपुर ।

S. K. De.—Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal, General Printers and Publishers, Calcutta.

भक्ति विनोद—जैवधर्म (बंगला), श्री सनातन गौडीय मठ, कलकत्ता

उत्कल में वैष्णव धर्म

Nagendra Nath Vasu—Modern Buddhism and its followers in Orissa, Calcutta 1911.

Prabhat Mukerjee—Mediaeval Vaishnavism in Orissa, Calcutta. 1940

प्रो० चित्तरंजन दास—उत्कल साहित्य में पंचसखा, जनवाणी पत्रिका काशी, १९५० अप्रैल।

महापुरुषिया धर्म

Harmohan Das—Shankerdeva : A Study

नेयौ—'असम के ब्रजबुलि साहित्य का दार्शनिक स्वरूप'—संमेलन पत्रिका, भाग ३०, सं० ६-७ और ११-१२। सं० १९९९ तथा सं० २०००, प्रयाग।

महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म

R. D. Ranade—Mysticism in Maharashtra, Poona, 1933.

पांगारकर—ज्ञानेश्वर चरित्र, गीताप्रेस, गोरखपुर

" —एकनाथ चरित्र "

" —तुकाराम चरित्र "

यशवन्त देशपांडे—महानुभावीय मराठी वाङ्मय
" ,,—महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, भाग १८
(महानुभाव पंथ)
दाण्डेकर—महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, भाग २० (वारकरी पंथ)
Baldeva Upadhyaya—Varkaris, the foremost Vaishnava Sect of Maharashtra.
(I. H. Q. Vol XV, 1939)

नामानुक्रमणिका

—:❀:—

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां
नैवार्थदो यत्पुनरर्थता यतः।
स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छता-
मिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ॥
(भाग० ५।११।२७)

आत्मनिवेदन की विशिष्टता

भक्ति के द्वारा ही भगवान् का अनुग्रह हमें प्राप्त हो सकता है। बिना भक्ति के ज्ञान और कर्म हस्तिस्नान की तरह बिल्कुल निष्फल हैं। प्रह्लादजी ने दान, व्रत, शौच आदि को व्यर्थ बतला कर भगवान् के प्रीतिसंपादन करने के लिए निर्मला तथा निष्काम भक्ति को ही एकमात्र साधन बतलाया है—

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥
(भाग० ७।७।५२)

परंतु भक्ति तो नवधा ठहरी। श्रवण, कीर्तन, वंदनादि के द्वारा भक्ति की जाती है, परंतु श्रवणादि भक्ति के बहिरंग साधन के समान प्रतीत होते हैं। इनमें भक्त की भगवान् से पृथक् ही सत्ता बनी रहती है, तादात्म्य का पक्का रंग अभी तक चढ़ा हुआ नहीं दीख पड़ता। 'एकात्मता' की ऊँची सीढ़ी अभी दूर ही दृष्टिगोचर होती है। इसके लिए अंतिम भक्ति-प्रकार आत्मनिवेदन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है। गीता में इसका सूत्र मिलता है, भागवत में इसका भाष्य। भागवत ने आत्म-निवेदन से सद्यः अमृतत्वलाभ तथा कृष्णैकात्म्य की प्राप्ति बतलायी है। एकादश में भगवान् का स्वयं कहना है—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै॥
(११।२६।३४)

जब तक भगवदर्पण नहीं किया जाय, वेदविहित त्रिवर्ग एकदम मिथ्या हैं, वह प्रह्लादजी का कथन (७।३।२६) बिल्कुल सत्य है। अतः भक्ति के सब प्रकारों में आचार्य जी ने आत्म-निवेदन को जो अपना मंत्र बनाया, वह भागवत के सर्वथा संमत ही है।

शरणागति

श्री कृष्ण के शरण में बिना गए मनुष्य का कल्याण साधन नहीं हो सकता। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' गीता बतलाती है। भागवत में भी इस विषय का बड़ा ही प्रभावोत्पादक वर्णन हम पाते हैं। जो मनुष्य भगवान् को छोड़कर दूसरे की शरण में जाता है, वह मूर्ख कुत्ते की पूँछ पकड़ कर समुद्र को पार करना चाहता है—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनातितितर्ति सिन्धुम्॥
(भाग० ६।९।२२)

तापत्रय से संतप्त मनुष्य के लिए भगवान् का पादपद्म ही तो एकमात्र शरण है। उद्धवजी का कथन है—

तापत्रयेणाभिहतस्य घोरे
सन्तप्यमानस्य भवाध्वनीश ।
पश्यामि नान्यच्छरणं तवाङ्घ्रि-
द्वन्द्वातपत्रादमृताभिवर्षात् ॥
(भाग० ११ । १९ । ९)

ऐसे मनुष्य को क्लेश किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते (भाग० ३ । २२ । ३५) तथा अपनी भृकुटि से समस्त विश्व को ध्वंस करनेवाला यमराज भी ऐसे मनुष्य को अपने प्रभाव के बाहर समझता है (भाग० ४ । २४ । ५६) । ऐसा होना उचित ही है, क्योंकि भगवान् के पादपद्म 'अभयं' सर्वतो भयशून्य हैं, 'ऋतं' अविनाशी हैं तथा 'अशोकं' नितरां शोकरहित हैं—

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-
न्नभयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥
(१०।५१।५६)

जब तक हम भगवान् के शरणापन्न नहीं हैं, तभी तक ही यह गृह कारागृह है, राग-द्वेष चौर हैं, मोह पादबंधन है । शरणागति के अनंतर तो भगवद्भक्ति के साधक होने से इनमें स्वार्थ के कीड़े मर जाते हैं; ये सब परार्थ होने से श्लाघनीय बन जाते हैं ।

तावद् रागादयः स्तेनास्तावद् कारागृहं गृहम् ।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥

अतः मुक्तिसाधन में शरणागति का बड़ा उपयोग है । महाप्रभुजी ने शरणमन्त्र को अपना कर अपनी भागवत-तत्त्वज्ञता का गहरा परिचय दिया है ।

अब तक के विवेचन से यह बात किसी भी आलोचक को स्पष्ट मालूम पड़ जायगी कि पुष्टिमार्ग का उपरिविवेचित रूप भागवत के आधार पर है। इसी लिये इस मत के आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के बाद 'व्यास की समाधि भाषा'—भागवत—को भी प्रमाण—चतुष्टय में ठीक ही गिनाया है[1]।

(५)

पुष्टिमार्गीय साहित्य

पुष्टिमार्गीय साहित्य मात्रा में कुछ कम नहीं है, परंतु उसके मूलभूत ग्रंथ दो ही माने जा सकते हैं जिनकी व्याख्या-सम्पत्ति ने इस साहित्य को समृद्ध तथा मांसल बनाया है। एक है ब्रह्म-सूत्र और दूसरा है श्रीद्भागवत। वल्लभाचार्य ने इन दोनों ग्रंथ-रत्नों की प्रभा को अपने अणुभाष्य तथा सुबोधिनी के द्वारा बड़ी ही सरसता तथा विद्वत्ता के साथ प्रकटित किया है। प्रतीत होता है कि आचार्य-चरण के ये दोनों ग्रन्थ मूलतः पूर्ण थे, परंतु उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ की मृत्यु के अनंतर उनके परिवार में उत्पन्न अव्यवस्था के कारण ये ग्रंथ छिन्न-भिन्न हो गए। श्रीविट्ठलनाथ जी को ब्रह्मसूत्र के आदि के केवल अढ़ाई अध्यायों के ऊपर ही अणुभाष्य उपलब्ध हुआ और उन्होंने स्वयं अंतिम डेढ़ अध्यायों के ऊपर भाष्य लिखकर इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की पूर्ति की। सुबोधिनी आज भी खंडित ही उपलब्ध होती है।

---

१ वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥ ७६ ॥
(शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ४६)

प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम स्कन्धों पर पूरी तथा एकादश स्कन्ध के कतिपय अध्यायों पर ही सुबोधिनी प्राप्त होती है।

अणुभाष्य ही पुष्टिमार्ग का सर्वस्व है। इसकी व्याख्या-सम्पत्ति भी विपुल है। विट्ठलनाथजी की मृत्यु (सं० १६४२) के लगभग सौ वर्षों के अनंतर पुरुषोत्तमजी ने सर्वप्रथम अणुभाष्य के ऊपर 'भाष्यप्रकाश' नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्यान लिखा जिसे हम अणुभाष्य की सर्वप्रथम तथा सर्वोत्तम व्याख्या कह सकते हैं। इनका जन्म वल्लभाचार्य से सातवीं पीढ़ी में सं० १७२४ में हुआ था। इनका आरंभिक जीवन मथुरा में तथा पश्चात् सूरत में बीता। 'भाष्यप्रकाश' पर इनके गुरु कृष्णचंद्र महाराज की ब्रह्मसूत्र-वृत्ति (भावप्रकाशिका) का विशेष प्रभाव पड़ा है। भाष्यप्रकाश अणुभाष्य के गूढ़ार्थ के प्रकाशक होने के अतिरिक्त अन्य भाष्यों का तुलनात्मक विवेचक भी है और यही इस ग्रंथ-रत्न की विशिष्टता है। पुरुषोत्तम जी के अन्य मान्य ग्रंथों में (१) सुबोधिनी प्रकाश, (२) उपनिषद्दीपिका, (३) आवरणभंग, (४) प्रस्थान-रत्नाकर, (५) सुवर्णसूत्र ('विद्वन्मंडन' की पांडित्यपूर्ण विवृत्ति), (६) अमृत-तरंगिणी (गीता की पुष्टिमार्गीय टीका) तथा (७) षोडशग्रंथ-विवृत्ति मुख्य हैं। इनका निधन १७८१ सं० में माना जाता है। अणुभाष्य की ओर आकृष्ट होने वाले पंडितों में मथुरानाथ तथा मुरलीधर जी का भी नाम उल्लेखनीय है। प्रथम ने 'प्रकाश' तथा द्वितीय ने 'सिद्धांत प्रदीप' लिखकर अणुभाष्य के सिद्धांत को बोधगम्य बनाया। ये दोनों टीकायें पुरुषोत्तम जी की व्याख्या से स्वतंत्र हैं।

'भाष्यप्रकाश' के ऊपर 'रश्मि' नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्यान

लिखकर गोपेश्वरजी (सं० १८३६-१८६७ सं०) ने संप्रदाय के लिए बड़े हित की बात की। यह रश्मि भाष्यप्रकाश के गूढ़ स्थलों पर ही अपनी प्रभा नहीं बिखेरती है, प्रत्युत अणुभाष्य को भी विस्तार से समझाती है। इस प्रकार प्रकाश की त्रुटि की मार्जना करनेमें वह कृतकार्य होती है। गोपेश्वरजीके शिष्य काशी गोपाल-मंदिर के स्वामी गिरिधर जी महाराज ने भी अणुभाष्य को अपनी पांडित्यपूर्ण टीका से मंडित किया। ये व्याकरण के मर्मज्ञ विद्वान् होने के अतिरिक्त पाठभेद के प्रवीण समीक्षक थे। अतः अणुभाष्य में अनेक पाठों का विवेचन कर मूल ग्रंथ के विशुद्ध पाठ को इन्हों ने ठीक किया है। इनका विख्यात ग्रंथ 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' शुद्धाद्वैत के सिद्धांतों के प्रकाशन में सचमुच मार्तंड ही है।

अनेक विद्वानों ने पुष्टिमार्ग से सिद्धांतनुसार ब्रह्मसूत्र के ऊपर स्वतंत्र वृत्तियाँ भी लिखी हैं जिनमें दो मुख्य हैं—

(१) कृष्णचंद्र महाराज की भावप्रकाशिका वृत्ति। ये पुरुषोत्तम जी के मान्य गुरु थे। संभव है कि इसकी रचना में योग्य शिष्य का भी कुछ हाथ हो। मात्रा में यह वृत्ति अणुभाष्य से भी बढ़कर है।

(२) भट्ट व्रजनाथ की मरीचिका—यह वृत्ति मूल अर्थ के समझने में बड़ी ही उपयोगिनी है तथा अणुभाष्य के ऊपर अवलंबित है।

आचार्य वल्लभ तथा उनके सुयोग्य पुत्र विट्ठलनाथ जी ने उभय प्रकार के ग्रंथों का प्रणयन सामान्य जन तथा विशिष्ट विद्वानों के लाभ के लिए किया। आचार्यचरण के ग्रंथ तो संप्रदाय के लिए मूल ग्रंथ के समान मान्य तथा श्लाघ्य हैं।

इनके प्रसिद्ध ग्रंथ ये हैं—(१) ब्रह्म सूत्र का भाष्य (अणु-भाष्य), (२) तत्त्वदीप निबंध (भागवत के सिद्धांतों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रंथ), (३) सुबोधिनी (भागवत की मार्मिक टीका), (४) भागवत सूक्ष्मटीका, (५) पूर्व मीमांसा भाष्य (त्रुटित) (६) लघुकाय सिद्धांत-प्रतिपादक षोडश ग्रंथ।

विट्ठलनाथ जी के ग्रंथों में मान्य ग्रंथ ये हैं—

(१) निबंधप्रकाश, (२) विद्वन्मंडन, (३) शृंगाररस-मंडन (४) सुबोधिनी टिप्पण (५) अणुभाष्य के अंतिम डेढ़ अध्यायों के ऊपर भाष्य जिसे लिख कर इन्होंने भाष्य की पूर्ति की। पूर्वनिर्दिष्ट होने पर भी यहाँ उनका उल्लेख विषय की पूर्ति के लिए किया गया है।

(६)

अष्टछाप

सूरदास—अष्टछाप के कवियों ने भगवान् श्रीकृष्णकी ललित लीलाओं के कीर्तनविषयक नाना प्रकार के पदों की रचना कर भक्ति-साहित्य को ही अग्रसर नहीं किया, प्रत्युत ब्रजभाषा को भी सुगढ़ साहित्यिक भाषा का रूप दिया। इनमें सबसे श्रेष्ठ कवि निःसंदेह सूरदासजी थे। इनका जन्म आगरा मथुरा की सड़क पर स्थित 'रुनकता' नामक गाँव में १५३५ विक्रमी की वैशाख सुदी पंचमी को हुआ था। श्रीवल्लभाचार्य जी इनके पदों के लालित्य से इतने मुग्ध हुये कि उन्होंने श्रीनाथजी के कीर्तन के निमित्त अपने साथ वृंदावन लेते गये। सं० १५८० विक्रमी के आसपास ये आचार्य जी के शिष्य हुए और श्रीनाथजी के सामने कीर्तन

गाने का कार्य उनके अधीन किया गया। उनकी मृत्युतिथि के विषय में भी काफी मतभेद आलोचकों में बना हुआ है। कोई उनकी मृत्युकाल १६२० वि० मानता है, तो कोई १६३८ वि०। यदि पिछली तिथि ठीक हो तो उस समय इनकी आयु लगभग १०३ वर्ष की ठहरती है।

सूरदासजी का 'सूरसागर' वास्तव में व्रज साहित्य का मुकुट-मणि है जिसकी आभा समय के परिवर्तन तथा आलोचना की नई दिशा के उत्पन्न होने पर भी फीकी नहीं हुई है। इस ग्रंथरत्न में भगवान् श्रीकृष्ण के बालरूप का वर्णन इतना साङ्गोपाङ्ग तथा ललित भाव से किया गया है कि इस जोड़ी का वर्णन साहित्यमें दूसरा नहीं है। तुलसीके समान सूरदासका काव्य-क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था कि मानव जीवन की विविध दशाओं में समावेश यहाँ किया जा सके, परंतु सीमित होने पर भी इनकी वाणी ने उस क्षेत्र का कोई भी कोना अछूता नहीं छोड़ा। शृंगार और वात्सल्य की सृष्टि में अंधे सूर को जो सूझी वह किसी भी चक्षुष्मान् कवि को नहीं सूझी। बालकाव्य वल्लभमतानुयायी कवियों का निजी क्षेत्र है जहाँ उनकी प्रतिभा अपना कमनीय जौहर दिखलाया करती है। इस विषय में सूर सबके अग्रणी हैं। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भंडार और कहाँ मिलेगा? इसी प्रकार गोपियों के प्रेम तथा विरह के चित्रण में सूरदास एकदम बेजोड़ हैं। ये मानव-हृदय के भीतर प्रवेश कर इतनी स्वभाविकता से उसकी वृत्तियों का चारु चित्र प्रस्तुत करते हैं कि देखनेवाला दंग रह जाता है। गोपियों के मुख से प्रेम के विलास की कितनी मार्मिक अभिव्यंजना सूरदास ने कराई है।

प्रेम के कारण दुःखमय जीवन वितानेवाली विरहिणी गोपियों का यह कथन कितना सटीक तथा सयुक्तिक है—

प्रीति करि काहू सुख ना लह्यो।
प्रीति पतङ्ग करी दीपक सों आपै प्रान दह्यो॥
अलिसुत प्रीति करी जलसुत सों संपति हाथ गह्यो।
सारंग प्रीति करी जो नादसों सनमुख बान सह्यो॥
हम जो प्रीति करी माधो सों चलत न कछू कह्यो।
सूरदास प्रभु बिनु दुख दूनों नैननि नीर बह्यो॥

राधाकृष्ण के प्रेम के प्रादुर्भाव की कैसी स्वाभाविक परिस्थिति का चित्र है; यह देखियेः—

धेनु दुहत अति ही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी॥
मोहन कर ते धार चलति पय, मोहनि मुख अति ही छवि बाढ़ी।

संध्या होने पर कभी तो गोपियों को यह स्मरण आता है—

एहि बेरियाँ वनते चलि आवते।
दूरहि तें वह धेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥

कभी कभी अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वे वृन्दावन के हरे-भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुवन ! तुम कस रहत हरे ?
विरह वियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे॥
तुम हौ निलज, लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
कौन काज ठाढ़े रहे वनमें काहे न उकठि परे॥

जब उद्धव बहुत-सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं, तब गोपियाँ बीच में रोक कर इस प्रकार पूछती हैं—

निर्गुन कौन देश को वासी ?
मधुकर हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥
रेख न रूप बरन जाके नहिं, ताको हमें बतावत।
अपनो कहौ दरस ऐसो को तुम कबहूँ हौ पावत।
मुरली धरत अधर है सो, पुनि गोधन बन बन पारत।
नैन विशाल भौंह बंकट करि देख्यौ कबहुँ निहारत।
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि पीतांबर तेहि सोहत।
सूर स्याम ज्यों देत हमें सुख त्यों तुमको सोउ मोहत।

सूरदास की मृत्यु सं० १६३८ विक्रमी (=१५८२ ई०) में अनुमान से मानी गई है। उस समय इनकी आयु लगभग १०३ वर्ष की थी[1]।

परमानन्द दास—इनका निवासस्थान कन्नौज जिला फरुखाबाद में था। आप कनौजिया ब्राह्मण थे। ये गृहस्थी के प्रपञ्च में कभी नहीं फँसे क्योंकि इन्होंने अपना विवाह तक नहीं किया था। ये बड़े ही भारी कीर्तनकार तथा काव्य-रचयिता थे। इनके काव्य तथा कीर्तनों का ऐसा प्रभाव पड़ता था कि सुननेवाले भावमग्न हो जाते थे। वल्लभाचार्यजी को ये एक बार व्रज जाते समय अपने गाँव ले गये थे और वहीं उन्होंने विरह का यह पद इतनी भावभङ्गी से सुनाया कि आचार्यजी उसको सुनकर तीन दिन तक ध्यानावस्थित रहे। वह सुप्रसिद्ध पद यह है—

---

१ दीनदयाल गुप्त—अष्टछाप पृ० २१९।

हरि तेरी लीला की सुधि आवे।
कमल नयन मन मोहनी मूरति मन मन चित्र बनावे ॥
एक बार जेहि मिलत मया करि सो कैसे विसरावे।
मुख मुसुकानि वंक अवलोकनि चाल मनोहर भावे ॥
कबहुँक निबड़ तिमिर आलिंगित कबहुँक पिक सुर गावे।
कबहुँक संभ्रम क्वासि क्वासि कहि सङ्गहीन उठि धावे ॥
कबहुँक नयन मूँदि अन्तरगति मनि माला पहिरावे।
परमानन्द प्रभु श्याम ध्यान करि ऐसे विरह गमावे ॥

अष्टछाप में सूरदास और परमानंद दास ये दो ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं क्योंकि इन दोनों ने ही कृष्ण की सम्पूर्ण लीलाओं का गान सबसे अधिक मार्मिक शब्दों में किया था। इसीलिये गोस्वामी जी ने सूर और परमानंद दोनों को ही 'सागर' कहा है। आप लोग बड़े ही सुंदर कीर्तन गाते थे। इसलिये आप के पास भावुक भक्तों की सदा भीड़ लगी रहती थी। इन्होंने अपनी समग्र काव्यशक्ति वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के प्रचार और प्रसार में लगाया। ये प्रथम कोटि के वैष्णव थे जिन्हें नंद और यशोदा से विरहित होने के कारण वैकुंठ की भी तनिक लालसा न थी। इन्होंने एक पद में गाया है—

कहा करौं बैकुण्ठहिं जाय।
जहँ नहिं नन्द जहाँ न यशोदा नहि जहँ गोपी ग्वाल न गाय।
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहिं कदमन का छाय।
'परमानन्द' प्रभु चतुर ग्वालिनीं व्रज रज तजि मेरी जाय बलाय।

वल्लभ संप्रदाय में यह विश्वास दृढ़मूल है कि सूरदास आचार्य चरण के समवयस्क थे, परंतु परामनंद दास जी उनसे

१५ वर्ष छोटे थे। इसी मान्यता के आधार पर इनका जन्मकाल १५५० वि० सं० (१५३५ वि० + १५) ठहरता है। १५७६ वि० में लगभग २६ वर्ष की अवस्था में ये वल्लभाचार्य के शिष्य बने अर्थात् सूरदास के शरणापन्न होने के अनंतर ही ये संप्रदाय में आये। इनकी मृत्यु का अनुमान १६४० सं० में किया जाता है। सांप्रदायिक मान्यता के अनुसार परमानंद जी दिन की गोचारण लीला में 'तोक' सखा और रात्रि की कुंजलीला में 'चंद्रभागा' सखी माने जाते थे। इनके पदों का संग्रह 'परमानंद सागर' के नाम से प्राप्त होता है, परंतु अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

कुंभनदास जी—ये जाति के क्षत्री थे। श्रीगोवर्धन के निकट 'जमुनावत' गाँव में रहते थे और वहीं इनका जन्म भी हुआ था। उन दिनों जमुनाजी का प्रवाह इस गाँव के निकट था। उनका खेत पारसोली चंद्र सरोवर के ऊपर पड़ता था और वहीं ये खेती करके अपना जीवन निर्वाह करते थे। आप पूरे विरक्त और धनमान-मर्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सिकरी जाना पड़ा था। वहाँ उनका बड़ा सम्मान हुआ। परन्तु बादशाह के सामने जाने का इन्हें इतना विषाद हुआ कि इन्होंने अपनी विषण्ण दशा का वर्णन तत्काल रचित इस पद में प्रकट किया—

भक्तन को कहा सीकरी सों काम।

आवत जात पन्हैया टूटी, बिसरि गयो हरि नाम।
जाको मुख देखे दुख लागे ताको करन परी परनाम॥
'कुम्भनदास' लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम।

इनके पद बड़े ही सुंदर तथा रोचक होते थे जिनको सुनने की लालसा से हित हरिवंश तथा स्वामी हरिदास जैसे संत महात्मा इनके यहाँ आते थे। इतने निःस्पृह थे कि जैपुर के राजा मानसिंह ने इनका दर्शन कर मोहरों की थैली देनी चाही जिसे इन्होंने स्पष्ट इन्कार कर दिया। यह अंतिम पद गाते हुए इन्होंने अपना शरीर त्याग किया—

रसिकनी रसमैं रहत गढ़ी।
कनकवेलि वृषभानु-नन्दिनी स्याम तमाल चढ़ी।
बिहरत श्रीगिरिधरलाल संग कोने पाठ पढ़ी।
कुंभनदास प्रभु गोवर्द्धनधर रति रसकेलि बढ़ी।

वार्ताओं के आधार पर इनका जन्मकाल लगभग १५२५ विक्रमी, तथा शरणागति काल १५४६ वि० है। कुम्भनदास जी सूरदास जी की मृत्यु के समय (सं० १६३८) जीवित थे तथा परमानंद दास जी के गोलोकवास से पूर्व ही इनका निधन हो चुका था। अतः इनका निधन दोनों के बीच में अर्थात् १६३६ विक्रमी में माना जाना चाहिए।

कृष्णदासजी—ये भी वल्लभाचार्य जी के शिष्य और अष्ट-छाप में थे। इनका जन्म गुजरात के 'चिलोतरा' नामक ग्राम में कुनबी के घर हुआ था। ये जाति के शूद्र थे। परंतु आचार्य जी के बड़े कृपा-पात्र थे और मंदिर के प्रधान मुखिया हो गये थे। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में इनका विस्तार से वृत्त दिया गया है। एक बार गोसाइँ विट्ठल जी से किसी बात पर अनबन हो जाने के कारण इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इस पर गोसाइँ जी के कृपापात्र बीरबल ने उनको कैद कर

लिया। पीछे गोसाईं जी इस बात से बड़े दुःखी हुये और इनको कारागार से मुक्त करा कर प्रधान के पद फिर ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित कर दिया।

आपने भी राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार के बड़े सुंदर पद गाये हैं। 'जुगल-मान चरित्र' नामक एक छोटा सा ग्रंथ आपका मिलता है। भ्रमरगीत और प्रेमतत्त्व-निरूपण नाम के इनके दो और ग्रंथ बतलाये जाते हैं। आपका पद यहाँ दिया जा रहा है। कहते हैं इसी पद को गा कर कृष्णदास ने शरीर छोड़ा—

मो मन गिरधर छवि पर अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलिकै चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजन स्याम घन बरन लीन ह्वै फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किये प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो॥

वल्लभ संप्रदाय के इतिहास में कृष्णदास जी मंदिर के अधिकार तथा सुव्यवस्था के कारण इतने प्रसिद्ध हैं कि आजतक श्रीनाथ जी के स्थान पर 'कृष्णदास अधिकारी' की ही मोहर लगती है और इनके नाम के नीचे काम करनेवाले अधिकारी के हस्ताक्षर रहते हैं।

श्री वल्लभाचार्य जी ने श्रीनाथ जी को सं० १५६६ की अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) के दिन नवीन मंदिर में प्रविष्ट किया था; यह घटना सप्रमाण सिद्ध है। उसी के कुछ ही दिन पहिले कृष्णदास जी आचार्य जी के शरण में आये थे। सुनते हैं कि उस समय इनकी उम्र १३ वर्ष की थी। अतः इनका जन्मकाल १५५२ वि० के आसपास मानना चाहिए। सं० १६३१ वि० तक इनके जीवित रहने का अनुमान लगाया गया है।

नंददास—अष्टछाप के कवियों में सूरदास के अनंतर इनकी ही विमल ख्याति भक्त तथा कवि के रूप में सर्वत्र जागरूक है। इनके जीवनचरित के विषय में वार्ता-ग्रंथों ने बड़ा घपला कर रखा है जिससे सत्य का ठीक ठीक पता नहीं चलता। वार्ता में ये तुलसीदास के छोटे भाई बतलाये गये हैं, परंतु अभी तक तुलसीदास तथा गोस्वामी तुलसीदास की अभिन्नता स्पष्ट प्रमाणों पर सिद्ध नहीं हो सकी है। ये विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। काव्य-कला में विशिष्ट चातुरी के कारण ही ये आलोचक-समाज में 'जड़िया' की उपाधि से मण्डित किये गये हैं। अन्य कवि लोग तो हैं केवल गढ़िया, गढ़ने वाले, परंतु नंददास जी थे जड़िया, जड़नेवाले, कविता कामिनी के शृंगार को जड़नेवाले, कलावंत। इनके ग्रंथों की संख्या काफी अधिक है। संस्कृत के अच्छे पंडित होने के कारण इन्होंने संस्कृत से अनभिज्ञ भगवद्-भक्तों के लिए भागवत के दशम स्कंध का पूरा अनुवाद हिंदी में प्रस्तुत किया। इनकी सर्वोत्तम रचनायें हैं—रास पंचाध्यायी तथा भ्रमर-गीत। इनके समकालीन ध्रुवदास जी ने इनकी भक्ति-रसिकता को सुंदर पंक्तियों में अंकित किया है—

> नंददास जो कछु कह्यौ, रागरंगमें पागि।
> अच्छर सरस सनेहमय, सुनत होत हिय जागि॥
> रसिक दसा अद्भुत हुती, करत कवित्त सुढ़ार।
> बात प्रेम की सुनत ही, छुटत प्रेम-जल धार॥

नंददास जी परम भागवत तथा उच्च प्रतिभावान् कवि थे। इनका जीवन-काल लगभग १५९० वि०—१६४० वि० के बीच माना जा सकता है। इनकी कविता तथा भक्तिभावना की

बात से आकृष्ट होकर अकबर ने अपनी व्रजयात्रा के प्रसंग में बीरबल के द्वारा नंददास को बुलाया था तथा उनसे भेंट की थी, यह वार्ता से स्पष्ट प्रमाणित है[1]।

'भ्रमरगीत में' उद्धव के 'निर्गुण' उपदेश पर गोपियाँ कहती है—

जौ उनके गुन नाहिं, और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमैं, मोहि तुम कहो, कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह री, माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमल बारि जल कीच॥
सखा सुन स्याम के॥

करुनामई रसिकता है तुम्हरी सब झूठी।
जब ही ज्यों नहि लखो तबहि लौं बाँधी मूठी॥
मैं जानौ ब्रज जायकैं, तुम्हरो निर्दय रूप।
जो तुमको अवलंब हीं, ताको डारौ कूप॥
कौन यह धर्म है।

छीत स्वामी—आप पहले मथुरा के एक सुप्रसिद्ध सुसम्पन्न पंडा थे। राजा बीरबल जैसे लोग इनके यजमान थे। पंडा होने के कारण ये बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे। पीछे गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से मंत्रदीक्षा लेकर परम शांत भक्त हो गये और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। सं० १६१२ के लगभग आपने रचनाएँ की। इनके फुटकर पद ही लोगों के मुख से

---

१ नंददास की ग्रंथावली नागरी प्रचारिणी सभासे हाल में ही प्रकाशित हुई है।

सुने जाते हैं या इधर उधर संगृहीत मिलते हैं। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त व्रजभूमि के प्रति प्रेम-व्यञ्जना भी अच्छी पायी जाती है—

हे विधना ! तोसों अंचरा पसारि मांगौ
जनम जनम दीजो याही व्रज बसिबो।

यह आप का ही पद है। इनके पदों में सरसता और मधुरता ओत-प्रोत है।

भोर भये नव कुञ्ज-सदन ते आवत लाल गोवर्धन धारी।
लटपटि पाग, मरगजी माला, सिथिल अंग, डगमग गति न्यारी।
बिनु गुन माल बिराजति उर पर नखछत द्वैज चंद अनुहारी।
छीत स्वामि जब चितये मो तन तब हौं निरखि गये बलिहारी।

गोविंद स्वामी—श्रीगोविंद स्वामी अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। ये विरक्त होकर महावन में रहने लगे थे। पीछे गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए जिन्होंने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर अष्टछाप में लिया। इनका रचना-काल सं० १६०० से १६२५ तक माना जा सकता है। ये गोवर्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही आपने कदंबों का एक उपवन लगाया था जो आज तक भी 'गोविंद स्वामी की कदंब खंडी' कहलाता है। ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये थे। तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने के लिये भी आया करते थे।

गोविंद स्वामी गोकुल में रहते थे। पर श्रीयमुना जी में पांव नहीं देते थे। वह यमुना जी को साक्षात् श्रीस्वामिनी जी मानते थे। श्रीयमुना जी का दर्शन करते, दंडवत करते, उसका जलपान भी करते परंतु पांव कभी न धाते। एक दिन कई संतों ने मिलकर इन्हें बलात् यमुना जी में नहलाना चाहा। इस पर इन्होंने प्रार्थना की कि यह मलमूत्र से भरा शरीर माँ यमुना के योग्य नहीं है। यमुना जी तो साक्षात् श्रीस्वामिनी जी हैं। अतः इस अधम देह को स्पर्श न करायें। श्रीयमुना जी में तो सिर्फ उत्तम सामग्री अर्पण करनी चाहिये। यह सुनकर सब संत चुप हो गये।

गोविंद स्वामी भक्त तथा उच्च कोटि के कवि होने के अतिरिक्त एक उच्चकोटि के गायक थे। वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित होने से पहिले भी इनके अनेक शिष्य गानविद्या के अनुशीलन में हो गए थे और इसी आचार्यत्व के कारण ये 'स्वामी' पदवी से विभूषित किये गये थे। वार्ता का कथन है कि अकबरी दरबार का गायक-रत्न तानसेन भी हरिदास स्वामी जी के शिष्य होने पर भी इनसे गाना सीखने आता था। स्वामीजी के सहस्रावधि पद सुने जाते हैं परंतु आजकल केवल २५२ पदों की ही उपलब्धि वैष्णव घरानों में होती है। 'संप्रदाय कल्पद्रुम' के अनुसार गोविंद स्वामी विक्रमी १५६२ सं० (=१५३६ ईस्वी) में गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शरण में आये थे। उस समय इनकी काव्यकला तथा गानविद्या की ख्याति पर्याप्त रूप से हो चुकी थी। १६४२ वि० (=१५८६ ई०) में विट्ठलनाथ की मृत्यु के कुछ ही बाद इनका भी निधन संपन्न हुआ। बालकृष्ण की भव्य झाँकी इस पद में देखिए—

प्रात समै उठि जसुमति जननी, गिरिधर सुतको उबटि न्हवावति।
करि शृंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि-रचि पाग बनावति।
छुटे बंद बागे अति शोभित बिच-बिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित आजु कि छबि कछु कहति न आवति।
विविध कुसुम की माला उर धरि श्रीकर मुरली बेत गहावति।
लै दरपन देखे श्रीमुख को गोविंद प्रभु चरननि सिर नावति॥

चतुर्भुजदास—अष्टछाप के ही पूर्ववर्णित कुंभनदास जी के सबसे छोटे पुत्र थे। पिता की वैष्णव भक्ति तथा निर्मल आचार का प्रभाव पुत्र के ऊपर पूरी मात्रा में पड़ा था। ये श्रीनाथ जी के ही समक्ष गाया करते थे तथा दूसरे किसी के आगे ये कभी गाते ही न थे। सुनते हैं कि एक बार बड़ी सुंदर रास चल रही थी। गोसाईं जी के पुत्र श्रीगोकुलनाथ जी ने इनसे गाने के लिए कहा, परंतु इन्होंने इस लिए अस्वीकार कर दिया कि अभी तक श्रीनाथ जी का इस स्थान पर प्राकट्य नहीं हुआ है। भक्त की बानी को सिद्ध करने के लिए श्रीनाथजी के आगमन होने पर ही इन्होंने आनंदमग्न चित्त से गाया—

अद्‌भुत नट भेस धरे जमुना तट स्यामसुंदर
गुननिधान गिरिवरधर रासरंग राचे॥

इनका जन्मकाल तथा शरणागति का संवत् एक ही माना जाता है वि० सं० १५९७ (= १५५१ ई०)। केवल ५४ वर्ष की अवस्था में सं० १६५२ में इनका निधन हुआ। ये गोसाईं विट्ठलनाथ जी के मान्य शिष्यों में थे। चरित था एकदम उदार, हृदय था भक्तिभावना से पूरित तथा काव्य था भगवान् की स्वानुभूत लीला के वर्णन से रसस्निग्ध। अपने पिता के समान ही पुष्टिमार्ग की पुष्टि में निरंतर लगे रहे।

—❀—

(९)

राधावल्लभीय संप्रदाय

राधाकरावचित-पल्लव-वल्लरीके
राधापदाब्ज-विलसन्मधुरस्थलीके ।
राधायशोमुखर-मत्तखगावलीके
राधाविहार-विपिने रमतां मनो मे ।

—हितहरिवंशजी



रसिकाचार्य्यवर्य्य अनन्तश्री गोस्वामी
श्रीहित हरिवंशचन्द्र महाप्रभु

१—हितहरिवंशजी

राधावल्लभीय संप्रदाय को कुछ लोग निम्बार्क मत की वृंदावनी शाखा मानते हैं और कुछ लोग चैतन्य मत का; परंतु वस्तुतः यह एक स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय है जो ठेठ व्रजमंडल में ही उत्पन्न हुआ और यहीं खूब फूला फला। इसके अनुयायियों का प्रधान अखाड़ा आज भी व्रजमंडल ही है। संप्रदाय की साधना-पद्धति इसे एक स्वतंत्र वैष्णव संप्रदाय मानने के लिए बाध्य करती है। नाभादासजी ने भी इस पंथ की सेवापद्धति या रसचर्या को साधारण मानवों के लिए नितांत दुष्कर तथा कठिन बतलाया है।

इस संप्रदाय को जन्म देनेवाले महात्मा श्रीहितहरिवंशजी थे जो वैष्णवमतानुसार श्रीकृष्णचंद्र की मुरली के अवतार माने जाते हैं। इनकी कविता इतनी सरस तथा स्निग्ध है कि आश्चर्य नहीं भक्तों के कर्णकुहरों में वह वंशीनिनाद के समान ही सुधा-रस बरसाती है। इन महापुरुष के जन्मस्थान तथा आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानों में अभी तक ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग इन्हें सहारनपुर जिले के देवबंद नामक स्थान का निवासी मानते हैं[१]। परंतु बात यह ठीक नहीं है। इनके पिता देवबंद में रहते जरूर थे, परंतु इनका जन्म हुआ था व्रजमंडल, मथुरा से चार कोस की दूरी पर स्थित 'बाद' नामक ग्राम में; क्योंकि गोसाईं जी के अनन्य शिष्य 'सेवक जी' इसके प्रमाण हैं—

---

१ मिश्रबंधु विनोद पृ० २५० (द्वितीय संस्करण)

धर्मरहित जानी सब दुनी।
जहाँ 'बाद' प्रगटे जगधनी॥

ये गौड़ ब्राह्मण थे और आज भी इनके वंशज देवबन्द तथा वृंदावन दोनों स्थानों पर पाए जाते हैं। इनके पिता का नाम था केशवदास मिश्र, उपनाम व्यासजी तथा माता का तारावती। व्यासजी असल में सहारनपुर के पास देवबंद के निवासी थे। वे बड़े पंडित थे। बादशाह के साथ दौरे में अपनी पत्नी तारावती देवी के साथ घूम रहे थे। इसी समय 'बाद' ग्राम में श्रीहरिवंश जी का प्राकट्य हुआ। थोड़ी अवस्था में ही इन्हें श्रीराधिका जी से स्वप्न में गुरुमंत्र की दीक्षा मिल गई थी। देवबंद में ही पहिले रहते थे। वहाँ इनके घर के पास ही एक कुँआ था जिसके भीतर से इन्होंने श्रीरंगलालजी की मूर्ति को निकाला तथा मंदिर बनाकर उसकी पूजा अर्चा किया करते थे।

इनके जन्म-संवत् के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद पाया जाता है। मिश्र - बंधुओं के अनुसार इनका जन्म १५३० संवत् में हुआ था[1], परंतु इन्हीं के संप्रदायानुसारी भगवत्मुदित नामक भक्त द्वारा निर्मित 'हित हरिवंश चरित्र' ग्रंथ के अनुसार इनका जन्म संवत् १५५६ (१५०२ ई०) में हुआ था। हितहरिवंश जी अपने गाँव देवबंद में रहकर गार्हस्थ्य जीवन में ही भगवान् की अर्चा-पूजा में निमग्न रहते थे। अनंतर श्रीराधिकाजी की आज्ञा से ये घरबार छोड़ वृंदावन के लिए चले पड़े। रास्ते में 'चिड़-थावल' नामक ग्राम के निवासी आत्मदेव नामक ब्राह्मण ने अपनी दो कन्याएँ तथा साथ में श्रीकृष्णचंद्र की एक सुंदर मूर्ति

---

१ वही पृ० २५१ ,, ,,

अर्पित की। यह राधावल्लभ जी का विग्रह था जिसे हरिवंश जी ने वृंदावन में मंदिर बनवा कर स्थापित किया[1]।

उसी की पूजा-अर्चा में ये सदा मस्त बने हुए जीवन यापन करते थे। १५९१ विक्रमी में इस मंदिर का प्रथम 'पट महोत्सव' हुआ था जिसकी सूचना भगवत्मुदित के पूर्वोक्त ग्रंथ से चलती है[2]। ये राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक थे तथा युगल उपासना का उपदेश इनके सिद्धांत का सार अंश था। कृष्ण की अपेक्षा श्रीराधारानी की पूजा तथा भक्ति को इन्होंने अधिक महत्त्वशालिनी तथा शीघ्र फलदायिनी अंगीकार किया है। कहते हैं कि श्रीहरिवंशजी ने स्वप्न में श्रीराधिका जी से मंत्र ग्रहण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। ये गृहस्थ थे। इनके चार पुत्र तथा एक कन्या मानी जाती हैं। परंतु गृहस्थ होकर भी ये विरक्तों में भी विरक्त थे। पचास वर्ष की आयु में संवत् १६०९ विक्रमी की शारदीय पूर्णिमा के दिन आपने अपनी अंतरंगलीला में प्रवेश किया।

मार्ग की विशिष्टता

भगवान् राधावल्लभ जी की उपासना तथा उनकी प्रेमाभक्ति का उपदेश ही हितजी के जीवन का सर्वस्व था और भक्ति-पक्ष राधावल्लभ की मधुर उपासना था।

भक्तवर नाभादास जी की दृष्टि में गोसाईं जी की प्रेमाभक्ति का यह प्रकार नितांत कठिन तथा दुरूह है। उनका कहना है—

---

१ द्रष्टव्य राधा सुधानिधि की भूमिका पृ० ३५—३७

२ पन्द्रह सौ इक्यानवे सुहायो कातिक सुदि तेरस सुख छायो।
पट महोत्सव ता दिन कियो, याचक गुनियन बहु धन दियो॥

धर्मरहित जानी सब दुनी।
जहाँ 'बाद' प्रगटे जगधनी ॥

ये गौड़ ब्राह्मण थे और आज भी इनके वंशज देवबन्द तथा वृंदावन दोनों स्थानों पर पाए जाते हैं। इनके पिता का नाम था केशवदास मिश्र, उपनाम व्यासजी तथा माता का तारावती। व्यासजी असल में सहारनपुर के पास देवबंद के निवासी थे। वे बड़े पंडित थे। बादशाह के साथ दौरे में अपनी पत्नी तारावती देवी के साथ घूम रहे थे। इसी समय 'बाद' ग्राम में श्रीहरिवंश जी का प्राकट्य हुआ। थोड़ी अवस्था में ही इन्हें श्रीराधिका जी से स्वप्न में गुरुमंत्र की दीक्षा मिल गई थी। देवबंद में ही पहिले रहते थे। वहाँ इनके घर के पास ही एक कुँआ था जिसके भीतर से इन्होंने श्रीरंगलालजी की मूर्ति को निकाला तथा मंदिर बनाकर उसकी पूजा अर्चा किया करते थे।

इनके जन्म-संवत् के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद पाया जाता है। मिश्र - बंधुओं के अनुसार इनका जन्म १५३० संवत् में हुआ था[1], परंतु इन्हीं के संप्रदायानुसारी भगवत्मुदित नामक भक्त द्वारा निर्मित 'हित हरिवंश चरित्र' ग्रंथ के अनुसार इनका जन्म संवत् १५५९ (१५०३ ई०) में हुआ था। हितहरिवंश जी अपने गाँव देवबंद में रहकर गार्हस्थ्य जीवन में ही भगवान् की अर्चा-पूजा में निमग्न रहते थे। अनंतर श्रीराधिकाजी की आज्ञा से ये घरबार छोड़ वृंदावन के लिए चले पड़े। रास्ते में 'चिड़थावल' नामक ग्राम के निवासी आत्मदेव नामक ब्राह्मण ने अपनी दो कन्याएँ तथा साथ में श्रीकृष्णचंद्र की एक सुंदर मूर्ति

---

१ वही पृ० २५१ ,, ,,

अर्पित की। यह राधावल्लभ जी का विग्रह था जिसे हरिवंश जी ने वृंदावन में मंदिर बनवा कर स्थापित किया[1]।

उसी की पूजा-अर्चा में ये सदा मस्त बने हुए जीवन यापन करते थे। १५९१ विक्रमी में इस मंदिर का प्रथम 'पट महोत्सव' हुआ था जिसकी सूचना भगवत्मुदित के पूर्वोक्त ग्रंथ से चलती है[2]। ये राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के उपासक थे तथा युगल उपासना का उपदेश इनके सिद्धांत का सार अंश था। कृष्ण की अपेक्षा श्रीराधारानी की पूजा तथा भक्ति को इन्होंने अधिक महत्त्वशालिनी तथा शीघ्र फलदायिनी अंगीकार किया है। कहते हैं कि श्रीहरिवंशजी ने स्वप्न में श्रीराधिका जी से मंत्र ग्रहण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था। ये गृहस्थ थे। इनके चार पुत्र तथा एक कन्या मानी जाती हैं। परंतु गृहस्थ होकर भी ये विरक्तों में भी विरक्त थे। पचास वर्ष की आयु में संवत् १६०९ विक्रमी की शारदीय पूर्णिमा के दिन आपने अपनी अंतरंगलीला में प्रवेश किया।

मार्ग की विशिष्टता

भगवान् राधावल्लभ जी की उपासना तथा उनकी प्रेमाभक्ति का उपदेश ही हितजी के जीवन का सर्वस्व था और भक्ति-पक्ष राधावल्लभ की मधुर उपासना था।

भक्तवर नाभादास जी की दृष्टि में गोसाईं जी की प्रेमाभक्ति का यह प्रकार नितांत कठिन तथा दुरूह है। उनका कहना है—

---

१ द्रष्टव्य राधा सुधानिधि की भूमिका पृ० ३५—३७

२ पन्द्रह सौ इक्यानवे सुहायो कातिक सुदि तेरस सुख छायो।
पट महोत्सव ता दिन कियो, याचक गुनियन बहु धन दियो ॥

श्री हरिवंश गुसाइँ भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है।
श्री राधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दम्पति तहाँ की करत षवासी॥
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिद्धता के अधिकारी।
विधि निषेध नहिं, दास अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
श्री व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलै पहिचानि है
श्री हरिवंश गुसाइँ भजन की रीति सुकृत कोउ जानि है[1]।

यह छप्पय इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि हितहरिवंश जी की प्रेमाभक्ति का परिचय पाना साधारण जन का नहीं, किसी पुण्यसंपन्न संत का ही अधिकार है। इस भक्ति में न तो विधि के लिए स्थान है और न निषेध का निरोध। राधा के चरणारविंद की अनन्य उपासना ही भक्त के जीवन का लक्ष्य है और राधा-कृष्ण के केलिकुंज की खवासी करना—चाकरी करना ही भक्त का प्रधान कार्य है। माधुर्य रस से स्निग्ध यह उपासना विषयी मानवों की शक्ति तथा समझ के बाहर की बात है और इसीलिए इसका अधिकारी वही हो सकता है जो गोसाईं जी के पवित्र पंथ का पथिक हो।

प्रियादास जी के अनुसार भी इस मार्ग में कृष्ण की अपेक्षा राधा का ही गौरव, सम्मान तथा भजन अधिक है जिसको लाखों में भी विरला ही मनुष्य समझ सकता है। जिसका हृदय व्रज-चंद्र की भक्ति-चांद्रिका से स्निग्ध तथा पेशल नहीं हुआ है उसके लिए इस 'परम रस माधुरी' का स्वाद जानना असंभव ही है। प्रियादास जी का यह महत्त्वपूर्ण कथन इस प्रकार है—

---

१ भक्तमाल छप्पय नं० ९०

श्री हित जू की रति कोऊ लाखनि में एक जाने।
राधाई प्रधान माने पाछे कृष्ण ध्याइए॥
निपट विकट भाव होत न सुभाव ऐसो।
उनहीं की कृपा दृष्टि नेकु क्यों हूँ पाइए॥
विधि और निषेध छेद डारे, प्रान प्यारे हिए।
जिये निजदास निस दिन वहै गाइए॥
सुपद चरित्र सब रसिक विचित्र नीकै।
जानत प्रसिद्ध महा कहि कै सुनाइए॥

इनके ग्रंथों में अध्यात्मपक्ष का विवरण कम है, प्रत्युत राधा-कृष्ण की कुंज-केलि तथा वनविहार का नितांत ललित तथा शृंगारिक वर्णन भक्तों के मानस को बरबस आकृष्ट करता है। राधावल्लभीय मत शृंगार में संयोग पक्ष का ही पक्षपाती है, वह विरह-पक्ष की वेदना, पीड़ा तथा क्लेश से नितांत अपरिचित है। राधा तथा कृष्ण का मिलन नित्यवृंदावन में संपन्न होने वाली नित्य लीला है—वहाँ वियोग के पैर रखने की भी जगह नहीं। इसीलिए माधुरी भाव की इस भव्य उपासना में वियोग भावना का अस्तित्व नहीं।

ग्रंथ

गोस्वामी हित हरिवंश जी के दो प्रधान ग्रंथ हैं—

(१) राधा सुधानिधि (२७० पद्य)। यह संस्कृत में श्री राधारानी की प्रशस्त प्रशस्ति है। राधा के सौंदर्य, सेवाभाव तथा परिचर्यातत्त्व का मार्मिक वर्णन कर हरिवंश जी ने अपने प्रकृष्ट भक्ति तथा काव्य-प्रतिभा का पूर्ण परिचय दिया है[1]।

---

१ हिंदी अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन बाबा हितदास ने वाद ग्राम (पोष्ट बरारी, जिला मथुरा) से किया है।

(२) हित चौरासी (ब्रजभाषा में निबद्ध चौरासी पद)। इसके ऊपर अनेक प्राचीन टीकायें उपलब्ध होती हैं—(क) हित धरणीधर की टीका १६ वीं शती; (ख) गोस्वामी सुखलाल जी की १७ वीं शती, (ग) लोकनाथ जी की, (घ) श्री जुगल दास की, (ङ) प्रेमदास जी की, (च) केलिदास की १८ वीं शती, (छ) श्री रतनदास जी की आदि। इसमें सिद्धांत के पदों की विशेषता है तथा राधाकृष्ण की रूप-माधुरी तथा सेवा-माधुरी का उत्कृष्ट कवित्वमय वर्णन है।

इसके अतिरिक्त आशास्तव, चतुःश्लोकी, श्री यमुनाष्टक तथा राधातंत्र ग्रंथ भी इनके नाम से प्रसिद्ध हैं।

कविता

श्री हितजी की कविता भावुकता तथा भक्ति की दृष्टियों से नितांत उदात्त, रसपेशल तथा ललित भावमयी है। उसमें मुख्य-तया हृदय-पक्ष का ही प्राबल्य है। कला-पक्ष अस्तित्वहीन न होने पर भी हृदयपक्ष का ही पोषक तथा संवर्धक है। श्री राधा-रानी की सुषमा का निरीक्षण कीजिए—

> ब्रज नव तरुनि कदम्ब मुकुट मनि स्यामा आजु बनी।
> नख सिख लौं अँग-अंग-माधुरी मोहे स्याम धनी॥
> यौं राजत कवरी गूथित कच कनक कंजबदनी।
> चिकुर चंद्रकनि बीच अरध बिधु मानौं ग्रसत फनी॥
> (जै श्री) हितहरिवंश प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
> गावत स्रवननि सुनत सुखाकर बिस्वदुरित दवनी॥

स्वामी जी की भक्तिभावना ही उदात्त न थी, प्रत्युत वह स्वयं प्रेमाभक्ति की जीवन्त मूर्ति थे। भक्तवर व्यास जी का यह पद गोसाईं हित जी के सरस व्यक्तित्व की भव्य व्याख्या है—

हुतौ रसरसिकन कौ आधार।
बिन हरिवंसहि सरस रीति कौ, का पै चलिहै भार ?
को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावै चार।
वृंदावन की सहज माधुरी, कहि है कौन उदार॥
पद रचना अब का पै ह्वै है ? निरस भयौ संसार।
बडौ अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगौ ठाठ सिंगार॥
जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत, सहज रूप आगार।
'व्यास' एक कुल-कुमुद-चंद बिनु उडुगन जूठौ थार॥

इनके उपदेश का सारांश इन दोहों में मिल सकता है जिसे हरिवंशी मत की चतुःसूत्री कह सकते हैं—

तनहि राखु सतसंग में, मनहि प्रेम रस भेव।
सुख चाहत हरिवंश नित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥
सबसों हित निहकाम मन, वृंदावन विश्राम।
राधा वल्लभ लाल को हृदय ध्यान मुख नाम॥

श्री राधारानी के अनन्य उपासक हित जी की कविता माधुर्य तथा सरसता का ज्वलंत प्रतीक है। श्री राधा जी की नाना अवस्थाओं का भव्य चित्र प्रस्तुत करने में इनकी समता शायदही अन्यत्र मिले। मिलन-कुंज में प्रवेश करने से पूर्व श्री राधिका जी के मधुरदर्शन की एक प्यारी झलक लीजिए—

आजु नीकी बनी राधिका नागरी।
ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई॥
सील सिंगार गुन सबनि तें आगरी।
कमल दच्छिन भुजा बामभुज अंसु सखि,
गावती सरल मिलि मधुर सुर राग री।
सकल विद्याविदित, रहसि हरिवंस हित,
मिलत नव कुंज वर स्याम बड़ भाग री।

(२)

अन्य आचार्यगण

श्रीव्यास जी

जय जय विशद व्यास की बानी
मूलाधार इष्ट रसमय, उत्कर्ष भक्तिरस सानी।
रस श्रृंगार सरस यमुना सम वर धारा घहरानी
विधि विपेध तरुवर तरु तोरत हरिजस जलधि समानी॥
जुगल विहार विटप सों लिपटी सुवरन बेलि निवानी
लगे रँगीले सुमन जासु में फल रसमय निर्वानी॥
—नील सखी

श्रीनीलसखी जी की यह उक्ति वास्तव में यथार्थ है। श्री व्यासजी की कविता युगल रस की माधुरी में सिक्त भक्त हृदय का मधुमय उद्गार है। व्यासजी वृंदावन की भक्तिलीला के यौवनकाल में आविर्भूत हुए। यह वह पावन समय था जिसने हरिदास स्वामी, स्वामी हितहरिवंश, रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी जैसे तपस्वी भक्तों की मधुमय साधना को अपनी आँखों से निरखा था। मीराबाई ने अपने भावुक भजनों से उस काल के क्षण क्षण को गुंजारित किया था। सूरदास तथा परमानंद दास ने अपनी भक्तभावना को ललित पदों के द्वारा भक्तमंडली के सामने आविर्भूत किया था। मध्ययुग का यह पवित्र समय भक्ति के इतिहास में एकदम बेजोड़ है। इसी काल में वृंदावन के केलिनिकुंज में अपनी सरस मस्ती में गानेवाले श्रीव्यासजी की वाणी मुखरित हुई थी।

भक्तशिरोमणि व्यास जी का पूरा नाम था हरिराम शुक्ल। 'व्यास' तो उनकी उपाधि थी जिसे काशी के पंडितों ने उनकी कविता से मुग्ध होकर उन्हें प्रदान किया था। सं० १५६७ (=१५१० ई०) मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी को हरिरामजी का जन्म ओड़छा के निवासी श्रीसुमोखन शुक्ल के घर उनकी धर्मपत्नी श्रीपद्मावती देवी के कोख से हुआ था। ओड़छा नरेश के दरबार में इनके पिता का बड़ा आदर सम्मान था। फलतः इनके पिता का घर अतुल संपत्ति तथा विशाल वैभव के लिए नितांत विख्यात था और ओड़छे में 'व्यासपुरा' अपने अतीत-गौरव के लिए आज भी प्रसिद्ध है। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनके पिता परम वैष्णव थे तथा चैतन्य महाप्रभु के गुरुभाई माधवदास जी के शिष्य थे। हरिराम जी ने अपने पूज्य पिताजी से वैष्णव दीक्षा ग्रहण की थी, इसके पोषक अनेक प्रमाण इनके ग्रंथ में उपलब्ध हैं। इन्होंने अपनी 'व्यासवाणी' के मंगलाचरण में अपने गुरु शुक्लजी का स्पष्ट निर्देश किया है:—

> वन्दौं श्री सुकल पदपंकजन
> सत्त चित् आनंद की निधि, गई हिय की जरन।

अन्यत्र भी 'जय जय श्री गुरु शुकल मोहि सरबस दियौ' आदि पदों के अध्ययन से इनके गुरु के विषय में भ्रम नहीं रहता। ऐसी स्पष्ट परिस्थिति में हितहरिवंशजी से इनका गुरु-शिष्य का नाता जोड़ना एकदम अनुचित है। हितहरिवंश तथा हरिदासजी को तो ये अपना परम प्रेमी सखा मानते थे। ओड़छे में रहते समय भी वृंदावन में निवास करने की लालसा का सूचक यह पद इस तथ्य को स्पष्ट ही प्रकट कर रहा है—

हम कब होहिगे व्रजवासी।
ठाकुर नंदकिसोर हमारे ठकुराइन राधा सी॥
कब मिलि हैं वे सखी सहेली हरिवंसी हरिदासी।

हरिवंश जी के पीछे हरिव्यास जी इस मत के एक सम्मान्य आचार्य हुए जिनके विषय में ध्रुवदास जी की यह प्रसिद्ध उक्ति है—

वरकिशोर दोउ लाड़िले, नवल प्रिया नव पीय।
प्रगट देखियत जगत् मैं, रसिक व्यास के हीय।

हरिव्यास जी के गुरु के विषय में मतभेद दीख पड़ता है। इन्होंने अपने पिता जी को ही अपना गुरु लिखा है, परंतु ध्रुवदास जैसे समकालीन ग्रंथकार के साक्ष्य पर ये हित हरिवंश जी के शिष्य तथा राधावल्लभजी के उपासक माने जाते हैं—

सेवक की सरि को करै भजन सरोवर हंस।
मन वच कै धरि एक व्रत गाए श्री हरिवंश॥
—भक्तनामावली दोहा ४४

दोनों में समन्वय किया जा सकता है। पिता जी इनके विद्यागुरु थे तथा हरिवंश जी दीक्षागुरु। ये वृंदावन में आकर गोस्वामी हरिवंश जी के दर्शन से ऐसे मोहित हुये कि उनके शिष्य बन गये। वृंदावन में ही रम गये और पन्नानरेश के स्वयं आकर ले जाने पर भी पन्ना नहीं गये।

गृहस्थी में जीवन विताते हुए भी ये श्रीयुगलकिशोर की सेवा तथा अलौलिक प्रेम से कभी विचलित नहीं होते थे। तत्कालीन ओड़छानरेश मधुकरशाह इनके मंत्रशिष्य थे। सं० १६१२ (=१५५५ ई०) में ये अपना जन्मस्थान छोड़कर सदा के

लिए वृंदावनचंद्र के लिए निकुंज में चले आये। वृंदावन से इन्हें लौटाने के उद्योग में स्वयं मधुकर शाह व्यास जी के पास आये, परंतु व्यास जी अपने निश्चय से तनिक भी नहीं डिगे। वृंदावन में ही अपना अलौकिक जीवन बिता कर भक्ति तथा कविता उभयविध साधना के लिए वे एक अनुपम आदर्श छोड़ गए। व्यास जी के दो ग्रंथ मिलते हैं—

(१) 'नवरत्न'—संस्कृत में रचित, संप्रदाय के सिद्धांतों का निदर्शक ग्रंथ (अप्रकाशित)

(२) व्यासवाणी—ब्रजभाषा में निबद्ध लगभग ७०० पदों का अनुपम ग्रंथ (प्रकाशित)[१]

व्यासवाणी में दो खंड हैं। प्रथम खंड (२६१ पद) में भक्तिसिद्धांत का मनोरम वर्णन है। द्वितीय खंड (४५६ पद) राधाकृष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन होने से रसखंड के नाम से विख्यात है। व्यास जी चैतन्य-संप्रदाय के वैष्णव थे और उस समय के मान्य गोस्वामी रूप तथा सनातन से इनकी गहरी मैत्री थी। सुनते हैं कि इन गोस्वामियों का दृढ़ आग्रह स्वीकार कर ही वे वृंदावन में रसमय जीवन बिताने के लिए चले आये।

व्यासजी राधाकृष्ण के उच्चकोटि के भावुक भक्त थे। वृंदावन पर उनकी इतनी प्रीति थी कि वहाँ के रजः कण में वे लोटना अन्यत्र प्रासाद के मखमली फर्शपर रहने से अच्छा समझते थे। इस विषय के पदों में उनका प्रेम छलक रहा है।

---

१ इस ग्रंथ को व्यास जी के वंशोद्भव आचार्य राधाकिशोर गोस्वामी ने वृंदावन से प्रकाशित किया है, सं० १९९४।

उच्चकोटि के ब्राह्मण होने पर भी वे नीच जाति के भक्त के हाथ से महाप्रसाद ग्रहण करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। वे तो बड़े मीठे शब्दों में अपना परिचय देते हैं—

रसिक अनन्य हमारी जाति।
कुलदेवी राधा, बरसानो खेरो ब्रजवासिन सों पाँति॥
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा–सिखँडि हरिमन्दिर भाल
हरि गुन नाम वेद धुनि सुनियत, मूँज पखावज कुस करताल॥

भक्त जाति-पाँति के बंधन में थोड़े ही अपने को बाँधता है। वह तो जीवन्मुक्त होता है। कृष्ण के सकल पियारे उसके परिवार के परिजन होते हैं। वेद की संहिता कर्मकांड के उपासकों के लिए मान्य शास्त्र है। भक्तों के लिए तो हरि के गुण तथा नाम का गायन ही वैदिकी श्रुति है। व्यास जी के पदों में युगल सरकार के प्रति असीम भक्ति, अलौकिक माधुरी तथा विशाल प्रेम की विमल धारा प्रवाहित हो रही है। पद क्या हैं ? भक्तिभावना में सराबोर हृदय के मधुमय उद्गार हैं। वे केवल हमारा अनुरञ्जन ही नहीं करते, प्रत्युत हमें उस दिव्य माधुरी की झाँकी दिखला कर हमारा हृदय उदात्त, विशुद्ध तथा विशाल बनाते हैं।

मन की द्विविधा वृंदावन के सेवन से तथा राधाकृष्ण के लीला-गायन से मिटती है—

दुविधा तब जैहै या मन की।
निर्भय ह्वै कै जब सेवहुगे, रज श्रीवृन्दावन की।
कामरि लै करवा जब लैहै, सीतल छाँह कुंजन की।
अति उदार लीला गावहुगे, मोहन-स्याम सुवन की॥

राधावर के ध्यान के सामने अन्य देवता की उपासना निरर्थक है। क्यों ?

श्रीराधावर ध्याइ के और ध्याइए कौन।
व्यासहि देत बने नहीं वरी वरी प्रति लौन॥

राधा तथा कृष्ण की जोड़ी व्यास जी के कमनीय रासवर्णन में कैसी फबती है—

सुघर (श्री) राधिका प्रवीन विना, वर रास रच्यौ
श्री श्याम संग वर सुधंग तरनि—तनया तीरे॥ १
आनन्दकन्द वृन्दावन शरद चन्द मन्द मन्द,
पवन कुसुम-पुँज ताप-दवन, धुनित कल कुटीरे॥ २
रुनित किंकिणी सुचारु, नुपुरु मनि वलय हारु
अंग रत मृदंग ताल तरल तिरप चीरे॥ ३
गावत अतिरंग रह्यौ, मोपै नहिं जात कह्यौ
'व्यास' रस-प्रवाह बह्यौ, निरखि नैन सीरे॥ ४

श्री राधिकाजी के मान तोड़ने के लिए सखी के ये वचन कितने मार्मिक हैं—

कबहूँ तौ काहू कौ कह्यौ न कियौ।
जुरत बसीठी ते सीठी करि डारी, हठ करि कछु न लियौ॥
नैननि तोहि कुटलता सिखई, और न हेत वियौ।
कठिन कुचनि की संगति कौ फल, ह्वै गयो कठिन हियौ॥
बिनु अपराधहिं साधु पियहि तै कबहुँ न चैन दियौ।
सरधा हूँ ते कृपन अधर मधुरस पिय न अघाइ पियौ॥

व्यास जी की दृष्टि प्रकृति के कमनीय रूप पर मुग्ध होती है। वृजकुंज में पावस की यह बहार निराली ही है—

आज कछु कुंजन मैं वरषा सी।
वादल दल में देखि सखी री चमकति है चपला सी॥
नान्हीं नान्हीं बूँदन कछु धुरवा से पवन बहै सुखरासी।
मन्द मन्द गरजन सी सुनि मनु नाचति मोर सभा सी॥

व्यास जी ने राधाकृष्ण के नाना प्रकार की लीलाओं का बड़े विस्तार से वर्णन किया है जिसके अनुशीलन से समस्त लीलायें पाठकों के सामने सजीव हो उठती हैं। प्रेम-विभोर व्यास की कविता कहीं कहीं कोमल-कान्त-पदावली के रचयिता जयदेव की बरबस सुधि दिलाती हैं—

वृंदावन कुंज कुंज केलि वेलि फूली।
कुन्दकुसुम चन्द नलिन विद्रुम छवि भूली॥

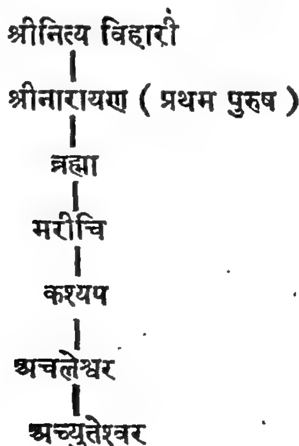
ध्रुवदासजी—व्यासजी के अनंतर ध्रुवदासजी भी राधा-वल्लभीय मत के विशेष प्रचारक तथा विशिष्ट विद्वान् हुए हैं जिन्होंने अपने विविध ग्रंथों के द्वारा श्रीहित जी के मत का विशदीकरण किया है। ध्रुवदास जी के रचित ग्रंथों की संख्या ४० से भी ऊपर है जिनमें वृंदावन-सत, सिंगार-सत, रस-रत्नावली, नेहमंजरी, रहस्यमंजरी, सुख-मंजरी आदि मुख्य ग्रंथ हैं, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इनका महत्त्वशाली ग्रंथ भक्तनामावली है जिसमें इन्होंने प्राचीन तथा समकालीन भक्तों का संक्षिप्त परिचय बड़ी सहृदयता के साथ दिया है। इनके ग्रंथों की रचना का समय भी दिया गया है—वृंदावन-सत का रचनाकाल है सं० १६८६, रहस्यमंजरी का १६६८ विक्रमी। भक्तनामावली में १७३५ विक्रमी तक के भक्तों का परिचय मिलता है। अतः इनका समय १६५० वि० से १७४० वि० तक माना जाता है। वृंदावन की सुषमा का वर्णन इनके

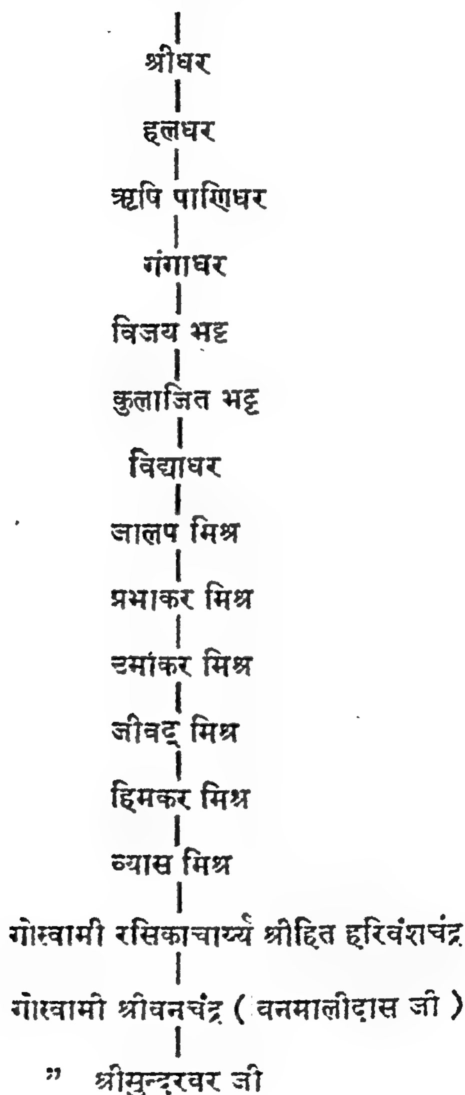
काव्यों में खूब है। प्रेमतत्त्व का विश्लेषण भी इन्होंने बड़ी सुंदरता से किया है। ध्रुवदास की भगवान् से यही प्रार्थना है—

> ऐसो करी नव लाल रँगीले जू चित्त न और कहूँ ललचाई।
> जे सुख दुःख रहैं लगि देह, सो ते मिटि जाँहिऽरु लोक बड़ाई।
> सँगति साधु वृँदावन कानन, तो गुन गाननि माँझ बिहाई।
> कंज पगों में तिहारे बसों वस, देह यहै ध्रुव को ध्रुवताई॥

इस संप्रदाय के अन्य ग्रंथ भी उपलब्ध होते हैं जैसे सेवक-बानी, वल्लभरसिक की बानी, आदि। इस संप्रदाय के भक्त कवियों की विशेषता है वृंदावन की माधुरी का वर्णन तथा राधा-कृष्ण की दिव्य लीलाओं का रसपेशल तथा मनोमुग्धकारी चारु चित्रण। ब्रजभाषा साहित्य को पुष्ट तथा समृद्ध करने में इस संप्रदायवालों का विशेष हाथ रहा है।

प्रधान गुरु-शिष्य परम्परा इस प्रकार है—




श्रीधर
हलधर
ऋषि पाणिधर
गंगाधर
विजय भट्ट
कुलाजित भट्ट
विद्याधर
जालप मिश्र
प्रभाकर मिश्र
उमाकर मिश्र
जीवद् मिश्र
हिमकर मिश्र
व्यास मिश्र
गोस्वामी रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंशचंद्र
गोस्वामी श्रीवनचंद्र (वनमालीदास जी)
" श्रीसुन्दरवर जी

गोस्वामी श्रीदामोदरवरजी

- गोस्वामी श्रीरासदासजी
  - श्रीकमलनयन जी
  - गोस्वामी राधालाल जी
  - श्रीमुकुन्दलाल जी
  - घनश्यामलाल जी
  - माधवलाल जी
  - माखनलाल जी
  - छोटेलाल जी
  - पीतमलाल जी
  - मुकुंदलाल जी
  - राधालाल जी
  - मनमोहनलाल जी
- श्रीविलासदासजी
  - श्रीरसिकलाल जी
  - श्रीसुखलाल जी
  - नवनीतलाल जी
  - कान्तलाल जी
  - राधालाल जी
  - मोहनलालजी
  - लाड़िलीलाल जी
  - हरिलाल जी
  - किशोरीलाल जी
  - रूपलाल जी
  - सुकुमारी लाल जी (वर्त्तमान अधिकारी जो आचार्य्य गद्दी पर प्रतिष्ठित हैं)

नित्यविहारी से श्री व्यास मिश्र तक वंशपरंपरा है और श्रीहरिवंशचंद्र से आगे ज्येष्ठ पुत्र और शिष्य परंपरा है जो आचार्य्य गद्दी के अधिकारी हैं। श्री दामोदरवर जी की दो पत्नियों से गद्दी के दो अधिकार हैं। अतः आगे दोनों की पूर्ण परंपरा दी गयी है। इस समय वास्तव में विलास वंश का अधिकार है। यों तो प्रत्येक पुत्र शिष्य है अतः सभी आचार्य हैं किंतु इसमें शिष्य और वंश का बड़ा भारी विस्तार हो जाता है, इसलिये यहाँ संक्षेप से ज्येष्ठ पुत्र और शिष्य का वर्णन किया है। यह परंपरा केवल आचार्य्य-कुल की है। विरक्त शिष्यों की कोई खास परंपरा नहीं, क्योंकि वे गुरु-गद्दी के अधिकारी नहीं होते।

(३)

संप्रदाय के सिद्धांत

श्री हित हरिवंश की साधना प्रणाली बड़ी ही गूढ़ तथा रहस्यमयी है। इसका अधिकारी भी सामान्य साधक न होकर विशेष निष्ठावान् पुरुष ही हो सकता है। इसकी विलक्षणता अन्य संप्रदायों के साथ तुलना करने पर स्पष्ट ही प्रतीत होती है। श्री संप्रदाय में वैकुण्ठवासी भगवान् विष्णु को इष्ट मान कर दास्य-भाव से उनका कैंकर्य करना ही जीव का परम धर्म होता है। वल्लभ संप्रदाय में श्री बाल-गोपाल को इष्ट मान कर वात्सल्य भाव से उनमें रति करना ही भक्ति का मुख्य लक्ष्य है। निंबार्क मत में तथा माध्व गौडीय संप्रदाय में किशोर श्री कृष्ण को क्रमशः स्वकीया भाव तथा परकीया भाव से उपासना उचित मानी गई है। परंतु इस राधावल्लभीय मत में उपासना का तत्त्व उनसे विलक्षण है। हरिवंश महाप्रभु का कहना है कि परकीया

तथा स्वकीया दोनों भाव अपूर्ण हैं। स्वकीया में मिलन है, पर विरह नहीं। उधर परकीया में विरह है, मिलन का पूर्ण सुख नहीं। इसीलिए प्रेम साम्राज्य में स्वकीया-परकीया की भावना केवल एकदेशीय तथा एकांगी भावनायें हैं। प्रेम की पूर्णता वहाँ है जहाँ स्वकीया तथा परकीया दोनों का बोध नहीं; तथा जहाँ नित्य मिलन में भी विरह का सुख या ललक नित्य स्थित रहता है। हरिवंश जी ने चकई तथा सारसके संवाद रूप में इस तथ्य की अभिव्यक्ति की है। प्रिय के विरह में भी चकई का जीवित रहना सारसकी दृष्टि में प्रेम की परम न्यूनता है—

चकई प्रान जु घट रहैं पिय बिछुरंत निकज्ज।
सर अंतर अरु काल निसि तरफ तेज घन गज्ज॥
तरफ तेज घन गज्ज लज्ज तुव बदन न आवै।
जल विहून करि नैन भोर किहिं भाव बतावै॥
हित हरिवंश विचारि बादि अस कौन जु चकई।
सारस यह संदेह प्रान घट रहै जु चकई॥

परंतु चकई की रागभरी दृष्टि में सारस का प्रेम एकांगी है, क्योंकि वह अपने नित्य मिलन के सुख में विरह-सुख का अनुभव नहीं करता। सारस का प्रेमानुभव भी अपूर्ण और अधूरा है—

सारस सर बिछुरंत कौ जौ पलु सहै सरीर।
अगिनि अनंग जु तिय भखे तौ जानै पर पीर॥

ऐसी विषम स्थिति में हरिवंश महाप्रभु का प्रेममार्ग एक निराली चीज है। वे अपने सिद्धांत का वर्णन करते हुए कहते हैं—

जै श्री हितहरिवंश विचारि 'प्रेम विरहा' विनु वा रस।
निकट कन्त नित रहत मरम कहा जाने सारस॥

यह "प्रेमविरहा" ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलने में भी विरह जैसी उत्कण्ठा इसका प्राण है। युगल किशोर श्री राधा-वल्लभलाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नहीं है, परंतु इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नहीं, प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है, चाह तथा चटपटी है। प्रेमासव का अनवरत पान करने पर भी अतृप्तिरूपी महान् विरह की छाया सदा बनी रहती है, प्रतीत होता है—

"मिलेहि रहत मानौं कबहुँ मिले ना"

इस प्रकार स्वकीया-परकीया, विरह-मिलन एवं स्व-पर-भेद रहित नित्य विहाररस ही श्री हितमहाप्रभु का इष्ट तत्त्व है।

हरिवंश जी इस प्रकार न अवतार श्रीकृष्ण को अपना इष्ट मानते हैं और न युगल किशोर श्रीनंदनंदन तथा श्रीवृषभानुलली को। वे नित्यविहारिणी श्रीराधा को ही अपना इष्ट मानते हैं। उनका कथन स्पष्ट है कि राधा स्वतंत्र पराशक्तिरूपा है। वह महासुख रूपा है। वह मेरी सेव्या-आराध्या है, अन्य कोई नहीं:—

ईशानी च शची महासुखतनुः शक्तिः स्वतन्त्रा परा।
श्रीवृन्दावननाथपट्टमहिषी राधैव सेव्या मम॥

—राधासुधानिधि श्लो० ७८

प्रसिद्ध है कि श्रीराधारानी ने ही स्वप्न में श्रीहितहरिवंश प्रभु को अपना इष्टमंत्र देकर शिष्य बनाया था। इसका उल्लेख

सांप्रदायिक ग्रंथो में बहुशः किया गया है। इनका यहाँ तक कहना है कि जो लोग श्राराधा के चरणों का सेवन छोड़ कर गोविंद के संगलाभ की चेष्टा करते हैं वे मानो पूर्णिमा तिथि के विना ही पूर्ण सुधाकर का परिचय पाना चाहते हैं। वे अज्ञ यह नहीं जानते कि श्यामसुंदर के रतिप्रवाह की लहरियों की बीज यही श्रीराधा ही हैं—

राधादास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्दसङ्गाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुचेः परिचयं राकां विना वाञ्छति।
किंच श्याम–रति–प्रवाह–लहरी–बीजं न ये तां विदु–
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं परं प्राप्नुयुः।

—राधासुधानिधि ७९

राधावल्लभीय भक्त की कामना बड़ी रहस्यमयी होती है। वह अपनी कामना की अभिव्यक्ति इस पद्य में चित्रित करता है—

सान्द्रानन्दोन्मदरसघन प्रेमपीयूषमूर्तेः
श्री राधाया अथ मधुपतेः सुप्तयोः कुन्जतल्पे।
कुर्वाणाहं मृदुमृदु–पदाम्भोजसम्वाहनानि
शय्यान्ते किं किमपि पतिता प्राप्ततन्द्रा भवेयम्॥

—रा० सु० श्लोक २१२

निविड आनंदोत्सवरस के घनत्व से प्रकट प्रेमामृतमूर्ति श्री राधा तथा मधुपति जब कुञ्जशय्या पर निद्रित हो जाँय, तब उनके अति कोमल पदकमलों का संवाहन करते-करते मैं तंद्रा प्राप्त होने पर उस सेज के समीप ही क्या कभी लुढ़क रहूँगी? इसी कामना की ओर लक्ष्य करके नाभादास जी भी कहते हैं—

श्री राधा चरण प्रधान हृदय अति सुदृढ़ उपासी।
कुंज केलि दंपती तहाँ की. करत खवासी॥

हरिवंशी संप्रदाय वस्तुतः रससंप्रदाय है जिसमें प्रेमामृत-मूर्ति श्री राधा तथा लालजी के नित्य मिलन के अवसर पर साधन तन्मयभाव से उनकी सुचारु सेवा में लगा रहता है। इस सेवा भाव को ही वह अपने जीवन का चरम लक्ष्य मानता है। हरिवंश जी की सम्मति में जिस प्रकार जल से तरंग का पृथक्-करण असंभव है उसी प्रकार राधा से कृष्ण का, सांवरे से गोरे का, पृथक् करना एकदम असंभव है। दोनों मिल कर एक ही तत्त्व के प्रतीक हैं। वे दोनों अभिन्न हैं तथा अनन्य हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण उनका यह सुंदर पद्य कर रहा है—

जोई जोई प्यारौ करै सोई मोहि भावै,
भावै मोहि जोई, सोई सोई करैं प्यारे।
मोको तो भावतो ठौर, प्यारे के नैनन में,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे।
मेरे तो तन मन प्राण हूँ में प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्राण प्रीतम मोसों हारे।
जै श्री हित हरिवंश हँस हँसिनी साँवर गौर,
कहौ कौन करे जल तरंगनि न्यारे।

—:※:—

प्रेम-साधना में जीव का भावमय स्वरूप

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने अपनी दो प्रकृतियाँ बतायी हैं: एक आठ भेदोंवाली जड़ प्रकृति और दूसरी जीवरूपा परा प्रकृति। सब इन्हीं दो प्रकृतियों से समस्त चराचर जगत्

का निर्माण हुआ है। (देखिये गीता अध्याय ७ श्लोक ५, ६, ७) इस विचार से समस्त चराचर जगत भगवान् की प्रकृति है और वे भगवान् ही एकमात्र परमपुरुष हैं। यह विश्व-विलास उसी प्रकृति और पुरुष का विलास है।

रसिकाचार्य्यों ने इस प्रकृति-पुरुष विलास की भावना को अधिक उज्ज्वल रूप देकर स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण नित्य-विहारी ही एकमात्र पुरुष हैं और उनकी चिद्-अचिद्-विशिष्ट आह्लादिनी एवं निजरूपा प्रेमशक्ति श्रीराधा ही परम प्रकृति हैं। इन सनातन युगलकिशोर का ही सारा जगत् प्रतिबिंब है। श्रीराधा प्रकृतिरूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। वे समस्त सखियों के रूप में हैं और वही गोपियों के रूप में। गोपियाँ क्या हैं? प्रेम की साकार प्रतिमा। प्रत्येक जीव प्रेम-रूपा गोपी है क्योंकि वह सनातन प्रकृति है। उसमें वे सब दिव्य गुण गण हैं जो गोपियों में हैं—श्रीकृष्ण की सखियों में हैं।

जीव अपने निज स्वरूप—प्रेमरूपा सखीभाव—को भूल जाने के ही कारण इस आवागमन-रूप दुर्गति को प्राप्त हो गया है। यदि जीव अपने निज स्वरूप की स्मृति करे तो वह आनंद रूप को शीघ्र पा सकता है। आवश्यकता है अपनी अंतर्दृष्टि को फेरने की।

जब यह निर्विवाद सिद्ध है कि जीव का निज एवं सनातन स्वरूप प्रभु की प्रकृति या सखी है तो फिर साधक को अपने स्वरूप का स्मरण किस प्रकार करना चाहिये? यह जानना आवश्यक हो जाता है।

रसिकाचार्य्यों की इस ऐकान्तिक रस-पूर्ण भावना अर्थात् जीव के सखी-स्वरूप के बोधपूर्वक भावना करने के पहले यह

अवश्य ज्ञातव्य है कि यह भावना न तो गुड़ियों का खेल है, न उपहास का विषय। यह है सन्त शिरोमणि, मोक्ष-संन्यासी रसिकों का हृदय। अतः साधक अपने चित्त की सच्ची जाँच करके इन लोहे के चनों को चबाने का कठिन प्रयास प्रारंभ करे।

रस की साधना में साधक के दो देह कहे जाते हैं; एक साधन देह और दूसरा सिद्ध देह।

(क) साधन देह—इस स्थूल शरीर-से स्थूल भोग भी भोगे जाते और उनके बंधन भी भविष्य के लिये तैयार होते हैं। इस स्थूल शरीर से अन्य जगत् का भी निर्माण किया जाता है। तब यदि साधक पुरुष अपने मन, इन्द्रिय एवं चित्तपुञ्ज साधन देह को इस प्रेमरस के साधन में लगावे तो इसे अपने सिद्ध देह की स्फुरणा होने लगेगी। इसे रससाधना में लगाने का केवल इतना ही अर्थ है कि अपने मन के द्वारा अपने किसी दिव्य देह की भावना करे।

(ख) सिद्ध (दिव्य) देह

किसी दिव्य वस्तु की भावना या कल्पना करने के लिये संसारी व्यक्ति को अपने आस-पास के वातावरण के आधार पर ही पहले उस दिव्य वस्तु की कल्पना करनी पड़ती है। जहाँ यह कहा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्ण का सौंदर्य कोटि काम-लावण्यहारी है, वहाँ साधारण लोग जो एक कामदेव के सौंदर्य की कल्पना नहीं कर सकते, कोटि काम-लावण्यहारी की कल्पना कैसे कर सकेंगे? ऐसी दशा में यह स्वाभाविक है कि वे कोटि काम-लावण्य विनिंदक श्रीकृष्ण के सौंदर्य की वही रूपरेखा तैयार कर लेते हैं जो सौंदर्य उन्होंने देखा है, उसी के जैसा या उससे कुछ विशेष।

श्रीयुगलकिशोर की नित्य सखी की स्वरूप-भावना वस्तुतस्तु न तो कही जा सकती है, न समझी ही जा सकती है, पर वह तो अनुभव-गम्य है। युगल-किशोर श्रीराधावल्लभलाल सौंदर्य्य-माधुर्य्य की निधि हैं। उनका समस्त परिकर परम सौंदर्य्यमय है। श्रीधाम वृंदावन श्री और सुषमा का आगार है और वहाँ के निवासी खग, मृग, कीर, कपोत, मयूर, मराल सभी दिव्य चिदानंदमय और अपार सौंदर्य्य-माधुर्य के निधान हैं। कहना न होगा कि युगल किशोर की सखियाँ भी अतीव रूप-लावण्यमयी हैं। जिनकी चरण-नखच्छटा पर कोटि-कोटि उमा-रमा बलिहारी जाती हैं, उनके रूप-लावण्य का क्या पारावार ?

हम पहले कह चुके हैं कि रस-क्षेत्र में साधक का भी स्वरूप वही है जो वहाँ की नित्य सहचरियों का है। अतः साधक अपने वास्तविक रूप सखी-स्वरूप का स्मरण इस प्रकार करे:—

युगल नवल किशोर अनेक किशोरी-प्रमदागणों से घिरे हैं। उन किशोरी गणों में से एक मैं भी हूँ। मेरा दिव्य देह रूप-यौवन-संपन्न एवं ललित किशोर अवस्था से पूर्ण है। सुडौल अंग प्रत्यंग, मनोहर मुखाकृति, आकर्षक और रमणीय वर्ण, ललित-गति मंद हास, सहज चपलता, यौवन का भार और लज्जा-भरी चितवन है। सबके साथ-साथ हृदय दिव्य प्रेम के भावों से ओत-प्रोत है। मन, प्राण, इंद्रियाँ सबके सब प्रेम से आकुल हैं।

नख से शिख तक दिव्य एवं मनोहर वस्त्राभरणों से मैं सुसज्जिता हूँ। चरणों में जावक की लाली है और गुल्फों में झन-कारते हुए मणिमय नूपुर। कटि पर सारी है और उस पर शोभा की वृद्धि करती हुई करधनी मुखरित है। कंचुकी से कसे हुए पीनोन्नत पयोधरों पर हारों की शोभा, शंख सी ग्रीवा पर

मणि-पोत और दुलरी, तिलरी की छटा, विलक्षण है; अपूर्व है। मृणाल-नाल सी भुजाएँ और उन पर फब रहे हैं यथा-स्थान बाजू बंद, कंकण चूड़ियाँ और मुद्रिकाएँ।

मुख है या चंद्र ? भ्रांति होती है। इस चंद्र के दो कलङ्क हैं कपोल पर गिरि हुई काली काली अलक और ललाट-पटल शोभित तिलक। काम-धनुष सी हैं भृकुटियाँ और उस पर चढ़े हैं अनियारे, विशाल और कजरारे नयनों के वाण। पैनी-नासिका, बिंबाफल से अधर और ललित कपोल। तिन पर झिलमिलाते हुए तरल ताटंकों की शोभा अवर्णनीय है। काले-काले घुँघराले केशों की लंबमान वेणी पुष्ट नितम्बों तक चली आयी है पीठ पर लहराती हुई। वेणी पर गुँथे हुए हैं, महकती हुई मालती के फूल और वेणी का छोर गुच्छ मणि-माणिकों से गुंफित है। सिर में सिंदूर की सौभाग्य रेखा जगमगा रही है और सिर को ढाँके हुए है एक झीनी-झीनी रेशमी ओढ़नी।

यह है संक्षेपतः सांकेतिक रूप से साधक के दिव्य देह का चिंतन। इसी के संबंध में अन्यत्र रस शास्त्रों में कहा गया है—

> आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम्।
> रूप–यौवन–सम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम् ॥

अर्थात् "उस वृंदावन में साधक अपने आपको उन मनोरमा सखियों के बीच में इस प्रकार चिंतन करे—मैं रूप-यौवन-संपन्न, विशेष उन्मादकारिणि आकृतिमयी किशोरी हूँ।"

तक रस मार्ग के साधक कें चित्त में अपने किशोरी स्वरूप का भान नहीं होता, तब तक उसके हृदय में युगल किशोर की रस-भावना तो होगी कहाँ से साधारण स्वरूप स्मृति भी नहीं

हो पाती। अतएव यह प्रथम कर्त्तव्य हो जाता है कि साधक अपना स्वरूपानुसंधान करे। इसी स्वरूपानुसंधान की बात का स्पष्ट वर्णन आचार्य्यचरण श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु ने याचना के रूप में इस प्रकार किया है—

> दुकूलं बिभ्राणामथ कुचतटे कञ्चुकपटं,
> प्रसादं स्वामिन्याः स्वकर–तल–दत्तं प्रणयतः।
> स्थितां नित्यं पार्श्वे विविधं–परिचर्य्यैक–चतुरां,
> किशोरीमात्मानं किमिह सुकुमारीं नु कलये॥
>
> —श्रीराधा सुधानिधि श्लो० ५२;

अर्थात् "अहो! मैं अपनी स्वामिनीजी के निज करकमलों के स्नेहपूर्वक दिये हुए प्रसादरूप दुकूल और कञ्चुकी-पट को अपनी कुच-तटी में धारण करूँगी और सदा अपनी स्वामिनी के बगल में स्थित रहकर विविध प्रकार की सेवा-परिचर्य्याओं में चतुर सुकुमारी किशोरी के रूप में अपने आपको क्या यहाँ देखूँगी?"

यहाँ जिस सिद्धदेह का स्वरूपानुसंधान कराया गया है, उसका युगल-किशोर श्रीराधा-वल्लभलाल की रस-लीला से पूर्ण साधर्म्य है। अत; उसका ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि विना अपने स्वरूप का स्फुरण युगल के स्वरूप की रसस्फुरणा नहीं हो सकती। उस जीव और प्रभु के साधर्म्य को नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये।

प्रेमोपासना की दृष्टि से जीव एवं युगलकिशोर का साधर्म्य

वेदांतवादी आचार्य्यों ने अनेकों श्रुतियों के अर्थ जीव और विभु की एकता में ही लगाए हैं। "तत्त्वमसि—तुम वही हो"

महावाक्य स्पष्ट रूप से जीव की ब्रह्मरूपता सिद्ध करता है; इसी प्रकार सोऽहम् और शिवोऽहम् भी। और विचार की दृष्टि से है भी बात ऐसी ही कुछ है कि एक अचिन्त्य और अखंड सत्ता ही सर्वत्र व्याप्त है। यह नानात्व कुछ है नहीं। फिर उस एक अखंड सत्ता को चाहे कोई ब्रह्म कह ले, कोई राम और कोई कृष्ण। उसके लिए जितने भी नाम और रूपों की कल्पनाएँ की जायँगी सब उसमें एक अंग में प्रवेश पा जावेंगी।

योगी जिसे परमात्मा कहते हैं, उसे ज्ञानी लोग ब्रह्म और उसे ही तो भक्त भगवान् कहते हैं। तब ऐसी दशा में एक ही वस्तु के तो तीन नाम हुए; वस्तुएं तीन नहीं हुईं। तीन ही क्यों, उसके तो अनंत नाम हो सकते हैं।

वह एक ही वस्तु है और उसी में यह नानात्व की भ्रांति हो रही है जैसे स्वर्ण में कंकण और कुंडल आदि अनेक आकारों की। माया, ब्रह्म और जीव की यह त्रिपुटी कितनी भ्रमपूर्ण है इसे अधिक स्पष्ट न करना होगा जिन्होंने स्वर्ण और आभूषण के सिद्धांत को समझ लिया होगा उनके लिए—

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।
बारि बीचि इमि गावहिं वेदा॥

है ही। जीव और प्रभु के बीच मिथ्या माया आ बैठी है कैसा आश्चर्य है?

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोऽपि।

और वह समझ लेने पर झूठी है?

तब उस मिथ्या की क्या कथा? अब रहा जीव और विभु की एकरूपता—तादात्म्य का प्रश्न। शांकर वेदांती और भक्ति

वादियों में इतना ही अंतर है कि वेदांती कहते हैं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' अर्थात् 'यह सब (चराचर) ब्रह्म ही है।' और भक्त कहते हैं—'जीव अनेक एक श्रीकंता।' जीव और विभु दो नित्य तत्त्व हैं; एक अणु है और दूसरा महान्। यह अणु और महान् का द्वैत भक्तों की दृष्टि में सिद्ध है।

किंतु रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु अपने रस-सिद्धांत की दृष्टि से कहते हैं—

यत्किञ्चिद् दृश्यते सृष्टौ सर्वं हितमयं विदुः।

अर्थात् "स्थावर-जंगम जो कुछ विश्व-विलास है, वह सब एक ही वस्तु 'हित'—प्रेम है; ऐसा जानो।"

रसिकाचार्य्य श्रीहित हरिवंश की दृष्टि में जीव और विभु का द्वैत समाता ही नहीं। समावे भी कैसे? उनकी दृष्टि तो एक प्रेम-रस से सिक्त हो चुकी है न? उसमें तो एक रंग चढ़ चुका है, तब दूसरे रंग की गुंजाइश ही कहाँ रही?

जिन आँखिन में वह रूप बस्यौ,
उन आँखिन सौं अब देखिये का?

उनको तो सर्वत्र अपनी आराध्या का ही दर्शन हो रहा है—

सर्वान् वस्तुतया निरीक्ष्य परमस्वाराध्यबुद्धिर्मम।

—श्रीराधा सुधानिधि

अर्थात् "सबको वस्तु बुद्धि से अवलोकन करके उन [नाना नाम रूपों] के प्रति मेरी स्वाराध्य बुद्धि है।"

इनकी सर्वत्र स्वाराध्य बुद्धि हो चुकी है और सर्वत्र एक प्रेम तत्त्व ही सिद्ध हो चुका है इनके लिए। परंतु जिनके लिए ऐसा नहीं हो पाया उनके लिए क्या कर्तव्य है, वे क्या करें?

करें क्या ? उनके लिए भी रसिक आचार्य्यगण विधान करते हैं कि वे भी सर्वत्र अपनी बुद्धि को एक वस्तुमय बना दें। यह नानात्व की माया मिटा दें। जब सर्वत्र एक प्रेमतत्त्व ही ओत-प्रोत है, तब क्या आवश्यकता है यह द्वैत के भार किए फिरने की ? श्री प्रबोधानंद सरस्वती-पाद क्या कहते हैं, सुनिए—

स्वान्तर्भाव–विरोधिनी–व्यवहृतिः सर्वा शनैस्त्यज्यतां,
स्वान्तश्चिन्तित–तत्त्वमेव सततं सर्वत्र संधीयताम्।
तद्भावेक्षणतः सदा स्थिरचरेऽन्या दृग् तिरोभाव्यतां,
वृन्दारण्य–विलासिनो निशि दिवा दास्योत्सवे स्थीयताम्॥

धीरे-धीरे उन सारे व्यवहारों को त्याग दे जो अपने अंतर्भाव (सिद्ध भावना) के विरोधी हों और सर्वत्र, सर्वकाल खोजता रहे अपने अंतःकरण के चिंतनीय तत्त्व को ही। उसी चिंतनीय तत्त्व का सदा सब में भाव-दृष्टि से दर्शन करता हुआ स्थिर-चर प्राणियों में जो भेद दृष्टि—द्वैत बुद्धि है उसका तिरोभाव कर दे और दिन रात श्रीवृंदावन-विलासी राधा - मुरलीधर के दास्य - सुख में भी सुख, शांति और स्थिरता प्राप्त करे।

जब द्वैत की सृष्टि मिट जायगी तब एक ही वस्तु रह जायगी रस, केवल प्रेमरस। यह रस चराचर-व्यापी है और ऐकांतिक भी। चराचर व्यापी रस - विलास का पर्यवसान है ऐकांतिक रस-विलास श्रीवृंदावन - विहार में। जहाँ वृंदावन, श्रीराधा, श्रीकृष्ण और सहचरिवर्ग ये चार उपकरण होकर भी सब एक रूप हैं, वहीं कुंडल कंकण और स्वर्ण की भाँति श्रीराधा भी प्रेम है, श्रीकृष्ण भी प्रेम, श्रीवृंदावन और सखियाँ भी प्रेम ही हैं, 'सर्वं हितमयं विदुः' सिद्धांत पूर्णतया सिद्ध है। तब यह कह कर प्रकट करने की आवश्यकता तो रह ही नहीं जाती कि हितरूप जीव और युगल की एकधर्मता—एकरूपता क्या है ?

एक वस्तु के ही दो रूप हैं; रस समुद्र में उठी हुई लहरियों का यह विलास है जो श्रीराधा, श्रीकृष्ण सहचरी श्रीवन आदि चार और फिर अनंत रूपों में विस्तीर्ण हो जाता है। जीवरूपा सखी और श्रीराधावल्लभ-विभु दोनों एक ही तत्व हैं। केवल लीला एवं रस विलास के लिये इन्होंने अपने नाना रूप निर्माण कर लिये हैं। संक्षेप में यों समझना चाहिए कि वे रसिक-नरेश ही जीवरूप अपनी छाया से खेल रहे हैं। यही रस-क्षेत्र में जीव और विभु का साधर्म्य है।

शास्त्रोक्त-शैली से इस रस-तत्त्व का अनुभव और साक्षात्कार करने के लिये राधावल्लभ युगल किशोर का तात्त्विक एवं रसमय स्वरूप जानना आवश्यक है। अतः अब इसके आगे पर-ब्रह्म-स्वरूप का यथामति निरूपण किया जाता है।

पर-(ब्रह्म) स्वरूप

ब्रह्म अव्यक्त है। और जो अव्यक्त है उसे फिर व्यक्त कैसे किया जाय? इसीलिये श्रुति उसके लिये अतर्क्य, अचिन्त्य और अवाङ्मनसगोचर आदि विशेषण देकर उस तत्त्व का लक्ष्य कराती है। यह सब ठीक है फिर भी उसे जानना तो होगा ही, चाहे जितने और जैसे रूप में वह जाना जाय; क्योंकि उसके जाने बिना जीव को अपने स्वरूप का बोध नहीं हो सकता। इसी न्याय से शास्त्रों एवं आचार्य्यों ने उस अव्यक्त तत्त्व के अनेकों नाम एवं रूप प्रकट कर डाले हैं। इनमें मुख्यतया ब्रह्म के दो रूप माने गये हैं—(१) निर्गुण निराकार और (२) सगुण साकार।

जिसे निर्गुण निराकार कहा जाता है वही सगुण साकार है। जो लोग इन दो रूपों में तारतम्य बुद्धि करते हैं, वे ब्रह्म

हैं। जो भगवान् निर्गुण निराकार है; वही भक्त और प्रेमियों के लिये नित्य सगुण साकार भी है; वह विष्णु होकर विश्व ब्रह्माण्ड का पालन करता और नारायण बनकर सबका निरीक्षण करता है। वही साकेतवासी राम बनकर अपने दासों को दास्य सुख प्रदान करता है और अनेक रूपों से विचित्र-विचित्र लीलाएँ करता रहता है। सब रूपों में एक वही निर्गुण-सगुण निराकार-साकार और इनसे भी परे—अलक्ष्य, योगीन्द्र-दुर्गम-गति श्रीकृष्ण ही तो क्रीड़ा कर रहे हैं। वे स्वयं गीता के दशम अध्याय में अपनी विभूतियों का वर्णन करते समय स्पष्ट कर रहे हैं—"अर्जुन। मैं शस्त्रधारियों में राम, सिद्धों में कपिल, वृष्णि-वंशियों में वासुदेव और मुनियों में वेद-व्यास हूँ। अधिक क्या, यह चराचर जगत् मुझमें है। तुम्हें अब अधिक जानने से क्या प्रयोजन? इतना ही जानना पर्याप्त है कि इस संपूर्ण जगत् को मैंने अपने एक अंश में धारण कर रखा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

—गीता १०।४२।

भगवान् श्रीकृष्ण के उक्त कथन का यह आशय है कि समस्त सात्विक असात्विक विभूतियाँ मेरी अंश-भूता हैं। मैं ही एक-मात्र सबका आधार, निधान और अव्यय बीज हूँ। और तो क्या, मैं निर्गुण निराकार और सगुण साकार ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा हूँ, जिससे कि उसकी स्थिति है। मेरे बिना ब्रह्म की भी कोई सत्ता नहीं है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥

—गीता १४।२७।

"मैं श्रीकृष्ण ही अविनाशी परब्रह्म, नित्य धर्म, अमृत और अखण्ड एकरस, आनंद का भी एकमात्र आश्रय हूँ।"

इसी प्रकार और भी गीता के पंद्रहवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण अपने भक्त अर्जुन से कहते हैं—"अर्जुन! मैं क्षर (जगत्) और अविनाशी जीव तत्त्व (अक्षर) से भी परे उत्तम परम पुरुष—पुरुषोत्तम नाम से प्रख्यात हूँ। (देखिये गीता १५। १६।१७।१८।)

इन वाक्यों से सिद्ध है कि भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम ब्रह्म के भी आदिकारण और ईश्वरों के भी ईश्वर—सर्वेश्वर हैं। ये सब अंशांश अवतारों के बीज और अंशी हैं—इसीलिये इनके संबंध में भगवान् वेद-व्यास ने कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

—श्रीमद्भागवत

"भगवान् के अन्य अन्य अवतार तो अंश और कला-मात्र ही हैं किंतु भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं परिपूर्णतम भगवान् हैं।"

ये भगवान् श्रीकृष्ण आदिपुरुष और नारायण के भी कारण हैं। महाविष्णु अर्थात् नारायण भी उनकी एक कला हैं।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।

ये गोविंद आदिपुरुष किस रूप में और किस धाम में नित्य क्रीड़ा करते हैं? इसका भी परिचय में हमें मिलता है—

आनन्द-चिन्मय-रस-प्रतिभाविताभि—
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

अर्थात् "जो नित्य निरंतर अपने आनंद चिन्मय रस से सराबोर हुए अपने समस्त तेज और प्रभा से पूर्ण एवं समग्र रूप और कलाओं से पूर्ण होकर दिव्य गोलोक धाम में अपनी आत्म-रूपा श्रीराधा एवं समस्त सखीजनों के साथ मिले निवास एवं विहार करते हैं मैं उन आदिपुरुष श्रीकृष्ण का भजन करता हूँ।"

सारांश यह कि ये वृंदावनविहारी श्रीकृष्ण ही निर्गुण, सगुण वामन, वाराह, मीन, राम आदि अवतारों के मूल हैं। इन्हीं के लिये श्रुति—"रसो वै सः" 'वह ब्रह्म रसरूप है', ऐसा लक्ष्य कराती है। बहुत स्पष्ट है कि सिवाय वृंदावनविहारी स्वरूप के और कोई अवतार रसरूप नहीं है। यही एक स्वरूप है जो मूर्ति-मान् शृंगार कहा जाता है। जिस प्रकार भोजन के छः रसों में मधुर श्रेष्ठ है उसी प्रकार समस्त भगवद्रूपों में शृंगार और माधुर्य्य की मूर्ति श्रीकृष्ण श्रेष्ठ हैं। इनके रस की उपासना भी तो शृंगार और मधुर रस को लेकर चलती है।

रसोपासक साधक का ध्येय रूप शृंगार-माधुर्य्य-निधान श्रीकृष्ण रूप ही है।

सौंदर्य्य-माधुर्य्य की चरम सीमा युगल-किशोर

भगवत्तत्व एक है किंतु लीला एवं क्रियाओं के अनुसार उसके नाम-रूप-भेद अनेक हैं। भक्तों की भावना और भगवान् की लीला के अनुसार एक ही भगवान् श्री कृष्ण तीन रूपों में विभक्त हो जाते हैं—

(१) श्री वृंदावन विहारी श्रीकृष्ण;
(२) मथुरा-वासी श्रीकृष्ण;

(३) द्वारका-वासी श्रीकृष्ण।

तीनों एक ही हैं; फिर भी मथुरा और द्वारका के चरित्र, ऐश्वर्य्य, वैभव, लोकोद्धार आदि के भावों से पूर्ण हैं। उन चरित्रों में श्रीकृष्ण कर्त्तव्य-परायण एक आदर्श क्षत्रिय राजपुरुष, सनातन - धर्मी और वेदांतनिष्ठ महापुरुष हैं। वे वेदांत-ज्ञान के पंडित और उपदेशक भी हैं; साथ ही मानापमान-रहित, निःस्पृह, निर्द्वंद्व, इंद्रियजित् , काम-क्रोध-रहित शांत योगेश्वर भी। वे लोक-कल्याण के समस्त नियम और धर्मों का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं और उनका पूरा-पूरा पालन भी करते हैं। वे वहाँ भगवान् भी हैं और भक्त भी। कहने का आशय यह है कि मथुरा और द्वारका में भगवान् का स्वरूप कुछ और है और श्रीवृंदावन में कुछ और , जो एक दूसरे से एकदम विपरीत सा है।

वही श्रीकृष्ण वृंदावन में रासविहारी, कुंजविहारी, राधा-पति, निकुंज-विलासी, चित्तचोर, नवल किशोर, रस-विवर्द्धक, नवल-नायक, राधा रमण, हैं।

अधिक तो क्या, उज्ज्वल रस (शृंगार-रस) के उपासक के लिये श्रीकृष्ण की बाल्य, कौमार, पौगण्ड आदि अवस्थाएँ और तत्कालीन लीलाएं भी उतनी प्रिय नहीं होतीं जितनी कैशोर लीलाएँ। उन्हें केवल नवल-किशोर निकुंजविहारी स्वरूप ही प्रिय है क्योंकि है भी यह रूप अनंत मधुर और रसमय। यह रसमय स्वरूप रसिक-जनों का जीवन प्राण है। यह वृंदावन-रस या श्रीकृष्ण का कैशोर रस दो प्रकार का है— एक व्रज-रस और दूसरा निकुंज-रस।

(क) व्रजविहारी श्रीकृष्ण और व्रज-रस

व्रज-रस के क्षेत्र में क्रीड़ा करनेवाले श्रीकृष्ण गोपी-पति गोपियों के प्रेमी (जार) हैं; गोपियाँ उनका सेवन उपपति के

रूप में करती हैं जिसे परकीया-भाव भी कहते हैं। वे जीवरूपा गोपियों के साथ शृंगार-रस की क्रीडाएँ किया करते हैं। यह व्रज-रस क्रीड़ा श्रीकृष्ण अवतार की लीला है, अवतारी की लीला नहीं। यह किसी समय-विशेष (द्वापर आदि) में ही प्रकट होती और फिर लोप भी हो जाती है। यह लोक में नित्य नहीं है। इस अवतारतत्त्व की रसोपासना का सिद्धांत माध्व-गौडेश्वर संप्रदाय में इस प्रकार से दिया गया है—

> आराध्यो भगवान् व्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनं।
> रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
> श्रीमद्भागवतं पुराणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
> श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्राग्रहो नाः परः॥

अर्थात् "हमारे आराध्यदेव हैं व्रजेन्द्रनंदन भगवान् श्रीकृष्ण जिनका धाम है श्रीवृंदावन। हमारी उपासना का भी वही कोई रमणीय सिद्धांत है जिसको पूर्वकालमें गोपी-जनों ने कल्पित किया था। हमारा शास्त्र है श्रीमद्भागवत जैसा निर्मल पुराण और लक्ष्य है पंचम पुरुषार्थ प्रेमा-भक्ति। बस, श्रीचैतन्य महाप्रभु का इतना ही मत है और यही ग्रहणीय है, अन्य नहीं।"

इस श्लोक से बहुत स्पष्ट है कि नंदनंदन श्रीकृष्ण आराध्य हैं और आराधना की शैली गोपी-भाव है।

(ख) नित्य-विहारी श्रीकृष्ण और निकुंज रस

परकीयात्व और औपपत्य व्रज-रस के निज अंग हैं। ये दोनों नंदनंदन अवतार में ही संभव है, नित्यविहारी श्रीकृष्ण में नहीं, क्योंकि नित्य तत्व अवतार नहीं अवतारी है। उसका विहार भी काल-व्यवधान-रहित अखंड एकरस और नित्य है।

उसका समस्त परिकर भी नित्य और उसका 'स्व' है 'पर' नहीं। इस नित्य तत्व का ही प्रकाश करते हुए श्रीहित हरिवंश रसिकाचार्य चरण ने कहा है—

यद् वृंदावनमात्रगोचरमहो यन्न श्रुतीनां शिरो-
प्यारोढुं क्षमते न यच्छिवशुकादीनां तु यद्ध्यानगम्।
यत्प्रेमामृतमाधुरी-रस-मयं यन्नित्यकैशोरकं
तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयनं लोलायमानं मम॥
—श्रीराधा-सुधानिधि, श्लोक ७६

अर्थात् "अहो! जो केवल श्रीवृंदावन में ही दृष्टिगोचर होता है अन्यत्र नहीं, जिसका वर्णन करने में श्रुति-शिरोभाग उपनिषद् भी समर्थ नहीं है, जो शिव और शुक आदि के भी ध्यान में नहीं आता, जो प्रेमामृत माधुरी से परिपूर्ण है और जो नित्य-किशोर है उस रूप को देखने के लिये मेरे नेत्र चंचल हो रहे हैं।"

रसिकाचार्य श्रीहित हरिवंशचंद्र महाप्रभु ने बताया है कि यह नित्यविहारी तत्त्व समस्त वेद, उपनिषद्, पुराण एवं शास्त्रों से अलक्षित और अगोचर है। सब वेदादि जिसकी ओर "रसो वै सः' वह रस रूप है, कह कर संकेत मात्र करते हैं, वह श्रुति-अलक्षित तत्त्व श्रीराधावल्लभ लाल है। यह तत्त्व नित्य, सत्य और सच्चिदानंदघन है। यह प्रेम, रूप-माधुर्य्य, सौंदर्य, रस, सुख, आनंद और भाव की परावधि है। यह समस्त अवतारों का निधान और मूल है। इसी से सारे अवतार होते रहते हैं, जैसे अग्नि से चिनगारियाँ। श्रीराधावल्लभ-लाल सर्व-तंत्र-स्वतंत्र ब्रह्म के भी ब्रह्म हैं। इन्हें सृष्टि, पालन एवं प्रलय की व्यवस्थाओं से

न कोई प्रयोजन है और न उनकी स्मृति की ही। ये अपने नित्य-रस में मग्न हुए अपनी निजरूपा स्वामिनी श्रीराधा के साथ आनंद विहार ही करते रहते हैं। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दो नहीं एक ही तत्त्व हैं। ये दो ही क्यों ? सारा नित्य विहार-परिकर ही एक तत्त्व रूप है।

नित्य-विहार परिकर के मुख्य चार अंग हैं:—श्रीराधा, श्री-कृष्ण, श्रीवृंदावन और सखियाँ। किंतु ये चारों एक ही तत्त्वप्रेम की चार आकृतियाँमात्र हैं जो परस्पर ओत-प्रोत हैं। प्रेमरूप युगल किशोर जो निरंतर प्रेम-क्रीड़ा किया करते हैं उसी को नित्य-विहार या निकुंज-क्रीड़ा कहते हैं। इस नित्य-विहार के परिकर में बियोग-भ्रम या विरह की कोई कल्पना तक नही है। यहाँ नित्य मिलन की ही एकरस क्रीड़ा है। यहाँ सखियाँ युगल किशोर की आत्म-भूता हैं। अतः 'स्व-पर' भेद से रहित हैं।

यह विहार नित्य-निरंतर अनादि अनंत रूप से दिव्य धाम श्रीवृंदावन में होता रहता है। वृंदावन का स्वरूप स्थूल से तो परे है ही; सूक्ष्म और कारण से भी परे अतर्क्य और अवाङ्मनस-गोचर है। नित्यविहार की कल्पना की झाँकी श्रीहित ध्रुवदास जी ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत की है:—
क्या है ?

न आदि न अंत विहार करैं दोउ,
लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई नई भाँति नई नई काँति,
नई नवला नव नेह विहारी॥
दियैं चित आहि, रहे मुख चाहि,
रहे तन प्रान सु सर्वसु हारी।

रहैं इक पास करैं मृदु हाँस,
सुनौ ध्रुव प्रेम अकथ्य कथा री ॥

और—

वृंदावन रस सबकौ सारा।
नित सर्वोपरि जुगल विहारा ॥
नित्य किसोर रूप की रासी।
नित्य विनोद मंद मृदु हासी ॥
सुख की अवधि प्रेम कौ ऐंना।
सेवत मैंननि की सत-सैंना ॥
विहरत तहाँ परम सुकुमारा।
रूप माधुरी कौ नहिं पारा ॥
नित्य विहार अखंडित धारा।
एक वैस रस विवि सुकुमारा ॥
नित्य किसोर रूप निधि सींवा।
विलसत सहज मेलि भुज ग्रीवां ॥
तिन विच अंतर पलकौ नाहीं।
तऊ तृपित प्रीतम मन माँहीं ॥
अद्भुत सहज रंग सुखदाई।
तहाँ प्रेम की एक दुहाई ॥
तिनकौ प्रेम और ही भाँति।
अद्भुत रीति कही नहिं जाति ॥
सूछम प्रेम 'विरह सुखदाई।
दिन संजोग में रहत हैं माई ॥
छिन छिन दसा और की औरै।
थाँभे रहति सखी सिरमौरै ॥

विरह सँजोग दिनहिं दिन माँहीं।
जद्दिप ग्रीवनि मेलैं बाँहीं॥
इहि विधि खेलत कलप विहाने।
परम रसिक कबहूँ न अघाने॥
प्रेम तरंग कहे नहिं जाँहीं।
छिन-छिन जे उपजत मन माँही॥
देखिवौ जहाँ विरह सम होई।
तहाँ कौ प्रेम कहा कहै कोई॥

× × ×

या सुख पर नाँहिन सुख औरै।
जेहि उर रचे रसिक सिरमौरै॥
श्रीहरिवंश–चरन उर धारै।
सो या रस में मन अनुसारै॥
नित्यहिं नित्य बिहार दोऊ करत लाड़िली लाल।
वृंदावन आनंद जल बरसत है सब काल॥
रूप रँगीली सभा सो प्रेम रंगीलौ राज।
सखी सहेली संग रँग अद्भुत सहज समाज॥

यह नित्य-विहारी तत्त्व रूप, लावण्य, चातुर्य-केलि और प्रेम रस का सिंधु है—

वैदग्ध्य - सिन्धुरनुराग–रसैक–सिन्धु–
वात्सल्यसिन्धुरतिसान्द्रकृपैकसिन्धुः।
लावण्यसिन्धुरमृतच्छविरूपसिन्धुः,
श्रीराधिका स्फुरतु मे हृदि केलिसिन्धुः॥
——श्रीराधा सुधानिधि १७

"जो चातुर्य्य की सिंधु, प्रेम रस की सिंधु, वात्सल्य भाव की सिंधु, अति कृपा की सिंधु, लावण्य की सिंधु और छवि रूप अमृत की अपार सिन्धु हैं वे केलि-सिन्धुरूपा श्रीराधा मेरे हृदय में स्फुरित हों।"

ये श्रीराधा या श्रीकृष्ण केवल इन सबके सिन्धु ही नहीं सार भी हैं—

लावण्यसार–रससार–सुखैकसारे,
कारुण्यसार–मधुरच्छवि–रूपसारे।
वैदग्ध्य-सार - रतिकेलि-विलास - सारे,
राधाभिधे मम मनोऽखिलसारसारे॥

—श्रीराधासुधानिधि २५

अर्थात् "वे राधा नामक कोई अखिल सारों की भी सार-रूपा सर्वेश्वरी लावण्य की सार, सुख की एकमात्र सार, करुणा की सार, मधुर रूप छवि की सार, रति-विदग्धता की सार एवं रति-केलि विलास की भी सार हैं।"

सारांश यह है कि नित्य विहारीलाल सौंदर्य्य माधुर्य की चरम सीमा और परात्पर तत्त्व हैं। यही युगल किशोर रूप अखिल सौंदर्य्य माधुर्य्य-निधि रस-तत्त्व रसिक जनों का लक्ष्य और उपास्य है। ये श्रीराधावल्लभ प्रेम और रस की अपूर्व निधि हैं—पराकाष्ठा हैं—

एकै प्रेमी एक रस श्रीराधावल्लभ आहि।
भूलि कहै जो और ठाँ झूठौ जानौं ताहि॥

—ध्रुवदास जी।

इन कमनीय युगल किशोर की प्रम-केलि का वर्णन करते हुए श्रीहिताचार्य्य-पाद ने कहा है—

मिथो भङ्गी–कोटि–प्रवहदनुरागामृतरस–
स्तरङ्ग–भ्रूभङ्गक्षुभितवहिरभ्यन्तरमहो।
मदाघूर्णन्नेत्रं रचयति विचित्रं रतिकला–
विलासं तत्कुञ्जे जयति नवकैशोरमिथुनम् ॥

अर्थात् "युगल किशोर के पारस्परिक हाव-भाव के विस्तार से आज प्रेमामृत रस का प्रवाह सा बह चला है। उस प्रवाह में दोनों की कुटिल भृकुटियों के नर्त्तन ही मानों तरंगें हैं। युगल किशोर के नयन रस के मद से घूर्णायमान हो रहे हैं। दोनों नव-निकुंज भवन में रतिकला के विचित्र विलास की रचना करते हैं और इस प्रकार सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो रहे हैं।"

इस तरह सिद्ध है कि नित्य-विहार सिवाय प्रेम-केलि के और कुछ है ही नहीं। युगल किशोर एक प्रेम के ही दो रूप हैं। प्रेम ही विविध रूपों में विलास कर रहा है। अतः नित्य-विहार क़ेवल हित-प्रेम का ही विलास है।

युगल सरकार और हिततत्त्व

'जीव का भावमय स्वरूप' इस शीर्षक से हम पहले बता आये हैं कि जीव और विभु नामक दो अलग अलग तत्त्व नहीं है वरं एक प्रेम-तत्त्व ही अनेक रूपों में विद्यमान है। वही जीव रूप है और वही विभु रूप है। 'हित' ही 'ब्रह्म' है। प्रेम ही परमात्मा है। वही व्यापक प्रेम नित्य-विहार-केलि में चाररूपों में व्याप्त है, अर्थात् युगल, श्रीवन और सहचरी-गण। यावन्-मात्र स्थिर-जंगम सब प्रेम के ही स्थूल रूप हैं या प्रेम चर-अचर रूप में जडतासंचारीभाव को प्राप्त हो गया है। चराचर व्यापक इस प्रेम का सर्वत्र दर्शन करते हुए श्रीलाड़िलीदास जी ने

कहा—सबै चित्र हित मित्र के जहँ लौं धामी धाम। अर्थात् "जहाँ तक धाम है और उनके वासी धामी हैं सब उसी एक 'हित-मित्र (प्रेम देवता) के चित्र हैं।

यह प्रेम किन किन रूपों में और किस प्रकार व्याप्त है इसका संकेत करते हुए चाचा श्रीहित वृन्दावनदासजी ने भी कहा है—

> वन्दौं प्रेम खिलारो दंपति उर जो है।
> मुनि जन मन मोहै ॥
> कौतुक रचै जु भारी वारी अति रस रूप छकावै।
> सदा सदेह रहै वृंदावन पिय प्यारी दुलरावै ॥
> याके खेल रसिक जन परचैं थिरचर सब मन भावै।
> वृंदावन हित रूप सहेलिनु चित जु चोज उपजावै ॥

जो प्रेम दंपति (युगल-किशोर) के हृदय में है वही मुनियों का मन मोहित करता और स्थिर-चर सब में व्याप्त है। वही प्रेमतत्त्व मूर्तिमान् होकर श्रीहित हरिवंश के रूप में श्रीवन में विराज कर युगल किशोर को दुलराता है। किं बहुना ? वही सखियों के हृदय में बैठ कर रसानुभव भी कराता है।

प्रेम अनिर्वचनीय तत्त्व है। वह एक होकर भी अनेक है। वह प्रिया है, वह प्रियतम है, वह सखी है, वह श्रीवन है और वह इनसे परे भी है। ये सब मिलकर उसका रसास्वादन करते हैं, उसे जानना चाहते हैं पर जान नहीं पाते। उसने सबके चित्त को हरण कर रखा है। उस प्रेम ने उन्हें किस प्रकार वशीभूत कर रखा है, वे स्वयं सर्वज्ञ होकर भी नहीं जान पाये हैं। उस दिव्यातिदिव्य प्रेम के परिचय में कोई क्या कहे ?

यह प्रेम अमृतरूप है; मूक के आस्वादन की भाँति अव्यक्त है। और एक रहस्य है जो श्रीकृष्ण और श्रीराधा-प्रेम प्रतिमाओं-के भी चित्त को हरण किये बैठा है। श्रीहिताचार्य्यचरण कहते हैं—

यन्नारदाजेश-शुकैरगम्यं
वृन्दावने वञ्जुल-मञ्जु-कुञ्जे।
तत्कृष्णचेतो-हरणैकविज्ञ—
मत्रास्ति किञ्चित् परमं रहस्यम् ॥

अर्थात् "यहाँ श्रीवृंदावन की वेतस कुंजों में एक रहस्य है, रहस्य! औरों की तो बात ही क्या जो ब्रह्मा, नारद, शंकर, शुकदेव आदि के लिये भी अगम्य है। ये बड़े-बड़े महा-भागवतगण भी उसे नहीं जान पाये हैं। उसकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि वह उन श्रीराधा और श्रीकृष्ण का भी चित्त चुराने में बहुत चतुर है।

—०—

(१०)

पूर्वी भारत में भक्ति आंदोलन

महासुख, सुखराज,[1] महामुद्रा-साक्षात्कार आदि हैं। इसी अवस्था में ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान—ग्राहक, ग्राह्य तथा ग्रहण इस लोक-प्रसिद्ध त्रिपुटी का उस समय सर्वथा अभाव हो जाता है। इसी अवस्था का वर्णन सरहपा (८०० ई० के आसपास) ने इस प्रसिद्ध दोहे में किया है:—

'जह मन पवन न सञ्चरइ रवि ससि नाह पवेश।
तहिं वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ॥'

अर्थात् सहजावस्था में मन और प्राण का संचार नहीं होता। सूर्य और चंद्र का वहाँ प्रवेश करने का अधिकार नहीं है। चंद्र और सूर्य इडा-पिंगलामय आवर्तशील काल-चक्र का ही नामांतर है। निर्वाण-पद काल से अतीत होता है इसीलिये वहाँ चंद्र और सूर्य के प्रवेश न होने की बात का सरहपा ने वर्णन किया है। इसी अवस्था का नाम है 'उन्मनीभाव'। इसी अवस्था में मन का लय स्वाभाविक व्यापार है। उस समय वायु का भी निरोध संपन्न होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि यही निर्वाण प्रत्येक व्यक्ति का निज-स्वभाव (अपना सच्चा रूप) है। इस समय जो आनंद होता है उसी को 'महासुख' कहते हैं। इसी का नाम 'सहज' है। वह एक, कारणहीन परमार्थ है। महासुख के विषय में सरहपाद की यह उक्ति नितांत सत्य है—

''घोरे न्धारे चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
परम महासुख एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ ॥

---

१ जयति सुखराज एकः कारणरहितः सदोदितो जगताम्।
यस्य च निगदनसमये वचनदरिद्रो बभूव सर्वज्ञः ॥
—सरहपाद का वचन; सेकोद्देशटीका पृ० ६३

अर्थात् घोर अंधकार को जिस प्रकार चंद्रकांत मणि दूर कर अपने निर्मल प्रकाश से उद्भासित होता है उसी प्रकार इस अवस्था में महासुख समस्त पापों को दूर कर प्रकाशित होता है। इस महासुख की उपलब्धि वज्रयानी सिद्धों के लिये परमपद की प्राप्ति है[1]।

इसी महासुख के प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है गुरु का उपदेश। तंत्र साधन-मार्ग है। पुस्तकावलोकन से इस मार्ग का रहस्य नहीं जाना जा सकता। इसीलिये साधक को किसी योग्य गुरु की शिक्षा नितांत आवश्यक होती है[2]। परंतु गुरु का स्वरूप क्या है ?

यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। सहजिया लोग कहते हैं कि गुरु युगनद्धरूप है अर्थात् मिथुनाकार है। वह शून्यता और करुणा की युगलमूर्ति है; उपाय तथा प्रज्ञा का समरस विग्रह है। शून्यता सर्व-श्रेष्ठ ज्ञान का वाचक है। करुणा का अर्थ जीवों के उद्धार करने के लिये महती दया दिखलाना है। गुरु को शून्यता और करुणा की मिश्रित मूर्ति बतलाने का अभिप्राय यह है कि वह परम ज्ञानी होता है; परंतु साथ ही साथ जगत् के नाना प्रपंच के आर्त प्राणियों के उद्धार के लिये उसके हृदय में

---

१ हेवज्रतन्त्र में महासुख को उस अवस्था का आनंद बतलाया है जिसमें न तो संसार (भव) है, न निर्वाण, न अपनापन रहता है, न परायापन। आदि-अंत-मध्य का अभाव रहता है:—

आइ ण अनंत मज्झ णहि, नउ भव नउ निव्वाण।
एहु सो परम महासुहऊ, नउ पर नउ अप्पाण॥

—सेकोद्देश टीका (पृ० ६३) में उद्धृत हेवज्रतन्त्र का वचन।

२. ज्ञान-सिद्धि का १३वाँ परिच्छेद-द्रष्टव्य।

महती दया विद्यमान रहती है। वज्रयान में प्रज्ञा और उपाय के एकीकरण के ऊपर जोर दिया गया है। क्योंकि प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य (परस्पर मिलन) ही निर्वाण है[१]।

बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये केवल प्रज्ञा से काम नहीं चलता और न उपाय से ही काम चलता है।[२] उसके लिये दोनों का संयोग नितांत आवश्यक है। इन्हीं दोनों की मिलित मूर्ति होने से गुरु को 'मिथुनाकार' बतलाया गया है। वज्रयानी सिद्धों के मत में मौन मुद्रा ही गुरु का उपदेश है। शब्द के द्वारा सहज तत्त्व का परिचय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि मन और वाणी के गोचर पदार्थ विकल्प के अंतर्गत हैं। निर्विकल्प तत्त्व शब्दातीत है। इसी को महायानी ग्रंथों में 'अनक्षर तत्त्व' कहा गया है।

सच्चा गुरु वह है जो आनंद या रति के प्रभाव से शिष्य के हृदय में महासुख का विस्तार करे[३]। केवल मौखिक उपदेश देना गुरु का काम नहीं है। गुरु का काम हृदय के अंधकार को

---

१. न प्रज्ञाकेवलमात्रेण बुद्धत्वं भवति, नाप्युपायमात्रेण। किंतु यदि पुनः प्रज्ञोपायलक्षणौ समतास्वभावौ भवतः, एतौ द्वौ अभिन्नरूपौ भवतः तदा भुक्तिमुक्तिर्भवति।

२ उभयोर्मिलनं यच्च, सलिल - क्षीरयोरिव।
अद्वयाकारयोगेन प्रज्ञोपायं तदुच्यते॥
चिन्तामणिरिवाशेषजगतः सर्वदा स्थितम्।
भुक्तिमुक्तिप्रदं सम्यक् प्रज्ञोपायस्वभावतः॥

३ सद्गुरुः शिष्ये रतिस्वभावेन महासुखं तनोति।

दूर कर प्रकाश तथा आनंद का उल्लास करना है। तंत्र-शास्त्र में इसीलिये उपयुक्त गुरु की खोज के लिए इतना आग्रह है[1]।

महासुख की उपलब्धि के स्थान तथा उपाय का वर्णन वज्रयानी ग्रंथों में विस्तार के साथ मिलता है। सिद्धों का कहना है

अवधूती-मार्ग

कि 'उष्णीष कमल' में महासुख की अभिव्यक्ति होती है। तंत्रशास्त्र और हठयोग के ग्रंथों में इस कमल को 'सहस्रदल' (हजार पत्तों वाला) कहा गया है। वज्रगुरु का आसन इसी कमल की कर्णिका के मध्य में है। इस स्थान की प्राप्ति मध्यममार्ग के अवलंबन करने से ही हो सकती है। जीव सांसारिक दशा में दक्षिण और वाम मार्ग में इतना भ्रमण करता है कि उसे मध्यम मार्ग में जाने के लिये तनिक भी सामर्थ्य नहीं होती। यह मार्ग गुरु की कृपा से ही प्राप्य है। सहजिया लोग वाम शक्ति को 'ललना' और दक्षिण शक्ति को 'रसना' कहते हैं। तांत्रिक भाषा में ललना, चंद्र तथा प्रज्ञा वाम शक्ति के द्योतक होने से समानार्थक है। रसना, सूर्य और उपाय दक्षिण शक्ति के बोधक होने से पर्यायवाची हैं। इन दोनों के बीच में चलने वाली शक्ति का पारिभाषिक नाम है "अवधूती"[2]। अवधूती शब्द की व्युत्पत्ति है—

---

१ या सा संसारचक्रं विरचयति मनः सन्नियोगात्महेतोः;
सा धीर्यस्य प्रसादाद्दिशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपंचम्।
तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तं;
कुर्यात्तस्याङ्घ्रियुग्मं शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकालम्॥
—चर्याचर्यविनिश्चय—पृ० ३

२ द्रष्टव्य 'वीणापाद' का यह गायन—
सुज लाउ ससि लागेलि तान्तीं।
अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती॥

"अवहेलया अनाभोगेन क्लेशादि पापान् धुनोति।

अर्थात् वह शक्ति जो अनायास ही क्लेशादि पापों को दूर
कर देती है। अवधूतीमार्ग ही अद्वयमार्ग, शून्यपथ, आनंदस्थान
आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। ललना और रसना
इसी अवधूती के ही अविशुद्ध रूप हैं। जब ये शक्तियाँ विशुद्ध
होकर एकाकार हो जाती हैं तो इन्हें "अवधूती" कहते हैं। तब
चंद्र का चंद्रत्व नहीं रहता और न सूर्य का सूर्यत्व रहता है।
क्योंकि इन दोनों के आलिंगन से ही 'अवधूती' का उदय होता
है। वज्रजाप के द्वारा ललना और रसना के शोधन करने से
तात्पर्य, नाड़ी की शुद्धि से है। शोधन होने पर दोनों नाड़ियाँ
मिलकर एकरस या एकाकार हो जाती हैं। इसी निःस्वभाव या
नैरात्म्य अवस्था को ही शून्यावस्था कहते हैं। जो इस शून्यमय
अद्वैतभाव में अधिष्ठान कर आत्मप्रकाश करता है वही सच्चा
वज्रगुरु है

रागमार्ग—

महासुख कमल में जाने के लिये यथार्थ सामरस्य प्राप्त करने
के लिये मध्यपथ का अवलंबन करना तथा द्वंद्व का मिलन कराना
ही होगा। दो को बिना एक किये हुये सृष्टि और संहार से अतीत
निरंजन पद की प्राप्ति असंभव है। इसलिये मिलन ही अद्वय-
शून्यावस्था तथा परमानंद लाभ का एकमात्र उपाय है। सह-
जिया लोगों का कहना है कि बुरे कर्मों के परिहार से तथा इंद्रिय-

---

वाजइ अलो सहि हेरुअ वीणा।
सुन तांति धनि विलसइ रुणा॥
—बौद्धगान ओ दोहा पृ० ३०

निरोध से निर्विकल्पक दशा उत्पन्न नहीं की जा सकती। युगल अवस्था की प्राप्ति न होने से विराग तथा विषय का त्याग एकदम निष्फल है। इसके लिये एक ही मार्ग—सहजमार्ग—रागमार्ग है, वैराग्यमार्ग नहीं। इस मार्ग के लिये कठिन तपस्या आदि का विधान निष्फल है। श्रीसमाजतंत्र का कथन है कि दुष्कर नियमों के करने से शरीर केवल दुःख पाकर सूखता है; चित्त दुःख के समुद्र में गिर पड़ता है। इस प्रकार विक्षेप होने से सिद्धि नहीं मिलती—

दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः, मूर्तिः शुष्यति दुःखिता।
दुःखाब्धौ क्षिप्यते चित्तं, विक्षेपात् सिद्धिरन्यथा॥

इसलिये पंच प्रकारों के कामों का त्यागकर तपस्या द्वारा अपने को पीड़ित न करे। योगतंत्रानुसार सुखपूर्वक बोधि (ज्ञान) की प्राप्ति के लिये सदा उद्यत रहे—

पञ्चकामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत्।
सुखेन साधयेत् बोधिं योगतन्त्रानुसारतः॥

इसलिये वज्रयान का यह सिद्धांत है कि देहरूपी वृक्ष के चित्त-रूपी अंकुर को विशुद्ध विषय-रस के द्वारा सिक्त करने पर यह वृक्ष कल्पवृक्ष बन जाता है और आकाश के समान निरंजन फल फलता है। महासुख की तभी प्राप्ति होती है:—

तनुतरचित्ताङ्कुरको विषयरसैर्यदि न सिच्यते शुद्धैः।
गगनव्यापी फलदः कल्पतरुत्वं कथं लभते[1]

---

१ 'चर्याचर्यविनिश्चय' के लुईपाद कृत प्रथम पाद की टीका में उद्धृत सरहपाद का वचन।

राग से ही बंधन होता है अतः मुक्ति भी राग से ही उत्पन्न होती है। इसलिये मुक्ति का सहज साधन महाराग या अनन्य-राग है, वैराग्य नहीं। इस बात के ऊपर 'हेवज्रतंत्र' आदि अनेक तंत्रों की उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है:—"रागेन बध्यते लोको रागेनैव विमुच्यते।" इसलिये अनंगवज्र ने चित्त को ही संसार और निर्वाण दोनों बतलाया है। जिस समय चित्त बहुल-संकल्प-रूपी अंधकार से अभिभूत रहता है, बिजुली के समान चंचल होता है और राग, द्वेष आदि मलों से लिप्त रहता है, तब वही संसार-रूप है[1]।

अनल्प-संकल्प-तमोभिभूतं,
प्रभञ्जनोन्मत्त-तडिच्चलञ्च।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं;
चित्तं विसंसारमुवाच वज्री॥

वही चित्त जब प्रकाशमान होकर कल्पना से विमुक्त होता है, रागादि मलों के लेप से विरहित होता है, ग्राह्य, ग्राहक भाव की दशा को अतीत कर जाता है तब वही चित्त निर्वाण कहलाता है[2]। वैराग्य को दमन करनेवाले पुरुष को 'वीर' कहते हैं।

---

१ प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि ४।२२

२ प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं, प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्॥
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्वं, तदेव निर्वाणपदं जगाद॥
—प्र० वि० सि० ४।२४

नागार्जुन के निम्नांकित वचन से इसकी तुलना कीजिये।

निर्वाणस्य या कोटिः, कोटिः संसरणस्य च।
न तयोरन्तरं किञ्चित्, सुसूक्ष्ममपि विद्यते॥

ऊपर ललना और रसना के एकत्र मिलन की बात कही गयी है। विशुद्ध होने पर ये दोनों 'अवधूती' के रूप में परिणत हो जाती हैं। उस समय एकमात्र अवधूतिका ही प्रज्वलित रहती है। 'अवधूतिका' के विशुद्ध रूप के लिए 'डोम्बी' शब्द का व्यवहार किया जाता है। वामशक्ति और दक्षिणशक्ति के मिलन से जो अग्नि या तेज उत्पन्न होता है उसकी प्रथम अभिव्यक्ति नाभिचक्र में होती है। इस अवस्था में वह शक्ति अच्छी तरह विशुद्ध नहीं रहती। इसका सहजिया भाषा में सांकेतिक नाम 'चाण्डाली' है। जब चाण्डाली विशुद्ध हो जाती है तब उसे 'डोम्बी' या 'बंगाली' कहते हैं[1]। अवधूती, चाण्डाली और बंगाली (या डोम्बी) एक ही शक्ति की त्रिविध अवस्था के नामांतर हैं। अवधूती अवस्था में द्वैत का निवास रहता है क्योंकि उसमें इड़ा और पिङ्गला पृथक् रूप में अपना कार्य अलग-अलग निर्वाह करती हैं। चाण्डाली अवस्था में द्वैताद्वैत का निवास है तथा बंगाली अद्वैतभाव की सूचिका है। तंत्र में शक्ति के जो तीन भेद—अपरा, परापरा तथा परा—किये गये हैं उनका लक्ष्य इन्हीं तीनों भेदों से है। अवधूती अवस्था में वायु का संचार तथा निर्गम होता है, इसी का नाम संसार है। शक्ति को सरलमार्ग में ले आना अर्थात् वक्र गति को दूरकर

'डोम्बी'
तथा
'चाण्डाली'

---

१ तुलनीय भुसुकुपाद की यह प्रसिद्ध गीति—

आज भुसुक् बंगाली भइली।
णिअ घरिणीं चण्डाली लेली॥
उहि जो पंचघाट णइ दिविसंशा णठा।
न जानमि चिअ मोर कहिं गइ पइठा॥

सरलपथ में ले चलना साधक का प्रधान कार्य है। सिद्धाचार्यों का उजू बाट[1] (ऋजुवर्त्म—सीधा मार्ग) यही है। वाम और दक्षिण की गति जब तक है तब तक हमारा मार्ग टेढ़ा (सिद्धों की भाषा में वाँक = वक्र) ही रहता है। इस मार्ग को छोड़कर सीधे मार्ग में आने के लिये सिद्धाचार्यों ने अनेक सुंदर दृष्टांत दिये हैं। इस मार्ग के अवलंबन करने से वज्रयानी साधक को अपनी अपनी अभीष्ट सिद्धि प्राप्त होती है। अंतिम क्षणमें रागाग्नि आपसे आप शांतहो जाती है जिसका नाम है निर्वाण (या आगका बुझ जाना)। रागाग्नि के निवृत्त होने से जिस आनंद का प्रकाश होता

---

१ मध्यमार्ग ही सरल मार्ग, ऋजु मार्ग या ऊजू बाट है। सरहपाद की युक्ति है:—

"उजू रे उजू छाडि ना लेओ रे वँक।"
निअहि बोहिया जाहु रे लाँक।।

अर्थात् ऋजुमार्ग को पकडो, टेढ़े रास्ते को छोड दो।

सिद्धाचार्य शांतिपाद (प्रसिद्ध नाम भुसुक) की यह उक्ति भी मननीय है—

वाम दहिन दो वाटा छाड़ी।
शांति बुगथेउ सकेलिउ।।

अर्थात् वाम और दक्षिण मार्ग को छोड़कर मध्यमार्ग का ग्रहण आवश्यक है। यही विशुद्ध 'अवधूतीमार्ग' या वज्रमार्ग है। बिना इसका आश्रय लिये बुद्धत्व, तथागतभाव या महासुख की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है—एतद् विरमानन्दोपायमार्गं विहाय नान्यमार्गसद्-भावोऽभिमुखोऽस्ति। इसी का द्योतक यह तंत्र-वचन है—

एष मार्गवरः श्रेष्ठो महायानमहोदयः।
येन यूयं गमिष्यन्तो भविष्यथ तथागताः।।

है उसे कहते हैं—चिरमानंद। उस समय चंद्र स्वभावस्थित होता है, मन स्थिर होता है तथा वायु की गति स्तम्भित होती है। जिसके हृदय में चिरमानंद का प्रकाश उत्पन्न हो गया है, वही यथार्थ में योगीन्द्र, योगिराट् है तथा सहजिया भाषा में वही 'वज्रधर' पदवाच्य सद्गुरु कहलाता है।

महामुद्रा

सहजिया लोगों में महामुद्रा का साक्षात्कार ही सिद्धि गिना जाता है। शून्यता तथा करुणा के अभेद को ही 'महामुद्रा' कहते हैं[1]। जिसने अभेद ज्ञान को प्राप्त कर लिया है, उससे अज्ञात कोई भी पदार्थ नहीं रहता। उसके लिए समग्र विश्व के पदार्थ अपने विशुद्धरूप को प्रकट कर देते हैं। 'धर्मकरण्डक', 'बुद्धरत्नकरण्डक' तथा 'जिनरत्न'—इसी महामुद्रा के पर्याय हैं। तंत्रशास्त्र में शिव और शक्ति का जो तात्पर्य तथा स्थान है वही रहस्य तथा स्थान वज्रयान में शून्यता तथा करुणा अथवा वज्र और कमल का है। शिव-शक्ति के सामरस्य को दिखलाने के लिए तंत्र में एक यंत्रविशेष का उपयोग किया जाता है। यंत्र में दो समकेंद्र त्रिकोण हैं—एक ऊर्ध्वमुख त्रिकोण रहता है और दूसरा अधोमुख त्रिकोण। ये पृथक् रूप से शिवतत्त्व तथा शक्तितत्त्व के द्योतक हैं—इनका एकीकरण दोनों के परस्पर आलिंगन या मिलन का यांत्रिक निदर्शन है। शून्यता तथा करुणा के परस्पर मिलन—वज्र और कमल का परस्पर योग—दोनों का रहस्य एक ही है—शक्तिद्वय का परस्पर मिलन या सामरस्य या समरसता।

इन्द्रियसुख में आसक्त पुरुष धर्मतत्त्व का ज्ञाता कभी नहीं हो

---

१ द्रष्टव्य ज्ञानसिद्धि १।५६–५७।

सकता। वज्र-कमल के संयोग से जिस साधक ने बोधिचित्त को वज्रमार्ग में अच्युत रखने की योग्यता प्राप्त कर ली है अथवा जिसने शिव-शक्ति के मिलन से ब्रह्मनाड़ी में बिन्दु को चालित कर स्थिर तथा दृढ़ करने की सामर्थ्य सिद्ध कर ली है, वही महायोगी है। धर्म का तत्त्व उसकी ज्ञानदृष्टि के सामने स्वयं उन्मिषित हो जाता है। समस्त साधन का उद्देश्य बोधिचित्त या बिंदु की रक्षा करना है। बोधिचित्त से अभिप्राय बोधिमार्ग पर आरूढ़चित्त से है[1]। ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे चित्त उस मार्ग से पतित न हो जाय। नाना प्रकार की साधना का फल काय, वाक् तथा चित्त की दृढ़ता संपादन करना होता है। देवता के संयोग से काय की दृढ़ता, वज्रजाप के द्वारा चन्द्र-सूर्य की गति के खंडन होने पर वाक् की दृढ़ता और सुमेरुशिखर पर श्वास को ले जाने से चित्त की दृढ़ता संपादित होती है। बिना इनकी दृढ़ता हुए साधक में परम चैतन्य की शक्ति का आविर्भाव हो नहीं सकता। यदि आविर्भाव संभवतः हो भी जाय, तो उसे सहन या धारण करने की क्षमता साधक में नहीं रहती। इसी लिए गुरु इस दृढ़ता की प्राप्ति के लिए विशेष आग्रह दिखलाता है। इस दृढ़ता की अभिव्यक्ति 'वज्र' शब्द के द्वारा की जाती है। इस प्रकार द्वैतभाव के परित्याग से अद्वैतभाव की अनुभूति वज्रयान का चरम लक्ष्य है। 'वज्र' शून्यता का ही भौतिक

---

१ अनादिनिधनं शान्तं भावाभावक्षयं विभुम्।
शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम्॥

—श्रीसमाजतन्त्र पृ० १५३।

इसकी विस्तृत व्याख्या के लिए द्रष्टव्य—ज्ञानसिद्धि पृ० ७५।

प्रतीक है क्योंकि दोनों ही दृढ़, अखंडनीय, अछेद्य, अभेद्य तथा अविनाशी हैं—

दृढ़ं सारमसौशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

—वज्रशेखर पृ० २३

सहजयान में परमार्थ की प्राप्ति 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' के परस्पर योग का परिणत फल है। शून्यता का ही अपर नाम है 'प्रज्ञा' तथा अशेष प्राणियों पर अनुकंपा का ही अभिधान है 'उपाय'। जो मनुष्य प्रज्ञा तथा उपाय से युक्त रहता है तथा संसार के पदार्थों से आसक्तिहीन रहता है। वह इसी जन्म में सिद्ध हो जाता है; इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है। ऊपर कहा गया है कि सहजयान रागमार्ग है, वैराग्यमार्ग नहीं अर्थात् जो राग अशुद्ध तथा मलिन होने पर संसार में बंधन का कारण बनता है वही राग कालुष्य तथा कामना से विरहित होने पर अपने परिशोधित रूप में जगत् में मोक्ष का साधन बनता है। इस राग के परिशोधन के निमित्त सहजयान का साधन मुद्रा का साधन करता है अर्थात् किसी पर-स्त्री के संग अनेक विशिष्ट तांत्रिक क्रियाओं का अनुष्ठान करता हुआ अपने 'काम' को 'राग' के रूप में परिणत करता है और इसी जन्म में 'महासुख' का अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्ति लाभ करता है।

—:o:—

(१)

सहजिया वैष्णव संप्रदाय

सहजिया वैष्णव लोग रागानुगा प्रेमाभक्ति के अनुयायी हैं, इसलिए वे लोग वैधी भक्ति को विशेष महत्त्व नहीं देते। 'सहज' शब्द की संप्रदायगत व्याख्या ठीक ठीक जान लेने पर इस मत के सिद्धांतों से पूरा परिचय प्राप्त हो सकता है। मनुष्य परमात्मा का ही रूप है और प्रेम ही परमात्मा का सहज धर्म है जिसे मनुष्य भगवान् की विभूति होने के कारण से स्वतः धारण करता है। मनुष्य भगवदंश होने से सहज रूप से प्रेम को धारण करता है[1]। इसी प्रेम के द्वारा वह अपने व्यक्तित्व का इतना प्रसार कर लेता है कि वह प्रत्येक जीव के साथ अपना सामंजस्य स्थापित कर लेता है और तद्-द्वारा भगवान् के साथ भी अपनी पूर्ण एकता स्थापित कर लेता है। तब वह सिद्ध बन जाता है और परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लेता है।

सहजिया लोग इसीलिए मनुष्य के रूप-विश्लेषण को ज्यादा महत्त्व देते हैं। प्रत्येक मानव के भीतर 'स्वरूप' और 'रूप' नामक दो भिन्न भिन्न कोटियों के स्वभाव विद्यमान रहते हैं। यह केवल धार्मिक विचार-धारा में ही महत्व नहीं रखता, प्रत्युत यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन

---

१ सहज भजन एई शब्देर अर्थ एई ये जीव अनुचैतन्य स्वरूप आत्मा। प्रेम आत्मार सहज धर्म। ये धर्म ये वस्तुर सहित एकत्रे उत्पन्न हय ताहा ताहार सहज।

—रूपानुग-भजनदर्पण

लोगों का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य के अंतर्गत श्री कृष्ण का आध्यात्मिक तत्त्व वर्तमान है जिसको 'स्वरूप' कह सकते हैं और उसके साथ ही साथ उसमें एक निम्नतर का भौतिक-तत्त्व भी वर्तमान है जिसे 'रूप' कह सकते हैं। इन साधकों के अनुसार प्रत्येक पुरुष एवं स्त्री को अपने रूप के ऊपर स्वरूप का आरोप कर लेना चाहिए और उसी की सहायता से साधक को अपने पार्थिव प्रेम को अपार्थिव रूप में परिणत कर देना चाहिए। मनुष्य जब तक रूप की ही अभिव्यक्ति में लगा रहता है, तब तक उसका प्रेम विशुद्ध न होकर केवल मलिन बना रहता है। परंतु जब साधक रूप के ऊपर स्वरूप का आरोप कर अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है, तब उसका प्रेम भी अपनी मलिनता को छोड़ कर विशुद्ध रूप में प्रकाशित हो उठता है। बिना रूप की सहायता के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। इसी लिए ये लोग अपार्थिव प्रेम की अनुभूति के लिए किसी परकीया के साथ प्रेम की साधना भी नितांत आवश्यक मानते हैं।

—:❀:—

(२)

सहज मानुष

सहजिया लोग मनुष्य को ही अधिक महत्त्व देते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि मनुष्य यदि अपने सच्चे स्वरूप को पहचान ले तो उसके हृदय में प्रेमाभक्ति के उदय में विलंब नहीं होता। इस मार्ग के अनुसार 'सहज-मानव' ही मानव समाज के लिए

आदर्श है[1]। सहज-मानव में न रजोगुण का प्राधान्य रहता है, न तमोगुण का अतिरेक। उसमें शुद्ध सत्त्व की ही प्रतिष्ठा रहती है। वह अपने में और संसार के इतर प्राणियों में किसी प्रकार का भेद नहीं देखता। यह सांसारिक वस्तुओं में किसी प्रकार का राग नहीं रखता। न तो किसी से वह द्वेष करता है और न भला-बुरे के विवेचन में ही अपना समय गवाँता है। शुद्ध सत्त्व में प्रतिष्ठित ऐसा मनुष्य ही सहजिया-पंथ में आदर्श मानव गिना जाता है। ऐसा मनुष्य बड़ा दुर्लभ होता है। ऐसे मनुष्य का परिचय 'चण्डीदास' ने अपने एक प्रसिद्ध पद में दिया है—

मानुष मानुष सबाइ कहये, मानुष के मन जन।
मानुष रतन मानुष जीवन, मानुष पराण धन॥
भरमें भुलये अनेक जन, मरम नाहिक जाने।
मानुपेर प्रेम नाहि जीवलोके, मानुष से प्रेम जाने॥
मानुष यारा जीवन्ते मरा, सेई से मानुष सार।
मानुष लक्षण महाभावमय, मानुष भावेर पार॥
मानुष नाम विरल धाम, विरल ताहार रीति।
चंडीदास कहे सकलि विरल, के जाने ताहार रीति॥

चंडीदास का कहना है कि मनुष्य के विषय में सब चर्चा

---

१ शुद्ध सत्व जीव एई सदा निष्ठाशील।
सहजे अभेद भावे देखे ये अखिल॥
विषयेर दास्ये येई ना काटाय काल।
नयनेर दृष्टि यार चित्ते चिरकाल॥
भालमंद नाहि जाने, नाहि करे द्वेष।
अन्तरे नियत हेरे आपन. महेश॥ —रसरत्न सार

करते हैं परंतु उसके शुद्ध सच्चे रूप को कोई नहीं जानता। मनुष्य रत्न है। वह सृष्टि का मूल प्राण है। वह हमारे प्राणों को आकृष्ट करने वाले पदार्थों की निर्मिति है। मानुष के बाहरी रूप को देखने वाले भ्रम न पड़े रहते हैं, क्योंकि वे उसके भीतरी रूप को जान नहीं सकते। प्रेम से मनुष्य गढ़ा जाता है—उस प्रेम से, जो इस जगत् का न होकर दिव्य लोक का है। बिना इस प्रेम को जाने कोई भी व्यक्ति सच्चा मानव नहीं हो सकता। मनुष्य प्रेम का अक्षुण्ण बहनेवाला निर्झर है। वह महाभाव-समूहों का पात्र होता है।

मनुष्य को जीवित होकर भी मृतक के समान रहना चाहिए। इस लक्षण के द्वारा सहजिया लोग मानव के एक अन्य वैशिष्ट्य की ओर संकेत करते हैं। साधना-साम्राज्य में सहजिया लोगों की यह दृढ़ मान्यता है कि पुरुष को अपनेको स्त्री समझ कर उपासना करनी चाहिए। इस विशिष्ट सिद्धांत का एक गूढ़ तात्पर्य है। इसका अभिप्राय है कि पुरुष को अपनी कामना तथा वासना को अपने कावू में रखना चाहिए और उसे यौन संबंध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए[1]। पुरुष के स्त्रीभाव धारण करने का यही आशय है सहजिया मत में। आकारतः वह पुरुष होता है परंतु वृत्तितः वह स्त्री होता है—कोमल प्रेम

---

१ शुद्धसत्त्व मानुष एई स्वभाव विनम्रति
स्त्रीमूर्ति आश्रित तार भजन पीरिति।
आपनारि नारी दिया आपनि सेवारि।
ताहा ते पुरुषत्व किवा जाति कुल दिया।
नाममात्र पुरुष तार आकार पाइआ॥

—रत्नसार

का आश्रय, जितेन्द्रियता का आदर्श तथा कामना से नितांत विरहित। 'सहज' मानुष इसीलिए तो नितांत विरल माना जाता है।

सहजिया मतानुसार परमात्मा अश्रांत आनंद का निर्झर है जहाँ से आनंद सदा झरता रहता है। वह माधुर्य तथा सौंदर्य का निकेतन है। भगवान् प्रेम के निधान हैं तथा उनका प्रेम सार्वभौम होता है। संसार में छोटा से छोटा भी जीव उनके प्रेम से वंचित नहीं रहता। श्रीराधाकृष्ण ही इन वैष्णवों के परमाराध्य देवता हैं। इसमें श्रीकृष्ण हैं पुरुष तथा राधा हैं प्रकृति। इन दोनों में संबंध है आश्रयाश्रयीभाव का। कृष्ण हैं आश्रयी तथा राधा हैं आश्रय। चैतन्य-चरितामृत में राधा पूर्ण शक्ति तथा कृष्ण शक्तिमान् माने गये हैं। ये दोनों तत्त्व आपस में ऐसे संबद्ध हैं जैसे कस्तूरी और उसका गंध, अर्थात् जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। सहजिया ग्रंथों में कृष्ण 'काम' तथा राधा 'मदन' के अभिधान से भी अभिहित किये जाते हैं। कुसुमसायक काम अपने कोमल बाणों के द्वारा प्राणियों के स्नेह का संचार जिस प्रकार करता है उसी प्रकार कृष्ण भी अपनी ललित चेष्टाओं के द्वारा मनुष्यों के हृदय में नाना भावों को उत्पन्न करते हैं। मदनरूपिणी राधा श्रीकृष्ण के लिए सदा व्याकुल रहती हैं। शक्ति के समान वह शक्तिमान् को छोड़ कर एक क्षण के लिए भी स्वतंत्र रूप से टिक नहीं सकतीं।

विशुद्ध प्रेम की भावना सिद्ध करने पर ही साधक उस भावजगत् में प्रवेश कर लेता है जहाँ वह अपने इष्टदेव के साथ तादात्म्य का अनुभव करता हुआ पूर्ण आनंद में प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः सहजिया मार्ग रागमार्ग है, वैराग्यमात्र नहीं।

यह रसमार्ग है, काममार्ग नहीं। यहाँ काम के दबाने की आवश्य-कता नहीं है, प्रत्युत उसके शोधन की। विशोधित काम ही मानव को दैवी सत्ता प्रदान करने में समर्थ होता है।

(३)

साधना-पद्धति

सहजिया पंथ साधना की दृष्टि से तांत्रिक पंथ है। ये लोग दक्षिण मार्ग की अपेक्षा वाममार्ग के पक्षपाती हैं। उनके मंत-व्यानुसार दक्षिण मार्ग में वैदिक विधिविधानों पर आग्रह है और इसीलिए यह मार्ग वैधी भक्ति के अंतर्गत आता है। परंतु सहजिया लोग रागानुगा भक्ति के अनुयायी होने से वाममार्ग के ही पक्षपाती हैं।

तांत्रिकों के अनुसार ये लोग भी मानव देह में सप्त 'सरोवर' तथा तदवस्थित 'कमलों' की कल्पना करते हैं। तांत्रिक 'चक्र' तथा सहजिया 'सरोवर' की परस्पर तुलना करने पर इस मार्ग की नवीनता का पता चलता है। सबसे नीचे मूलाधार में स्थित 'सरोवर' घोर सरोवर के नाम से विख्यात है जिसमें द्विदल कमल खिलता है। इसके ऊपर नाम के प्रदेश में दो सरोवर होते हैं—नाभि सरोवर तथा पृथु सरोवर जिनमें प्रथम में जड़ कमल रहता है और दूसरे में षट्दल कमल। उदर में शतदल कमल से संपन्न मानसरोवर की सत्ता स्वीकृत की गई है। वक्षःस्थल में अष्टदल कमल वाला क्षीर सरोवर, कण्ठ में चतुर्दल कमल वाला कण्ठ सरोवर तथा शिरके ऊपर सहस्रदल कमल वाले अक्षय सरोवर का अस्तित्व माना जाता है। इन सरोवरों की

तुलना तांत्रिक चक्रों के साथ करने पर अनेकत्र भिन्नता दृष्टि-गोचर होती है। नाभि-प्रदेश में दो सरोवरों की कल्पना, उदर-प्रदेश में नवीन सरोवर की स्थिति तथा भ्रूमध्यस्थित आज्ञा चक्र के स्थानपर किसी सरोवर का एकदम अभाव स्पष्ट ही लक्षित हो रहा है। कमलों के दलों की संख्या में तो पर्याप्त भेद है। चंडीदास ने सहजिया होने पर भी तांत्रिक चक्रों का ही अनुगमन अपने रागात्मक पदों में किया है। इस 'सप्तसरोवर' वाली कल्पना का विशद वर्णन 'निगूढ़ार्थ प्रकाशावली' में किया गया है।

नाडियों के विषय में भी दोनों मतों में मत-वैषम्य है। तांत्रिकों की तीन नाडियाँ—इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना—में सुषुम्ना को ही प्राधान्य दिया जाता है, परंतु 'निगूढ़ार्थ प्रकाशावली' के अनुसार मानवशरीर में ३२ नाड़ियाँ मुख्य हैं जिनमें चार नाडियाँ सर्वतोभावेन महत्त्वशालिनी हैं। अरुणवर्ण नाड़ी मूत्रनाड़ी है जिससे पशुलोग अपना जन्म ग्रहण करते हैं। 'गर्भोदकशायी' नाड़ी मन की नाड़ी है जिससे स्वकीया उपासक लोग उत्पन्न होते हैं। 'क्षीरोदशायी' नाड़ी सब नाड़ियों में श्रेष्ठ तथा उत्तम है और यहीं से कृष्ण के भक्त लोगों की उत्पत्ति होती है। और अंतिम सर्वोत्तम नाड़ी-चंद्रशायी नाड़ी-से सहजिया भक्तों का जन्म हुआ करता है[१]। इस प्रकार सहजिया लोग नाड़ियों तथा सरोवरों की उपादेयता अपनी रसमयी साधना पद्धति में विशेष रूप से मानते हैं।

सहजिया साधना में माधुर्य-भाव की एकमात्र उपासना है। गौडीय वैष्णव गण मानवों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार सख्य, दास्य तथा वात्सल्य भावों को भी उपासना में उपादेय

---

१ बोस—पोस्टचैतन्य सहजिया कल्ट पृ० १२५–१३०

मानते हैं तथा किसी किसी भाग्यशाली योग्यतम साधक के लिए माधुर्य भाव की उपासना का भी निर्देश करते हैं, परंतु सहजिया वैष्णवों में केवल एक ही भाव की उपासना मान्य तथा ग्राह्य है और वह है माधुर्य भाव की। इस उपासना में साधक भगवान् को पुरुष मानता है और अपने को स्त्री। पतिपत्नी भाव को आध्यात्मिक भाव-जगत में प्रतिष्ठित करनेवाली यही उपासना 'माधुर्य-भाव' के नाम से प्रसिद्ध है। सहजिया लोग इसी भाव के उपासक अवश्य हैं, परंतु वे ही इस भाव के आद्य प्रतिष्ठापक नहीं हैं। इस भाव का प्रतिष्ठापक स्वयं श्रीमद्भागवत ही है जिसने गोपियों के प्रेम को सर्वश्रेष्ठ, विशुद्ध, कामनाविरहित तथा स्वार्थविहीन बतलाया है। उद्धव जैसे ज्ञानी भक्त को भी गोपियों की विशुद्ध भक्तिभावनाके सामने श्रद्धासे अपना मस्तक नत करना पड़ा था और वे भी व्रज की लताओं में जन्म ग्रहण के इच्छुक इसीलिए थे कि गोपियों के पादरज के कण उनके देह पर पड़ उन्हें विशुद्ध कर देंगे। नारदजी ने इसीलिए गोपिकाओं को आदर्श भक्तों की श्रेणी में रखा है। साधक जब अपने को गोपीस्थानीय मानकर प्रियतमस्थानीय श्री कृष्ण की उपासना एकनिष्ठ चित्त से करता है, तभी माधुर्य-भावमयी उपासना का जन्म होता है।

भक्ति संप्रदाय के इतिहास में सहजिया लोगों तथा गौडीय भक्तों से भी पहिले आळवार भक्तों की उपासना में माधुर्य भाव को स्थान दिया गया हम पाते हैं। नम्म आलवार ने उपास्य-देव के मिलन को 'आध्यात्मिक सहवास' की संज्ञा दी है और इसके लिए माधुर्य भाव की ही प्रधानता दी है और प्रसिद्धि है कि इस भाव की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कभी कभी वे स्त्री का

भी वेष धारण कर लिया करते थे[1]। वे अपने पदों में इस आंतरिक भाव के प्रकाशन से भी पराङ्मुख नहीं हैं। वे कहते हैं—"विरहिणी अपने प्रियतम के प्रति संदेश भेजने की उत्सुकता में किसी दूत को न पाकर हंस को ही भेजना चाहती है; परंतु ये दुष्ट पक्षी अपनी हंसिनी के साथ उड़ भागते हैं और उसके शब्दों को ध्यान तक में नहीं लाते। क्या उस नीलोत्पल देहधारी विष्णु के विस्तृत लोक में पहुँचने के लिए हम विरहिणियों के संदेशों का कोई अधिकार नहीं है[2]?" स्त्री आड़वार आंडाल की भक्ति तो निःसंदेह गोपीभाव की थी। वह इस भाव में इतनी पग जाती थी कि उसने अपने गाँव को ही गोकुल मान लिया था; वहाँ की लड़कियों को गोपियाँ, भगवान् के मंदिर को नंद का घर, मूर्ति को श्री कृष्ण का विग्रह मानकर प्रेम-विह्वल हो जाती थी। अंडाल अपनी रचनाओं के पाँचवें दशक में एक विरहिणी की भाँति प्रियतम के पास अपने संदेश को ले जाने के लिए कोयल से आग्रह करती है।

फलतः माधुर्य भाव की उपासना प्राचीनकाल से इस भारतवर्ष में प्रचलित थी। सहजिया लोगों ने इस उपासना को खूब ही महत्त्व दिया। इसकी पूर्णता के निमित्त वे लोग परकीया के माध्यम द्वारा प्रेम साधना में व्यावहारिक रूप से अग्रसर रहते थे। गौडीय वैष्णवों के यहाँ परकीया-तत्त्व सिद्धांतरूपेण स्थापित होने पर भी केवल एक वादमात्र था, परंतु सहजिया लोगों ने इसे अपनी साधना का प्रधान पीठ-स्थल बनाया था और इसको अपने व्यावहारिक जीवन में

---

१ चतुर्थ प्राच्यसम्मेलन प्रयाग का कार्यविवरण, १९२६।

२ हूपर—हिम्स आफ दी आड्वार्स पृ० ६६।

भी वे प्रयोग करते थे। परकीया तत्त्व वैष्णवशास्त्र का एक निगूढ़ गुरु-मुखैकगम्य सिद्धांत है[1]। यहाँ केवल स्थूल बातों के वर्णन से ही हमें संतोष करना होगा।

परकीयातत्त्व

परकीया के दो पक्ष हैं—समाजपक्ष तथा अध्यात्मपक्ष। सामाजिक दृष्टि से परकीया नितांत गर्हणीय तथा त्याज्य सिद्धांत है, परंतु आत्म-साधना की दृष्टि से वह एकांत उपादेय तथा ग्रहणीय आदर्श है। उज्ज्वल नीलमणि के शब्दों में परकीयादि विषयों की जो निंदा शास्त्रों में दृष्टिगोचर होती है, वह लौकिक नायक को ही दृष्टि में रखकर की गयी है, परंतु रस के आस्वादन के निमित्त अवतीर्ण लीला धारण करनेवाले अलौकिक नायकभूत कृष्ण के विषय में वह निंद्य न होकर ग्राह्य है[2]। मानव को आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने के लिए अपनी काम-वासना के परिशोधन की नितांत आवश्यकता होती है। काम स्वतः एक पुरुषार्थ है जिसकी उपयोगिता का परिचय मानव-समाज के कल्याण के लिए सब किसी को है। परंतु स्वार्थभावना से युक्त यह काम काल-सर्प के समान मनुष्य को सदा डसा करता है

---

१ इस विषय के विस्तृत वर्णन के लिए देखिए
बोस—पोस्टचैतन्य सहजिया कल्ट पृ० २६–६६।

२ बहु वार्यते यतः खलु, यत्र प्रच्छन्नकामुका।
या च मिथो दुर्लभता सा मन्मथस्य परमा रतिः॥
लघुत्वमत्र यत् प्रोक्तं तत्तु प्राकृत—नायके।
न कृष्णे रसनिर्यास—स्वादार्थमवतारिणि॥
—१।१५,१६।

और मनुष्य इसके बुरे प्रभावों से बचने के लिए कथमपि कृत-कार्य नहीं होता। इस 'काम' वृत्ति के विषदंश को दूर करने के लिए अध्यात्म-पथ में दो उपाय मान्य माने जाते हैं। निवृत्ति-प्रधान आचार्य लोग काम-वृत्ति के दबाने का उपदेश देते हैं, परंतु दुर्बल मानव काम की कारा में निबद्ध एक लाचार जीव है और वह अपनी नैसर्गिक वृत्तियों के दबाने में, अपनयन में, कथमपि समर्थ नहीं होता। इसीलिए सहजिया लोगों ने दूसरे मार्ग को अपनाया है। वे स्त्रियों को छोड़ देने की शिक्षा नहीं देते, अपितु उनके संग में ऐसी कतिपय क्रियाओं तथा अनुष्ठानों का आश्रय लेते हैं जिससे साधक का मन इस प्रलोभन के द्वारा कथमपि आकृष्ट तथा आसक्त न हो सके। "साधक का प्रथम कर्तव्य स्त्रियों की संगति में रति की साधना है जिसके द्वारा उसके विकार स्वतः दूर हो जाते हैं। नियमन से उसकी उच्छृंखल अभिलाषायें विघटित हो जाती हैं और स्वार्थ-परायण वृत्ति के स्थान पर विशुद्ध प्रेम-रति का उदय होता है[1]।" इसी प्रेम-साधना की पूर्णता के लिए ही सहजिया मत में परकीया की उपादेयता अंगीकृत की गई है।

स्वकीया की अपेक्षा परकीया में उदात्त प्रेम के संचार का साधन विशेष-रूप से निवास करता है। सहजिया साधकों की मान्य धारणा के अनुसार प्रेम के द्वारा ही आध्यात्मिक मुक्ति की

१　प्रथम साधन रति संभोग शृंगार।
　साधिबे संभोग रति पालिबे विकार॥
　जीव रति दूरे याबे करिले साधन।
　तार पर प्रेमरति करि निवेदन॥
　　　　　　　　—अमृत रत्नावली, पृ० ६–७।

उपलब्धि हो सकती है और इसीलिए अपने हृदय में प्रेम के संचरण करने की नितांत आवश्यकता है। इसी 'प्रेम के प्रथम प्रभात' के निमित्त परकीया का आश्रयण समुचित माना जाता है। रति, प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग तथा महाभाव—प्रेम साधना का यही अष्टांगिक मार्ग है[१] जिससे होकर प्रत्येक साधक को जाना पड़ता है। इसमें आदर्श तो है महाभाव की प्राप्ति, परंतु इसका निदान 'रति' ही है और इसी रति के उदय के निमित्त इस विशिष्ट मार्ग का अवलंबन न्याय्य माना जाता है।

सहजिया शास्त्र का उपदेश है कि साधक को स्वयं स्त्री भाव से ही भगवान् की आराधना करनी चाहिए। माधुर्य-भाव का साधन साधना-साम्राज्य में मुक्ति-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। पुरुष को बिना प्रकृति हुए प्रेमतत्त्व की उपलब्धि नहीं होती। और इस प्रकृतिभाव को पाने के लिए साधक को परकीया की संगति नितांत उचित है[२]। स्त्री-संगति के अभाव में स्त्रीभावापत्ति की पूर्णता कहाँ से उत्पन्न हो सकती है ?

विरह के ताप में संतप्त होने पर ही साधक की चित्तवृत्ति विशुद्ध होती है, क्योंकि उनकी वासनाओं का कालुष्य जलकर अंतर्हित हो जाता है और हृदय खरे सोने के समान चमकने लगता है। संयोग से तृप्त मानव हृदय में संतोष की भावना प्रेम के अतिरेक का अभाव ही उत्पन्न करती है, परंतु विरह से दग्ध विदग्ध हृदय में प्रेम की भावना संतत जागरूक रहती है। विरही

---

१ द्रष्टव्य भक्तिरसामृतसिंधु १।३–११ तथा
चैतन्य चरितामृत २।२३.।

२ प्रकृति आचार पुरुष वेभार। ये जना जानिते पारे।
—अमृतरसावली।

अपनी प्रियतमा को आगे-पीछे, यहाँ-वहाँ सर्वत्र समभावेन देखता हुआ जिस प्रेमाद्वैत का अनुभव करता है वह संयोगी के भाग्य में कहाँ ? रास में गोपियों की विरह की भावना की वृद्धि के लिए भगवान् शृंगार-शिरोमणि कृष्णके अंतर्धान का यही आध्यात्मिक तात्पर्य है (भागवत १०।२९) जिसे 'विवर्तविलास' में सहजिया: तथ्य की पुष्टि के निमित्त निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार रति की उदात्तता, प्रेम की पूर्णता, विरह की संपन्नता तथा काम की विशुद्धता के निमित्त रसमार्गी सहजिया लोगों ने अपनी विशिष्ट तांत्रिक साधना में 'परकीया'का आश्रय न्याय्य माना है। बौद्ध सहजयानियों के 'महामुद्रा' ग्रहण का भी यही रहस्य है।

परकीया के दो प्रकार माने जाते हैं—बाह्य तथा अंतर। 'बाह्य परकीया' प्रेमभाव के विकाश के लिए शारीरिक संपर्क में रखी जाती है और इसलिए वह गौण अथवा प्राकृत भी कही जाती है। मुख्य या **मर्म परकीया** की केवल मानसिक भावना करके ही साधक अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करता है। बाह्य परकीया की अष्टविध पूजा का वर्णन सहजिया ग्रंथों में विस्तार से उपलब्ध होता है। सहजिया लोगों का कहना है कि इस प्रकार की विधिवत् पूजा करने से सुषुम्ना नाडी के द्वारा क्रमशः शक्ति का उत्थान हो जाता है। मर्म परकीया में केवल परकीया की मानसिक भावना ही विद्यमान रहती है। इस भावना का फल साधक को प्रेमिका के रूप में परिणत करने में समर्थ होता है। इस प्रकार सहजिया लोगों की साधना में परकीया का आश्रयण एक विशिष्ट आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया जाता है। 'बाह्यपरकीया' की साधना से सूफी मत में निर्दिष्ट प्रेम-साधना का बड़ा ही घनिष्ठ साम्य है। बाउल लोग भी सहजिया के ही एक उपभेद माने जाते हैं, यद्यपि साधना प्रणाली में किंचित

अंतर भी उपलब्ध होता है। जहाँ सहजिया लोगों का प्रेम राधा और कृष्ण रूपी दो व्यक्तियों के स्वरूपाश्रित प्रेम की अपेक्षा रखता था, वहाँ बाउलों का प्रेम 'मनेर मानुस' के प्रति ही रहता है अर्थात् वह अपना प्रेम प्रत्येक व्यक्ति के भीतर वर्तमान किसी अलौकिक प्रेमपात्र के प्रति ही प्रदर्शित करता है[1]।

ऊपर वर्णित बौद्ध सहजयान के सिद्धांतों के साथ सहजिया वैष्णवों के सिद्धांतों का साम्य बहुत घनिष्ठ है। प्रसिद्ध सहजिया वैष्णव चण्डीदास की आराध्य 'बाशुली' देवी वज्रयानियों की 'वज्रवात्वीश्वरी' का ही रूपांतर मानी जाती है। यह प्रसिद्ध है कि चैतन्य मत की सार्वजनिक उन्नति के समय में बौद्धधर्म की भिक्षु तथा भिक्षुणी 'नेडा-नेडी' के रूप में वैष्णव समाज में गृहीत कर ली गई और इस प्रसंग में नित्यानंद महाप्रभु के पुत्र वीरभद्र के प्रयत्न की महती प्रशंसा सुनी जाती है जिन्होंने 'नेड़ा नेड़ी' लोगों का उद्धार किया था। यह सहजिया मत गौडीय वैष्णव धर्म के उदय से भी प्राचीन है और चैतन्य तथा उनके पीछे भी उनके सिद्धांतो से प्रभावित हुआ है। यह आज कल भी विद्यमान है। वैष्णव सहजिया के अतिरिक्त बंगाल प्रांत के आउल-बाउल, साईं, दरवेश और कर्ताभजा भी कुछ ऐसे संप्रदाय हैं जो प्रायः 'सहजिया' कहलाते हैं। सहजिया लोगों के वैष्णव साहित्य के भी अनेक सिद्धांत-प्रतिपादक ग्रंथ हैं जिसे संप्रदाय वाले गुप्त ही रखते हैं। तथापि कतिपय ग्रंथ प्रकाशित भी किये गये हैं जिनमें अकिंचनदासका 'विवर्त विलास', गौरीदास का 'निगूढार्थ

---

१ ऊपर के उद्धरण बोस के पोस्ट-चैतन्य सहजिया कल्ट (कलकत्ता-विश्वविद्यालय, १६३०) ग्रन्थ से लिये गये हैं।

२

चैतन्यमत

समस्त बंगाल तथा उड़िसा को भक्तिरस से आप्लावित करनेवाले महाप्रभु चैतन्य के धार्मिक सिद्धांतों का तथा आध्यात्मिक तथ्यों का शास्त्रीय विवेचन वृंदावन की पवित्र तीर्थस्थली में संपन्न हुआ था। चैतन्यमत माध्वमत की ही गौडीय शाखा है, परंतु दोनों के दार्शनिक सिद्धांतों में पर्याप्त अंतर है। माध्वमत द्वैतवाद का पक्षपाती है, चैतन्यमत अचिंत्य-भेदाभेद-सिद्धांत का अनुयायी है। निंबार्कमत के अनंतर यह दूसरा वैष्णव संप्रदाय है जो वृंदावन से श्लाघनीय संबंध रखता है। चैतन्य बंगाल के ही निवासी थे, । परंतु उनके अनुयायी गोस्वामियों ने वृंदावन को ही अपनी उपासना तथा शास्त्र-चिंतन का निकेतन बनाया। इस परिच्छेद में चैतन्य संप्रदाय, उत्कलीन वैष्णव धर्म तथा असम प्रांत में पनपने वाले महापुरुषधर्म का प्रामाणिक, परतु संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है।

माधवेंद्रपुरी

माध्वमतानुयायी आचार्यों में (१६) माधवेन्द्रपुरी ही प्रथम आचार्य हैं जिनका नाम बंगाल के वैष्णव ग्रंथों में बड़े आदर तथा सम्मान के साथ उल्लिखित किया गया है। इनका जन्म १४५७ वि० (१४०० ईस्वी) के आसपास हुआ था और ये अपनी भक्ति तथा निष्ठा के कारण 'भक्तिचंद्रोदय' की उपाधि से सम्मानित किये गये थे। 'चैतन्य चरितामृत' में उल्लिखित एक घटना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये बंगाली थे। कहा जाता है कि माधवेंद्रपुरी ने वृंदावन में गोपाल की मूर्ति की स्थापना की और इसकी पूजा

के निमित्त उन्होंने बंगाल से दो ब्राह्मणों को बुलवाया। 'चैतन्य चरितामृत' का यह उल्लेख महत्त्व का है। बंगाल वैदिक कर्म-कांड का स्थान कभी भी नहीं माना जाता था, विशेषतः अन्य प्रांत वासियों की दृष्टि में। ऐसी दशा में बंगाल से ब्राह्मणों को पूजा के निमित्त बुलाना स्पष्टतः बुलानेवाले के बंगाल का पक्षपाती होना बतला रहा है। माधवेंद्रपुरी ही गौडीय वैष्णव संप्रदाय के आद्य आचार्य के रूप में गृहीत किये जाते हैं, क्योंकि इन्हींके पट्टशिष्य ईश्वरपुरी के शिष्य महाप्रभु चैतन्य थे जिन्होंने अपने भजनों तथा कीर्तनों से बंगाल में ही नहीं, प्रत्युत समस्त उत्तरी भारत में, विशेषतः व्रजमंडल में, कृष्ण-भक्ति की विमल सरिता बहाई।

माधवेंद्रपुरी उच्चकोटि के विष्णु-भक्त थे, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। वे घनश्याम के इतने बड़े भक्त थे कि बंगाल की श्याम-प्रस्तर की बनी कृष्ण मूर्तियों को देखकर वे ध्यान-मग्न हो जाया करते थे। उनके जीवनचरित के विषय में 'चैतन्य चरितामृत' में दो विशिष्ट घटनाओं का निर्देश किया गया है। पहिली घटना गोपाल की मूर्ति की प्राप्ति के विषय में है। माधवेंद्रजी उन वैष्णवों में थे जिन्होंने वृंदावन को अपनी उपासना का प्रधान स्थल बनाया। श्रीचैतन्य के उद्योग तथा उपदेश से वृंदावन वैष्णवों का अखाड़ा कैसे बना, इसका वर्णन आगे किया जायगा। चैतन्यपूर्व युग के वैष्णवों में माधवेंद्रपुरी ने वृंदावन की आध्यात्मिक महिमा जागृत करने में अश्रांत परिश्रम किया।

सुनते हैं कि माधवेंद्र जी एक बार अन्नकूट पर्वत के पास बैठ कर श्रीकृष्ण के ध्यान में निमग्न थे। उन्हें अपने शरीर की

सुध न थी, भोजन की भी स्पृहा न थी। वे निराहार तथा निर्जल बैठे हुए भगवान् के ध्यान में निरत थे। उनका नियम था अयाचित भिक्षा; विना माँगे हुए जो भिक्षा मिल जाय उसी से उदर-पूर्ति करना। इतने में एक श्यामल बालक आया और उसने फल और दूध भोजन करने के लिए दिया[१]। माधवेंद्र जी ने उन द्रव्यों को ग्रहण कर भोजन किया और उनके आश्चर्य की सीमा न रही जब रात के समय सपने में वही बालक दिखलाई पड़ा और उनसे कहने लगा—'माधव, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में इतने दिनों तक भूगर्भ के भीतर पड़ा हुआ हूँ। तुम मेरे विशेष प्रेमी हो, परंतु तुम नहीं जानते कि मुसलमानों के डर से एक ब्राह्मण ने मुझे इस जंगल के भीतर तालाब में डाल दिया था। तालाब मिट्टी से भर गया है और मैं उसी के भीतर गड़ा हुआ अपना दिन गिन रहा हूँ। खोद कर मुझे निकालो और प्रतिष्ठित करो'। माधवेंद्र जी आनंद से गद्गद हो गए और आसपास के ग्रामनिवासियों के सहयोग से उन्होंने उस मूर्ति को खोद निकाला और उसकी विधिवत् प्रतिष्ठा तथा पूजा की व्यवस्था की। यही इनके आराध्य देवता थे—गोपाल जी।

इनके विषय में एक अन्य आख्यान भी प्रसिद्ध है। गोपाल जी ने माधवेंद्रपुरी को स्वप्न दिया कि उड़ीसा जाकर वहाँ का सुगंधित चंदन लाइए। ये उड़ीसे के रेमुना नामक स्थान पर गये।

---

१ बालक कहे गोप आमि एइ ग्रामे वसि।
आमार ग्रामेते केह ना रहे उपवासी॥
केह अन्न मागि खाय केह दुग्धाहार।
अयाचक जने आमि दिये आहार॥
—चैतन्य चरितामृत, मध्य खण्ड, अ० ४।

वहाँ गोपीनाथ जी की विशिष्ट पूजा होती और उन्हें खीर का भोग लगाया जाता था। माधवेंद्र ने खीर बनाने की कला सीख कर अपने गोपाल जी को भोग लगाना चाहा, परंतु पंडों के कारण उनकी इच्छा-पूर्ति नहीं हुई। तब स्वयं गोपीनाथ जी ने अपने वस्त्र में थोड़ा सा खीर चुरा कर रख लिया और पंडों को इसका सपना दिया। माधवद्र जी को उन्होंने खोज निकाला और उन्हें खीर का प्रसाद दिया। इस प्रकार भक्तवर माधवेंद्र के लिए गोपीनाथ ने 'खीर चोर' बनना स्वीकार किया!

ईश्वरपुरी

आचार्य ईश्वरपुरी का वर्णन 'प्रेमविलास' आदि अनेक वैष्णव ग्रंथों में दिया गया है। इनका जन्म १४३६ ई० में हुआ था। इनके पिता श्यामसुंदरजी राढ़ी ब्राह्मण थे तथा कुमारहट्ट के आचार्य थे। इन्होंने वेदशास्त्र का यथावत् अध्ययन किया था और माधवेंद्रपुरी के द्वारा वैष्णव धर्म में दीक्षित होकर प्रसिद्ध भक्त हुए। इन्हीं के प्रभाव में आकर चैतन्य महाप्रभु के ऊपर भक्ति का इतना रंग चढ़ा। चैतन्य के जीवन में युगांतरकारिणी घटना है—उनकी गया-यात्रा। इस यात्रा से पहिले ही उनका चित्त संसार के मायिक प्रपंचों से हटकर भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविंदों में निमग्न होने लगा था। उन्होंने कुमारहट्ट जाकर ईश्वरपुरी का दर्शन किया तथा अपने साथ वहाँ की मिट्टी बाँध कर लाये। उन्होंने कहा था—

प्रभु कहे ईश्वर पुरीर जन्मस्थान।
ए मृत्तिका आमार जीवन धन प्राण॥

—(चैतन्य भागवत)

गया जी में भी चैतन्य को ईश्वरपुरी का दर्शन हुआ और उन्होंने इस भक्तवर के दर्शन से अपनी यात्रा सफल मानी। इस प्रकार ईश्वरपुरी की निष्ठा तथा उपदेश का प्रभाव चैतन्य के जीवन में पूर्णतः प्रतिफलित हुआ।

केशव भारती

परंतु चैतन्य को संन्यास की दीक्षा देनेवाले आचार्य इनसे भिन्न थे और उनका नाम केशव भारती था। दीक्षा लेने से पहिले इनका नाम कालिनाथ आचार्य था और ये नवद्वीप में कुलिया गाँव के निवासी थे। ये भी माधवेंद्रपुरी के ही शिष्य थे और काटवा गाँव में अधिकतर रहते थे। यहीं पर चैतन्य का संन्यास हुआ था। इस प्रकार चैतन्य महाप्रभु को वैष्णव धर्म में दीक्षित करने का श्रेय इन्हीं दोनों आचार्यों को है। ईश्वरपुरी चैतन्य के दीक्षा-गुरु थे जिन्होंने उन्हें वैष्णव मत में दीक्षित किया और केशव भारती उनके संन्यास-गुरु थे जिन्होंने उन्हें संन्यास मार्ग में दीक्षित किया। चैतन्य महाप्रभु ने अपने भजन, कीर्तन तथा प्रेम-विह्वल चरित्र से जिस वैष्णव धर्म की सरिता बंगाल में बहाई उसका नाम है—गौडीय वैष्णव धर्म या चैतन्य मत। इस प्रकार यह मत माध्व मत की ही एक प्रमुख शाखा है। उत्पन्न हुआ यह बंगाल में परंतु इसका व्यापक प्रभाव पड़ा व्रज-मण्डल पर।

(१) महाप्रभु चैतन्य

समग्र उत्तरी भारत को, विशेषतः बंगाल को भक्ति से आप्लावित करने का श्रेय महाप्रभु चैतन्य को है। आप थे भक्तिरस की जीवित-मूर्ति, उदात्त मधुर-भाव का जाज्वल्यमान प्रतीक। नदिया के एक पवित्र ब्राह्मणकुल में आपका जन्म सं० १५४२ (१४८५ ई०) में हुआ था। बालकाल का नाम था विश्वंभर मिश्र।

नदिया के प्रख्यात पंडित गंगादास से आपने विद्याध्ययन किया था। बुद्धि बड़ी तीव्र थी। आपने समस्त शास्त्रों में, विशेषतः तर्कशास्त्र में बड़ी विचक्षणता प्राप्त की थी। दुर्दांत पंडितों को शास्त्रार्थ में हराया भी था। अपनी पाठशाला खोलकर छात्रों को विद्याभ्यास भी कराते थे। इनके जीवन-प्रवाह को बदलने वाली घटना है इनकी गया यात्रा। वि० सं० १५४६ (=१५०७ ई०) में अपने पिता के श्राद्ध करने के लिए ये गया धाम गए और वहाँ ईश्वरपुरी से साक्षात्कार हुआ। पुरी जी से इनकी भेंट पहिले ही हो चुकी थी। वे उनकी भक्तिभावना तथा वैराग्य के नितांत पक्ष- पाती थे, परंतु इस गयायात्रा ने विश्वंभर को प्रपंच से हटाकर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना की ओर स्वतः अग्रसर किया। पुरी जी इनकी वैष्णव दीक्षा के गुरु हुए। वि० सं० १५६६ = (१५०८ ई०) में इन्होंने पुरी जी के गुरुभाई केशव भारती से संन्यास दीक्षा ग्रहण की। और तभी से वे कृष्ण चैतन्य के नाम से विख्यात हुए। वृद्धा माता तथा तरुणपत्नी के स्नेह तथा ममत्व को तिलांजलि देकर चैतन्य भगवान् की भक्ति के प्रचार में जुट गए।

इन्होंने भारतवर्ष के विख्यात तीर्थों की यात्रा की। इन्होंने वि० सं० १५५७—५८=(१५१०—११ ई०) में दक्षिण भारत की यात्रा की तथा वहाँ के प्रसिद्ध तीर्थों का दर्शन करते हुए भक्ति प्रचार किया। इसी समय इनकी दृष्टि वृंदावन के उद्धार की ओर झुकी और इन्होंने अपने सहपाठी लोकनाथ गोस्वामी को इस पवित्र कार्य के लिए भेजा। ये स्वयं भी काशी, प्रयाग होते हुए वृंदावन गये और कुछ महीनों तक वहाँ भी निवास किया, परंतु इनकी लीला-स्थली बनी जगन्नाथ पुरी जहाँ रथयात्रा के अवसर पर दर्शन के लिए बंगाल से भक्तों की अपार भीड़ जुटती थी।

भजन और संकीर्तन को इन्होंने भक्ति के प्रचार का सर्वसुलभ साधन बनाया। वैष्णवधर्म के प्रचार में इन्हें नित्यानंद से खूब सहायता मिली। सच तो यह है कि बंगाल में कृष्ण-भक्ति के प्रचार का श्रेय निमाई (चैतन्य) तथा निताई (नित्यानंद) दोनों महापुरुषों को है। इनकी कीर्ति इनके जीवित-काल में ही खूब फैली। उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्रदेव (राज्यकाल १५०३=१५३० ई०) तथा उनके विद्वान् मंत्री राय रामानंद इनके पट्ट शिष्य बन गये। बंगाल के नवाब के अधिकारी होने पर भी रूप और सनातन ने इनकी शिष्यता स्वीकार की और इन लोगों ने इनही के उपदेश से वृंदावन का उद्धार किया। वहीं रहकर भक्ति-शास्त्र का प्रणयन ही नहीं किया; प्रत्युत भक्तों के सामने सच्चे भक्त का आदर्श उपस्थित किया। भक्त लोग इन्हें भगवान् श्री कृष्ण का अवतार मानते हैं। भक्तवर नाभाजी ने इनके विषय में बहुत ही ठीक लिखा है—

> गौड देश पाखंड मेटि कियो भजन परायन।
> करुणासिंधु कृतज्ञ भये अगनित गतिदायन।
> दशधा रस आक्रांति महत जन चरन उपासे।
> नाम लेत निहपाप दुरित तिहि नरके नासे।
> अवतार विदित पूरब मही, उभै महत देही परी।
> श्री नित्यानंद कृष्णचैतन्य की भक्ति दसो दिसि बिस्तरी॥
>
> —भक्तमाल, छप्पय नं० ७२

चैतन्य का भक्ति-आन्दोलन

भक्ति का उत्कृष्ट आदर्श श्री चैतन्यदेव ने स्वयं अपने जीवन में प्रदर्शित किया। भगवान् के नाम का संकीर्तन चैतन्य का अत्यंत लोकप्रिय आध्यात्मिक साधन था जिसके द्वारा जन साधा-

रण को अपने आंदोलन के प्रति आकृष्ट करने में सर्वथा कृतकार्य हुए। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व से आकृष्ट होकर तत्कालीन अनेक आदरणीय संतों तथा विद्वानों ने मिलकर उनके आंदोलन को अत्यंत लोकप्रिय बनाया तथा उनके भक्ति-संदेश को जनता के हृदय पर पहुँचाया। ऐसे संतों में दो मुख्य थे—अद्वैताचार्य तथा नित्यानंद। जब चैतन्यदेव जगन्नाथपुरी में नियमित रूप से निवास करने लगे, तब उन्होंने इन्हीं के ऊपर बंगाल में इस आंदोलन की देख-रेख का उत्तरदायित्व रखा। अद्वैत भक्त ही न थे, उस समय के महनीय शास्त्रवेत्ता भी थे। उन्होंने इस मत में दीक्षा देने का कार्य योग्य व्यक्तियों तक ही सीमित रखने पर आग्रह किया, परंतु नित्यानंद ने सब किसी के लिए भक्ति का द्वार खोल दिया। इनके पुत्र वीरभद्र ने तो बंगाल के बौद्धधर्म के अवशिष्ट अनुयायियों को भी, जो समाज में नितांत निम्न स्तर के थे, वैष्णव धर्म की दीक्षा देने का साहसपूर्ण कार्य कर दिखलाया। इस विषय में अद्वैताचार्य के द्वारा समर्थन न पाने पर भी नित्यानंद ने अपने असामान्य व्यक्तित्व के बल पर निम्नश्रेणी के लोगों को भी वैष्णवधर्म के अंतर्भुक्त करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। नित्यानंद के बारह शिष्यों ने भी, जो द्वादश गोपाल के नाम से विख्यात हैं, इस कार्य में गुरु की पर्याप्त सहायता दी और इस प्रकार यह पंथ धीरे धीरे बढ़ता हुआ समग्र बंगाल में व्याप्त हो गया।

चैतन्य के जीवित काल में ही बहुत से लोगों को उनके अवतार होने में विश्वास हो गया था। परंतु उनकी मूर्ति की पूजा सम्प्रदाय में कब आरंभ हुई? इसका निर्णय करना कठिन है। इस कार्य में वंशीदास और नरहरि सरकार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय माना जाता है। 'वंशी शिक्षा' के अनुसार वंशी-

दास ने चैतन्य की मूर्ति-पूजा का प्रचार किया। उन्होंने चैतन्य की धर्मपत्नी-श्रीविष्णुप्रिया देवी के लिये चैतन्य की काष्ठ-मूर्ति बनाई। और नरहरि सरकार ने चैतन्य के विषय में बहुत से पदों को बनाया तथा चैतन्य-पूजा के विधि विधानों को भी व्यवस्थित किया। चैतन्य के अनंतर तीन व्यक्तियों का इस धर्म के प्रचार में विशेष हाथ है—(१) श्रीनिवास आचार्य (२) श्री नरोत्तमदत्त, (३) श्यामानंद दास। इन व्यक्तियों ने चैतन्य-मत का प्रचार १७ वें शतक में विशेष रूप से प्रचार किया। श्यामानंद का कार्य उड़ीसा में चैतन्य-मत का प्रचार करना था परंतु अन्य दोनों आचार्यों ने बंगाल में इस मत का प्रचुर प्रसार किया।

परंतु चैतन्य मत का शास्त्रीय रूप, विधि-विधानों की व्यवस्था, भक्ति शास्त्र के सिद्धांतों का निर्णय बंगाल में न होकर सुदूर वृंदावन में विद्वान् गोस्वामियों के द्वारा किया गया। ये ही लोग चैतन्य मत के प्रतिष्ठा तथा सिद्धांतों की व्यवस्था में नितांत प्रयत्नशील तथा कृतकार्य थे। उनकी मान्यता इतनी अधिक थी कि जब तक इन लोगों की स्वीकृति नहीं मिल जाती, बंगाल में लिखे हुए किसी भी ग्रंथ को संप्रदाय की ओर से प्रामाणिकता नहीं मिलती थी। इसी कार्य का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

मथुरा वृंदावन के तीर्थोद्धार का महत्त्वपूर्ण कार्य के आरंभ करने का श्रेय माधवेंद्रपुरी को दिया जाना चाहिए क्योंकि वृंदावन में गोपाल की गड़ी मूर्ति को खोज निकालने तथा प्रतिष्ठित करनेका गौरव प्रथमतः उन्हीं को प्राप्त है। उसके अनंतर चैतन्यका काल आरंभ होता है। इन्होंने सर्वप्रथम इस कार्य को सुचारुरूप से चलाने के लिए अपने दो भक्तों को भेजा जिनके नाम हैं—(१) लोकनाथ गोस्वामी तथा (२) भूगर्भ आचार्य। कहना न होगा कि ये दोनों भक्त बंगाली थे और अनेक क्लेशों

को सहकर अपने महनीय कार्य में कृतकार्य हुए थे। लोकनाथ चैतन्य के सहाध्यायी थे, क्योंकि दोनों ही गंगादासपंडित के टोल में साथ साथ विद्याभ्यास करते थे। १६१० ई० में चैतन्य ने लोकनाथ को वृंदावन जाकर कृष्ण की लीला से संबद्ध स्थानों को खोज निकालने का आदेश दिया। अपने मित्र भूगर्भ आचार्य के साथ लोकनाथ मथुरा आये तथा अश्रांत परिश्रम कर प्राचीन स्थानों का उद्धार किया, परतु चैतन्य के लीलावलोकनसे वंचित रहने की पीड़ा इन्हें सदा क्लेश पहुँचाती थी[१]। चैतन्य का दर्शन इन्हे फिर मिला ही होगा। इन्होंने सुना कि चैतन्य दक्षिण भारत में यात्रा करने के लिए निकल पड़े हैं। ये भी मिलने की उत्सुकता से पराभूत होकर निकल पड़े। परंतु हताश होकर लौट आये। भेंट न हुई। वृंदावन भी तब पहुँचे जब चैतन्य वहाँ आकार चले गये थे। इस प्रकार चैतन्य के मिलने की आशा को अपने हृदय के कोने में लिए हुए ही यह भक्तवर वृंदावन की सेवा में डटा रहा और अंततः परमधाम में लीन हो गया।

(२) षट् गोस्वामी

चैतन्यमत के प्रधान थे स्वयं महाप्रभु चैतन्य, नित्यानंद और अद्वैताचार्य। इनसे उतर कर प्रामाणिकता मानी जाती है छः गोस्वामियों की (षट् गोस्वामी) जिनका कार्य इस मत के

---

१ आर न देखिब गोरा तोमार चरण
रहिलाम आज्ञामात्र करिया धारण।
भक्तगण संगे प्रभु ये करिला लीला
वंचित करिया मोरे हेथा पाठाइला॥
—प्रेमविलास

छोड़ने की आज्ञा माँगी। पर चैतन्य ने माता पिता के जीवित काल में संन्यास का नितान्त प्रतिषेध किया। ये काशी लौट आये और अपने जननी-जनक के देहावसान के अनंतर महाप्रभु की आज्ञा से गृहद्वार का त्यागकर वृंदावन पधारे। ये भागवत के बड़े भारी पंडित थे। इनका स्वर बड़ा कोमल था। ये रूप गोस्वामी की सभा में श्रीमद्भागवत की कथा कहते थे। भागवत के श्लोकों को इतने लय से कहते थे कि श्रोतागण मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। एक ही श्लोक को कई प्रकार से कहते थे। इस प्रकार साधुमण्डली में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के साथ भगवद्भजन करते हुए भट्ट जी ने अपना जीवन यापन किया।

(५) गोपाल भट्ट

ये श्रीरंगम् क्षेत्र के निवासी वेङ्कट भट्ट के पुत्र तथा श्री प्रबोधानंद सरस्वती के भतीजे थे। गोपाल भटट का जन्म १५०३ ई० में हुआ था। कुछ लोग कहते हैं कि चैतन्य महाप्रभु ने दक्षिण भारत में इनके पिता के घर में चातुर्मास्य बिताया था। इसका उल्लेख प्रामाणिक ग्रंथों में न होने से विद्वान् लोग इस पर आस्था नहीं रखते। कहा जाता है कि चैतन्य महाप्रभु ने पत्र लिखकर रूप-सनातन को आदेश किया था कि इन्हें अपना भाई समझना। महाप्रभुने इनके बैठनेके लिए अपना आसन और डोरी भेजी थी। ध्यान के समय प्रभुजी के इन प्रसादों को ग्रहण कर ये भजन किया करते थे। इनके उपास्य देव श्रीराधारमण जी थे। नाभादास जी ने इनकी विलक्षण भक्ति का परिचय देते हुए इस विचित्र घटना का उल्लेख किया है कि इनकी उत्कट इच्छा होते ही शालग्राम जी की मूर्ति में हाथ पैर निकल आये और वे मुरलीधारी राधारमण जी बन गये।

गोपाल भट्ट जी वैष्णव शास्त्रों के उत्कट विद्वान् थे। इन्हीं के विख्यात शिष्य थे—श्रीनिवासाचार्य जो पीछे बड़े भारी भक्त तथा विद्वान् हुए। सनातन गोस्वामी जी के 'हरिभक्ति विलास' का उपबृंहण गोपाल भट्ट ने ही किया था। इनके परलोकगमन के अनंतर इनके मंदिर के पुजारी तथा शिष्य श्रीगोपालनाथ दास उस गद्दी के अधिकारी हुए। इनके शिष्य श्रीगोपीनाथदास जी ने अपने छोटे भाई दामोदर दास जी को शिष्य बनाकर उनसे विवाह करने के लिए कहा। वर्तमान श्रीराधारमणजी के गोस्वामी-गण इन्हीं दामोदर दास जी के वंशज हैं। यह मंदिर अपनी समृद्धि तथा पूजा अर्चा के लिए वृंदावन में आज भी सुवि-ख्यात है।

(६) जीव गोस्वामी

ये रूप—सनातन के अनुज वल्लभ (या अनूप) के पुत्र थे। 'दुर्गम संगमनी' टीका के आरंभ में इन्होंने अपने पितृव्यों का निर्देश किया है—

> सनातनसमो यस्य ज्यायान् श्रीमान् सनातनः।
> श्रीवल्लभोऽनुजो योऽसौ श्रीरूपो जीवसद्गतिः॥

बाल्यकाल में ही पिता का देहांत हो गया था। अतः माता की देखरेख में इनकी शिक्षा हुई। अपने भक्त पितृव्यों की भक्ति तथा वैराग्य का उज्ज्वल आदर्श इनके सामने इतना जागरूक था कि कम उम्र में ही ये घरद्वार छोड़ कर परम विरक्त बन गए। काशी में मधुसूदन वाचस्पति से वेदांत-शास्त्र का पूर्ण अध्ययन किया। अनंतर वृंदावन में अपने चाचा लोगों की संगतिमें आकर रहने लगे। अपने समय के प्रकाण्ड पंडित के रूप में इनकी

ख्याति सर्वत्र व्याप्त थी। सुनते हैं कि इन्होंने आसाम के रूप-नारायण नामक किसी उद्धत संन्यासी को शास्त्रार्थ में परास्त कर उनका मद चूर्ण किया था, परंतु इनके पितृव्य सनातन जी इनसे इस वैष्णव-विरुद्ध कार्य से नितांत रुष्ट हुए थे, परंतु रूप गोस्वामी ने बड़ी युक्ति से इन्हें क्षमा प्रदान कराया था। अकबर के आग्रह करने पर ये एक दिन आगरे भी आये थे।

इन्होंने अपने पूज्य पितृव्यों के जीवन को अपने लिए आदर्श बनाया। भजन और भक्ति-ग्रंथ-प्रणयन ही इनके जीवनका महान् व्रत था। इनके ग्रंथ गौडीय वैष्णव संप्रदाय के सिद्धांतों के प्रकाश-स्तंभ हैं जिनमें इनकी दार्शनिक विद्वत्ता पाठकों को पद-पद पर आश्चर्यचकित करती है। इनके ग्रंथों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

(१) षट्संदर्भ—भक्ति-शास्त्र के मौलिक तत्त्वों का प्रति-पादक उत्कट कोटिका यह ग्रंथ है। भागवत विषयक छः प्रौढ निबंधों का यह उत्कृष्ट समुच्चय है। इसके ऊपर ग्रंथकार ने ही सर्वसंवादिनी नामक पांडित्यपूर्ण व्याख्या लिखी है।

(२) क्रमसंदर्भ—भागवत पुराण की पाण्डित्यपूर्ण टीका।

(३) दुर्गमसंगमनी—रूप गोस्वामी के 'भक्ति रसामृत-सिंधु' की टीका।

(४)—ब्रह्मसंहिता
(५)—कृष्णकर्णामृत } की टीकायें। चैतन्य महाप्रभु अपनी दक्षिणयात्रा में इन दोनों ग्रंथों को अपने साथ लाये थे। दक्षिण की पयोष्णी नदी के तीर पर मल्लहार नामक स्थान से वे ब्रह्मसंहिता लाये थे। यह अध्यात्म-परक ग्रंथ है। 'कृष्णकर्णामृत' बिल्वमंगल की कमनीय

रचना है जिसमें सरस शब्दों में कृष्ण की स्तुति गाई गई है। इन्हीं दोनों की टीका जीव गोस्वामी ने की है।

(६) हरिनामामृत व्याकरण—इसमें व्याकरण के पारिभाषिक शब्द कृष्ण के नामों से संबद्ध नये गढ़े गये हैं।

(७) कृष्णार्चन दीपिका - कृष्ण-पूजा की विधि विस्तार से लिखी गई है।

इनके अतिरिक्त इनकी अन्य रचनायें भी मिलती हैं। जीव गोस्वामी जी इन छहों गोस्वामियों में निःसंदेह प्रौढतम विद्वान थे। चैतन्यमत के इतिहास में इन षट् गोस्वामियों का वही स्थान और सम्मान है जो वल्लभमत में 'अष्टछाप' का। अंतर इतना ही है कि अष्टछाप के कवियों की रचनायें देश भाषा में ही है, गोस्वामियों की संस्कृत में। अष्टछाप में कवि-जनों की ही गणना है, पर गोस्वामियों में कवि तथा दार्शनिक दोनों की। परंतु प्रामाणिकता दोनों की एक समान है। इनमें एक ही कुटुंब के तीन गोस्वामी थे—रूप, सनातन तथा जीव तथा ये ही सर्वश्रेष्ठ माने जाते थे। इनका अलौकिक कार्य किस विवेचक को आश्चर्य में नहीं डालता?

कृष्णदास कविराज

इन गोस्वामियों के अतिरिक्त अनेक चैतन्यमतानुयायी विद्वान् भक्त वृंदावन में इस काल में निवास करते थे तथा अपने ग्रंथ तथा आचरण से भक्ति की प्रभा चारों ओर छिटकाते थे। ऐसे भक्तों में कृष्णदास कविराज की ख्याति सबसे अधिक है। ये बंगाल के बर्दवान जिले के निवासी थे। इनका जन्म १४९६ ई० में हुआ था। जाति से ये कायस्थ थे। इनके माता

पिता बाल्यकाल में ही मर गये—पिता का नाम था भागीरथ तथा माता का सुनन्दा देवी। श्यामादास नामक इनके भाई भी थे जिनके नास्तिक विचारों के कारण ये बड़े ही दुःखित रहते। बालकपन में घर छोड़कर वैरागी बन गये। वृंदावन में नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहकर भजन तथा ग्रंथ-रचना में जीवन बिताने लगे। इनके ग्रंथ अधिकतर संस्कृत में ही हैं—(१) गोविंद लीलामृत—कमनीय काव्य है जिसमें राधाकृष्ण की वृंदावन लीला का सुचारु वर्णन किया गया है। इसका बंगभाषा में अनुवाद यदुनंदनदास ने १६१० ई० में किया। (२) कृष्णकर्णामृत की टीका, (३) प्रेमरत्नावली, (४) वैष्णवाष्टक, (५) रागमाल आदि अन्य संस्कृत ग्रंथ भी उपलब्ध हैं।

परंतु इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है—चैतन्यचरितामृत जो इनकी विपुल उज्ज्वल कीर्ति का सर्वप्रधान आधारपीठ है। ग्रंथ बंगभाषा में है, परंतु उसमें व्रजभाषा का भी पर्याप्त मिश्रण है। इसी मिश्रित भाषा को 'व्रजबुली' (व्रजबोली) के नाम से पुकारते हैं। वैष्णव साहित्य का यह रत्न है। बंगला में इसको वही नाम और सम्मान प्राप्त है जो हिंदी में तुलसीदास के रामचरित-मानस को। जिस प्रकार तुलसीदास का ग्रंथ हिंदी जनता के लिए सकल शास्त्रों का सार तथा निःस्यन्द है, उसी प्रकार चैतन्य चरितामृत बंगाल की धार्मिक जनता के गले का हार है। है भी यह बड़ी प्रौढ़ रचना। सुगम भाषा में दुर्गम तत्त्वों का विशदीकरण इस ग्रंथरत्न की विशेषता है। कविराज महोदय की नितांत वृद्धावस्था की यह कृति है। ७६ वर्ष की अवस्था में भक्तों की प्रार्थना पर इन्होंने महाप्रभु चैतन्य की जीवन लीला लिखने का उपक्रम किया। पूरे सात वर्षों में

इसकी रचना की गई। १५०३ शाके (=१५८२ ई०) में ८६ वर्ष की उम्र में यह ग्रंथ समाप्त हुआ[1]।

इस ग्रंथ में चैतन्य के जीवन चरित का विस्तृत वर्णन है। ग्रंथ में तीन खंड हैं—(१) आदिलीला (१७ सर्ग) में चैतन्य के अवतार की पूर्वपीठिका तथा भक्तिमार्ग का मुख्यतः विवरण है। (२) मध्यलीला (२५ सर्ग) में चैतन्य के जन्म, लीला तथा यात्राओं का वर्णन है। प्रसंगतः उनके उपदेशों का बड़ा ही विशद विवेचन उपलब्ध होता है। (३). अंतलीला (२० सर्ग) में चैतन्य के अंतिम जीवन की घटनायें वर्णित हैं। साथ ही साथ उनके कीर्तनों की प्रक्रिया तथा तज्जन्य दिव्योन्माद का कमनीय वर्णन है। इस प्रकार यह ग्रंथ काव्य तथा शास्त्र दोनों की दृष्टि से उपादेय है। चैतन्य चरित का विस्तृत वर्णन तो है ही, साथ ही साथ वैष्णव मत के दार्शनिक रहस्यों का विशद तथा सांगोपांग विवेचन है। ग्रंथकार के समकालीन नित्यानंददास के विख्यात ग्रंथ प्रेमविलास में इनके अवसान की विचित्र घटना उल्लिखित है। कविराज जी ने जब सुना कि उनके ग्रंथ की एकमात्र हस्तलिखित प्रति को डाकुओं ने लूट लिया, तब उनकी मृत्यु उसी समय हो गई। यह घटना १५९८ ई० की है। अतः इनकी मृत्यु पूरे १०२ वर्ष में हुई थी।

इस प्रकार १६ वीं शताब्दी में वृंदावन चैतन्य मत के प्रचार तथा प्रसार का केंद्रबिंदु था। चैतन्य मतानुयायी गौडीय वैष्णवों के सिद्धांत का परिष्कार यहीं किया गया। छहों-गोस्वामियों ने यहीं रहकर अपने संप्रदाय के सिद्धांतों तथा

---

१ शाकेऽग्निबिन्दुबाणेन्दौ ज्येष्ठे वृन्दावनान्तरे।
सूर्याहे ह्यसितपञ्चम्यां ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः ॥

आचारों का पर्याप्त रूपेण उपबृंहण किया। वर्तमान वृंदावन इन गौडीय वैष्णवों की घोर तपस्या, अश्रांत अध्यवसाय, दृढ भगवन्निष्ठा तथा व्यापक प्रभाव का जाज्वल्यमान प्रतिनिधि है।

(३)

दार्शनिक सिद्धांत

माध्वमत की शाखा होने पर भी चैतन्यमत का दार्शनिक दृष्टिकोण सर्वथा स्वतंत्र तथा पृथक् है। माध्वमत की मूल दृष्टि द्वैतवाद की है जिससे भिन्न चैतन्य मत का नाम है—अचिन्त्य भेदाभेद। भगवान् श्रीकृष्ण ही परमतत्त्व हैं। उनकी अनंत शक्तियाँ हैं। शक्ति और शक्तिमान् में न तो परस्पर भेद ही सिद्ध होता है और न अभेद, इन दोनों का संबंध तर्क के द्वारा अचिन्त्य है। इसीलिए इस मत की प्रसिद्धि 'अचिन्त्यभेदाभेद' नाम से की जाती है। इस विषय में रूप गोस्वामी ने 'लघुभागवतामृत' में स्पष्ट ही लिखा है—

एकत्वं च पृथक्त्वं च तथांशत्वमुतांशिता।
तस्मिन्नेकत्र नायुक्तम् अचिन्त्यानन्तशक्तितः॥ —११५०

अचिन्त्य अनंत शक्तियों के कारण उस एक ही पुरुषोत्तम में एकत्व और पृथक्त्व, अंशत्व तथा अंशित्व का रहना कथमपि अयुक्त नहीं रहता। श्री जीव गोस्वामी के कथनानुसार[1] भगवान्

---

[1] स्वरूपाद्यभिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुमशक्यत्वाद् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोर्भेदाभेदौ अङ्गीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदावेव अचिन्त्यशक्तित्वात्। —जीव गोस्वामी : भगवत्सन्दर्भ।

श्री कृष्ण में उनकी स्वरूप आदि शक्तियों से अभिन्न रूप से चिंतन करना अशक्य होने से वह भिन्न प्रतीत होता है और उनसे भिन्न रूप से चिंतन करना अशक्य होने के कारण वह अभिन्न प्रतीत होता है। अतः शक्ति और शक्तिमान् में भेद और अभेद दोनों सिद्ध होते हैं और ये दोनों ही अचिंत्य शक्ति होने के कारण 'अचिन्त्य' माने जाते हैं। इस प्रकार अचिंत्य शक्ति के कारण यह प्रपंच न तो भगवान के साथ ही एकांततया भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। इसीलिए इस मत का दार्शनिक दृष्टिकोण 'अचिन्त्यभेदाभेद' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

इस मत का सार अंश निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य में दिया गया है—

आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।
शास्त्रं भागवतं प्रमाणममलं, प्रेमा पुमर्थो महान्
श्री चैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः॥

व्रजस्वामी नंद के पुत्र श्री कृष्ण ही आराधनीय भगवान् हैं। उनका धाम है—वृंदावन। व्रज की गोपिकाओं के द्वारा की गई रमणीय उपासना ही साधकों के लिए माननीय प्रामाणिक उपासना है। श्रीमद्भागवत निर्मल प्रमाणशास्त्र है। प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है—चैतन्यमत का यही सारांश है।

चैतन्यानुसार महान् पुरुषार्थ है—प्रेम। 'प्रेमा पुमर्थो महान्'—भक्ति को सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ मानना अपना महत्त्व रखता है। दार्शनिकों के द्वारा निर्णीत पुरुषार्थ चार प्रसिद्ध हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। परंतु यह मत भक्ति को 'पंचम

पुरुषार्थ' के रूप में ग्रहण करता है। भक्ति दोनों प्रकार की होती है—साधनरूपा और साध्यरूपा। भक्ति स्वतः साधन भी है तथा साध्य भी है। श्री कृष्ण का भक्त मुक्ति को भी अपनी उपासना में अंतराय समझ कर उसकी प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य नहीं बनाता। उसका एकमात्र लक्ष्य होता है—श्रीकृष्ण की रागात्मिका भक्ति। रूपगोस्वामी के अनुसार भक्ति है श्रीकृष्ण का अनुकूलता से अनुशीलन या सेवन जिसमें अन्य अभिलाषाओं की कोई भी सत्ता नहीं रहती और जो ज्ञान, कर्म आदि से कथमपि आवृत नहीं रहता—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
—भक्तिरसामृतसिंधु १।१।११

श्रीमद्भागवत में स्पष्ट ही इसी भक्ति की श्रेष्ठता का वर्णन अनेक स्थलों पर किया गया है। भगवान् ने स्वयं ही अहैतुकी तथा अव्यवहिता भक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

चैतन्यमत की पंचम पुरुषार्थ की कल्पना का आधार श्रीमद्भागवत के ही वचन हैं। श्रीकृष्ण का स्वयं कथन है—

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

अर्थात् भगवान् के सदाचार-संपन्न, धैर्यवान् तथा एकांत निष्ठावाले भक्त उनके द्वारा दिये गये आत्यंतिक मोक्ष की भी अभिलाषा नहीं करते।

श्रीकृष्ण ही अचिन्त्य शक्तिमान् भगवान् परम तत्त्व हैं। वे अपने तीन विशिष्ट रूपों से विभिन्न लोकों में प्रकाशित होते हैं। श्री कृष्ण के इन रूपों के नाम हैं[1]—(१) स्वयं रूप, (२) तदेकात्म रूप, (३) आवेश। भगवान् का 'स्वयं रूप' वह है जो दूसरे के ऊपर आश्रित न होकर, अन्य की अपेक्षा न रखते हुए, स्वयं आविर्भूत होता है[2]। ब्रह्मसंहिता का यह कथन इसी रूप की पुष्टि में है—अनादिरादिर्गोविंदः सर्वकारणकारणम्। भगवान् स्वय इस विशाल सृष्टि के आदि है तथा समग्र कारणों के भी कारण है, परंतु वे स्वयं अनादि हैं—उनका आदि या कारण कहीं से भी नहीं है। 'तदेकात्मरूप' का अर्थ है वह रूप जो स्वरूप से तो स्वयरूप के साथ अभिन्न रहता है, परंतु आकृति, अंग-सन्निवेश तथा चरित से उससे भिन्न रहता है[3]। यह रूप भी दो प्रकार का होता है—विलास और और स्वांश। विलास रूप वह है जो स्वरूपतः[4] दूसरे आकार का होता है तथा शक्ति में प्रायः उसके तुल्य होता है। जैसे

---

१ लघुभागवतामृत १।११

२ अनन्यापेक्षि यद् रूपं स्वयंरूपः स उच्यते।

—वहीं, १।१२

३ यद्रूपं तदभेदेन स्वरूपेण विराजते।
आकृत्यादिभिरन्यादृक् स तदेकात्मरूपकः ॥

—वहीं १।१४

४ स्वरूपमन्याकारं यत् तस्य भाति विलासतः
प्रायेणात्मसमं शक्त्या स विलासो निगद्यते।

—वही, १।१५

गोविंद के विलास हैं परमव्योम के अधिपति नारायण और परमव्योमेश नारायण के विलास हैं आदि वासुदेव। इन दोनों के आकारों में समानता होने पर भी मूल देवता तथा आवरण की भिन्नता के कारण पृथक्ता हो रहती है। स्वांश रूप[1] विलासरूप के आकृत्या समान होने पर भी शक्ति में न्यून होता है जैसे संकर्षण आदि पुरुषावतार तथा मत्स्य आदि लीलावतार। (३) आवेश रूप[2] इन दोनों भेदों से सर्वथा भिन्न होता है। वे महत्तम जीव आवेश कहे जाते हैं जिनमें ज्ञान शक्ति आदि की स्थिति से भगवान् आविष्ट प्रतीत होते हैं जैसे वैकुंठ में शेष, नारद तथा सनकादि ऋषि गण।

भगवान् अचिन्त्याकार अनंत शक्तियों से संपन्न है, परंतु उनकी तीन ही शक्तियाँ मुख्य होती हैं—

(१) अंतरंगा शक्ति=चित्शक्ति=स्वरूप शक्ति

(२) तटस्थ शक्ति=जीवशक्ति

(३) वहिरंग शक्ति=माया शक्ति

अंतरंग शक्ति भगवद्रूपिणी होती है। सत्, चित् तथा आनंद के कारण भगवान् की यह स्वरूपशक्ति एकात्मिका होने पर भी त्रिविधा होती है—

(क) संधिनी=इसके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरों को सत्ता प्रधान करते हैं और समस्त देशकाल

---

१ तादृशो न्यूनशक्तिं यो व्यनक्ति स्वांश ईरितः।
१।१६

२ ज्ञान-शक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्दनः।
त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः॥
१।७॥

तथा द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं (सदात्मापि यया सत्तां धत्ते ददाति च सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्ति-हेतुः संधिनीशक्तिः[1])

(ख) संवित्—भगवान् स्वयं चिदात्मा है। इसी शक्ति के बल पर वह स्वयं अपने को जानते हैं और दूसरे को ज्ञान प्रदान करते हैं (=संविदात्मापि यया संवेत्ति संवेदयति च सा संवित्[2])

(ग) ह्लादिनी—भगवान् आनंदरूप हैं। वह शक्ति जिससे वे स्वयं आनंदका अनुभव करते हैं तथा दूसरों को आनंद का प्रदान करते हैं 'ह्लादिनी शक्ति' कही जाती है। इस विषय में वैदूर्यमणि का दृष्टांत भक्तिग्रंथों में दिया जाता है। एकही वैदूर्य-मणि नील पीत आदि त्रिविधरूप धारण करता है, वैसे ही एका परा शक्ति त्रिविधरूपों में विभक्त होकर तीन रूप धारण करती है (=ह्लादात्मापि यया ह्लादते ह्लादयति च सा ह्लादिनीशक्तिः। तत्तत् प्राधान्येन स्फूर्तेः तत्तद्रूपं तस्या एकस्या वैदूर्यवदवसीयते[3])

तटस्थ शक्ति वह है जो परिच्छिन्नस्वभाव, अणुत्वविशिष्ट जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है। मायाशक्ति का ही नाम है वहिरंग शक्ति। यही जगत् के आविर्भाव का कारण बनती है। स्वरूपशक्ति तथा मायाशक्ति के बीच में स्थित होने के कारण ही जीवशक्ति तटस्थ (या दोनों के तट पर रहने वाली) शक्ति कहलाती है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय की संज्ञा है—पराशक्ति। भगवान् स्वरूप-शक्ति से जगत् के निमित्त कारण होते हैं और जीव-माया शक्तियों से उपादान कारण होते हैं। माध्वमत ईश्वर को केवल निमित्त कारण ही मानता

---

१ बलदेव विद्याभूषण—सिद्धान्तरत्न पृ० ३६।

२, ३ सिद्धांतरत्न पृष्ठ ४० (सरस्वती भवन सीरीज़ काशी)

है, परंतु इसके विपरीत चैतन्यमत उन्हें अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानता है अर्थात् चैतन्यमत में ईश्वर निमित्त कारण भी होते हैं तथा उपादान कारण भी। जगत् में धर्म की वृद्धि तथा अधर्म के नाश के लिए भगवान् का अवतार होता है।

जगत्—चैतन्यमत में जगत् नितरां सत्यभूत पदार्थ है, क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्वविद् हरि की बहिरंगशक्ति का विलास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रमाणित करती हैं। ईशावास्य उपनिषत् कहता है कि भगवान् ने शाश्वतकाल तक यथार्थ भाव से अर्थों या पदार्थों का निर्माण किया[1]। विष्णुपुराण ने स्पष्टतः कहा है कि यह अखिल जगत् आविर्भाव तथा तिरोभाव, जन्म और नाश आदि विकल्पों से युक्त होकर भी 'अक्षय' तथा 'नित्य' है[2]। महाभारत का भी इस विषय में ऐकमत्य है[3]—**सत्यं भूतमयं जगत्**। फिर भी इसको अनित्य बतलाना वैराग्य के निमित्त है। सृष्टि के नाश होने पर प्रलय दशा में भी यह जगत् ब्रह्म में अनभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है जिस प्रकार जंगल में रात के समय पक्षियों

---

१ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—ईशा० (८)

२ तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव-तिरोभाव-जन्मनाश-विकल्पवत्।
—विष्णु पुराण १।२२।६०

३ ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद्‌गतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥
—महाभारत, अश्व० पर्व ३५।३४

की सत्ता। वे वर्तमान रहती हैं, परंतु कालवशात् उनकी व्यक्ति नहीं होती। (वनलीन विहगवत्—प्रमेयरत्नावली ३।२)

साधनमार्ग—भगवान् को अपने वश करने का सर्वश्रेष्ठ साधन है—भक्ति। कर्म का भी उपयोग है। वह चित्त को शुद्ध बनाकर उसे ज्ञान तथा भक्ति के पात्र बनने की योग्यता प्रदान करता है। भक्ति भी ज्ञान का एक विशिष्ट प्रकार है। वह केवल ज्ञान से नितांत भिन्न होती है। ज्ञान के दो प्रकार होते हैं—केवल ज्ञान तथा विज्ञान। दर्शनके भी दो ढंग होते हैं—बिना पलक गिराये हुए हुए निर्निमेष दृष्टि से अवलोकन तथा दूसरा है कटाक्ष-वीक्षण। इनमें निर्निमेष वीक्षण की तरह तत्-त्वं पदार्थ का अनुभव प्रथम प्रकार का ज्ञान है तथा अपाङ्गवीक्षण के समान विचित्र ज्ञान का नाम है—भक्ति। भगवान् के वशीकरण के निमित्त यही भक्ति सर्वश्रेष्ठ उपाय है। संवित् तथा ह्लादिनी शक्तियों का संमिश्रण भक्ति का सार है। यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का अपृथग् विशेषण है तथा भक्तों का पृथग् विशेषण। भक्ति के दो प्रकार हैं—विधि-भक्ति तथा रुचिभक्ति या रागात्मिका भक्ति। विधि-भक्ति के उदय में शास्त्रों में निर्दिष्ट उपाय श्रेयस्कर होते हैं, परंतु रागात्मिका के उदय के लिए भक्त की आर्तता या दयनीयता ही प्रधान कारण हैं। भागवत का यह पद्य रागात्मिका की ही व्याख्या है—

अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष ! दिदृक्षते त्वाम् ॥

है, परंतु इसके विपरीत चैतन्यमत उन्हें अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानता है अर्थात् चैतन्यमत में ईश्वर निमित्त कारण भी होते हैं तथा उपादान कारण भी। जगत् में धर्म की वृद्धि तथा अधर्म के नाश के लिए भगवान् का अवतार होता है।

जगत्—चैतन्यमत में जगत् नितरां सत्यभूत पदार्थ है, क्योंकि यह सत्यसंकल्प सर्वविद् हरि की बहिरंगशक्ति का विलास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रमाणित करती हैं। ईशावास्य उपनिषत् कहता है कि भगवान् ने शाश्वतकाल तक यथार्थ भाव से अर्थों या पदार्थों का निर्माण किया[1]। विष्णुपुराण ने स्पष्टतः कहा है कि यह अखिल जगत् आविर्भाव तथा तिरोभाव, जन्म और नाश आदि विकल्पों से युक्त होकर भी 'अक्षय' तथा 'नित्य' है[2]। महाभारत का भी इस विषय में ऐकमत्य है[3]—**सत्यं भूतमयं जगत्**। फिर भी इसको अनित्य बतलाना वैराग्य के निमित्त है। सृष्टि के नाश होने पर प्रलय दशा में भी यह जगत् ब्रह्म में अनभिव्यक्त रूप से वर्तमान रहता है जिस प्रकार जंगल में रात के समय पक्षियों

---

१ कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू-
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—ईशा० (८)

२ तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भाव-तिरोभाव-जन्मनाश–विकल्पवत्।
—विष्णु पुराण १।२२।६०

३ ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद्गतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥
—महाभारत, अश्व० पर्व ३५।३४

किसी व्यक्ति से पुरुषोत्तम क्षेत्र की सत्ता का पता पाकर राजा ने अपने पुरोहित के भाई विद्यापति को स्थान तथा भगवान् की स्थिति जानने के लिए भेजा। अनेक संकटों को झेल कर जब विद्यापति इस क्षेत्र में पहुँचे तब घनघोर जंगल से घिरे रहने के कारण उन्हें भगवान् का दर्शन न हो सका। खोज करने से पता चला कि कोई विश्वावसु शवर भगवान् नीलमाधव की एकनिष्ठ उपासना करता है और भगवान् का दर्शन उसी की इच्छा के ऊपर निर्भर है। विद्यापति ने उससे भेंट की और विशेष आग्रह पर उसकी कन्या से उन्हें शादी भी करनी पड़ी। बड़ी प्रार्थना करने पर विश्वावसु उनकी आँख के ऊपर पट्टी बाँध कर वहाँ ले जाने के लिए राजी हुआ। विद्यापति ने यह शर्त भी मान ली और वह वृक्ष के मूल में भगवान् नीलमाधव की ललित मूर्ति को देख कर अपने चिर प्रार्थित इच्छा को पूर्ण किया। शवर के कार्य-विशेष से बाहर चले जाने पर उनके अचरज की सीमा न रही, जब पास के रोहिणी कुंड में स्नानमात्र से उन्होंने एक कौवे को चतुर्भुजी विष्णु के रूप मे परिणत होते देखा।

विद्यापति अपने उद्देश्य में सफल होकर अवंती लौटे और उनके संकेत से राजा पुरुषोत्तम क्षेत्र में पहुँचा। राजा ने यहाँ वेदी के ऊपर सौ यज्ञ किये जिसके फल-स्वरूप श्वेत-द्वीपपति विष्णु ने स्वप्न में दर्शन दे कर काष्ठ की मूर्ति बनाने का आदेश दिया। आदेशानुसार राजा अगले दिन प्रातः काल समुद्र में स्नान करने गया और स्वप्न में निर्दिष्ट वृक्ष के तने को घर ले आया। स्वयं विश्वकर्मा ने इससे भगवान् की विशिष्ट मूर्ति बनाने का प्रण किया। परंतु अपनी महारानी गुंडिचा देवी के आग्रह से राजा ने निर्दिष्ट दिनों के पहले ही घर के दरवाजे को खोल कर मूर्ति को अपूर्ण तथा उसके शिल्पी को अंतर्हित पाया।

(३)

उत्कल में वैष्णव-धर्म

आजकल उत्कल देश भागवत धर्म का एक महनीय प्रांत है जहाँ पर मोक्षदायिनी सप्त पुरियों में जगन्नाथपुरी अन्यतम है। यह स्थान नीलाचल तथा पुरुषोत्तम क्षेत्र के नाम से ही अभिहित किया जाता है। पुरी में भगवान् विष्णु का नाना परकोटों, शिखरों तथा जगमोहनों से युक्त विशालकाय मंदिर विराजमान है जिसमें कृष्ण और बलराम अपनी भगिनी सुभद्रा जी के साथ प्रतिष्ठित हैं। ये तीनों मूर्तियां लकड़ी की बनी हुई हैं, इसीलिए जगन्नाथ जी दारुमय विग्रह होने के कारण 'दारुब्रह्म' कहलाते हैं। उत्कल में वैष्णव धर्म की उत्पत्ति का काल-निरूपण जगन्नाथ जी के प्राकट्य के ऊपर आश्रित माना जा सकता है। इसलिए जगन्नाथ के आविर्भाव की मीमांसा प्रथमतः अपेक्षित है, जिसके विषय में नारद-पुराण (उत्तर खंड), ब्रह्म-पुराण, स्कंद पुराण (उत्कल खंड), कपिल संहिता तथा नीलाद्रि-महोदय आदि संस्कृत ग्रंथों में तथा प्राचीन परंपरा को निबद्ध करने वाले आधुनिक उड़िया-भाषा में लिखित ग्रंथों में विपुल सामग्री उपलब्ध है। इन सब में प्रायः एक ही कथानक कतिपय अवांतर घटनाओं की भिन्नता के साथ उपलब्ध होता है। आविर्भाव की कथा संक्षेप में दी जाती है।

सत्ययुग में अवंती के महाराज इंद्रद्युम्न के चित्त में भगवान् नीलमाधव के दर्शन की इच्छा प्रबल रूप से जाग पड़ी। परंतु नीलमाधव के स्थान से वह अपरिचित था। किसी तीर्थयात्रा के प्रसंग से अखिल भारतवर्ष के तीर्थों के निरीक्षण करने वाले

किसी व्यक्ति से पुरुषोत्तम क्षेत्र की सत्ता का पता पाकर राजा ने अपने पुरोहित के भाई विद्यापति को स्थान तथा भगवान् की स्थिति जानने के लिए भेजा। अनेक संकटों को झेल कर जब विद्यापति इस क्षेत्र में पहुँचे तब घनघोर जंगल से घिरे रहने के कारण उन्हें भगवान् का दर्शन न हो सका। खोज करने से पता चला कि कोई विश्वावसु शबर भगवान् नीलमाधव की एकनिष्ठ उपासना करता है और भगवान् का दर्शन उसी की इच्छा के ऊपर निर्भर है। विद्यापति ने उससे भेंट की और विशेष आग्रह पर उसकी कन्या से उन्हें शादी भी करनी पड़ी। बड़ी प्रार्थना करने पर विश्वावसु उनकी आँख के ऊपर पट्टी बाँध कर वहाँ ले जाने के लिए राजी हुआ। विद्यापति ने यह शर्त भी मान ली और वह वृक्ष के मूल में भगवान् नीलमाधव की ललित मूर्ति को देख कर अपने चिर प्रार्थित इच्छा को पूर्ण किया। शबर के कार्य-विशेष से बाहर चले जाने पर उनके अचरज की सीमा न रही, जब पास के रोहिणी कुंड में स्नानमात्र से उन्होंने एक कौवे को चतुर्भुजी विष्णु के रूप मे परिणत होते देखा।

विद्यापति अपने उद्देश्य में सफल होकर अवंती लौटे और उनके संकेत से राजा पुरुषोत्तम क्षेत्र में पहुँचा। राजा ने यहाँ वेदी के ऊपर सौ यज्ञ किये जिसके फल-स्वरूप श्वेत-द्वीपपति विष्णु ने स्वप्न में दर्शन दे कर काष्ठ की मूर्ति बनाने का आदेश दिया। आदेशानुसार राजा अगले दिन प्रातः काल समुद्र में स्नान करने गया और स्वप्न में निर्दिष्ट वृक्ष के तने को घर ले आया। स्वयं विश्वकर्मा ने इससे भगवान् की विशिष्ट मूर्ति बनाने का प्रण किया। परंतु अपनी महारानी गुंडिचा देवी के आग्रह से राजा ने निर्दिष्ट दिनों के पहले ही घर के दरवाजे को खोल कर मूर्ति को अपूर्ण तथा उसके शिल्पी को अंतर्हित पाया।

इसी मूर्ति की प्रतिष्ठा पुराने उपासक विश्वावसु शवर के उत्तराधिकारी के सहयोग से वैशाख शुक्ल अष्टमी को की गई। पूजा तथा भोग का अधिकार शवर जाति के लोगों के ही सुपुर्द किया गया। तब से आजतक इसी जाति के बलभद्रगोत्री ब्राह्मणीकृत पाचक भगवान् के भोगराग की व्यवस्था करते हैं।

कृष्ण और बलराम के साथ सुभद्रा के स्वरूप की व्याख्या पुराणों में उपलब्ध होती है। स्कंद पुराण (उत्कल खंड; अध्याय १६) के अनुसार सुभद्रा स्वयं चैतन्यरूपिणी लक्ष्मी है[1]। सुभद्रा तथा बलराम का जन्म रोहिणी के ही गर्भ से हुआ था। फलतः दोनों में साहचर्य है। अनंत रूप से जगत् के धारण करने वाले संकर्षण कृष्ण से अभिन्न है और उनकी शक्ति रूपा लक्ष्मी यहाँ भगिनी रूप से वर्णित की गई है। दारुब्रह्म का उल्लेख शांखायन ब्राह्मण में प्रथमतः उपलब्ध होता है और उसी का संकेत पुराणों मे भी मिलता है। ब्राह्मण का श्लोक यह है—

आदौ यद् दारु प्लवते सिन्धोः पारे अपूरुषम्।
तदालभस्व दुर्दूनो तेन याहि परं स्थलम्॥

यहाँ पर पहले शवर जाति के राजा राज्य करते थे। जंगल के निवासी होने से बहुत संभव है कि इन शवरों ने लकड़ी की मूर्ति बना कर उसकी पूजा करने की प्रथा चलाई होगी। अतः शवर जाति के प्राधान्य वाले स्थान मे यदि जगन्नाथ जी की मूर्ति काष्ठ की बनाई जाती है तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। इतिहास से पता चलता है कि ये शवर राजा विष्णु के उपासक थे तथा इन्होंने विष्णु की प्रतिष्ठा के लिए सैकड़ों मंदिरों

---

१ तस्य शक्तिस्वरूपेयं भगिनी स्त्रीप्रवर्तिका।

—स्कंदपुराण, उत्कलखंड १६।१७

का निर्माण किया था। शिवगुप्त नामक राजा के विषय में यह कहा जाता है कि जब अष्टम अथवा नवम शतक में यवनों के राजा रक्तबाहु ने पुरी पर आक्रमण कर उसे ध्वस्त करने का उद्योग किया तब वे जगन्नाथ जी की मूर्ति को यहाँ से उठा कर अपनी राजधानी 'राजिम' में ले गये और उपद्रव के शांत होने पर पुनः उस मूर्ति को पूर्व मंदिर में रख दिया। आज भी राजिम नगरी में महानदी के किनारे जगन्नाथ जी की मूर्ति प्रतिष्ठित है। नगेंद्र नाथ वसु का अनुमान है कि यवनों ने नहीं, अपि तु जावा द्वीप के निवासियों ने भारत के पूर्वी समुद्र पर स्थित प्रदेशों पर आक्रमण किया था और तभी मूर्ति के स्थानांतर करने का प्रसंग उपस्थित हुआ[1]।

सुनते हैं कि इंद्रद्युम्न का बनाया हुआ प्राचीन मंदिर कालांतर में वालुकाशायी हो गया। यही कारण है कि सप्तम शतक के मध्य में जब ह्वएन-सांग ने इस स्थान की यात्रा की थी तब उसने केवल मंदिरों के शिखर ही देखे थे। इसी का उद्धार कर राजा ययाति केशरी ने मंदिर का पुनः निर्माण किया और इंद्रद्युम्न द्वितीय की उपाधि धारण की। एकादश शतक में चोड़ गंग ने उत्कल के राजा उद्योत केशरी या उनके किसी वंशज को जीत कर उत्कल में अपना राज्य स्थापित किया। इस घटना से उत्कलीय वैष्णव धर्म दक्षिण के आलवार संतों के संपर्क में आकर और भी अग्रसर हुआ। राजा पुरुषोत्तमदेव जगन्नाथ जी के विशेष भक्त थे और इन्होंने ही भगवान् की चूड़ा में नीलचक्र लगवाया जो आज भी वर्तमान है। इन्हीं के पुत्र हुए राजा प्रतापरुद्र जो १५०३ ई० में सिंहासन पर बैठे और जिनके राज्यकाल में महा-

---

१ हिंदी विश्वकोष, भाग ७, पृष्ठ ७०८—९।

प्रभु चैतन्यदेव ने नीलाचल को अपना प्रचार क्षेत्र बनाया और यहीं विशेष रूप से रहने लगे। चैतन्य देव के इस आगमन से उत्कलीय वैष्णव धर्म का सुवर्ण युग आरंभ होता है।

पुरी पर बौद्ध प्रभाव

आजकल के प्रायः समस्त इतिहासविदों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह मूर्ति बिलकुल बौद्ध है। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि उड़ीसा में अशोकवर्धन के समय में ही बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ और महायान, मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान आदि जितने बौद्ध धर्म के परिवर्तन हुए, उनमें से प्रत्येक का प्रवाह यहाँ पूरी तौर से अनुभूत हुआ। बौद्ध महाविद्यालय पुष्पगिरि के भग्नावशेष आज भी कटक जिले के रत्नगिरि नामक स्थान में वर्तमान हैं। तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए गये हुए अनेक बौद्ध पंडितों का जन्म-स्थान यही उत्कल प्रांत था। मयूरभंज के नाना स्थानों में अवलोकितेश्वर वज्रपाणि, आर्यतारा आदि बौद्ध देवता पाये जाते हैं। अतः उत्कल में बौद्ध धर्म का प्रसार मात्रा में अधिक रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता। इस स्थानीय बौद्धधर्म के प्रभाव से जगन्नाथ क्षेत्र के अछूता बचने की संभावना बिलकुल नहीं है। उधर जगन्नाथ की मूर्ति हिंदू धर्म की अन्य परिचित देवमूर्तियों से नितांत विलक्षण है। सुनते हैं कि भगवान के कलेवर-परिवर्तन के समय मूर्ति के भीतर विष्णु-पंजर रक्खा जाता है। विद्वानों की धारणा है कि संभवतः बुद्ध के शरीर की हड्डी का कोई टुकड़ा इसके भीतर रक्खा जाता है। साँची से मिले हुए धर्म यंत्रों (बुद्ध, धर्म तथा संघ के सूचक यंत्रों) से इन तीनों र्तियों की इतनी अधिक समानता है कि इन्हें बौद्ध मूर्ति मानने

के लिए बाध्य होना पड़ता है। हुएन साँग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा है कि उसने मध्य एशिया के खोतान नामक स्थान में बुद्ध, धर्म, तथा संघ की मूर्तियों से समन्वित रथयात्रा देखी थी जो जगन्नाथ जी की रथयात्रा से साम्य रखती है। इन्हीं सब कारणों से आजकल इतिहासवेत्ता लोग जगन्नाथ की मूर्ति को बुद्ध, धर्म, तथा संघ की ही प्रतिमा मानते हैं[१]। उड़िया पुस्तक 'धर्मपूजा विधान' में तथा अन्य ग्रंथों में जगन्नाथ जी बुद्ध के ही रूप माने गये हैं।

ऐतिहासिक छानबीन करने पर यह मत बिलकुल अभ्रांत नहीं प्रतीत होता। बौद्ध धर्म का प्रभाव देश में बद्धमूल होने के कारण किसी न किसी मात्रा में अवश्य पड़ा होगा। परंतु धर्म-यंत्रों के साथ पार्थक्य रखने के कारण हम जगन्नाथ जी को पूरा बौद्ध विग्रह नहीं मान सकते। तथ्य तो यह है कि जगन्नाथपुरी शबर संस्कृति बौद्ध संस्कृति तथा ब्राह्मण संस्कृति की त्रिवेणी का संगम है। जो आचार-विषयक बातें ब्राह्मण धर्म से विपरीत प्रतीत होती हैं, उनका कारण शबर संस्कृति है जो तीनों में प्राचीनतम अवश्य है। महाप्रसाद की पवित्रता तथा उसके ग्रहण का व्यापक आदर शबरराजाओं के उद्योग के फल हैं। सोमवंशी उत्कल नरेश शबर राज शिवगुप्त तथा भवगुप्त के अधीन थे और इन्हीं लोगों के आग्रह पर महाप्रसाद के ग्रहण का प्रचलन हुआ। यह शबर प्रभाव का द्योतक है, बौद्ध प्रभाव का नहीं। ययाति केशरी ने ब्राह्मणों के द्वारा मूर्ति की प्रतिष्ठा अवश्य कराई; परंतु पूजा के विषय में शबर पद्धति का ही अनुसरण हुआ। आज भी जगन्नाथ जी के लेप संस्कार आदि के ऊपर

१ जलधिर तीरे स्थान बौद्धरूपे भगवान्
हय्या तुमि कृपावलोकन।

प्रभु चैतन्यदेव ने नीलाचल को अपना प्रचार क्षेत्र बनाया और यहीं विशेष रूप से रहने लगे। चैतन्य देव के इस आगमन से उत्कलीय वैष्णव धर्म का सुवर्ण युग आरंभ होता है।

पुरी पर बौद्ध प्रभाव

आजकल के प्रायः समस्त इतिहासविदों का यह परिनिष्ठित मत है कि यह मूर्ति बिलकुल बौद्ध है। इसके कई कारण हैं। एक कारण तो यह है कि उड़ीसा में अशोकवर्धन के समय में ही बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ और महायान, मंत्रयान, वज्रयान और सहजयान आदि जितने बौद्ध धर्म के परिवर्तन हुए, उनमें से प्रत्येक का प्रवाह यहाँ पूरी तौर से अनुभूत हुआ। बौद्ध महाविद्यालय पुष्पगिरि के भग्नावशेष आज भी कटक जिले के रत्नगिरि नामक स्थान में वर्तमान हैं। तिब्बत में धर्म-प्रचार के लिए गये हुए अनेक बौद्ध पंडितों का जन्म-स्थान यही उत्कल प्रांत था। मयूरभंज के नाना स्थानों में अवलोकितेश्वर वज्रपाणि, आर्यतारा आदि बौद्ध देवता पाये जाते हैं। अतः उत्कल में बौद्ध धर्म का प्रसार मात्रा में अधिक रहा है, इसमें कोई संदेह नहीं कर सकता। इस स्थानीय बौद्धधर्म के प्रभाव से जगन्नाथ क्षेत्र के अछूता बचने की संभावना बिलकुल नहीं है। इधर जगन्नाथ की मूर्ति हिंदू धर्म की अन्य परिचित देवमूर्तियों से नितांत विलक्षण है। सुनते हैं कि भगवान के कलेवर-परिवर्तन के समय मूर्ति के भीतर विष्णु-पंजर रक्खा जाता है। विद्वानों की धारणा है कि संभवतः बुद्ध के शरीर की हड्डी का कोई टुकड़ा इसके भीतर रक्खा जाता है। साँची से मिले हुए धर्म यंत्रों (बुद्ध, धर्म तथा संघ के सूचक यंत्रों) से इन तीनों मूर्तियों की इतनी अधिक समानता है कि इन्हें बौद्ध मूर्ति मानने

तथा जगन्नाथ जी के एकनिष्ट उपासक हो गये थे। शाक्त ग्रंथकार लक्ष्मीधर भी उनकी सभा को सुशोभित करते थे। चैतन्य के प्रभाव से उत्कल साहित्य में पाँच बड़े वैष्णव कवि हुए जो 'पंच सखा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी भावना, विचारधारा, योगाभ्यास तथा भगवद्भक्ति की कल्पना में इतना साम्य है कि एक ही चिंता-सरित् के 'पाँच प्रवाह' माने जाते हैं अथवा एक ही ज्ञानदीपक के भिन्न भिन्न पाँच शिखा होने के कारण ये पंचशिखा के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

इन पाँचों कवियों के नाम हैं—(१) बलराम दास, (२) अनंत दास, (३) यशोवंत दास (४) जगन्नाथ दास, (५) अच्युतानंद दास। इनमें बलराम दास सबसे वयोश्रेष्ठ थे तथा अच्युत दास सबसे छोटे थे। अच्युतानंद की लिखी हुई 'उदयकहाणी' नामक ग्रंथ के उल्लेख से इनका जन्मकाल इस प्रकार माना जा सकता है—बलराम—१४७२ ई०, अनंत—१४७५ ई०, यशोवंत और जगन्नाथ—१४७६ ई० और अच्युत—१४८६ ई०। इस प्रकार ये पाँचों कवि एक ही समय पैदा हुये। अच्युतानंद का कहना है, 'कृष्ण की इच्छा से हम पैदा हुए हैं। राधा और लीला प्रचार करने के लिए हमने पंचसखा का जन्म लिया है'।

पंचसखाओं के जातिनिर्णय का कार्य भी दुरूह है। सामान्य रीति से ये समाज की निम्न श्रेणी के व्यक्ति माने जाते हैं। बलरामदास बाउरि (उत्कल की एक आर्येतर जाति) जाति के माने जाते हैं। 'प्रणवगीता' के आरंभ में उन्होंने अपना जो परिचय दिया है[1] उससे ब्राह्मणों के द्वारा उनके तिरस्कार की बात स्पष्ट रूप से झलकती है। 'मुक्तमंडप' में शूद्र के मुँह से वेदांत की

---

१ नगेंद्रनाथ वसु—माडर्न बुद्धिजम पृ० ६५—६६ पर उद्धृत।

शबरों का पूर्ण अधिकार है। उनके वंशधर 'दैतापति' के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा पूजा के विषय में अधिकारी हैं।

तथ्य जो कुछ भी हो इतना तो निश्चित है कि इस देश में वैष्णव धर्म का प्रचार पहले से था। हाथी गुम्फा के शिलालेख (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के एक वर्णन से अनुमान लगाया जाता है कि उड़ीसा कृष्ण भक्ति शाखा से परिचित था। भव-वंश की दो रानी दंडी और त्रिभुवन महादेवी ने दान-पत्र में अपने को परम वैष्णवी लिखा है। चैतन्य के आगमन के बहुत पहले भागवत का उड़िया अनुवाद हो चुका था। सन् १०७८ में गंगा वंश की स्थापना के बाद उत्कल आलवार वैष्णवों के संपर्क में भी आया था। उड़ीसा के वैष्णव विद्वान् राय रामानंद चैतन्य-देव से पहले ही प्रसिद्ध हो चुके थे। इससे सिद्ध होता है कि उत्कल देश में वैष्णव धर्म का प्रचार गुप्त काल में भागवत धर्म की सर्वदेशीय उन्नति के युग में ही सम्पन्न हुआ।

(२)

मध्ययुग में वैष्णव धर्म

१६ शतक में चैतन्यदेव ने जगन्नाथ क्षेत्र को अपनी भक्ति और तपस्या का मुख्य केंद्र बनाया और बंगाल से आकर वे यहीं रहने लगे। उनका आगमन उत्कल-देश में धर्म तथा साहित्य की क्रांति का युग है। इस समय के उत्कल नरेश प्रताप रुद्रदेव स्वयं बड़े पंडित थे। उनका दरबार धर्म-संमेलन का प्रतीक था। वे स्वयं चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव में आकर परम वैष्णव

तथा जगन्नाथ जी के एकनिष्ट उपासक हो गये थे। शाक्त ग्रंथ-कार लक्ष्मीधर भी उनकी सभा को सुशोभित करते थे। चैतन्य के प्रभाव से उत्कल साहित्य में पाँच बड़े वैष्णव कवि हुए जो 'पंच सखा' के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनकी भावना, विचारधारा, योगाभ्यास तथा भगवद्भक्ति की कल्पना में इतना साम्य है कि एक ही चिंता-सरित् के 'पाँच प्रवाह' माने जाते हैं अथवा एक ही ज्ञानदीपक के भिन्न भिन्न पाँच शिखा होने के कारण ये पंचशिखा के नाम से भी प्रसिद्ध हैं।

इन पाँचों कवियों के नाम हैं—(१) बलराम दास, (२) अनंत दास, (३) यशोवंत दास (४) जगन्नाथ दास, (५) अच्युतानंद दास। इनमें बलराम दास सबसे वयोश्रेष्ठ थे तथा अच्युत दास सबसे छोटे थे। अच्युतानंद की लिखी हुई 'उदय-कहाणी' नामक ग्रंथ के उल्लेख से इनका जन्मकाल इस प्रकार माना जा सकता है—बलराम—१४७२ ई०, अनंत—१४७५ ई०, यशोवंत और जगन्नाथ—१४७६ ई० और अच्युत—१४८६ ई०। इस प्रकार ये पाँचों कवि एक ही समय पैदा हुये। अच्युतानंद का कहना है, 'कृष्ण की इच्छा से हम पैदा हुए हैं। राधा और लीला प्रचार करने के लिए हमने पंचसखा का जन्म लिया है'।

पंचसखाओं के जातिनिर्णय का कार्य भी दुरूह है। सामान्य रीति से ये समाज की निम्न श्रेणी के व्यक्ति माने जाते हैं। बल-रामदास बाउरि (उत्कल की एक आर्येतर जाति) जाति के माने जाते हैं। 'प्रणवगीता' के आरंभ में उन्होंने अपना जो परिचय दिया है[1] उससे ब्राह्मणों के द्वारा उनके तिरस्कार की बात स्पष्ट रूप से झलकती है। 'मुक्तिमंडप' में शूद्र के मुँह से वेदांत की

---

१ नगेंद्रनाथ वसु—माडर्न बुद्धिजम पृ० ६५—६६ पर उद्धृत।

चर्चा सुनकर प्रतापदेव इनसे नितांत अप्रसन्न हुए थे, परंतु जड व्यक्ति को शास्त्र प्रवचन की पटुता प्रदान कर इन्होंने अपने चमत्कार का परिचय दिया। तब कहीं जाकर इन्हें आदर तथा सम्मान प्राप्त हुआ। परंतु कारणवश ये राजा के सम्मान तथा सत्कार से पीछे वंचित किये गये। प्रतापरुद्रदेव की मृत्यु के बीस वर्ष अनंतर १५५१ ई० मुकुंददेव के सिंहासनारूढ़ होने पर इन्हें वह प्राचीन गौरव पुनः प्राप्त हुआ।

कोई अच्युतानंद को ग्वाला बतलाता है तो कोई क्षत्रिय। परंतु वे स्वयं लिखते हैं कि उनके पितामह करण थे और राज दरबार में नकलनवीस का काम करते थे। उनके पिता जगन्नाथ जी के मंदिर में नौकर थे और इसलिए उनकी उपाधि 'खुँटिया' थी। लेकिन वह स्वयं भक्त तथा भक्ति के प्रचारक होने के कारण अपने को शूद्र कहते हैं। इन पंच सखाओं के नाम के अंत में जो दास पद उपाधि के लिए प्रयुक्त है वह जाति का सूचक न होकर धर्म-संप्रदाय का चिन्ह है। दास शब्द का अर्थ है ब्रह्म के स्वरूप को यथाथतः जाननेवाला अर्थात् ब्रह्मज्ञानी। 'शून्य संहिता' में दास पद की यही व्याख्या है—

> नामतत्त्व चिन्हि आत्मातत्त्वज्ञानी नामब्रह्म यार आश।
> ब्रह्मदर्शी सहि अवश्य अटइ प्रभुङ्कर सेहि दास॥
>
> अध्याय १६

संतों को जाति पांति के ऊपर विशेष आग्रह नहीं होता। प्रतीत होता है कि भगवान् के चरणारविंद की श्रद्धापूर्वक सेवा को शूद्रवृत्ति का प्रतीक मानकर ये परम वैष्णव लोग अपनी दीनता सूचित करने के लिए अपने को शूद्र कहने लगे थे।

इन लोगों ने उड़िया भाषा में अनेक ग्रंथों का भी प्रणयन किया था जिनमें से कुछ ही ग्रंथ अब तक प्रकाशित हो सके हैं। बलराम की रचनाओं में गुप्तगीता, प्रणवगीता, विराटगीता, सारस्वतगीता तथा ब्रह्माण्डभूगोल गीता मुख्य हैं। उड़िया भागवत के अमर रचयिता जगन्नाथ दास संस्कृत ग्रंथों के भी लेखक हैं। अच्युतदास की 'शून्य संहिता' शून्यतत्त्व का प्रतिपादक सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है जो 'अनादिसंहिता' तथा 'अनाकार संहिता' की अपेक्षा नितान्त महत्त्वशाली, उपादेय तथा लोकप्रिय है।

(३)

पंचसखा–धर्म

पंचसखा के द्वारा उपदिष्ट शिक्षा के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। मुख्यतया ये लोग श्री चैतन्यमहाप्रभु के लीला-परिकर माने जाते हैं। चैतन्य देव के आने पर प्रेमाभक्ति की जो बाढ़ उत्कल देश में आई, उसी को इन लोगों ने इस प्रांत के घर घर में पहुँचाया। अतः ये पूर्ण वैष्णव ही हैं। उड़ीसा के साहित्यिक विद्वानों तथा आलोचकों का यही मत है। श्री नगेंद्र-नाथ वसु महोदय इनके ग्रंथों में महायानीय बौद्ध सिद्धांतों जैसे शन्य, धर्म, महाशून्य आदि की प्रचुरता देखकर उन वैष्णव संतों को प्रच्छन्न बौद्ध मानते हैं। १८७५ ई० में उत्कल में जब 'महिमाधर्म' नामक बौद्धभावापन्न नवीन धर्म का उदय हुआ तब इन पंचसखाओंके ग्रंथ उसके लिए मान्य तथा सिद्धांत-प्रतिपादक

चैतन्यदेव के घनिष्ठ संबंध में आये थे और इसीलिए वे उनके लीलापरिकर माने जाते हैं।

(४)

पंचसखाधर्म की शिक्षा

उत्तर प्रदेशीय आचार्यों ने अपने धर्म की शिक्षा के निमित्त जिस प्रकार लोक भाषा का आश्रय लिया था, उसी भाँति पंच सखाओं ने भी अपने धर्मोपदेश के लिए व्यावहारिक उड़ीया भाषा को ही अपनाया। इसीलिए धार्मिक महत्त्व के साथ ही साथ इनका साहित्यिक महत्त्व भी अत्यन्त अधिक है। लोक-भाषा के आश्रय से इन्होंने दर्शन तथा धर्म को जनता के हृदय तक पहुँचा दिया। जगन्नाथदास का भागवत तथा बलराम दास का 'दाण्डि रामायण' उड़िया साहित्य के रत्न हैं। जगन्नाथ का भागवत तुलसीदास के रामायण के समान उड़ीसा के प्रत्येक व्यक्ति का एकमात्र लोकप्रिय धर्म-ग्रथ है।

योग तथा भक्ति दोनों आत्म-दर्शन के सच्चे उपाय हैं। इनका ज्ञान बिना गुरु कृपा के नहीं हो सकता। इसलिए इन्हें गुरु की उपादेयता मानने पर विशेष आग्रह है। मुख्य लक्ष्य तो परमात्मा की प्राप्ति है; गुरु का उपयोग मार्ग-दर्शक के रूप में ही है। इन लोगों के ग्रंथों में मंत्र, यंत्र और योग का बहुत ही अधिक वर्णन इसीलिए मिलता है। तत्त्वप्राप्ति में पंचसखा ने योग को प्रथम सोपान माना है। अच्युतानंद के अनुसार मन के पाँच भेद हैं—सुमन, कुमन, अमन, विमन तथा मन। साधक का कार्य है कि वह मन तथा अमन की दशा से ऊपर उठकर सुमन की दशा तक पहुँच जाय। इसके लिए अच्युतानंद ने बारह वर्ष के लिए एक विशिष्ट योगाभ्यास क्रम की शिक्षा दी है। इस प्रकार पंचसखा भगवान् की प्राप्ति में मन की व्यवस्था के लिए योग को तथा अनुराग उत्पन्न करने के लिए भक्ति को प्रधान साधन मानते हैं।

ये सगुण तथा निर्गुण उभय ब्रह्म का निरूपण अपने ग्रंथों में आग्रह के साथ करते हैं। ये ब्रह्म को शून्य के नाम से पुकारते हैं। इनके अनुसार जगत् के आदि में एक ही निराकार, अलेख, सच्चिदानंद, महाशून्य तत्त्व था और उसी से प्रथमतः शून्य की उत्पत्ति हुई, शून्य में ओंकार की, ओंकार से वेदों की और वेदों से सकल स्थावर जंगम पदार्थों की। जगन्नाथ दास ने अपने 'तुलाभिना' ग्रंथ में इसका कथन इन शब्दों में किया है—

सकल मंत्र तीर्थ ज्ञान। बोइल शून्य ये प्रमाण।
येते कहिलुं गो पार्वती। ए सर्वे शून्यरे अच्छन्ति॥
महाशून्यरु शून्य जात। से शून्य प्रणव संभूत।
प्रणव परमक कहि। सकल शास्त्र से बोलाइ॥

अच्युतानंद दास ने अपनी सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक रचना 'शून्य संहिता' में शून्य पुरुष की लीला का गायन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है—

शून्य पुरुष दयालु अटइ। शून्य पुरुष सर्वघटे रहि।
शून्य पुरुष करे नटघट। शून्य पुरुष जाणे छंदकूट।
शून्य पुरुष शून्यरे मारइ। मारि शून्य पुण्यगति करइ॥

अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण के चरण की शरण स्वयं जाने का उल्लेख करते हैं, क्योंकि बिना कृष्ण की सहायता से कोई भी साधक परम-पद को प्राप्त नहीं कर सकता। इन अव्यक्त श्री हरि का निवास 'अनाकार' के लोक में है जिसके अनुग्रह पर अच्युत दास ने अपने को न्यौछावर कर दिया है।

ब्रजकुल तारि आपण तरिवि
श्री कृष्ण सहाय हइछि।
अव्यक्त हरि अनाकार पूरि
तेणु पद पुरु अछि॥
—अनाकार संहिता।

निष्कर्ष यह है कि इन भक्तों के अनुसार परमतत्त्व अनाकार 'शून्यपुरुष' है। उस निराकार 'महाविष्णु' ने ही समस्त जगत् की रचना की है। वही आदिब्रह्म है जो बिंदुब्रह्म के रूप में भौतिक स्वरूप ग्रहण करता है और आदिशक्ति के द्वारा जगत् का निर्माण करता है। बिंदु ब्रह्म से निकलने वाला बिंदु दो रूपों में दिखाई पड़ता है—रा और म। और यही लीला के निमित्त राधा और कृष्ण का रूप धारण करता है। यही निराकार

शून्यपुरुष साकार होने पर राम तथा कृष्ण का रूप धारण करता है। संसार का सर्जन वे करुणा के कारण ही करते हैं। पंच-सखाओं के अनुसार रूप के द्वारा ही नाम की प्राप्ति होती है। उनकी दृष्टि में राधा जीव तथा श्रीकृष्ण परमात्मा हैं। किसी रूप-भावना में अपने को आबद्ध रखने की वे निंदा करते हैं। वेदांत के अनुसार वे भी पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड की एकता मानते हैं। इस प्रकार पंचसखा धर्म में अपना एक वैशिष्ट्य है जिसमें वैष्णव, तांत्रिक तथा बौद्ध तत्त्वों का एक मंजुल सामरस्य उपस्थित किया गया है[1]।



१ 'पंच सखा' के इस परिचय के लिए हम निम्नलिखित लेखकों के विशेष ऋणी हैं—

(क) नगेंद्रनाथ वसु—माडर्न बुद्धिज़्म, कलकत्ता १९११।

(ख) प्रो० चित्तरंजन दास—जनवाणी पत्रिका, अप्रैल १९५०, काशी पृ० २६६—२७४।

(४)

असम का वैष्णव मत

मध्ययुग में वृंदावन से कृष्णभक्ति की सरिता इतने प्रवाह से वहने लगी कि उसने उत्तरी भारत के किसी भी प्रांत को अछूता नहीं छोड़ा। भारत का सबसे पूरबी प्रांत भी इस वैष्णवता के प्रचुर प्रभाव से बच नहीं सका। असम प्रांत शाक्त उपासना का दृढ़ गढ़ रहा है। कामाख्या पीठ शाक्त पीठों में मूर्धन्य-स्थानीय है और वह कामरूप (आसाम) में ही स्थित है। ऐसे शाक्त प्रांत को विशुद्ध वैष्णव प्रांत में परिणत कर देना हँसी खेल की बात न थी, परंतु असम-प्रांतीय वैष्णव प्रचारकों के अदम्य उत्साह, अश्रांत परिश्रम तथा अमिट लगन का ही यह परिणाम है कि आज वहाँ की ९८ प्रतिशत जनता वैष्णव धर्म में दीक्षित है तथा भगवान् कृष्ण को अपना उपास्य देव मानती है। इस विपुल परिवर्तन का श्रेय है असम के वैष्णवाग्रणी शंकरदेव तथा उनके प्रिय शिष्य माधवदेव को। इसी वैष्णव युगल की मनोरम कीर्ति-कौमुदी असम-प्रांत के साहित्य के ऊपर तथा तद्देशीय जनता की कोमल मनोवृत्ति, अहिंसामय आचरण तथा उदात्त धर्म भावना के ऊपर सदा के लिए अंकित है।

---

१ द्रष्टव्य श्रीयुत मेधी का विद्वत्तापूर्ण लेख 'असम के ब्रजबुलि साहित्यका दार्शनिक स्वरूप'—संमेलन पत्रिका भाग ३० संख्या ६–७ तथा सं० ११–१२; सं० १९९९ (माघ–फाल्गुन) तथा सं० २००० (आषाढ़-श्रावण)। ग्रंथकार इस लेखक का असमीय वैष्णवमत के विवरण के लिए विशेष आभारी है।

(१)

शंकरदेव

शंकरदेव का जन्म सन् १४४६ ई० में असम प्रांत के एक साधारण कायस्थ कुल में हुआ था। वह कुल शक्ति का घोर उपासक था। बाल्यावस्था में ही माता की ममता से तथा पिता की रक्षा से विरहित यह बालक पढ़ने में इतनी लगन से जुट गया कि इमने थोड़ी उम्र में ही विद्याध्ययन समाप्त कर दिया। योग तथा अन्य शास्त्रों में अलौकिक पाण्डित्य के कारण समाज में इनका प्रभाव बढ़ने लगा। वृद्धा पितामही तथा युवति भार्या की मृत्यु ने संसार की असारता का सच्चा चित्र इनके सामने खड़ा कर दिया। फलतः गृहस्थी से नाता तोड़ कर इन्होंने श्रीकृष्ण से अपना नाता जोड़ा। उत्तरी भारत के पवित्र तीर्थों की यात्रा करने के अनंतर ये एक महनीय भागवत उपदेशक के रूप में जनता के आगे आये। तत्कालीन कोच राजा नर नारायण (१५१४—१५८४ ई०) प्रथमतः विद्वेषियों की कुमंत्रणा के कारण इनका द्वेषी था, परंतु इनके उपदेश तथा चमत्कार से प्रभावित होकर वह इनका सहायक तथा शिष्य बन गया। फलतः भक्तिरस में सराबोर इस महात्मा ने अपने ग्रंथों से तथा उपदेशों से कृष्ण-भक्ति का इतना प्रचार किया कि समग्र असम प्रांत भक्तिभावना से उच्छ्वलित हो उठा। यदि शंकरदेव को हम आसाम का महाप्रभु चैतन्य कहें तो इसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है। इस कार्य में इनके प्रधान सहायक थे इनके पट्ट शिष्य माधवदेव। आप गोविंद-गिरि के पुत्र तथा बांढुका स्थान के निवासी थे। आरंभ में घोर शाक्त थे, परंतु शंकरदेव के अलौकिक पांडित्य के सामने

परास्त होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया तथा गुरु के वैष्णव धर्म के प्रचार कार्य को भलीभाँति संपन्न कर १५६८ ई० में गोलोकवासी हुए।

शंकरदेव के द्वारा चलाये गये धर्म को कहते हैं **महाधर्म**, या **महापुरुष धर्म** अथवा **महापुरुषिया धर्म**। शंकरदेव अपनी महनीयता के कारण 'महापुरुष' के नाम से अभिहित किये जाते थे और इसी लिए तत्प्रचारित धर्म का तथाविध नाम है। इस धर्म में आने को 'शरण' कहते हैं तथा दीक्षित व्यक्ति को 'शरणिया'। इनका दीक्षा मंत्र है 'शरणं मे जगन्नाथ श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम' और इसी मंत्र के द्वारा ये लोगों को अपने धर्म में दीक्षित बनाते थे। ये कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म मानते थे तथा उनकी पूजा से अतिरिक्त पूजा का सदा निषेध करते थे। इन्होंने भागवत धर्म के प्रचार के लिए अक्लांत परिश्रम किया तथा जीवन भर धर्मोपयोगी ग्रंथों की रचना संस्कृत में, विशेषतः अपनी मातृभाषा में, करते रहे। असम साहित्य का उद्गम शंकरदेव की श्लाघनीय रचनाओं से ही होता है। इन्होंने भगवान् व्रजनंदन की रूपमाधुरी तथा स्नेहसुधा से सिक्त अलौकिक पदों तथा कीर्तनों द्वारा असम प्रांत में भक्ति की सरिता उच्छलित कर दी। असम प्रांतीय वैष्णव भक्ति के आध्यात्मिक रूप का सर्वांग-सुंदर प्रतिपादक ग्रंथ है शंकरदेव का संस्कृत-निबद्ध 'भक्ति रत्नाकर' जिसका अनुवाद असमिया भाषा में श्री रामचरण ठाकुर ने किया है। भक्ति रत्नावली में भी भक्तितत्त्व का विवेचन बड़ी मार्मिकता तथा विशदता के साथ किया गया है। यह भक्तिरत्नावली असम की उन चार पवित्र धार्मिक पुस्तकों में अन्यतम है जिसे प्रत्येक भक्त को पढ़ना या सुनना पड़ता है। शेष तीन ग्रंथों के नाम

हैं—कीर्तन, दशम और नामघोष। बड़गीत, धार्मिक नाटक तथा समग्र धार्मिक पद इन्हीं चार ग्रंथों के परिशिष्ट रूप में हैं तथा व्रजबुली (व्रजबोली) में निबद्ध किये गये हैं।

२

सिद्धान्त

शंकरदेव का अध्यात्म-पक्ष है पूर्ण अद्वैतवाद तथा व्यवहार पक्ष है भक्ति की साधना। यह मत श्रीमद्भागवत के ही भक्ति-सिद्धांतों का विलास है और भागवत के समान ही यह संप्रदाय अद्वैत के साथ भक्ति के पूर्ण सामञ्जस्य का पक्षपाती है। जीव भगवान् का ही रूप है, परंतु माया के कारण वह दयनीय स्थिति में अपना जीवन यापन कर रहा है। प्राणी-मात्र उस सर्वशक्तिमान् के ही अभिव्यक्त रूप हैं। अतः जीव का यह प्राकृतिक धर्म है कि यह उस परमपिता को पहचाने तथा श्रद्धा-भक्ति से उसका सांनिध्य प्राप्त करे। परंतु माया के हाथों जीव की कितनी दयनीय दशा हो गई है? इसका शंकरदेव के शब्दों में विवरण पढ़िए। वे जीव के भाग्य पर विलाप कर रहे हैं—यह संसार एक गहन वन है जो चारों ओर से सांसारिक तृष्णारूपी मोहपाशों से घिरा हुआ है। इस निविड़ अरण्य में माया के फंदे मे जकड़ा हुआ जीव हरिण के समान इधर से उधर भटक रहा है। कालरूपी व्याधा उसे पकड़ने के लिए दौड़ा चला आ रहा है। काम क्रोध रूपी कुत्ते उसे काट खाने के लिए उसका पीछा कर रहे हैं। लोभ तथा मोहरूपी दो बाघ उसे चैन लेने नहीं देते। उसकी चेतना खो गई है। वह जान नहीं पाता कि इस भय तथ विषाद-

मय भवसागर को किस प्रकार पार करें। बड़े सुंदर रूपक में कवि ने निबद्ध किया है जीव की हीन दीन दयनीय दशा को—

ए भव गहन वन, अति मोह पाशे घन,
ताते हामो हरिण वेढ़ाय।
फंदिलो मायार पाशे, काल व्याध धाया आसे,
काम क्रोध कुत्ता खेदि खाय।
हराइल चेतन हरि, न जानो किमते तरि,
गुणिते दगध भेल जीव।
लोभ मोह दुहो वाघ, सतते न छाड़े लाग,
राखु राखु राखु सदाशिव॥

—बड़गीत १६।

माया के चक्कर से उद्धार पाने का सरल सुगम उपाय है हरि-भक्ति जो माया के बंधनों को तोड़ कर जीव को जन्ममरण की विषम बाधा से मुक्त कर देती है[1] तथा सबके लिए सहज-साध्य है। भक्ति-मार्ग में जात-पाँत का कोई भी व्याघात नहीं है[2]।

---

१ हरिक भक्ति अहि परम संपद।
दोहि दोस सब मिलाबय मनोरथ॥
—केलि-गोपाल नाट।
तेजिए सयल मनोरथ आवरि, हरि पदे प्रेम मिलायो।
पुनु आवा गमन एड़ायो, माया भरम बाहुड़ायो॥
—बड़गीत ७७।

२ न लागे भकति देव, द्विज सदाचार हुइये।
समन्त प्राणीर अधिकार।
—नृसिंहलीला नाटक।

यह सब के लिए उन्मुक्त राजमार्ग है जिसका सेवन गंतव्य स्थान पर अवश्य ही पहुँचा देता है। इसके लिए न क्रिया की आवश्यकता होती है, न ज्ञान की, न धन की और न दान की—

जप तप तीरथ करसि गया, काशी वास वयस गोवाइ।
जानि योग युगुति मन मोहित, बिने हरि भकति गति नाइ॥
—बड़गीत १३।

भागवत के मतानुसार माधव देव ने भी ईश्वर प्रेम की तीन अवस्थाएँ निर्दिष्ट की हैं[1]—(१) श्रद्धा, (२) रति, (३) भक्ति। अध्यात्ममार्ग के पथिक के लिए श्रद्धा के संबल की नितांत आवश्यकता होती है। आस्तिक्य बुद्धि का ही नाम है श्रद्धा अर्थात् ईश्वर में पूर्ण विश्वास। रति का अर्थ है—मन के द्वारा अभीष्ट किसी व्यक्ति के प्रति मन की अनुकूलता होना (=रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्—साहित्य-दर्पण) तब परानुरक्ति रूपा भक्ति का उदय होता है। भक्त के मानस का यही क्रम-विकाश है। इस प्रकार शंकरदेव के द्वारा भक्ति पंथ का मुख्य उद्देश्य था—ईश्वर के प्रति विश्वास की भावना के साथ साथ उसके प्रति प्रेम की भावना का संमिलन। इसके लिए इन्होंने श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन आदि भक्ति के विविध प्रकारों को अपनाया है परंतु इस नवधा भक्ति में उन्होंने श्रवण, कीर्तन

१ मोक्षदाता मजि मोत शीघ्रे अतिशय।
अनुक्रमे श्रद्धा रति भकति मिलय॥
—भक्ति रत्नावली, २८६

तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि।
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
—भागवत ३।२५।२५।

तथा स्मरण को विशेष महत्त्व दिया है[1]। यह ध्यान देने की बात है कि कृष्ण को आराध्य देव मानने पर भी शंकरदेवके भक्ति-मार्ग में दास्य भक्ति पर ही सबसे अधिक आग्रह दिखलाया गया है। 'यही कारण है कि माधुर्य भक्ति के उपासक गौडीय वैष्णव पंथ के विपरीत यहाँ राधा का स्थान नितांत महत्त्वहीन है। शंकरदेव के तत्त्वोपदेश में राधा के लिए कोई स्थान नहीं है। असम के नाटकों में राधा का नाम कहीं भी देखने में नहीं आता। 'केलि गोपाल', 'रास झुमुरा' तथा 'भूषण हरण' केवल इन्हीं तीन नाटों (नाटकों) में राधा का नाम निर्दिष्ट मिलता है परंतु यह यही सूचित करता है कि अन्य गोपियों की अपेक्षा उसका स्थान महत्त्वशाली न था। वह सामान्य गोपियों के समान ही कृष्ण का पूजन तथा आदर करती है। गौडीय वैष्णव तथा वल्लभ मत में निर्दिष्ट रसपेशलता तथा प्रेम-स्निग्धता असम प्रांतीय राधा में देखने को भी नहीं मिलती। राधा साधारण गोपिका के सदृश कृष्ण से पूछती है—

जादव हे, कैछन बात बेगारि।
सकल निगम तेरि अंत न पावत।
हाम पामर गोप नारि॥ ध्रुव॥
गुरु परम गुरु निखिल निगम पति,
मानुस माव तोहारि।

---

१ पुत्र वासना दुर करहु हामारि।
वचने रहोक गुणनाम तोहारि॥
तुआ कथा श्रवणे रहोक अविराम।
कर मोरि रहोक तोहारि करे काम॥
—अर्जुन भंजन नाट।

चतुर वयन तेरि, माया विमोहित,
जाने नाँहि योग विचारि।
तेरा अद्भुत भाव न जानिए,
कयालु गरव नाथ तोह।
राधा उचित बात, कहय माधव दिन,
गति गोविंद-पद मोह॥

—रास झुमुरा, ४

(३)

एकशरण

शंकरदेव के द्वारा व्याख्यात भक्तिपंथ की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है उनका 'एक शरण' संबंधी सिद्धांत। परम-तत्त्व कृष्ण ही जीवों के एकमात्र अंतिम आश्रय हैं। अतः उनकी शरण में जाना जीव का परम कर्तव्य होता है। भवपारावर से मुक्ति पाने के लिए भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण ही 'एकशरण' का तात्पर्य है। श्रीरामानुज के 'प्रपत्ति' का भी यह लक्ष्य है। असम वैष्णवाचार्य का स्पष्ट कथन है—

कृष्ण किंकर कह, विछोदि विसयकामा।
रामचरण लेहु शरण, जप गोविंदकु नामा॥

—बड़गीत।

साधारण भक्त-समाज में 'शरण' का अर्थ है—प्रार्थना तथा भजनके क्षेत्रमें आना तथा वैष्णवमतमें दीक्षित होना। इसी कारण इनके वैष्णव अनुयायी 'शरणिया' नाम से पुकारे जाते हैं। 'शरण'

की विशेषता के साथ ही असम भक्तिपंथ की एक अन्य विशिष्टता है—नाम पर आग्रह जिसे यहाँ नाम-धर्म कहते हैं। भक्ति का सर्वोत्तम रूप है नाम की साधना। भगवान् की शरण जाने की अपेक्षा भगवान् के नाम के शरण जाने का वे उचित उपदेश देते हैं। शंकरदेव ने नामधर्म की भावना को इस गीत में चारु रूप से दर्शाया है—

राग धनाश्री

बोलहु राम नामे से मुकुति निदान।
भव वैतरणी तरणी सुख सरणी
नाहि नाहि नाम समान॥ ध्रुव॥
नाम पंचानन नादे पलावत
पापदंती भयभीत।
बुलिते एक सुनिते सत नितरे
नाम धरम विपरीत॥
वचने बुलि राम धरम अरथ काम
मुकुति सुख सुखे पाइ।
सब कहु परमा, सुहृद् हरि नामा
छुटे अन्तकेरि दाइ॥
नारद शुकमुनि राम नाम चिनि
नाहि कहल गति आर।
'कृष्णकिंकर' कय छोड मायामय
राम परम तत्व सार॥

—बड़गीत ८

इस भक्ति पंथ में दास्य भक्ति का प्राधान्य है। भक्ति की पवित्रता तथा उपादेयता पर समधिक आदर है। माधवदेव का

कथन है कि हरि सब के हृदय में विराजमान होने पर भी कर्म पर विश्वास रखनेवाले से दूर हट जाते हैं—दूर भाग जाते हैं, परंतु श्रवण तथा कीर्तन के द्वारा भगवान् का भक्त अहंकारी होने पर भी अपने अभीष्ट को पा लेता है। माधव के शब्द बड़े स्पष्ट तथा विशद हैं—

कर्मत विश्वास यार, हियात थाकंतो हरि।
अतिशय दूर हंत तार।
दूरतो विदूर हंत तार॥
अहंकार थाकंते ओ, साक्षात् कृष्णक पावे।
श्रवण कीर्तन धर्म यार॥

—नामघोषा ६.

शंकरदेव के कीर्तनों तथा पदों में काव्यसुलभ सुषमा तथा माधुरी का अभाव नहीं है। इनके पद भक्त के भावुक हृदय के रसस्निग्ध उद्गार हैं। एक उदाहरण देखिए—

उपवन वर्णन

पाछे त्रिनयन दिवा उपवन देखिलंत विद्यमान।
फल फुल धरि जकमक करि आछे यत वृक्षमान॥
शिरीष सेउती तमाल मालती लवंग बागी गुलाल।
करवीर बक कांचन चंपक फलभरि भागे डाल॥
शेवाली नेवाली पलाश पारली पारिजात युति जाइ।
बकुल बंदुली आछे फुलि फुलि तार सीमा संख्या नाइ॥
कनौर कनारी कदंब बाबरी नागेश्वर सिंहचंपा।
अशोक अपार देवांग मंदार मणिराज राजचंपा॥

समचरणसरोजं सान्द्रनीलाम्बुदाभं
जघननिहितपाणिं मण्डनं मण्डनानाम् ।
तरुणतुलसिमाला-कन्धरं- कञ्जनेत्रं
सदयधवलहासं विठ्ठलं चिन्तयामि ॥

(१)

(क)

महानुभाव पंथ

महाराष्ट्र प्रांत भागवत धर्म का बहुत प्राचीन काल से मुख्य क्षेत्र बना हुआ है। यहाँ का प्रधान वैष्णवपंथ वारकरी के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी लोकप्रियता तथा विपुल प्रचार के कारण यह पंथ तो महाराष्ट्र का सार्वभौम पंथ है, परंतु इससे भिन्न एक वैष्णव पंथ और भी है जो मानभाव नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदाय के लोगों ने अपने ग्रंथों और सिद्धांतों को इतनी कड़ाई से छिपा रखा था कि इसके विषय में भ्रांति फैलना स्वाभाविक ही है। परंतु मराठी साहित्य की विपुल सेवा करने के कारण तथा मुसलमानों के आक्रमणों से अपने धर्म की रक्षा करने के हेतु मानभावों का नाम भारत के धार्मिक इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा।

इस पंथ के भिन्न-भिन्न प्रांतों में भिन्न-भिन्न नाम हैं। महाराष्ट्र में इसे महात्मा पंथ तथा मानभाव (जो महानुभाव शब्द का अपभ्रंश है) पंथ कहते हैं। गुजरात में अच्युत पंथ और पंजाब में जयकृष्णि पंथ के नाम से पुकारते हैं। इस नामकरण का कारण पंथ में कृष्णभक्ति की प्रधानता है। इस पंथके वास्तविक इतिहास का पता अभी लगा है क्योंकि इसके अनुयायी अपने धर्म-ग्रंथों को अत्यंत गुप्त रखा करते थे। वे उसे अन्य मतावलंबियोंकी दृष्टि

(ख)

पंथ के आचार्य

श्री गोविंद प्रभु

विक्रमी संवत् १२४५ के लगभग विदर्भ (वर्तमान बरार) प्रदेश में ऋद्धिपुर स्थान के समीप काठ सूरे ग्राममें श्रीगोविंद प्रभु उर्फ गुण्डम प्रभु या गुण्डोबा का जन्म हुआ। ये काण्व शाखीय ब्राह्मण थे। बचपन में इनके माता-पिता परलोकवासी हुये, तब उनकी मौसी इन्हें ऋद्धिपुर ले आयी और यहीं उनका पालन पोषण, उपनयन तथा विद्याध्ययन हुआ। इसी अवस्था में इन्हें परमार्थ सुख का चसका लगा और क्रमशः उस सुखानुभव की वृद्धि होती गयी और ये सिद्धि कोटि को प्राप्त हुये। ये भगवान् श्री कृष्ण के परम भक्त थे। पंढरपुर के वारकरी भागवत पंथ के साथ साथ या उससे कुछ पहले ही विदर्भ देश में जो महानुभाव पंथ उदित हुआ था, उसके ये ही आद्यपुरुष थे। संवत् १३४२ (=१२८४ ईस्वी) समाधिस्थ हुये।

श्री चक्रधर

श्री गोविंद प्रभु के शिष्य श्री चक्रधर हुए जो महानुभाव पंथ के प्रवर्तक कहे जाते हैं। ये गुजरात से विदर्भ देश में आये थे। गुजरात के भड़ोंच प्रांत के राजा मल्लदेव के प्रधान मंत्री विशालदेव नामक कोई नागर ब्राह्मण थे जिनके ये चक्रधर पुत्र हैं। राजा मल्लदेव को कोई सन्तान न थी। इस कारण मृत्युसमय में उन्होंने अपना राज विशालदेव को

दे दिया। विशालदेव के पुत्र हरपाल (ये ही बाद में चक्रधर हुये) बड़े पराक्रमी थे। पिता के राजत्व में तथा उनके पश्चात् इन्होंने कई लड़ाइयाँ जीतीं। इनके दो तीन विवाह भी हुए थे। इन्होंने बड़ा ऐश्वर्य भोगा पर ऐसे ऐश्वर्य और विलास भोग से इनका जी उचटा कि माता की आज्ञा ले कर ये रामटेक की यात्रा के लिये जो निकले सो रास्ते में ऋद्धिपुर आकर ठहर ही गये। वहाँ श्रीगोविंद प्रभु के उन्हें दर्शन हुये; प्रभु के चरणों में उनकी निष्ठा हुई और सदाके लिये ऋद्धिपुर में बस गये। गोविंद प्रभु का इन पर पूर्ण अनुग्रह हुआ और उन्होंने इनका सांप्रदायिक नाम चक्रधर रखा। महानुभाव पंथ में चक्रधर श्रीकृष्ण को कहते हैं। गुरु के समान चक्रधर भी दीर्घायु थे। श्रीचक्रधर का जन्म गुजरात में हुआ था। संवत् १३२० में इन्हें भगवान् दत्तात्रेय का साक्षात्कार हुआ और तब इन्होंने संन्यास दीक्षा ली और ऋद्धिपुर लौट कर महानुभाव पंथ की स्थापना की। सं० १३२० से १३२६ तक इन ६ वर्ष में इनके इर्दगिर्द ५०० शिष्य जमा हो गये। इनमें १२ स्त्रियां थीं। इस पंथ के श्रीकृष्ण और श्रीदत्त दोनों ही उपास्य देव हुये। श्री चक्रधर ने इस पंथ को चलाकर जो लोक-संग्रह करना आरंभ किया उसमें श्री भगवद् गीता के (अ० ६ श्लोक ३२ के) "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यांति परां गतिम्" इस श्लोकार्ध पर बड़ा जोर दिया था। इसके आधार पर श्री चक्रधर ने स्त्रियों और शूद्रों को संन्यास दिलाना शुरू किया। इससे उनका पंथ लोक में सर्वमान्य नहीं हुआ। संवत् १३२६ में श्रीचक्रधर बद्रीनारायण की ओर गये और फिर नहीं लौटे।

श्रीनागदेवाचार्य (सं० १२६३—१३५६)—श्री चक्रधर के पट्ट शिष्य थे। ये ही महानुभाव पंथ के मुख्य प्रचारक थे। कहते हैं 'श्रीगोविंद प्रभु का तप', चक्रधर की वेध-शक्ति और नाग-

देव की संगठन शक्ति, इन तीन शक्तियों के एकीभूत होने से ही यह संप्रदाय खड़ा हुआ।

श्रीगोविंद प्रभु, श्रीचक्रधर और श्रीनागदेवाचार्य महानुभाव पंथ के इन तीनों आचार्य महानुभावों में से किसी ने कोई ग्रंथ नहीं लिखा है। श्रीचक्रधर के मुख से समय समय पर जो वचन निकले उनको उनके शिष्यों ने संग्रहीत कर रखा है। चक्रधर के शिष्य महींद्र व्यास या महीभट्ट ने 'लीलाचरित्र' नाम से एक मराठी ग्रंथ लिखा है जिसमें चक्रधर की १५०० लीलाएं वर्णित हैं। इन-लीला प्रसंगों में श्रीचक्रधर के जो वचन आये हैं उन्हें ही एकत्र करके सं० १३५५ में केशवराजसूरि ने इस संप्रदाय का एक सूत्रग्रंथ निर्माण किया जिसे 'सिद्धांत सूत्र पाठ' या आचार्य-सूत्र कहते हैं। महानुभाव पंथ इस ग्रंथ को आदि ग्रंथ मानता है। इसमें १६०८ सूत्र हैं। इस आदि ग्रंथ के अतिरिक्त यह पंथ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत को भी प्रमाण ग्रंथ मानता है। महानुभाव पथ के उपर्युक्त आदि-ग्रंथ के अनुसार चार युगों के चार अवतार माने जाते हैं। कृतयुग में हंसावतार, त्रेता में दत्तावतार (दत्त का स्वरूप एकमुखी चतुर्भुज विष्णु), द्वापर में द्वारकाधीश श्रीकृष्ण और कलियुग में श्रीचक्रधर। श्रीचक्रधर के शिष्य उन्हें श्रीकृष्ण का स्वरूप ही मानते थे और शिष्यों के साथ गुरु का बर्ताव भी विलक्षण प्रेम का होता था।

महानुभाव पंथ में स्त्री पुरुष दोनों को संन्यास दीक्षा दी जाती थी। स्त्री के रहते पुरुष के समान ही पुरुष के रहते स्त्री को भी इस पंथ में सन्यास लेने का अधिकार था।

कोई दामोदर पंडित थे उनकी पत्नी 'हिराम्बा' को पति के पहले ही वैराग्य हुआ और उसने श्रीनागदेवाचार्य से १३२६ सं०

में संन्यास दीक्षा ली। पति अब भी संसार में अटके पड़े रहे। दो वर्ष बाद संन्यासिनी ने अपने इन पूर्व पति को समझा कर चेत दिलाया। तब सं० १२३१ में दामोदर पंडित ने भी संन्यास दीक्षा ली और पहले के पति पत्नी भाई-बहन की तरह रहने लगे। इस पंथ के लोग सं० १४२० तक काषाय वस्त्र परिधान करते थे। पीछे मुसलमानों के जमाने में इन्होंने काले वस्त्र पहनना प्रारंभ किया। काले वस्त्र पहनने के कारण ये "शाहपोश" कहलाने लगे और इन्हें जजिया कर मुआफ था। अब आज कल इन काले कपड़ों को त्याग कर फिर काषाय वस्त्र पहनने का आंदोलन इन लोगों में चल रहा है।

इस पंथ के ७ ग्रंथ मुख्य हैं जो पूज्य माने जाते हैं। १—कवीश्वर भास्कर कृत शिशुपाल वध, २—इन्हीं का एकादश स्कंध (ये दोनों ग्रंथ क्रमशः सं० १३३० और १३३१ में लिखे गये।) ३—दामोदर पंडित कृत 'वत्स-हरण' (सं० १३२५) ४—नरेंद्र कवि कृत 'रुक्मिणी स्वयंवर' (सं० १३४५) ५—विश्वनाथ वालापुरकर कृत 'ज्ञानवोध' (सं० १३८८) ६—रवलो व्यास कृत 'सह्याद्रि वर्णन (सं० १३८६) और ७—नरोव्यास कृत 'ऋद्धिपुर वर्णन' (सं० १४२०)। ये सभी ग्रंथ मराठी भाषा में हैं। पहले तीन कृष्ण लीला परक हैं और बाकी चार सांप्रदायिक हैं।

इनके अलावे महदंबा के कुछ मंगल गीत हैं। महदम्बा नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थी और इन्हें श्रीचक्रधर से दीक्षा मिली थी। इनके दादा गुरु ने एक बार श्रीकृष्ण विवाहोत्सव की लीला करायी थी। उसमें महदंबा ने ये मंगल गीत गाये थे। महानुभाव पंथी लोग इन्हें संत मानते हैं और इनका वही मान है जो वारकरी भागवत पंथ में जनाबाई का जो इनके समकालीन

थीं। 'भावे व्यास' नामक एक संत उसी समय और हो गये हैं जिन्होंने 'पूजा-अवसर' या श्रीचक्रधर जी की दिनचर्या नामक ग्रंथ लिखा है। ये बड़े ज्ञानी और विरक्त थे।

नागदेवाचार्य के शिष्य केशवराज सूरि के अनेक ग्रंथ हैं जिनमें सिद्धांत सूत्र-पाठ और 'मूर्ति प्रकाश' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'सिद्धांत-सूत्र-पाठ' में जैसा हम पहले वर्णन कर चुके हैं श्रीचक्रधर के वचनों का सुव्यवस्थित संग्रह है और 'मूर्तिप्रकाश' में श्रीचक्रधर के रूप गुणों का वर्णन है। इस प्रकार मानभाव पंथ की साहित्यिक संपत्ति प्राचीन तथा प्रचुर है। इन ग्रंथों का अनुशीलन अब होने लगा है। आशा है कि गहरी छानबीन करने से इनके सिद्धांतों का विशेष परिचय जिज्ञासु जनों को होगा।

(ग)

सिद्धांत तथा ग्रंथ

इस धर्म के उदय का कारण यह था कि हिंदुओं में वर्ण-विद्वेष के कारण हिंदूधर्म में नाना प्रकार की कुरीतियों ने घर बना गया था। इन्हीं को दूर कर पारस्परिक सहयोग तथा मैत्रीभाव को दृढ़ करने के लिए इस महात्मा पंथ का उदय हुआ। मत के अनुयायियों में दो वर्ग हैं—(१) उपदेशी तथा (२) संन्यासी। उपदेशी गृहस्थ हैं, वर्णव्यवस्था मानते हैं। इनकी विवाह शादी पंथ के भीतर तथा बाहर सजातीयों में हो हुआ करती है। संन्यास की व्यवस्था बड़ी उदार है। चक्रधर ने संन्यास विरागियों के अतिरिक्त शूद्रों तथा स्त्रियों के लिए भी मान्य बना कर उनकी उदारता का परिचय दिया है। सनातनी संन्यासी [illegible] मत मानते हैं, परंतु इनकी [illegible] बनाते

रखने के विचार से और मुसलमानों के विद्वेष से आत्मरक्षण की भावना से प्रेरित होकर मानभावी संन्यासी काला वस्त्र धारण करते हैं। ये मूर्ति बनाकर भगवान् के विग्रह की पूजा नहीं करते, परंतु अपने महात्माओं के जन्म-स्थल तथा सिद्धि-क्षेत्रों में 'चबूतरा' बाँधते हैं।

सिद्धांत—इनके उपास्य देवता श्रीदत्तात्रेय तथा श्रीकृष्ण हैं। इनके देवताओं की उपासना से स्पष्ट है कि ये भक्ति के साथ योगमार्ग को भी संमिलित करते थे। इनका सर्वश्रेष्ठ मान्य ग्रंथ भगवद्गीता है, जिसके ऊपर चक्रधर से लेकर आज तक इस मत के अनुयायी लेखकों ने अपने सिद्धांतानुसार टीकायें लिखी हैं। इनकी सिद्धांत-दृष्टि द्वैतवाद की है। ये जीव तथा शिव को भिन्न तत्त्व मानते हैं। परमेश्वर स्वयं निर्गुण तथा निराकार होता है, परंतु भक्तों के ऊपर दया से वही सगुण रूप धारण करता है। उसकी शक्ति माया है जो जीव को जीवत्व तथा निर्गुण परमेश्वर को सगुणत्व प्रदान करती है। वही जीवों से समग्र व्यापारों का विधान कराया करती है। मनुष्य इस शरीर में पूर्वकर्मों के अनुसार फल भोगता है और ये फल चार प्रकार के होते हैं—स्वर्ग, नरक, कर्मभूमि तथा मोक्ष। सामान्य-रूप से ये ही मानभावों के आध्यात्मिक मान्य सिद्धांत हैं।

आद्य ग्रंथ—गीता के अनंतर श्रीकृष्ण के लीलापरक भागवत पुराण के दशम तथा एकादश स्कंधों को भी ये पूर्ण आस्था से मानते हैं। अन्य ग्रंथ मराठी भाषा में ही निबद्ध हैं। इनमें सर्वमान्य 'सिद्धांत सूत्रपाठ' है जिसमें चक्रधर के वचनामृतों का संग्रह केशवराज सूरि ने किया है। चक्रधर ने किसी ग्रंथ की तो रचना नहीं की। उनके मुख से निकले हुए उपदेश ही इस पंथ के सर्वस्व हैं जिन्हें 'महीन्द्रभट्ट' ने 'लीलाचरित्र'

नामक चक्रधर के चरित्र में प्रसंगवश सम्मिलित किया था। इन्हीं को अलग पुस्तक के रूप में संग्रह करके इस 'सूत्रपाठ' का निर्माण किया गया है। प्रतिदिन 'सूत्रपाठ' का पाठ करना तथा अनुशीलन करना प्रत्येक मानभावी का परम कर्तव्य है। इस 'सूत्रपाठ' ग्रंथ के ऊपर एक बड़ा भारी साहित्य संपन्न किया गया है। 'पारिमंडल' आम्नायके मूल-पुरुष गोपाल पंडित ने इन सूत्रों की 'अन्वय व्यवस्था' लिखी है (१२४७ शक= १३२५ ई०)। परशुराम ने 'प्रकरणवश' नामक ग्रंथ में इन सूत्रों के कथन का प्रसंग लिखा है। इसी प्रकार के नाना टीका-ग्रंथों का प्रणयन इस ग्रंथ की महनीयता तथा गूढ़ार्थता को प्रकट कर रहा है।

अब तक ज्ञानेश्वर महाराज की ज्ञानेश्वरी (रचनाकाल १२१२ शक=१२९० इस्वी) ही मराठी साहित्य का सर्वप्रथम तथा प्राचीन ग्रंथ मानी जाती थी, परन्तु पूर्वोक्त ग्रंथों में अधिकांश की रचना ज्ञानेश्वर से पूर्व है। अतः मराठी भाषा तथा साहित्य के उदय के लिए इनका महत्त्व अत्यधिक है। व्यावहारिक कार्य में भी मानभावी गृहस्थ शूरवीर तथा कर्तव्यपरायण थे। इन्होंने पंजाब जैसे यवन-प्रधान देश में अहिंसा का प्रचार किया; काबुल में हिंदू मंदिर बनाया, जिसका पहला पुजारी नागेंद्रमुनि था। आ-पुरकर नामक [illegible] ब्राह्मण था; स्वयं महाराष्ट्र में भी यवनधर्म के निवारण का प्रयत्न किया। इन्होंने गजनी, काबुल तक मराठी भाषा का प्रचार किया। दोस्त मुहम्मद का प्रधान [illegible], और कश्मीर के महाराज गुलाब सिंह का सेनापति सरदार भगत सूरत राम दोनों मानभावी उपदेशी थे। अतः इन्होंने मराठी को धर्म-भाषा अपने राज्य में बनाया था। आज भी लाहौर में बहुत से व्यापारी मानभाव हैं, जो अपने घरों में मानभावी

ग्रंथों का प्रकाशन भी कर रहे हैं। इस मत के महंत लोग भी अब अपने धर्मग्रंथों को, जिनकी विपुल संख्या आज भी मराठी भाषा में विद्यमान है, प्रकाशित करने की ओर अग्रसर दीखते हैं। यह मराठी साहित्य के लिए शुभ अवसर है[१]।

—०—

१ द्रष्टव्य देशपांडे का लेख; महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश भाग १८।

२

वारकरी पंथ

महाराष्ट्र में भागवत धर्म का विपुल प्रचार है। समग्र महाराष्ट्र देश का यही मान्य धर्म है। महाराष्ट्र का भागवत धर्म जो वारकरी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है पूर्ण रूप से वैदिक है। अपनी विशिष्टताओं से मण्डित हो कर यह सम्प्रदाय वहीं जन्मा, वहीं पनपा, वहीं इसने अपनी शाखाओं का विस्तार किया और आज भी पूरे देश भर में यह अपनी शीतल स्निग्ध छाया में हजारों नर-नारियों को विश्राम देता हुआ उन्हें संसार के शाप तथा ताप से मुक्त कर रहा है। समस्त महाराष्ट्रीय संत इसी मत के अनुयायी थे।

(क)

महाराष्ट्र का यह भागवत संप्रदाय पंढरपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान से संबद्ध है। यहीं पर ईंट के ऊपर खड़े विट्ठल जी की मूर्ति है, तथा उसके बगल में रुक्मिणी जी की मूर्ति है जो यहाँ रखु माई के नाम से प्रसिद्ध हैं। विट्ठल कृष्णचंद्र के बालरूप हैं। आषाढ़ की शुक्ला एकादशी तथा कार्तिक की शुक्ला एकादशी विट्ठल के भावुक भक्त भगवान की भव्य मूर्ति के दर्शन से अपने जन्म तथा जीवन को सफल बनाने के लिये साल में कम से कम दो बार पण्ढरपुर की यात्रा किया करते हैं। इस यात्रा का नाम 'वारी' और इस प्रकार यात्रा के करने वालों का नाम हुआ 'वारकरी'। इसी कारण यह पंथ वारकरी के नाम से प्रसिद्ध है।

सुनते हैं कि प्राचीनकाल में महाराष्ट्र में "पुण्डरीक" नामक एक बड़े महात्मा हो गये हैं जो पण्ढरपुर में ही तपस्या करते थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान् श्यामसुंदर बालक का मनोरम रूप धारण कर उनके सामने उपस्थित हुए तब भक्त ने उनके बैठने के लिए सामने पड़ी हुई ईंट रख दी। उसी ईंट पर भगवान् बालकृष्ण खड़े हो गये और वह मूर्ति उसी बांकी झांकी के साथ आज भी खड़ी है। शंकराचार्य ने पाण्डु-रङ्गाष्टक में इनकी स्तुति करते हुये इसी घटना की ओर संकेत किया है।

महायोग-पीठे तटे भीमरथ्यां
वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं
परब्रह्म-लिङ्गं भजे पाण्डुरङ्गम् ॥

भक्त-प्रवर ज्ञानदेवने भी विट्ठलनाथकी बड़ी ही मनोरम स्तुति अपनी ज्ञानेश्वरी में की है—

जय जय देव निर्मल। निजजनाखिलमंगल ॥
जन्म जरा जलद जाल। प्रभंजन ॥१॥
जय जय देव प्रबल। विदलितामङ्गल — कुल।
निगमागम द्रुम फल। फल प्रद ॥२॥
जय जय देव निश्चल। चलित चित्तपान तुन्दिल।
जगदुन्मीलना-विरल। केलि — प्रिय ॥३॥
जय जय देव निष्फल। स्फुरदमन्दानंद बहल।
नित्य निरस्ताखिलमल। मूलभूत ॥४॥

बालकृष्णरूपी विट्ठल को तुलसी बहुत ही प्यारी है। अतः भक्त लोग गले में तुलसी की माला डालकर पूर्वोक्त एका-

२

वारकरी पंथ

महाराष्ट्र में भागवत धर्म का विपुल प्रचार है। समग्र महाराष्ट्र देश का यही मान्य धर्म है। महाराष्ट्र का भागवत धर्म जो वारकरी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है पूर्ण रूप से वैदिक है। अपनी विशिष्टताओं से मण्डित हो कर यह सम्प्रदाय वहीं जन्मा, वहीं पनपा, वहीं इसने अपनी शाखाओं का विस्तार किया और आज भी पूरे देश भर में यह अपनी शीतल स्निग्ध छाया में हजारों नर-नारियों को विश्राम देता हुआ उन्हें संसार के शाप तथा ताप से मुक्त कर रहा है। समस्त महाराष्ट्रीय संत इसी मत के अनुयायी थे।

(क)

महाराष्ट्र का यह भागवत संप्रदाय पंढ़रपुर नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल से संबद्ध है। यहीं पर ईंट के ऊपर खड़े विठ्ठल जी की मूर्ति है, तथा उसके बगल में रुक्मिणी जी की मूर्ति है जो यहाँ रुखू माई के नाम से प्रसिद्ध हैं। विट्ठल कृष्णचंद्र के बालरूप हैं। आषाढ़ की शुक्ला एकादशी तथा कार्तिक की शुक्ला एकादशी विठ्ठल के भावुक भक्त भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन से अपने जन्म तथा जीवन को सफल बनाने के लिये साल में कम से कम दो बार पण्ढ़रपुर की यात्रा किया करते हैं। इस यात्रा का नाम 'वारी' और इस पुण्य यात्रा के करने वालों का नाम हुआ 'वारकरी'। इसी कारण यह पंथ वारकरी के नाम से प्रसिद्ध है।

के आधार पर विठोबा विष्णु का ही अपभ्रंश है। विष्णु का ही प्राकृत रूप हुआ विठु जिसमें प्रेमसूचक 'ल' प्रत्यय तथा आदरसूचक 'बा' प्रत्यय जोड़ने से ही क्रमशः विट्ठल तथा विठोबा शब्द निष्पन्न होते हैं। शब्द के धात्वर्थ में भले ही मतभेद हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि विठोबा कहने से पण्ढरी में ईंट पर खड़े भगवान श्रीकृष्ण का ही ध्यान होता है। भगवान के बगल में पास ही श्रीरुक्मिणीजी विराजमान हैं जिनको भक्त लोग 'रखुमाई' के नाम से पुकारते हैं।

वारकरी-पंथ 'मालकरी-पंथ' अथवा 'भागवत-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध है। वारकरी का मुख्य बाहरी चिन्ह है तुलसी की माला का धारण। जिस प्रकार बिना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण की कल्पना असंभव है उसी प्रकार कृष्ण की प्रिय तुलसी की माला बिना धारण किये कृष्ण-भक्त वारकरी की सत्ता असिद्ध है। तुलसी की माला का इस संप्रदाय में अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही यह पंथ मालकरी भी कहलाता है।

वारकरी भागवत-धर्म का पूर्ण अनुयायी है। इसका पांचरात्र सिद्धांत के साथ स्पष्ट भेद होने पर भी विट्ठल की उपासना तथा भक्ति की मुख्यता के कारण यह निस्संदेह भागवत-धर्म है। वारकरी-पंथ चतुर्व्यूह के सिद्धांत को बिलकुल ही नहीं मानता। अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का मंजुल संमिलन वारकरी-पंथ का वैशिष्ट्य है। इस पंथ के उपास्य देवता श्री पांडुरंग हैं जो श्री कृष्ण के ही बाल-रूप माने जाते हैं और इसी लिए पण्ढरपुर दक्षिण द्वारिका के नाम से प्रसिद्ध है—

पावन पांडुरंगक्षिति। जे कां दक्षिण द्वारावती।
जेथ विराजे श्री विट्ठलमूर्ति। नामें गजंती पंढरी॥

(श्री एकनाथ भागवत २९। २४३)

दशी को लाखों की संख्या में विट्ठलजी के मधुर दर्शन के लिये उपस्थित होते हैं, और जब उनके भक्तिकलित कण्ठ से 'पुण्डरीक वरदे हरि विट्ठल' मंत्र की सान्द्रमन्द्र-ध्वनि गगनमंडल को भेदन करती हुई निकलती है तब दृश्य शब्दों में वर्णन करने योग्य नहीं होता। उस समय प्रतीत होता है कि धार्मिकता की बाढ़ आ गयी हो। भक्तजनों के मनोमयूर नाचने लगते हैं। आनन्द की सरिता उमड़ पड़ती है। हरिशयनी (आषाढ़ी) एकादशी की वारी में सबसे अधिक भीड़ दर्शनार्थियों की होती है। तीन लाख से भी ऊपर भक्तजन एकत्र होकर भगवान का दर्शन करते हैं। इस दृश्य की मानसिक कल्पना भी वारकरी संतों के व्यापक प्रभाव को आज भी बतलाने में समर्थ हो सकती है।

विट्ठल शब्द की व्युत्पत्ति

भगवान् विष्णु विट्ठल या विठोबा के नाम से महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हैं। इस शब्द की व्युत्पत्ति पंडितों ने नाना प्रकार से की है। धर्मसिंधु के लेखक काशीनाथ पाध्ये के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति है:—विदा ज्ञानेन ठान् शून्यान् लाति गृह्णाति इति विट्ठलः अर्थात् ज्ञानशून्य भोलेभाले अज्ञ जनों को जो अपनाते हैं वही विट्ठल हैं। तुकाराम के अनुसार गरुड़ वाहन होने के कारण ही विष्णु विठोबा नाम से प्रख्यात हुए (वि = पक्षी, गरुड़; ठोबा = वाहन = गरुड़ वाहन) इसके समर्थन में तुकारामजी के अभङ्ग का यह चरण है:—वीचा केला ठावा। म्हणोनि नांव विठोबा॥ कोई विद्वान विठ्ठल को विटस्थल का अपभ्रंश रूप मानते हैं। विटस्थल का अर्थ है ईंट पर खड़ा होनेवाला परंतु भाषाविज्ञान

के आधार पर विठोवा विष्णु का ही अपभ्रंश है। विष्णु का ही प्राकृत रूप हुआ विठु जिसमें प्रेमसूचक 'ल' प्रत्यय तथा आदरसूचक 'वा' प्रत्यय जोड़ने से ही क्रमशः विट्ठल तथा विठोबा शब्द निष्पन्न होते हैं। शब्द के धात्वर्थ में भले ही मतभेद हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि विठोबा कहने से पण्ढरी में ईंट पर खड़े भगवान श्रीकृष्ण का ही ध्यान होता है। भगवान के बगल में पास ही श्रीरुक्मिणीजी विराजमान हैं जिनको भक्त लोग 'रखूमाई' के नाम से पुकारते हैं।

वारकरी-पंथ 'मालकरी-पंथ' अथवा 'भागवत-पंथ' के नाम से प्रसिद्ध है। वारकरी का मुख्य बाहरी चिन्ह है तुलसी की माला का धारण। जिस प्रकार विना यज्ञोपवीत के ब्राह्मण की कल्पना असंभव है उसी प्रकार कृष्ण की प्रिय तुलसी की माला विना धारण किये कृष्ण-भक्त वारकरी की सत्ता असिद्ध है। तुलसी की माला का इस संप्रदाय में अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही यह पंथ मालकरी भी कहलाता है।

वारकरी भागवत-धर्म का पूर्ण अनुयायी है। इसका पांचरात्र सिद्धांत के साथ स्पष्ट भेद होने पर भी विट्ठल की उपासना तथा भक्ति की मुख्यता के कारण यह निस्संदेह भागवत-धर्म है। वारकरी-पंथ चतुर्व्यूह के सिद्धांत को बिलकुल ही नहीं मानता। अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का मंजुल संमिलन वारकरी-पंथ का वैशिष्ट्य है। इस पंथ के उपास्य देवता श्री पांडुरंग हैं जो श्री कृष्ण के ही बाल-रूप माने जाते हैं और इसी लिए पण्ढरपुर दक्षिण द्वारिका के नाम से प्रसिद्ध है—

पावन पांडुरंगक्षिति। जे कां दक्षिण द्वारावती।
जेथ विराजे श्री विट्ठलमूर्ति। नामें गर्जती पंढरी॥

(श्री एकनाथ भागवत २९। २४२)

इस पंथ के मान्य ग्रंथ हैं भागवत और भगवद्गीता। भागवत के एकादश स्कंध के ऊपर श्री एकनाथ ने ओवी छंदोबद्ध मराठी टीका लिखी है। वह नाथ भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की पूर्ण मान्यता इस संप्रदाय में है। यह संप्रदाय अपना आदर्श यही मानता है कि अपने स्त्री, पुत्र, घरबार, यहाँ तक कि अपने प्रिय प्राणों को भी भगवान् के चरणारविंद में अर्पण कर दे तथा भगवान् के नाम का कीर्तन करता हुआ अपने जीवन को बितावे[1]। भागवत-धर्म का भी यही पूर्ण लक्ष्य है। अतः वारकरी मत को भागवत-संप्रदाय के अंतर्गत मानना नितांत उपयुक्त है।

(ख)

पंथ का उदय

इस संप्रदाय का उदय कब हुआ, इस विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। साधारण विद्वानों की यह मान्यता है कि ज्ञानदेव ने तेरहवीं शताब्दी में इस पंथ का आरंभ किया। यह सिद्धांत ठीक नहीं, क्योंकि यह संभवतः बहिणा बाई नामक तुकाराम की शिष्याके एक प्रसिद्ध अभंग के ऊपर आधारित है—

संत कृपा झाली। इमारत फला आली ॥ १ ॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया। रचियेलें देवालय ॥ २ ॥
नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार ॥ ३ ॥

१—दारासुतगृहप्राण, करावें भगवंतासी अर्पण।
हे भागवतधर्म पूर्ण, मुख्यत्वें भजन या नांव ॥
[नाथ-भागवत २।२६१]

जनार्दन एकनाथ। ध्वज उभारिला भागवत ॥ ४ ॥
भजन करा सावकाश। तुका झाला से कलश ॥ ५ ॥

इस अभंग में वारकरी मंदिर के निर्माण का बड़ा ही आलंकारिक वर्णन है जो इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं से विरोध नही खाता। परंतु यहाँ ज्ञानदेव के द्वारा पाया रखने का मतलब यह नहीं है कि उन्होंने ही इस मत का प्रारंभ किया। सच्ची बात तो यह है कि ज्ञानदेव के पूर्व ही इस संप्रदाय के भक्त लोगों की सत्ता थी परंतु ये इधर उधर बिखरे हुए थे। इन सबों को एक सूत्र में संगठित कर पंथ को सुव्यवस्था देने का श्लाघनीय उद्योग ज्ञानेश्वर ने किया और इसीलिए वे इस संप्रदाय के मान्य आचार्य हैं।

पुण्डलीक भक्त के काल का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो सका जिससे इस पंथ के उद्गम का काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना तो निश्चित है कि पण्ढरपुर में बिट्ठल जी के आविर्भाव का संबंध भक्त पुण्डलीक से है। जिस प्रकार प्रह्लाद के लिए भगवान् ने नरसिंह का रूप धारण किया, उसी प्रकार पितृभक्त पुंडलीकके लिए द्वारिकाधीश श्रीकृष्णने विट्ठल का रूप धारण किया[1]। इस घटना का प्रत्यक्ष प्रमाण वारकरी भक्तों के शांति वाक्य से भी लगता है। ये भक्त विट्ठल की यात्रा करते समय 'पुंडलीक वरदा हरिविट्ठल' का जय घोष करते हैं।

---

१ पुंडलीकाच्या भावार्था। गोकुलीहूनीं जाला येता।
निज प्रेम भक्ति भक्तां। ध्या ध्या आतां म्हणतसे ॥
(श्री ज्ञानदेव अभंग १८४ सकल संतगाथा)

इस पंथ के मान्य ग्रंथ हैं भागवत और भगवद्‌गीता। भागवत के एकादश स्कंध के ऊपर श्री एकनाथ ने ओवी छंदोबद्ध मराठी टीका लिखी है। वह नाथ भागवत के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रंथ की पूर्ण मान्यता इस संप्रदाय में है। यह संप्रदाय अपना आदर्श यही मानता है कि अपने स्त्री, पुत्र, घरबार, यहाँ तक कि अपने प्रिय प्राणों को भी भगवान् के चरणारविंद में अर्पण कर दे तथा भगवान् के नाम का कीर्तन करता हुआ अपने जीवन को बितावे[1]। भागवत-धर्म का भी यही पूर्ण लक्ष्य है। अतः वारकरी मत को भागवत-संप्रदाय के अंतर्गत मानना नितांत उपयुक्त है।

(ख)

पंथ का उदय

इस संप्रदाय का उदय कब हुआ, इस विषय में विद्वानों के भिन्न भिन्न मत हैं। साधारण विद्वानों की यह मान्यता है कि ज्ञानदेव ने तेरहवीं शताब्दी में इस पंथ का आरंभ किया। यह सिद्धांत ठीक नहीं, क्योंकि यह संभवतः बहिणा बाई नामक तुकाराम की शिष्याके एक प्रसिद्ध अभंग के ऊपर आधारित है—

संत कृपा झाली। इमारत फला आली ॥ १ ॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया। रचियेलें देवालय ॥ २ ॥
नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार ॥ ३ ॥

१—दारासुतगृहप्राण, करावें भगवंतासी अर्पण।
हे भागवतधर्म पूर्ण, मुख्यत्वें भजन या नांव ॥
[नाथ-भागवत २।२६१]

जनार्दन एकनाथ। ध्वज उभारिला भागवत ॥ ४ ॥
भजन करा सावकाश । तुका झाला से कलश ॥ ५ ॥

इस अभंग में वारकरी मंदिर के निर्माण का बड़ा ही आलंकारिक वर्णन है जो इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं से विरोध नहीं खाता। परंतु यहाँ ज्ञानदेव के द्वारा पाया रखने का मतलब यह नहीं है कि उन्होंने ही इस मत का प्रारंभ किया। सच्ची बात तो यह है कि ज्ञानदेव के पूर्व ही इस संप्रदाय के भक्त लोगों की सत्ता थी परंतु ये इधर उधर बिखरे हुए थे। इन सबों को एक सूत्र में संगठित कर पंथ को सुव्यवस्था देने का श्लाघनीय उद्योग ज्ञानेश्वर ने किया और इसीलिए वे इस संप्रदाय के मान्य आचार्य हैं।

पुण्डलीक भक्त के काल का अभी तक ठीक निर्णय नहीं हो सका जिससे इस पंथ के उद्गम का काल निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इतना तो निश्चित है कि पण्ढरपुर में बिट्ठल जी के आविर्भाव का संबंध भक्त पुण्डलीक से है। जिस प्रकार प्रह्लाद के लिए भगवान् ने नरसिंह का रूप धारण किया, उसी प्रकार पितृभक्त पुंडलीकके लिए द्वारिकाधीश श्रीकृष्णने विट्ठल का रूप धारण किया[1]। इस घटना का प्रत्यक्ष प्रमाण वारकरी भक्तों के शांति वाक्य से भी लगता है। ये भक्त विट्ठल की यात्रा करते समय 'पुंडलीक वरदा हरिविट्ठल' का जय घोष करते हैं।

---

१ पुंडलीकाच्या भावार्था। गोकुलीहुनीं जाला येता।
निज प्रेम भक्ति भक्तां। ध्या ज्या आतां म्हणतसे ॥
(श्री ज्ञानदेव अभंग १८४ सकल संतगाथा)

ज्ञानेश्वरी में श्री ज्ञानेश्वर जी ने विट्ठलजी की मूर्ति की ओर स्पष्ट संकेत किया है। विट्ठल जी के मस्तक के ऊपर शिवलिंग विद्यमान है, इस बात का उल्लेख उन्होंने स्पष्ट शब्दों में किया है[१]। इतना तो निश्चित है कि ज्ञानेश्वर से भी पूर्व उनके जन्म-स्थान आलंदी में विट्ठल-भक्ति का बहुत प्रचार था। हरिहरेंद्र स्वामी के मठ में १२०६ ई० का एक शिलालेख है जो ज्ञानेश्वर के जन्म से लगभग ७० वर्ष पूर्व का है। यहाँ समाधि के ऊपर विट्ठल और रुक्मिणी दोनों की मूर्तियाँ पत्थर पर खुदी हुई हैं। विट्ठल संप्रदाय का यह सबसे प्राचीन निर्देश है जिससे पता चलता है कि ज्ञानदेव के जन्म-स्थान आलंदी में विट्ठल की उपासना तथा भक्ति का विपुल प्रचार था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बारह शतक में अर्थात् ज्ञानेश्वर के जन्म से एक सौ वर्ष पूर्व इस मत का उदय महाराष्ट्र में हो चुका था।

पांडुरंग की उपासना से इस संप्रदाय का इतना अधिक संबंध है कि उसके द्वारा मत के आविर्भाव-काल का निर्णय भली-भाँति किया जा सकता है। परंतु अभी तक पांडुरंग के आविर्भाव-काल का ही निश्चय नहीं हुआ है। अवश्य ही शंकराचार्य ने अपने पांडुरंगाष्टक स्तोत्र में पुण्डरीक के लिए पांडुरंग के आविर्भाव का संकेत किया है[२]। यदि यह स्तोत्र आद्य शंकराचार्य की रचना हो तो पांडुरंग का आविर्भाव सप्तम शतक से पूर्व माना जा सकता है। परंतु इस स्तोत्र के आदि शंकराचार्य की कृति होने

---

१ ज्ञानेश्वरी अध्याय १२ पद्य २१४–२१८.

२ महायोगपीठे तटे भीमरथ्यां वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानंदकंदं परब्रह्मलिंग भजे पांडुरंगम्॥
—(पाण्डुरंगाष्टक)

में आलोचकों को अभी तक संदेह बना हुआ है। सन् १२४६ ई० के एक ताम्रलेख से पता चलता है कि देवगिरि के यादववंशी नरेश 'कृष्ण' के सेनापति ने बेलगाँव जिले के अंतर्गत पवित्रस्थान 'पौण्डरीक' क्षेत्रको दान दिया था। इस क्षेत्रकी स्थिति भीमरथी नदी की तीर पर बतलाई गई है जिससे वर्तमान समय में भीमनदी पर बसे हुए पंढरपुर का एकीकरण इस स्थान से किया जाता है। 'पौंडरीक' शब्द को पुण्डरीक से बना हुआ मान कर इस भक्त शिरोमणि का समय तेरहवीं शताब्दी के पूर्व ही समझना चाहिये।

ऐसी परिस्थितियों में जब न तो भक्तवर पुण्डरीक का ही काल निश्चयरूप से निर्णीत हो सका है, और न पांडुरंग के ही आविर्भाव का परिचय हमें प्राप्त है तब हम यही कह सकते हैं कि लगभग हजार वर्ष से वारकरी संप्रदाय का प्रचलन महाराष्ट्र में है तथा तबसे कार्तिक और आषाढ़ की शुक्ला एकादशी को वारकरी भक्त श्री विट्ठल की यात्रा भक्तिनिष्ठ हृदय से करते आते हैं। इससे अधिक निश्चयात्मक रूप से इस मत के आविर्भाव के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

(ग)

संप्रदाय का अभ्युदय

वारकरी संप्रदाय की उत्पत्ति तथा पंढरपुर में श्री विट्ठल की उपासना तो १३ शतक से अर्थात् ज्ञानदेव महाराज के समय से प्राचीन है; इसका निर्णय ऐतिहासिक साधनों द्वारा ऊपर किया गया है। परंतु इस संप्रदाय को व्यवस्थित, सुगठित तथा प्रतिष्ठित करने का श्रेय श्री ज्ञानदेवजी को है। कृष्णभक्ति के

प्रचार के निमित्त ज्ञानदेव ने अपने भ्राता निवृत्तिनाथ तथा सोपान देव तथा भगिनी मुक्ताबाई के सहयोग से जो महनीय कार्य संपादित किया उसके कारण आज भी महाराष्ट्र प्रांत में अद्वैतवाद के साथ कृष्णभक्ति का मनोरम सामञ्जस्य प्रस्तुत दीखता है। प्रसिद्धि है कि इनके पिता विट्ठलपंत संन्यासधर्म में दीक्षित हो गये, परंतु अपने गुरु रामानंद स्वामी के वरदान-प्रयुक्त अत्याग्रह से फिर संसार में प्रवृत्त हुए। इन्हीं की पूर्वोक्त चार संतानें हुईं। निवृत्तिनाथ का जन्म सं० १३३० में, ज्ञानेश्वर महाराज का सं० १३३२ में, सोपानदेव का सं० १३३४ में तथा मुक्ताबाई का सं० १३३६ में हुआ था। इन चारों पुरुषों को चतुर्विध मोक्ष अथवा चतुर्विध पुरुषार्थ का ही अवतार मानना न्यायसंगत होगा। इन लोगों की गुरुपरंपरा नाथ-संप्रदाय के आचार्यों से संबद्ध मानी जाती है। गोरखनाथ के शिष्य गैनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को स्वयं कृष्णभकित की दीक्षा दी थी और निवृत्ति ने फिर अपने दोनों अनुजों तथा भगिनी को स्वयं दीक्षा देकर अध्यात्ममार्ग का पथिक बनाया था। निवृत्तिनाथ का कथन है[1]—प्राणियों का उद्धार जो कुछ है वह सब श्रीधर है। वह कर्मसहित ब्रह्म साक्षात् श्री कृष्णमूर्ति है। वह रूप इस भूमंडल पर सचमुच पांडुरंग रूप है जो पुण्डलीक के निर्धार से यहाँ खड़ा है।

निवृत्ति की शिक्षा में योग के साथ भक्ति का मंजुल मिश्रण था। सन्यासी की संतान होने के कारण इन चारों को

---

१ प्राणिया उद्धार सर्व हा श्रीधर। ब्रह्म हें साचार कृष्णमूर्ती।
तें रूप भीवरें पाण्डुरंग खरें। पुण्डलीक निर्धारे उभे असे॥



महाराष्ट्र संत ज्ञानेश्वरजी

ब्राह्मणों के हाथ तिरस्कार और अनादर सहना पड़ा था, परंतु ज्ञानदेव अलौकिक सहज सिद्ध योगी थे। पैठण के ब्राह्मणों के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन लोगों ने भैसे के मुँह से, जिस पर ज्ञानदेव ने अपना हाथ रख दिया था, ऋक्, यजु और साम के मंत्रों को विधिवत् उच्चारित होते सुना। तब इनकी अलौकिकता का पता लोगों को चला और वे इनके वास्तव रूप से परिचित हो गये। इनकी प्रसिद्धि इतनी बढ़ी कि उस समय के यशस्वी योगी चांगदेव को अपनी हार मान कर ज्ञानेश्वर के शरण आनी पड़ी। २२ वर्ष की अवस्था में इन्होंने जीवित समाधि ली और उसके एक साल के भीतर ही इनके भाई तथा बहिन भी एक एक करके इस धराधाम से चले गये।

इनके ये ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—(१) भावार्थदीपिका—गीता की नितांत मौलिक ओवी छंद में निवद्ध व्याख्या जो 'ज्ञानेश्वरी' के नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी सुंदर गूढार्थ-संपन्न आध्यात्मिक व्याख्या की रचना अपने उम्र के १५ वें वर्ष में ही उन्होंने की (शक १२१२)। (२) अमृतानुभव—अध्यात्म के सुंदर उपदेश। (३) हरिपाठ (४) चांगदेव पासष्टी—चांगदेव को दिये गये उपदेशों का विवरण। (५) योगवासिष्ठ टीका (६) इतर अभंग। इन में अभंगों की भाषा अपेक्षाकृत सरल है। ज्ञानेश्वरी मराठी साहित्य के आरंभिक युग का महनीय ग्रंथ है जिसमें कमनीय उपमा तथा रमणीय रूपकों के द्वारा अध्यात्म के तत्त्वों का बोधगम्य विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार २२ वर्षों की अल्प आयु में अद्भुत सिद्धि दिखलाने वाले व्यक्ति को यदि संत लोग विष्णु का ग्यारहवाँ अवतार मानते हैं, तो क्या आश्चर्य ?

(२) नामदेव ज्ञानेश्वर के ही समकालीन थे और अपनी भक्ति-भावना के कारण अपने समय में ही महाराष्ट्र के बाहर भी पर्याप्त रूप से विख्यात हो चुके थे। इनके पिता का नाम दामा सेठ था। और इनकी परंपरा से दर्जी की वृत्ति थी। अधिकतर पण्ढ़रपुर में ही विठोबा की उपासना करते हुए दिन बिताते थे। इनका परिवार भी बड़ा लंबा चौड़ा था परंतु गृह में आसक्ति इनकी कभी नहीं हुई। पण्ढरपुर में ही ज्ञानदेव के साथ इनका मिलन हुआ और दोनों में खूब गाढ़ी मैत्री हुई। ज्ञानदेव की समाधि के अनंतर नामदेव तीर्थयात्रा के लिये उत्तर भारत में आये और मथुरा वृंदावन में भगवान् श्री कृष्ण के लीला-स्थलों का दर्शन कर ये पंजाब की ओर निकल गये और पंजाब में इन्होंने भगवन्नाम का खूब प्रचार किया। गुरु ग्रंथ साहब में इनके ६० से भी अधिक पद में संगृहीत मिलते हैं। महाराष्ट्र में इनके मनोहर अभंग जैसे सर्वत्र प्रिय हुये उसी प्रकार पंजाब में भी उनकी मधुर बानियाँ गायी जाने लगीं।

नामदेव ने मरी हुयी गाय को जिलाया था इस प्रसङ्ग का बड़ा सुंदर वर्णन ग्रंथ-साहब में उपलब्ध होता है;। नामदेव १८ वर्ष तक पंजाब में रहे और पीछे पण्ढरपुर लौट आये और यहीं विट्ठल मंदिर के द्वार की सीढ़ी पर अस्सी वर्ष की दीर्घ उम्र में इन्होंने सं० १४०७ वि० (१३५० ई०) में अपना शरीर त्यागा। नामदेव के पदों से उनके हृदय की शुद्धता, दीनता, आत्मसमर्पण की भावना भली भाँति प्रकट होती है। इन्होंने भक्ति के राज्य में जाति पांति का कोई भी बंधन नहीं माना। सगुण भक्ति के साथ साथ निर्गुण भक्ति के आद्य प्रवर्तक होने का श्रेय नामदेव को ही दिया जाता है। इस विषय में इनकी

तुलना कबीरदास जी के साथ की जा सकती है। कबीर की वानियों के समान ही नामदेव के अभंग महाराष्ट्र जनता में भक्ति तथा ज्ञान के प्रचारक हैं तथा दम्भ और बनावटी धार्मिक आडंबर के कट्टर विरोधी हैं। इन्होंने हिंदी में भी विशेष कविता की है। नाभादास जी ने इनके अलौकिक चरित्र का वर्णन इन छप्पय में किया है—

बाल दसा विट्ठल पान जाके पय पीयो
मृतक गऊ जिवाय परचो असुरनि को दीयो
सेज सलिल ते काढि पहिले जैसी ही होती
देवल उलटो देखि सकुचि रहे सबहि सोती
पँढरिनाथ कृति अनुगत्यौ छानि सुकर छाई दासकी
नामदेव प्रतिज्ञा निर्वही ज्यों त्रेता नरहरिदास की ॥

ज्ञानेश्वर—नामदेव का युग महाराष्ट्र के भागवत संप्रदाय के इतिहास में स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग में समग्र प्रदेश उदात्त भक्ति की भावना से ओतप्रोत हो गया। भक्ति का व्यापक प्रभाव समाज के निम्नतम स्तर से लेकर उच्चतम स्तर तक सर्वत्र जागरूक हो रहा था। जिस प्रकार ब्राह्मण-कुल में भगवद्-भक्तों का जन्म हुआ उसी प्रकार महार जैसे कुल में भी भक्ति से समुज्ज्वल दिव्य आत्माओं का आविर्भाव सम्पन्न हुआ। पुरुषों में ही नहीं, प्रत्युत स्त्री जाति में भी भक्त आत्माओं का प्रादुर्भाव हुआ। प्रतीत होता था कि भक्ति के इस उत्थान-काल में भगवान् ने अपनी विभूतियों का वितरण समाज के हित साधन के लिए समभाव से कर रखा है। विसोवा खेचर जैसे योगी, गोरा कुम्हार, सांवता माली, चोखा मेला (महार), सेना नाई, नरहरि

सोनार जैसे ब्राह्मणेतर संत, जनाबाई जैसी भक्त दासी, कान्हूपात्रा जैसी वेश्या, सखूबाई जैसी साध्वी का अभ्युदय तथा पवित्र चरित्र किसी भी आलोचक को इस निष्कर्ष पर पहुँचाये बिना नहीं रह सकता कि इस युग के महाराष्ट्र के वातावरण में ही भगवान की दिव्यकला भक्ति के रूप में सर्वत्र द्योतित हो रही थी।

एकनाथ

इस युग के लगभग सौ वर्ष के अनंतर महाराष्ट्र भागवत धर्म के ऊपर अपनी दिव्य पताका फहरानेवाले भक्तराज श्री एकनाथ महाराज का उदय हुआ। इनका जन्म सं० १५९० वि० (१५३३ ई०) के आसपास हुआ था। मूलनक्षत्र में जन्म लेने के कारण इनके माता-पिता जनमते ही मर गये।

इनका जन्म एक उदात्त वैष्णव ब्राह्मण कुल में हुआ था जहाँ विट्ठल भक्ति की परंपरा जागरूक रूप से विद्यमान थी। इनके प्रपितामह भानुदास अपने समय के एक बड़े भारी वैष्णव संत थे। इन्हों ने विट्ठल जी की मूर्ति का पुनरुद्धार कर वारकरी भक्तों के साथ बड़ा भारी उपकार किया था। कहा जाता है कि विजयनगर के विख्यात महाराज कृष्णराय एक बार विट्ठल के दर्शन से इतने प्रभावित हुए कि वे इस मूर्ति को अपनी राजधानी अनागोंदी ले गये और वहीं राजसी वैभव के साथ रखा। इधर वारकरी भक्तों को बिना विट्ठल के पंढरपुर का मंदिर सूना लगता था। भानुदासजी ने अपनी भक्ति के प्रभाव से कृष्णराय को अनुकूल बनाया और ये मूर्ति को पुनः पंढरपुर ला कर भक्तों के विपुल यश के भाजन बने। अतः इन्हीं भानुदास के प्रपौत्र

एकनाथ जी के हृदय में भक्ति की तीव्र भावना के उदय होने से हमें आश्चर्य नहीं होता।

किसी आकाशवाणी को सुनकर ये देवगढ़ के निवासी जनार्दन स्वामी को अपना गुरु बनाने के लिए सं० १६०२ में पहुँचे। जनार्दन स्वामी उस समय गुरु दत्तात्रय के बड़े भारी उपासक थे और सिद्ध पुरुष माने जाते थे। इन्हीं के संपर्क में आकर एकनाथ ने मंत्र दीक्षा ली और घोर तपस्या की। तपस्या में सिद्धि लाभ कर इन्होंने भारत के तीर्थों की यात्रा की। तदनतर ये अपने जन्म-स्थान पैठन लौट आये और गुरु की आज्ञा से गृहस्थ आश्रम मे दीक्षित हुये। गृहस्थ के जीवन को परोपकार के निमित्त बिताना, साधु संतों की सेवा, भगवान् की पूजा अर्चा, भागवत तथा ज्ञानेश्वरी जैसे धर्म ग्रंथों का प्रवचन–इनके नित्य की दिनचर्या थी। ये क्षमा, त्याग, दया तथा संतोष के जीवित मूर्ति थे। इनके विषय में नाना प्रकार की अलौकिक घटनायें सुनी जाती हैं। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ भागवत एकादश स्कंध की अति विस्तृत छंदोमयी व्याख्या जो भक्तों में 'नाथभागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। भगवद्भक्ति के विशद विवेचन तथा भगवान् की अलौकिक लीलाओं के वर्णन में 'नाथ भागवत' मराठी साहित्य में एक अद्वितीय ग्रंथरत्न है जिसकी प्रभा आज उतनी ही शीतल तथा अम्लान है जिस प्रकार वह उस युग में थी। इसके अतिरिक्त 'रुक्मिणी स्वयंवर' तथा 'भावार्थ रामायण' इनके मान्य तथा मौलिक ग्रंथ हैं जिनमें अध्यात्म पक्ष में अद्वैत तथा भक्ति का मनोरम विवेचन बड़ी ही सुबोध भाषा तथा चित्ताकर्षक शैली में किया गया है। इस प्रकार आदर्श भक्त का जीवन बिताकर सं० १६५६ (१६०० इ०) में एकनाथ ने गोदावरी के तट पर अपना शरीर छोड़ा।

तुकाराम

तुकाराम—वारकरी संप्रदाय को अपने अभंगों के द्वारा लोकप्रिय बनाने का समस्त श्रेय श्री तुकाराम महाराज को है जिनका जन्म एकनाथ की मृत्यु के ग्यारहवें साल पूनाप्रांत के देहू नामक ग्राम में भगवद्-भक्तों के एक पवित्र कुल में सं० १६६५ वि० में हुआ। इनके माता पिता का नाम था—कनकाबाई और बोलोजी। लड़कपन में ही इनकी दो शादियाँ कर दी गयी थीं। इनके दो भाई और भी थे, पिता ने बड़े भाई के ऊपर अपने व्यापार की देखरेख का भार रखा, पर उनकी असावधानी से सारा व्यापार चौपट हो गया। तुकाराम को इसके कारण से बहुत ही कष्ट झेलने पड़े। पारिवारिक प्रपंचोंकी आग में तुकाराम का वैराग्य-कंचन खरा उतरा। गृहस्थी से मुख मोड़कर इन्होंने भगवान से नाता जोड़ा। नाथ-भागवत का पारायण करते और भगवान् के नामस्मरण में अपना दिन बिताते। भक्ति की प्रखरता के कारण इनके मुख से अभंगों की धारा लगातार बहती। धार्मिक जगत् में इनके प्रभाव को देखकर रामेश्वर भट्ट नामक ब्राह्मण इनसे बहुत ही द्वेष करने लगा और उसकी आज्ञा से तुकाराम ने अपने अभंगों की पुस्तक को इंद्रायणी के दह में डुबा दिया। परंतु भगवत्कृपा से वह पुस्तक डूबने से बच गई। तुकाराम को पांडुरंग भगवान् का दिव्य दर्शन भी प्राप्त हुआ और इनके द्वेषी रामेश्वर भट्ट भी उनकी शरण में आए। ये शूद्र जाति के थे और ब्राह्मणों को साक्षात् देवता समझकर प्रणाम किया करते थे। छत्रपति शिवाजी भी इनके नितांत भक्त अनुगामी थे। शिवाजी इन्हें अपना गुरु बनाना चाहते थे। परंतु इन्होंने ही शिवाजी को रामदास स्वामी से मंत्र दीक्षा लेने का

उपदेश दिया। सं० १७०६ वि० [१६५० ई०] में देहावसान हो गया। तुकाराम के अभंग मराठी साहित्य के रत्न हैं तथा भक्त जनों के जीवनाधायक और स्फूर्तिदायक संबल हैं।

प्रसिद्ध संत

संतनाम	काल : शक	समाधिस्थान
निवृत्तिनाथ	११६५–१२१६	त्र्यंबकेश्वर
ज्ञानेश्वर महाराज	११६७–१२१८	आलंदी
सोपानदेव	११६६–१२१८	सासवड
मुक्ताबाई . .	१२०१–१२१६	एदलाबाद
विसोबा खेचर . .	१२३१	
नामदेव . .	११६२–१२७२	पंढरपुर
गोरा कुंभार . .	११८६–१२३६	तेर
सावता माली . .	१२१७	अरणभेंडी
नरहरी सोनार . .	१२३५	पंढरपुर
चोखा मेला . .	१२६०	पंढरपुर
जगमित्र नागा . .	१२५२	परली (वैजनाथ)
कूर्मदास . .	१२५३	लऊल
जनाबाई . .	. .	पंढरपुर
चांगदेव . .	१२२७	पुणतांबे
भानुदास . .	१२७०	पैठण
एकनाथ . .	१४७०–१५२१	पैठण
राघव चैतन्य . .	. .	ओतूर
केशव चैतन्य . .	१३६३	गुलबर्गा
तुकाराम . .	१५७२	देहू

निलोबा राय	. . . .	पिंपलनेर
शंकर स्वामी	. . . .	शिरूर
मल्लाप्पा	. . . .	आलंदी
मुकुंद राज	. . . .	आंवें
कान्होपात्रा	. . . .	पंढरपुर
जोगा परनंद	. . . .	बार्शी[1]

ये सब संत महात्मा कृष्णभक्ति के प्रसारक हुए। इन में बड़ा-छोटा कहना अपराध है। फिर भी इन में से चार महात्माओं ने कृष्ण-भक्ति के देवालय को महाराष्ट्र में बनाया और सजाया। पंथ की उत्पत्ति का पता नहीं, परंतु ज्ञानदेव महाराज ने इस मंदिर का पाया 'ज्ञानेश्वरी' के द्वारा खड़ा किया; नामदेव ने अपने भजनों से इस का विस्तार किया; एकनाथ महाराज ने अपने 'भागवत' की पताका फहराई और तुकाराम महाराज ने अपने अभंगों की रचना कर इस के ऊपर कलश स्थापन किया। तुकाराम की शिष्या बहिणाबाई ने अपने निम्नलिखित अभंगों में इसी बात को कितने सरल शब्दों में कहा है—

संत कृपा झाली।
इमारत फला आली ॥१॥
ज्ञानदेवें रचिला पाया।
रचियेलें देवालया ॥२॥
नामा तया चा किंकर।
तेणें केला हा विस्तार ॥३॥

---

१ यह सूची प्रोफेसर शंकर वामन दांडेकर के लेख ('महाराष्ट्रीय ज्ञानकोशके भाग २०, पृ० १७६) से यहां उद्धृत की गई है ।

जनार्दन एकनाथ।
ध्वज उभारिला भागवत ॥४॥
भजन करा सावकाश।
तुका झाला से कलश ॥५॥

वारकरी मत के चार उपसम्प्रदाय

वारकरी मत के चार संप्रदाय माने जाते हैं[1]—

(१) चैतन्य, (२) स्वरूप, (३) आनंद, (४) प्रकाश।

(१) चैतन्य—इस संप्रदाय के दो भेद हैं। पहले में 'राम कृष्ण हरि' यह ६ अक्षरों का मंत्र मान्य है तथा दूसरे में 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' यह द्वादशाक्षर मंत्र मान्य है। श्री निलोवाराय के अनुसार प्रथम चैतन्य मत के आदि प्रवर्तक श्री महाविष्णु हैं जिन्होंने हंसरूप धारण करने वाले ब्रह्मा को चतुःश्लोकी भागवत का उपदेश दिया। ब्रह्मा ने नारद जी को और उन्होंने व्यासजी को इस मत का उपदेश दिया। व्यास जी ने कृपा करके राघव चैतन्य नामक संत को इस मत में दीक्षित किया जिसकी समाधि कल्याण गुलबर्गा के पास आज भी विद्यमान है। इनके शिष्य हुए केशव चैतन्य और आगे चलकर तुकाराम ने इस चैतन्य मत की शाखा को अपने उपदेशों से लोकप्रिय तथा व्यापक बनाया। चैतन्य-मत के दूसरे उप-संप्रदाय की गुरु परंपरा इस प्रकार है—

---

१ द्रष्टव्य-महाराष्ट्रीय ज्ञान-कोश भाग २०, पृ० १७०—७१

आदिनाथ
|
मच्छिन्द्रनाथ
|
गोरखनाथ
|
गहिनीनाथ
|
निवृत्तिनाथ
|
ज्ञानेश्वर

यही गुरु-परंपरा ज्ञानदेव ने अपनी ज्ञानेश्वरी के अंत में दी है जिससे स्पष्ट है कि ज्ञानेश्वर महाराज इसी चैतन्य शाखा के अंतर्गत थे। आजकल बहुत से वारकरी संप्रदाय चैतन्य मत के ही अंतर्गत हैं।

(२) **स्वरूप सम्प्रदाय**—इस संप्रदाय का मान्य मंत्र यह त्रयोदशाक्षर मंत्र है—श्रीराम जय राम जय जय राम। इसमें भी दो उपसंप्रदाय हैं—(१) रामानुजी जो अपने माथे पर लाल रंग का तिलक लगाते हैं। तथा (२) रामानन्दी जो अपने माथे पर सफेद रंग का तिलक लगाते हैं। रामदासी लोगों का समावेश इसी द्वितीय रामानन्दी मत के अंतर्गत है।

(३) **आनन्द सम्प्रदाय**—इस संप्रदाय का मूलमंत्र राम अथवा श्री राम है। इसके अतर्गत नारद, वाल्मीकि, रामानंद, कबीर सेनानायी आदि भक्त माने जाते हैं।

(४) **प्रकाश सम्प्रदाय**—इसका मंत्र है—नमो नारायण। इस संप्रदाय के अनुसार इसके मूल पुरुष निर्गुण ब्रह्म से उत्पन्न

होनेवाले नारायण ही हैं। उनके बाद की शिष्य परंपरा इस प्रकार है :—

आदिनारायण—> ब्रह्मा—> अत्रि—> दत्तात्रेय—> (१) सहस्रार्जुन (२) यदु (३) जनार्दन—> एकनाथ।

(घ)

मत के सिद्धांत

(१) विट्ठल—वारकरी मत में सर्वश्रेष्ठ देवता पंढरीनाथ हैं जो बालकृष्ण के ही रूप हैं। इस प्रकार यह कृष्णोपासक संप्रदाय है, तथापि यह राम का भी उसी प्रकार एकनिष्ठ उपासक है। यह राम-कृष्ण दोनों को दुर्जनों के संहार करने के लिए भगवान् का अवतार मानता है। इस संप्रदाय में हरि और हर, विष्णु और शंकर दोनों का ऐक्यभाव माना जाता है। इसका निदर्शन स्वयं विट्ठलनाथ की मूर्ति है जिसके सिर के ऊपर महादेव बैठे हैं।[1] इसी लिए एकादशी के साथ सोमवार व्रत तथा शिवरात्रि का व्रत समभावेन मान्य है। तात्पर्य यह है कि इस संप्रदाय में दक्षिण भारत के शैवों और वैष्णवों के

---

१ रूप पाहतां डोलसूं। सुंदर पाहतां गोपवेषु॥
महिमा वर्णितां महेशू। जेणें मस्तकीं वंदिला॥
—श्री ज्ञानेश्वर अभंग

तुका म्हणे भक्ति साठीं हरिहर।
हरिहरा भेद नाहीं। नका करूं वाद॥
—तुकाराम

गंगा समुद्र से भिन्न होती, तो उसके साथ मिलकर वह एकाकार कैसे बन जाती[1] ? इसी प्रकार भगवान्‌का भक्त भगवान् को अद्वैत रीति से जानकर ही उनका सच्चा भक्त बन जाता है। नामदेव ने इस संप्रदाय की महती विशिष्टता अद्वैत ज्ञान के साथ भक्ति का मृदुल सामञ्जस्य बतलायी है। इन भक्तों की पूर्ण निष्ठा थी कि उपनिषदों का परब्रह्म ही विट्ठल के रूप में प्रकट हुआ है। ज्ञान के साथ भक्ति का योग हो जाने से इनकी वाणी में अतीव मृदुता और मधुरता आ गई है। इनका विश्वास था कि निर्गुण ब्रह्म ही नाम-रूप को ग्रहण कर भक्तों की मंगल-कामना के निमित्त इंद्रियगम्य बन गया है। नामदेव ने अनेक अभंगों के द्वारा ब्रह्मरस तथा भक्तिरस के ऐक्य का प्रतिपादन किया है। नामदेव भगवान् को लक्ष्य कर पुकार रहे हैं कि भगवन्, जल्दी आइए, पुकारते पुकारते गला सूख गया, शरीर पुलकित हो गया तथा अश्रु धाराओं से पृथिवी भींग गई। हे दीनदयालु, आने में इतनी देर क्यों कर रहे हो ? किसी भक्त के यहाँ तो नहीं फँस गये ?

> थवढा वेल का लाविला। कोण्या भक्ताने गोविला ?
> झडकरि येई गा विट्ठला। कंठ आलवितां सोकला।
> 'नामा' गहिवरें दाटला। पूर धरणिये लोटला॥

(३) भगवद्रूप—इस पंथ को भगवान् के दोनों रूप—सगुण

---

१ साडे पंधरा मिसलावें। तें साडे पंधरेंचि हो आवें
तेविं मी जालिया संभवे। भक्ति माझी ॥५६७॥
हां गा सिंधूसि आनी होती। तरि गंगा कैसेनि मिळती
म्हणौनि मी न होता भक्ती। अन्वयो आहे ॥५६८॥

—ज्ञानेश्वरी, अ० १५

तथा निर्गुण–मान्य हैं। पूर्ण सगुणोपासक होने पर यह परमात्मा को व्यापक एवं निर्गुण-निराकार भी मानता है तथा इस निराकार ब्रह्म की प्राप्ति का साधन सगुणोपासना, नाम-स्मरण तथा भजन है। वारकरी संतों ने ज्ञान तथा भक्ति के परस्पर सहयोग तथा मैत्रीभाव पर विशेष आग्रह रखा है। एकनाथ महाराज ने भक्ति तथा ज्ञान के परस्पर संबंध की सूचना बड़े ही रोचक उदाहरणों के सहारे दी है। वे भक्ति को मूल, ज्ञान को फल, तथा वैराग्य को फूल बतलाते हैं। जिस प्रकार बिना मूल के फल उत्पन्न नहीं हो सकता और बिना फूल के फल असंभव है, उसी प्रकार बिना भक्ति और वैराग्य के ज्ञान का उदय हो नहीं सकता। भक्ति के उदर से ज्ञान उत्पन्न होता है। भक्ति ने ही ज्ञान को उसका गौरव प्रदान किया है। अतः दोनों का मञ्जुल समन्वय ही साधक के लिए अवश्यमेव संपादनीय व्यापार होता है—

भक्ती चे उदरीं जन्मले ज्ञान।
भक्ती ने ज्ञानासी दिधलें महिमान॥
भक्ति तें मूळ ज्ञान ते फल।
वैराग्य केवल तेथीं चे फूल॥

ये लोग गीता में प्रतिपादित 'स्वधर्म' के तथ्य पर पूर्ण आग्रह रखते हैं। जो मनुष्य मानव-समाज के जिस वर्ण में जिस स्थान पर वर्तमान है उसका यह नियमित धर्म है कि वह अपने नियत कार्यों का पूर्ण अनुष्ठान करे। अपना काम छोड़ दूसरे के काम को; वह कितना भी सुंदर क्यों न हो, कभी न ग्रहण करे। भगवान् के प्रति पूर्ण अनुराग के साथ उनके नाम का कीर्तन तथा भजन करना ही भक्ति का मुख्य साधन है।

(४) **राम और कृष्ण**—राम तथा कृष्ण को समभावेन भगवान् का अवतार मानना इस पंथ को सर्वथा मान्य है। उत्तर भारत में दोनों को प्रधान इष्ट देवता मानकर भिन्न भिन्न संप्रदायों की उत्पत्ति हुई है, परंतु महाराष्ट्र इस विषय में अपना वैशिष्ट्य पृथक् रखता है। 'नाथ भागवत' में कृष्णलीला का गायन करने वाले एकनाथ जी ने 'भावार्थ रामायण' में राम की मधुर लीला का कीर्तन किया है। उन्होंने एक स्थान पर लिखा है—"जैसे बीज ही वृक्ष हुआ, सुवर्ण ही अलंकार बना, वैसे ही निर्विकार श्रीराम ही साकार हुए। सुनो, मेरा पागल प्रेम ऐसा है कि सुंदरश्याम श्रीराम ही हमारे अद्वितीय ब्रह्म हैं; और कुछ मुझे मालूम नहीं। राम के बिना जो ब्रह्म-ज्ञान है, हनुमान जी गरज कर कहते हैं कि उसकी हमें जरूरत नहीं। हमारा ब्रह्म तो श्रीराम है"।

निष्कर्ष यह है कि वारकरी पंथ में समन्वय का साम्राज्य है। जिस प्रकार राम और कृष्ण में, शिव तथा विट्ठल में, इनकी समान आदर बुद्धि है, उसी प्रकार अद्वैत ज्ञान तथा भक्ति में भी यह पूर्ण सामरस्य का पोषक है।

(५) **संत तथा ग्रंथ**—वारकरी संप्रदाय में अपने अनेक सिद्ध महात्मा हुए जिनमें चार मुख्य हैं—ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ तथा तुकाराम। इनके अतिरिक्त अन्य महात्माओं ने अपनी वाणी तथा शिक्षा से भगवान् की भक्ति-नाम कीर्तन-का प्रचुर प्रचार किया। पंथ के मान्य ग्रंथों में गीता तथा भागवत ही मुख्य हैं और इनकी व्याख्या ज्ञानेश्वरी तथा नाथ-भागवत भी उसी प्रकार आदरणीय हैं। तुकाराम के अभंग भी इस पंथ को लोकप्रिय बनाने में तथा भजन कीर्तन को जनधर्म बनाने

में विशेष कृतकार्य होने से विशेष मान्य हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण को 'अहरहः संध्यामुपासीत' का, संध्यावंदन का, नियम है, उसी प्रकार प्रत्येक वारकरी को ज्ञानेश्वर कृत 'हरिपाठ' का नित्य पाठ करना आवश्यक नियम है। इस संप्रदाय के संत ज्ञानेश्वरी तथा नाथभागवत की कथा भावुक जनता के सामने बड़े प्रेम तथा उत्साह से करते हैं। वे अपने कीर्तनों में अपने ही संप्रदाय की संत वाणी को प्रमाणकोटि से उद्धृत किया करते हैं। कुछ आलोचक इसे उन लोगों की संकीर्ण मनोवृत्ति का सूचक मानते हैं, परंतुः वस्तुतः इसमें आत्मरक्षण की भावना ही वलवत्तर है। यदि उनके वचनों का उद्धरण तथा उनकी बातों का शिक्षण जनता में न होगा, तो बहुत संभव है कि इन संतों की बानियाँ धीरे धीरे जनता से दूर जाकर लुप्तप्राय हो जाँय। इसी लिए वारकरी कीर्तनकारों का यह ढंग किसी प्रकार आक्षेप-योग्य नहीं है।

(ङ)

वारकरी पंथ का आचार

(१) स्वधर्म पालन—यह पथ पूर्णतया वैदिक है तथा वर्णाश्रमधर्म में पूर्ण श्रद्धालु है। अतः प्रत्येक प्राणी को अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुकूल धर्म का आचरण करना नितांत आवश्यक है। परंतु इस भीषण कलिकाल में भक्ति से बढ़कर कोई अन्य साधन सुगम तथा सरल नहीं है। भक्ति के नौ प्रकार पंथ को मान्य है, परंतु उनमें भी नाम-स्मरण तथा कीर्तन को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(२) एकादशी व्रत—एकादशी को व्रत रखकर भगवान् का स्मरण तथा कीर्तन करने का विधान प्रत्येक वारकरी को है। नामदेव के समय से लेकर कार्तिक तथा आषाढ़ की शुक्ला एकादशी को विठ्ठल जी की यात्रा सामूहिक रूप में करना भक्तों का मुख्य कर्तव्य है।[1] कुछ भक्त माघ तथा चैत्र मास की शुक्ला एकादशी को वारी करते हैं। कार्तिकी एकादशी की वारी की महिमा तब बढ़ी जब भानुदास पैंठणकर अनागोंदी से कृष्णराय को अनुकूल बनाकर विठ्ठल की मूर्ति पुनः पंढरपुर लाने में समर्थ हुए। इसके अतिरिक्त संतों के समाधि स्थलों की भी पवित्रता मान्य होने से उनकी भी यात्रा का प्रचलन पंथ में है। नामदेव के समय से कार्तिक की कृष्ण एकादशी को ज्ञानेश्वर महाराज के जन्मस्थान 'आलंदी' की यात्रा प्रचलित हुई और इसी के समान अन्य वारकरी संतों के समाधिस्थल भी तीर्थ के समान पूत माने जाते हैं। भक्तों की मंडलियां हैं जो उक्त एकादशी को समूह बाँध कर "पुंडरीक वरदे हरि विठ्ठल" का जयघोष करती हुई पंढरपुर पहुँचती है तथा चंद्रभागा में स्नान, विठ्ठल का दर्शन तथा भगवान् के नाम का कीर्तन—राम कृष्ण हरि मंत्र का कीर्तन-करती हैं। देवों की एकादशी शुक्लपक्ष की होती तथा संतों की एकादशी कृष्णपक्ष की अर्थात् उन्हीं तिथियों को देवों तथा संतों के स्थानों की यात्रा संपन्न की जाती है। गले में तुलसी की माला, माथे पर गोपी चंदन का तिलक, हाथ में बाँस के टुकड़े में वँधी भगवावस्त्र की पताका, मुख में

---

१ आषाढ़ी कार्तिक विसरूँ नका मज।
सांगतसे गुज पाण्डुरंग॥
—नामदेव

'रामकृष्ण हरि' मन्त्र का जप अथवा 'पुंडरीक वरदा हरिविट्ठल' का जयघोष—वारी के लिए यात्रा करने वाले वारकरी की यही वेषभूषा है।

एकादशी व्रत की महिमा का वर्णन इन संतों ने बड़ी निष्ठा के साथ किया है। इस व्रत का पालन तुकाराम जी ने यावज्जीवन किया तथा लोगों को इसका बोध कराया। समर्थ रामदास स्वामी ने 'हरिपंचक' में कहा है कि जो हरि को पाना चाहता है वह हरिदिनी (एकादशी) करे। एकादशी व्रत नहीं है, वैकुंठ का महापंथ है—.

एकादशी नव्हे व्रत। वैकुंठीं चा महापंथ॥

तुकाराम ने बड़े संक्षेप में वारकरी पंथ की शिक्षा का सार कहा है—

संग सज्जनाचा उच्चार नामाचा
घोष कीर्तनाचा। अहर्निशी॥

(३) **नाम कीर्तन**—वारकरी संप्रदाय के आचार्यों ने लोक और परलोक दोनों के सुधारने का उपाय जनता के सामने रखा। भगवान् की प्राप्तिका सरल उपाय सगुण रूप की भक्ति है। भक्ति के नाना प्रकारों में नाम-स्मरण तथा कीर्तन को सबसे महत्त्व-शाली तथा प्रभावशील बतलाया गया है। तुकाराम ने स्पष्ट कहा है कि हरि का नाम ही बीज और हरि का नाम ही फल है। साधन और साध्य दोनों हरि का नाम ही है। नाम ही सारा पुण्य तथा सब कलाओं का सार है। जहाँ हरि के दास लोकलाज त्याग कर हरि कीर्तन तथा नाम स्मरण किया करते

हैं वहीं सब रस आकर भर जाते हैं। और संसार के बांध को लांघ कर बहने लगते हैं। वेद के नारायण, योगियों के शून्य ब्रह्म तथा मुक्त जीवों के परिपूर्णात्मा तुकाराम की दृष्टि में भोले भाले जीवों के लिये सगुण तथा साकार बालकृष्ण हैं—

> बीज आणि फल हरी चें नाम। सकल पुण्य सकल धर्म॥
> सकलां कलांचें हे वर्म। निवारी श्रम सकलहीं॥
> जेथें हरि कीर्तन हें नाम घोष। करिती निर्लज्ज हरिचे दास।
> सकल वोथंबले रस। तुटती पाश भव-बंधाचे॥
>
> × × ×
>
> वेद पुरुष नारायण। योगियांचे ब्रह्म शून्य।
> मुक्ता आत्मा परिपूर्ण। 'तुका' म्हणे सगुण भोल्या आम्हा।

(च)

सिद्धांत का वैशिष्ट्य

वारकरी पंथ के सिद्धांत का एकत्र प्रतिपादक यह प्रसिद्ध अभंग है जिसको तुकाराम ने शिवाजी के पास भेजा था :—

> आम्ही तेणे सुखी म्हाणा विट्ठल विट्ठल मुखीं।
> कंठी मिरवा तुलसी व्रत करा एकादशी॥

अर्थात् विट्ठल के नाम का उच्चारण, कंठ में तुलसी माला का धारण और एकादशी व्रत का सेवन—ये तीन ही इस पंथ के मान्य सिद्धांत हैं। उपास्य देवता श्री विट्ठलनाथ हैं; विष्णु के सभी अवतार मान्य हैं परंतु राम-कृष्ण की मान्यता विशेषरूप से

अभीष्ट है। भगवान के सगुण तथा निर्गुण रूप एक ही हैं। ध्येय है अभेद-भक्ति, अद्वैत-भक्ति, अथवा मुक्ति के परे की भक्ति। अद्वैत का सिद्धांत इस संप्रदाय को स्वीकार है, परंतु इस कौशल से इस ध्येय को प्राप्त करना उचित है कि अभेद को सिद्ध करके भी संसार में प्रेम-सुख बढ़ाने के लिये भेद को भी अभेद कर रखना। इस पंथ में भक्ति और ज्ञान दोनों की एकरूपता मानी गई है जिसके केंद्रस्थल में हैं स्वयं भगवान् श्रीहरि विट्ठल। संप्रदाय का मुख्य मंत्र है—राम कृष्ण हरि। यह सम्प्रदाय चैतन्य संप्रदाय के समान युगल उपासना में कृष्ण के साथ राधा को सम्मिलित नहीं करता बल्कि उसके स्थान में रुक्मिणी को महत्त्व देता है। इसका यह सुपरिणाम हुआ कि महाराष्ट्र में कृष्ण-भक्तिका नितांत समुज्ज्वल तथा उदात्त रूप दृष्टिगोचर होता है और यहाँ उस विकृत रूप का दर्शन नहीं होता जो उत्तर भारत के कतिपय प्रांतों में अश्लीलता की कोटि तक पहुँच कर भावुकों के चित्त में उद्वेगजनक होता है।

महाराष्ट्र का यह वैष्णव संप्रदाय नितांत लोकसंग्रही है। इसकी भक्ति उस व्यक्ति की भक्ति के समान नहीं है, जो एक ओर इतना आसक्त हो जाता है कि न तो संसारकी ओर वह दृष्टि रखता है और न संसार उसके जीवन या उपदेश से शिक्षा ग्रहण करता है। अध्यात्म तथा व्यवहार—इन दोनों की व्यवस्था तथा संतुलन करने में जो उपासक संप्रदाय जितना ही समर्थ है जनता की दृष्टि से उसका महत्त्व उतना ही अधिक होता है। चैतन्य तथा वल्लभ संप्रदाय की उपासना के ऊपर आलोचक लोग यह दोष लगाया करते हैं कि उन्होंने भगवान के लोकानुरंजन रूप के प्रति इतना आग्रह दिखलाया कि उनका लोकरक्षक तथा लोकसंग्रही रूप जनता के नेत्रों से ओझल हो गया। यह आरोप अनेक अंश में ठीक है।

इन संप्रदायों में बालकृष्ण की उपासना का इतना प्राधान्य हो गया कि गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण की कथा लोगों के कानों तक न पहुँच सकी। यह आरोप महाराष्ट्र के भागवत संप्रदाय पर कथमपि नहीं किया जा सकता; क्योंकि इसने बालकृष्ण की भक्ति के साथ साथ कृष्ण के उपदेशों तथा उनके मंगलकारी स्वरूप की ओर भी अपना ध्यान दिया है।



(३)

रामदासी पंथ

वारकरी संप्रदाय के साथ ही साथ महाराष्ट्र में रामदासी पंथ की भी वैष्णव संप्रदाय के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि है। इसकी स्थापना छत्रपति महाराज शिवा जी के गुरु समर्थ स्वामी रामदास ने की। स्वामी जी अपने समय के महान् विभूति थे, तथा उन्होंने शिवा जी को धार्मिक उपदेश देकर महाराष्ट्र प्रदेश में राजनीति को धर्मप्रवण बनाया था। स्वामी जी की शिक्षा तथा उपदेश का ही यह शोभन परिणाम था कि शिवा जी के मन में सनातनधर्म के ऊपर अवलंबित हिंदूराष्ट्र की स्थापना का विचार जागृत हुआ और उन्हों ने उस विचार को कार्यरूप में बड़ी योग्यता से परिणत कर दिखाया। संसार के दुःख प्रपंच से घबरा कर निवृत्ति में ही सुख का मार्ग बतलाने वाले बहुत से महात्मा मिलेंगे, परंतु पात्रापात्र का विशद विचार कर प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों के यथायोग्य सम्मेलन पर जोर देने वाले संतजन कम ही दीखते हैं। स्वामी रामदास जी इस दूसरे प्रकार के महात्माओं में अग्रगण्य थे। अतः इस रामदासी सम्प्रदाय का मुख्य अंग समाज की ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों तरह की उन्नति करना है। स्वयं स्वामी जी ने हरिकथा निरूपण, राजकारण तथा सावधानीपना को अपने सम्प्रदाय का मुख्य लक्षण बतलाया है। प्रयत्न, प्रत्यय और प्रबोध—इन्हीं तकारादि तीन शब्दों में रामदास के उदात्त जीवन तथा बहुमूल्य ग्रंथों का सार है।

(क)

रामदास

स्वामी रामदास के पिता का नाम सूर्याजी पंत तथा माता का रेणुकाबाई था। सं० १६६५ वि० चैत शुक्ल नवमी के दिन ठीक रामजन्म के समय इस महापुरुष का जन्म हुआ। इस प्रकार इनका तथा तुकाराम का जन्म एक ही संवत् मे होने से ये दोनों समकालीन संत रहे। बाल्य-काल का नाम था नारायण। बारह वर्ष की अवस्था में विवाह-मण्डप में वर-वधू के बीच अंतःपट डाल कर जब ब्राह्मण लोग मंगलाचरण पाठ के अनंतर 'शुभ लग्न सावधान' की गंभीर घोषणा करने लगे, तब रामदास जी सचमुच ही सावधान होकर वहाँ से ऐसे भागे कि बारह वर्ष तक लोगों को पता ही न चला कि कहाँ गये। इस बीच में इन्होंने कठोर पुरश्चरण किया और अपनी तपस्या के बल पर भगवान् श्री रामचंद्र का साक्षात्कार किया। भारतवर्ष के समग्र तीर्थों का भ्रमण किया। इसी प्रसंग में ये काशी भी पधारे थे। बारह वर्ष तक तीर्थ-यात्रा करने के अनंतर इन्होंने सं० १७०१ के वैशाख मास में कृष्णानदी के तट पर अपना निवास स्थिर किया। दूसरे वर्ष से इन्होंने रामनवमी का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाना आरंभ किया। सं० १७०६ में (१६५० ई०) चाफल के समीप शिंगणवाड़ी नामक स्थान में रामदास ने शिवाजी को शिष्य रूप में ग्रहण किया और रामचंद्र के त्रयोदशाक्षर मंत्रका उपदेश किया। सं० १७१२ (१६५६ ई०)में शिवाजी महाराज सतारे में थे तब श्री समर्थ भिक्षा माँगते हुये राजद्वार पर पहुँचे। शिवाजी ने इनकी झोली में अपनी समग्र संपत्ति

तथा राज्य को एक पत्र में लिखकर डाल दिया तथा स्वयं भी उनके साथ झोली लेकर भिक्षाटन के लिये निकल पड़े। परंतु स्वामी जी के समझाने बुझाने पर शिवाजी ने राज्य का कार्य पुनः संभाला और शासन-कार्य में तथा अपने जीवन में जो निष्ठा, जो दीन-सेवा, जो गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन संपन्न कर दिखलाया वह भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित है।

सं० १७०८ (=१६५१ ई०) में स्वामी जी ने पंढरपुरकी यात्रा की थी जिसमें उनकी भेंट अपने समय के दूसरे वारकरी भक्त श्रीतुकाराम जी के साथ हुई। सं० १७३१ (=१६७४ ई०) मे शिवा जी राज्याभिषेक होने पर स्वामी जी के पास सज्जनगढ़ में आये तथा लगभग डेढ़ महीनों तक वहीं निवास किया तथा दरिद्रों को खिलाया। इसके पाँच वर्ष बाद सं० १७३६ (=१६६६ ई०) में दोनों की अंतिम भेंट हुई और इसी समय समर्थ जी ने छत्रपति शिवाजी को उनकी निकट भविष्य में होने वाली मृत्यु की सूचना दी और यह घटना अगले वर्ष चैत्र के महीने में हुई। स्वामीजी ने राम, सीता, लक्ष्मण तथा हनुमान की मूर्तियाँ तंजोर से बनवा कर सज्जनगढ़में स्थापित की। शिवा जी की मृत्यु के लगभग एक डेढ़ साल बाद सं० १७३८ माघ वदी नवमी (=१६८१ ई०) को श्रीरामदास जी ने श्रीरामचद्र की मूर्ति के सामने ७३ वप की आयु में महाप्रयाण किया।

स्वामी जी तथा छत्रपति शिवाजी के परस्पर प्रथम मिलन की घटना कब घटी? इस विषय में मराठी इतिहासकारों में कुछ मतभेद दृष्टिगोचर होता है। परम्परागत मिलन का समय १६४६ ई० माना जाता है, परंतु कतिपय इतिहासवेत्ता १६७२ ई० में ही दोनों में प्रथम मिलन की बात मानते हैं। इस विषय में गंभीर आलोचन के अनंतर प्रोफेसर रानाडे साहब

परम्परागत मत को ही ठीक मानने के पक्ष में हैं[1]। सं० १७३८ (सन १६७८ ई०) में लिखित एक सनद में शिवाजी ने स्वामीजी के साथ अपने पूरे संबंध तथा सहयोग का पूर्ण विवरण दिया है जिसके अध्ययन से मालूम पड़ता है कि चाफड़ में राममंदिर की प्रतिष्ठा के समय से ही दोनों का संबंध आरंभ होता है। फलतः मिलन तथा उपदेश की परंपरागत तिथि ही उचित तथा इतिहास-सम्मत है। अतः शिवाजी के जीवन में राष्ट्रीय चेतना तथा धार्मिक भावना की स्फूर्ति करने में निःसंदेह स्वामी रामदास जी का हाथ रहा है।

(ख)

स्वामी रामदासजी का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ 'दासबोध' है जिसे हम इनकी आध्यात्मिक आत्मकथा कह सकते हैं। समर्थजी ने किन उपायों का अवलंबन कर संसार के बंधनों से मुक्त कर अध्यात्म-मार्ग में उन्नति की तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति की; इसका बोधक सुबोध छंदों में निबद्ध यह 'दासबोध' ग्रंथ है। इन्होंने मनोबोध, करुणाष्टक, आत्माराम आदि अन्य ग्रंथों की भी रचना की है।

रामदास स्वामी ने भगवान् रामचंद्र को अपना उपास्य देव मानकर 'रामदासी संप्रदाय' की स्थापना की। इस पंथ के साधु बड़ा ही सीधा तथा साधु जीवन बिताते हैं। 'रघुपति राघव राजा राम पतित-पावन सीताराम' की जय ध्वनि करते हुए ये मधुकरी माँग कर अपना जीवन निर्वाह करते हैं तथा जनता के बीच विमल भक्ति का प्रचार करते हैं। वारकरी संप्रदाय पूर्ण

---

१ प्रोफेसर रानाडे—मिस्टिसिजम इन महाराष्ट्र, पृ० ३६५—३६६

रूप से निवृत्तिपरक है, परंतु रामदासी संप्रदाय में प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों का यथानुरूप मिश्रण है; यही इसकी विशेषता है। ये ब्रह्मज्ञान तथा कर्मकाण्ड दोनों के साथ रामभक्ति को संपुटित कर अपने पंथ का साधनामार्ग प्रस्तुत करते हैं। स्वामीजी ने निष्काम कर्मयोग के उच्च आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ कर दिखलाया। अपने मनोबोध श्लोकों में इन्होंने बड़े ही सुबोध शब्दों में मन को चेतावनी दी है कि रे मन, तुम्हें बहुत ही जन्मों के पुण्य के फल से यह मानव शरीर प्राप्त हुआ है। इसे तू संसार के झूठे प्रपंचों में मत लगाओ, अपि तु 'हरे राम' जैसे सीधे मंत्र का जप सदा करता जा। अंत समय का विश्वास क्या? कफ के मारे कंठ रूँध जाने पर 'हरे राम' का जप ही तो सहायता करेगा तेरा?

> तुला हि तनू मानवी प्राप्त झाली
> बहू जन्म पुण्यें फला लागि आली।
> तिला तू कसा गोंविसी विषयीं रे
> 'हरे राम' हा मंत्र सोपा जपा रे॥

(ग)

रामदास की शिक्षा

स्वार्थ और परमार्थ के परस्पर सहयोग का मार्ग किस प्रकार निश्चित किया जा सकता है? इसका विवेचन संतों के उपदेशों में किया जाता है। स्वामी रामदास जी ने भी इसका वर्णन दासबोध में बड़े विस्तार के साथ किया है। वे अध्यात्म-शास्त्र से जितने परिचित थे, उतने ही वे व्यवहार के भी मर्मज्ञ थे।

तभी तो उन्होंने शिवाजी के द्वारा महाराष्ट्र में हिन्दूधर्म के उत्थान का कार्य सुचारुरूप से संपन्न किया। एक सच्चे संत के समान श्रीसमर्थ ने वर्णाश्रम धर्म पर पूरी अवस्था प्रकट की है। उनका आग्रह है कि प्रत्येक प्राणी को अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुसार विहित कर्मों का अनुष्ठान करना नितांत आवश्यक है। ब्राह्मणों के उच्च सात्त्विक-जीवन को उन्होंने बहुत ही महत्त्व दिया है। स्वधर्म करते हुए भगवान् के चिंतन तथा ज्ञान से ही साधकको मुक्ति प्राप्त होती है। मनुष्य को समस्त सांसारिक विषयों का परित्याग करके अपनी दृष्टि और विचारों का इतना अधिक विस्तार करना चाहिये कि अपने समेत सारा संसार ब्रह्ममय दिखाई पड़ने लगे और अपनी आत्मा में, लोगों के आत्मा में और उस विश्वात्मा में किसी प्रकार का भेद न रह जाय।

श्री समर्थ का आदेश है कि गृहस्थाश्रम में ही रहकर लोग परमार्थ का अधिक से अधिक साधन करें, क्योंकि संसार के सभी लोग त्यागी, विरक्त और वीतराग नहीं हो सकते। इन्होंने गृहस्थाश्रम को इहलोक तथा परलोक के साधन का मुख्य आधार बतलाया है। वे पाखंडियों से सचेत होने की शिक्षा देते हैं तथा सच्चा त्यागी बनने पर आग्रह दिखलाते हैं। श्री समर्थ ने आचार और विचार दोनों की शुद्धता पर अधिक जोर दिया है। ज्ञान की सबसे अधिक महिमा बतलाई गई है, क्योंकि आचार और विचार दोनों की शुद्धि इसी से होती है और इस ज्ञान की प्राप्ति का उपाय उन्होंने गुरु की प्राप्ति तथा सेवा बतलाया है।

दासबोध में परमात्मा तथा उससे उत्पन्न सृष्टि का बड़ा ही सुंदर वर्णन किया गया है। वह निराकार ब्रह्म किस प्रकार साकार रूप धारण करता है? इसका विवेचन समर्थजी ने रोचक उदाहरणों के सहारे किया है। इस परमात्मा को प्रसन्न करने का

सुगम मार्ग है भक्ति। श्रीसमर्थ ने मेघ से होने वाली वृष्टि का उदाहरण देकर बड़ी युक्ति से समझाया है कि संसार के लोगों की सेवा करने में ईश्वर प्रसन्न होता है । भगवान् की कृपा से मनुष्य का यह दुर्लभ शरीर हमें प्राप्त हुआ है। इसका प्रधान उद्देश मनुष्य को संसार के बंधन से मुक्त करना है। यदि जीव अपने शरीर का दुरुपयोग करता है तो वह अपने लक्ष्य से च्युत हो जाता है। रामदास जी के आराध्य देव श्रीरामचंद्र जी हैं जिनकी दास्यभाव से उपासना इस मत को मान्य है। इसी लिये समर्थ जी हनुमान् जी के अवतार माने जाते हैं।

(४) हरिदासी मत —पंढरपुर के श्री विट्ठल जी की उपासना केवल वारकरी संप्रदायमें ही मान्य नहीं है, अपि तु तैलंगदेश तथा कर्णाटक प्रांत के संतों तथा भक्तों के भी ये ही उपास्य देव माने जाते हैं। १३ वीं शती में विजयनगर के सम्राट कृष्णदेव राय ने पंढरपुर की यात्रा की थी। मूर्ति के रूप से इतने आकृष्ट हुए थे कि वे इसे बड़ी पवित्रता से उठाकर अपनी राजधानी में ले गये थे। किस प्रकार इस मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा पंढरपुर में श्री एकनाथ जी के प्रपितामह भानुदास जीके द्वारा की गई ? इसका उल्लेख हमने गत पृष्ठों में किया है। यहाँ इसके उल्लेख का यही तात्पर्य है कि पंढरपुर केवल महाराष्ट्र देश के ही संतों का उपासनाक्षेत्र नहीं था, प्रत्युत दक्षिण भारत के भी संत महात्मा यहाँ जुटते थे तथा भगवद्भजन में लीन रहा करते थे। कर्णाटक देश के बहुत से संत जो हरिदासी नाम से विख्यात हैं विट्ठल जी को अपना उपास्य-देव मानते थे। ये हरिदासी संत मध्वाचार्य के द्वैत-संप्रदाय के अंतर्भुक्त थे। इनमें से सबसे प्रसिद्ध हुए पुरंदर-दास (सं० १५४१–१६२१) जिनका काव्य भक्ति भावना से ओत-प्रोत होने से नितांत सरस तथा अत्यन्त लोकप्रिय है।

इनके अतिरिक्त विजय दास, जगन्नाथ दास तथा कनकदास की गणना हरिदासी संतों में विशेष रूप से की जाती है। ये लोग बाह्य-पूजा विधानों से उदासीन रहा करते हैं और इनका अधिक झुकाव निवृत्ति मार्ग की ओर है। आध्यात्मिक जीवन केवल इने गिने व्यक्ति के लिये ही अनुकूल नहीं है, बल्कि उसके अधिकारी जनसाधारण भी माने जा करते हैं। ये संत कर्णाटक देश के हैं। ये विट्ठल के अनुयायी होने के अतिरिक्त तिरुपति के वेङ्कटेश तथा उडुपी के कृष्ण के भी उपासक हैं।

(५) *गुजरात में वैष्णव धर्म*

गुजरात प्रदेश में द्वारिका और डाकोरजी ये दो मुख्य वैष्णव पीठ हैं। अतः वैष्णव धर्म का यह भी एक महनीय प्रदेश है परंतु यहाँ वैष्णव-धर्मका प्रचार कब हुआ ? इसका निर्णय ठीक २ नहीं हो सकता। गुप्त-युग में जब समग्र उत्तर भारत में वैष्णवता की लहर प्रवाहित हो रही थी यह प्रदेश भी उससे अछूता नहीं बच सका। वल्लभी के राजा ध्रुवसेन का ५२६ ई० में एक शिलालेख मिलता है जिसमें वह अपने को परम भागवत के नाम में अभिहित करता है। दशम शतक में वैष्णव धर्म का प्रचार गुजरात तथा सौराष्ट्र में भली भाँति था। कृष्ण की उपासना का निर्देश करने वाला पहला शिलालेख १२६२ ई० का मिलता है जिसमें बघेल शारंगदेव राजा के एक अधिकारी ने एक मंदिर में कृष्ण पूजा के निरंतर होने के लिए कुछ दान दिया है। १२ वें शतक में गुजरात वैष्णव धर्म का एक प्रधान प्रांत माना जाने लगा, क्योंकि द्वारिका तथा डाकोर जी इन दोनों वैष्णव तीर्थों की ख्याति इस समय पूर्ण रूप से फैल गई। द्वारिका जी में भगवान् श्रीकृष्ण की मूर्ति है और स्थान के महत्त्व से आकृष्ट होकर आद्यशंकरा-

चार्य ने अष्टम शतक में ही अपना एक पीठ यहीं स्थापित किया था। डाकोर में रणछोड़ राय जी के वर्तमान विशाल मंदिर का निर्माण १७७२ ई० में पेशवा के एक बड़े अधिकारी गोपाल यदुनाथ तांबेकर ने किया था।

मध्ययुग में यहाँ भक्ति के प्रचुर प्रचार का श्रेय दो गुजराती कवियों को दिया जाना चाहिए—नरसी मेहता तथा मीरांबाई को। नरसिंह मेहता के उदयकाल में आलोचकों में अभी मत-भेद बना हुआ है। अधिकांश लोग इनका जन्म १४७० विक्रमी (=१४१४ ई०) मानते हैं और इस प्रकार ये वल्लभाचार्य जी से प्राचीन माने जाते हैं। नरसी मेहता की अधिकांश कविता राधाकृष्ण की ललित लीलाओं को आश्रित कर लिखी गई हैं और वे विशुद्ध प्रेम का कमनीय चित्रण प्रस्तुत करती हैं। ये गुजराती भाषा के सब से प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय वैष्णव कवि हैं जिन्होंने अपनी कविता के द्वारा श्रीराधाकृष्ण की विमल भक्ति का प्रचुर प्रचार गुजरात देश में किया। मीराँबाई तो मेवाड़की रहने वाली थीं, परंतु अंत समय में उन्होंने द्वारिकापुरी को ही अपनी दिव्य भक्ति का प्रचार क्षेत्र बनाया। मीराँ के समय से पहिले वल्लभाचार्य के सुपुत्र गोसाईं विट्ठलनाथ जी की कृपा तथा अश्रांत उद्योग से पुष्टि-मार्ग का प्रचार यहाँ हो चुका था और समस्त देश भगवान् श्रीकृष्ण की प्रेमाभक्ति से आप्यायित हो चुका था। आज गुजरात में वैष्णव धर्म की वैजयंती फहराने का श्रेय गोसाईं जी को दिया जाना चाहिए जिन्होंने अपने कर्मठ जीवन में छः बार गुजरात की यात्रा पुष्टिमार्ग के प्रचार के लिए की।

आजकाल गुजरात में एक अन्य वैष्णव धर्म का भी विपुल प्रसार है जो श्री स्वामी नारायण पंथ के नाम से विख्यात है। इस मत के संस्थापक श्रीस्वामी नारायण जी का जन्म १८२७

वि० (=१७८१ ईस्वी) में अयोध्या के पास 'छपिया' ग्राम में एक सरयूपारीण ब्राह्मण कुल में हुआ था। पिता का नाम था धर्मदेव जी तथा माता का भक्तिमती देवी और इनका भी बाल्यकाल का नाम था घनश्याम। १२ वें वर्ष में ही पिता के देहावसान के अनंतर ये 'नीलकण्ठ वर्णि' नाम रखकर तीर्थ-यात्रा के लिए निकल पड़े और 'पीपलाणा' नामक स्थान पर उद्धव के अवतार श्री रामानंद स्वामी से १८५७ विक्रमी में बीस साल की उम्र में वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की। अगले ही वर्ष इनके गुरु ने जेतपुर नगर की गद्दी पर अपने अधिकारी के रूप में इन्हें अभिषिक्त किया। १८८६ विक्रमी में ४९ वर्ष की आयु में इन्होंने अपना लीलासंवरण किया।

इस पंथ का संबद्ध श्री विशिष्टाद्वैत मत से है। अतः इनके सिद्धांतों के ऊपर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से अनुमित किया जा सकता है। श्रीस्वामी जी का 'शिक्षापत्री' नामक संस्कृत में निबद्ध ग्रंथ इनकी शिक्षाओं तथा उपदेशों का सार प्रस्तुत करता है। दूसरे ग्रंथ 'वचनामृत' में सांख्य, योग तथा वेदांत के सिद्धांतों का समन्वय है। 'शिक्षापत्री' में उन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन संक्षेप में किया है—

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्ण-सेवा मुक्तिश्च गम्यताम्॥

अर्थात् विशिष्टाद्वैत मेरा सिद्धांत है। गोलोक मेरा अभीष्ट धाम है। ब्रह्म रूप से श्रीकृष्ण की सेवा तथा मुक्ति ही मेरा लक्ष्य है। भगवान् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सर्वांतर्यामी पुरुषोत्तम हैं। वे कल्याण-गुणगण-विशिष्ट हैं। ज्ञान, शक्ति आदि छः गुणों से युक्त होने के कारण वे भगवान् कहलाते हैं तथा पर-पुरुष

तथा अक्षर पुरुष दोनों से परे हैं। इन्हीं की दृढ़ निष्ठापूर्वक सेवा करने से भक्त की अभिलाषा-पूर्ति होती है। देवनिंदा, अहिंसा आदि एकादश दोषों का परिहार कर श्री पुरुषोत्तम के शरणापन्न होना ही जीवन का परम कर्तव्य है। अतः यह भी श्री कृष्णभक्ति का प्रचार करने वाला ही वैष्णव पंथ है जिसने गुजरात के निवासियों में वैष्णवता का प्रचुर प्रचार किया है—

स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भाव-कारणम्॥

—शिक्षापत्री

गुजरात के परमभागवत कवि नरसी मेहता का वैष्णव भक्त के लक्षण का प्रतिपादक यह पद महात्मा गांधी जी की कृपा से भारतवर्ष में सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया है—

वैष्णव जण तो तेणे कहीये जे पीर पराई जाणे रे।

—०—



(१२)

वैष्णव साधना



मेघैर्मेदुरमम्बरं वनभुवः श्यामास्तमालद्रुमै-
र्नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिमं राधे गृहं प्रापय ।
इत्थं नन्दनिदेशतश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्जद्रुमं
राधामाधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः ॥

—गीतगोविन्द

(१)

वैष्णव दर्शन की विशिष्टता

भारतवर्ष की साधना-प्रणाली में वैष्णव धर्म की एक अपनी विशिष्टता है। साधना ही किसी धार्मिक संप्रदाय का मेरुदण्ड है। साधना के वैशिष्ट्य से ही संप्रदाय-विशेष का वैशिष्ट्य संपन्न होता है। वैष्णव धर्म की मूल तात्त्विक भावना की मीमांसा उसके वैशिष्ट्य के अनुशीलन के लिए नितांत आवश्यक है। उपास्य देवता की विभिन्नता को किसी संप्रदाय-विशेष की भिन्नता का कारण मानना वस्तुतः न्यायसंगत नहीं है। शिव को उपास्य-देव मानने के कारण ही कोई संप्रदाय 'शैव' माना जाय तथा विष्णु को उपास्य देव मानने के ही हेतु कोई मत 'वैष्णव' समझा जाय; यह पार्थक्य का पूर्ण तथा सयुक्तिक हेतु नहीं है। उनके तत्त्वविषयक सिद्धांत की विषमता ही उनके पार्थक्यका सबल हेतु माना जाना चाहिए।

(१) शैव तथा वैष्णव मतोंमें जीवकी कल्पना में पर्याप्त अंतर है। शैव दर्शन के अनुसार जीव वस्तुतः शिव ही है, परंतु त्रिविध मल के कारण वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वकर्तृत्व तथा सर्वज्ञत्व से वंचित होकर अल्प-शक्तिमान्, किंचिज्ज्ञ तथा किंचित्कर्तृमान् ही बन जाता है। जीव की शक्ति को परिच्छिन्न करने वाला दोष 'आणव मल' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। आणव मल के कारण ही जीव विभु के स्थान पर अणु बन जाता है। अपरिच्छिन्न शक्ति के स्थान पर केवल परिच्छिन्न

शक्ति का पात्र बन कर संसार के कार्यों में वह व्यापृत रहता है। दीक्षा के द्वारा ही जीव इस मल से नितान्त मुक्त होकर शिव के साथ ऐक्यभाव को प्राप्तकर अपने लक्ष्य साधन में कृत-कार्य होता है। शैवतंत्र के अनुसार मुक्त जीव शिव ही है, वह स्वतंत्र है, क्रिया और ज्ञान का वह एक ही अभिन्न आधार है। स्वातंत्र्य के साथ कर्तृत्व की कल्पना नितांत संश्लिष्ट है। स्वतंत्र वही होता है जो कर्ता हो, क्रियासंपादन की योग्यता रखता हो। स्वतंत्रः कर्ता। इस प्रकार मुक्त जीव केवल ज्ञान-रूप ही नहीं होता, प्रत्युत वह कर्ता भी होता है। शैव कल्पना में जीव स्वतंत्र है; उसके रूप को परिच्छिन्न बनाने वाली अणुता केवल मलरूप ही होती है।

परंतु वैष्णव मत में जीव का अणुभाव नैसर्गिक है। जीव सदा ही अणु है, परिच्छिन्न है। जीव सदा ही अंश है, अंशी रूप भगवान् के सर्वदा अधीन है। भागवत मत का यही मौलिक सिद्धांत है कि भगवान् स्वामी, विभु तथा अंशी है तथा जीव सर्वदा ही दास, अणु तथा अंश है। जीवका अणुत्व किसी भी दशा में निवृत्त नहीं होता। संसारी दशा में तो वह अशुद्ध मन, प्राण, देह आदि के बंधनों से बद्ध रहता ही है, मुक्तदशा में वह इन बन्धनों से तो मुक्त अवश्य हो जाता है, तथापि उसके अणुत्व की निवृत्ति उस समय में भी नहीं होती। द्वैतवादी माध्व मत में तो मुक्त दशा में भी स्पष्टतः जीवों में तारतम्य का सिद्धांत मान्य है। संसार-दशा के समान मुक्ति-दशा में भी जीवों में परस्पर तारतम्य विद्यमान रहता है और वह भगवान् से पृथक् सत्ता ही धारण करता है। माध्व मत में मुक्त पुरुषों की आनंदानुभूति में भी तारतम्य होता है। सब मुक्त पुरुष एक समान ही आनंद का अनुभव नहीं करते। द्वैतवादी के समान

इतना दूर न जाने पर भी जीव के अणुत्व की सत्ता में प्रत्येक वैष्णव संप्रदाय का आग्रह है। मुक्त दशा में जीव अपनी पृथक् सत्ता बनाये हुए ही रहता है। मुक्ति के किसी प्रकार में भी उसके अणुत्व की निवृत्ति नहीं होती। जिस प्रकार राजा का प्रिय सेवक राजमहल में पहुँच कर सब सुखों को भोगता है, परंतु स्वतंत्र रूप से नहीं, अपि तु राजा के परतंत्र रूपसे ही। वह सब वैभव का उपभोग करता है परंतु दास्यत्वेन, स्वामित्वेन नहीं। जीव का यह अधीनभाव स्वभाव ही है। इस स्वभाव की निवृत्ति न तो संसारी दशा में होती है और न मुक्ति दशा में। तथ्य यह है कि भक्ति संप्रदाय में अत्यन्त अल्प मात्रा में ही सही द्वैत भाव अवश्यमेव विद्यमान रहता है। इस प्रकार शैव मत जहां स्वातंत्र्य के ऊपर आश्रित है, वहां वैष्णव मत पारतंत्र्य के तथ्य पर अवलंबित है। दोनों में यह मौलिक भेद ध्यान देने योग्य है।

(२) शैवमत की तुलनामें वैष्णवमतका साधन तत्त्व भी भिन्न है। शैवमत में ज्ञान तथा भक्ति दोनों का शिवत्व प्राप्ति में साधनत्व है। द्वैतवादी 'शैवसिद्धांत' मत में भक्ति की उपादेयता मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती, परंतु अद्वैतवादी प्रत्यभिज्ञामत में भी ज्ञान के साथ भक्ति का उपयोग है। अद्वैत ज्ञान की संपत्तिदशा में अद्वैत सत्ता का ही साम्राज्य रहता है। एक ही शिव अपनी नाना आकृतियों से खेला करता है। वही राजा है और वही प्रजा है। फलतः एकत्व-संपन्न शिव अपनी ही विभिन्न अभिव्यक्तियों के साथ लीला किया करता है। फलतः यहाँ ज्ञान तथा भक्ति का एकत्व तथा अभिन्नत्व अभीष्ट होता है शैव संप्रदाय में।

परंतु वैष्णव मत में भगवत्प्राप्ति में भक्ति ही केवल साधन है, ज्ञान और कर्म तो गौणरूप से उसके सहायकमात्र हैं। रामानुज मत में तीनों के परस्पर फल की मीमांसा नितांत स्पष्ट है। रामानुजके मतमें भगवत्-रूप विशेष्यकी प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अचित् (जड़) तथा चित् (जीव) तो उस विशेष्य के विशेषणमात्र होते हैं। साधक कर्म के द्वारा अचित् तत्त्व अथवा प्रकृति को अपने वश में कर लेता तथा ज्ञान के द्वारा वह चित् तत्त्व अर्थात् आत्मा को वश में कर लेता है। इस प्रकार कर्म ज्ञान को उद्‌बुद्ध करता है तथा ज्ञान भक्ति को। और चरम लक्ष्य की प्राप्ति में भक्ति ही एकमात्र साधन है। अन्य भागवत संप्रदायों में भी भक्ति की उपादेयता अक्षुण्ण ही रहती है।

(३) मुक्तावस्था में भी वैष्णव संप्रदाय की कल्पना शैव संप्रदाय से नितांत भिन्न है। वैष्णवमत में जीव संसार-दशा से मुक्त होकर उत्क्रमण-काल में माया के आवरण को भंग कर महामाया के राज्य में प्रवेश करता है और अपनी योग्यता के अनुसार यहीं भ्रमण किया करता है। वैकुण्ठ तथा गोलोक आदि लोक इसी त्रिपादविभूति में स्थित होने से शुद्ध सत्त्व से बने रहते हैं। मुक्त जीव भी भगवान् के कैंकर्य तथा सेवा के निमित्त शुद्ध सत्त्व से विनिर्मित देह को धारण करता है। इस प्रकार वह योगमाया के लोक का कदापि अतिक्रमण नहीं करता है, क्योंकि वैष्णवों के मान्य ऊर्ध्व लोकों का अस्तित्व इसी लोक में होता है जहाँ जीव को 'पूर्ण अहं' की प्राप्ति का अवसर नहीं मिलता। 'पूर्ण अहं' का स्थान योगमाया के लोक के भी ऊपर है और यहीं शैव-मतानुसार जीव अपने आणव मल से भी उन्मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य रूप 'पूर्ण अहं'

भाव में प्रतिष्ठित होता है। 'स्वातंत्र्यवाद' को पुरस्सर करने वाले शैवमत में जीव का अणुत्व मल होने के कारण 'पूर्ण अहं' भाव की उपलब्धि में बाधक का काम कथमपि नहीं करता।

(२)

वैष्णव मतों में साम्य और वैषम्य

वैष्णव सम्प्रदायों में कतिपय सिद्धांतों को लेकर परस्पर में मतभेद तथा वैषम्य अवश्यमेव वर्तमान है, तथापि कतिपय ऐसे तथ्य हैं जिनमें वैष्णवमात्र, चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी हो, समभावेन श्रद्धा रखता है और उनकी सत्यता में पूर्ण विश्वास रखता है।

(क)

साम्य

वैष्णवों के अनुसार भगवत् तत्त्व सगुण तथा साकार है जिसकी पृष्ठ-भूमि में निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म सर्वदैव विद्यमान रहता है। उदाहरण के लिए हम सूर्य तथा उससे विनिर्गत प्रभापुंज को ले सकते हैं। सूय स्वयं सगुण तथा साकार रूप में विद्यमान रहता है, परंतु उससे निकलने वाला प्रभापुंज जगत् में व्यापक होने पर भी निराकार ही रहता है। गीता के अनुसार अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम में यही सूक्ष्म विवेचनीय अंतर है। अक्षर ब्रह्म तो निर्गुण रूप ही है, परंतु भगवान् अनंत-कल्याण-गुण-निकेतन, समस्त-प्राकृत-गुण

विहीन, हेयप्रत्यनीक होता है तथा भक्तों की रसमयी भक्ति के परवश होकर इस प्राकृत लोक में अपनी लीला के आस्वाद के लिए भी अवतार धारण करता है। वह अपने भगवद्धाम में विग्रह धारण करता है और यह विग्रह छः गुणों के समुच्चय से संपन्न होता है जिनके नाम हैं—ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, बल, वीर्य तथा तेज। भगवान् निर्गुण होकर भी सगुण होता है। अप्राकृत गुणों से हीन होने के कारण वह 'निर्गुण' कहलाता है और उपर्युक्त छः गुणों से संवलित होने के हेतु वह 'सगुण' अथवा 'षाड्गुण्यविग्रह' कहलाता है। यह भगवान सर्वदा स्वामी, विभु तथा शेषी होता है और जीव स्वभाव से ही दास, अणु तथा शेष होता है। वैष्णव मत की यह मौलिक कल्पना है जिसकी स्थापना शैव मत की तत्सदृश भावना के साथ तुलना कर के ऊपर सप्रमाण की गई है।

भगवान् केवल भक्ति के द्वारा ही प्राप्य हैं। ज्ञान तथा कर्म का आश्रय भी वैष्णव मत में मान्य है, परंतु अंगत्वेन, मुख्यत्वेन नहीं अर्थात् कर्म के अवलंबन से भक्त का चित्त शुद्ध होता है तथा ज्ञान के द्वारा आत्मा का बोध होता है, परंतु परमात्मा की उपलब्धि में भक्ति ही एकमात्र साधन है। भक्ति साधनरूपा भी है तथा साध्य-रूपा भी। साधनभक्ति नवधा मानी जाती है जिसमें 'आत्मनिवेदन' ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। सब वैष्णव-संप्रदाय 'शरणागति' की श्रेष्ठता तथा उपादेयता पर एकमत हैं। 'शक्तिपात' के द्वारा ही जीव का परम कल्याण होता है। भक्ति इस लोक की वस्तु नहीं है। बिना भगवान् के अनुग्रह के जीव में न तो भक्ति का उदय हो सकता है, न वह भगवान् के ऐश्वर्य को ही प्राप्त कर सकता है।

वैष्णव मतों की आस्था केवल विदेहमुक्ति के ऊपर ही है, जीवन्मुक्ति के ऊपर नहीं। जब तक जीव देह धारण किये रहता है, तब तक दुःखों के क्षीण होने पर भी वे सर्वदा के लिए क्षीण तथा ध्वस्त नहीं हो जाते। देह की सत्ता उनके पुनः उदय की संभावना लिये रहती है। विदेह मुक्ति होने पर ही जीव भगवान् के सान्निध्य में रहकर उनकी सेवा करता हुआ आनंद-मय जीवन बिताता है। मुक्त दशा में भी जीव सेवा के निमित्त देह धारण करता है, परंतु यह शरीर शुद्ध सत्त्व के उपादान से निर्मित होने के कारण अप्राकृत, शुद्ध चिन्मय, नितांत विशुद्ध होता है। सामीप्यादि मुक्तिभेदों में भक्त का भगवान् से किंचि-दंश में भेद बना रहना स्वाभाविक ही है, परंतु सायुज्यमुक्ति में भी जहाँ मुक्त जीव भगवान् के साथ एकभावापन्न हो जाता है, वहाँ भी जीव का पृथग्भाव ही रहता है। वैष्णवों की मुक्ति समुद्र में बिंदु के विलय समान नहीं है, प्रत्युत वह दो समकेंद्री वृत्तों के मिलन के सदृश है जिसमें एक के ऊपर रखने से दूसरा वृत्त एकाकार अवश्य हो जाता है, तथापि वह अपनी पृथक सत्ता तथा वैशिष्ट्य बनाये रखता है।

(ख)

वैषम्य

इस प्रकार ईश्वर, जीव तथा मुक्ति की कल्पना में बहुशः साम्य होने पर भी जीव तथा ईश्वर के परस्पर संबंध को लेकर वैष्णव-संप्रदायों में पर्याप्त पार्थक्य है। भक्ति भावना के विरोधी होने के कारण शंकराचार्य द्वारा निर्दिष्ट मायावाद का खंडन

(३)

पंचधा भक्ति

आत्मसंसिद्धि के साधनों में भक्तिमार्ग का साधन बहुत अमोघ साधन माना जाता है। परब्रह्म के विषय में भागवत संप्रदाय का बीज इस श्रुतिवाक्य में निहित है—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनंदी भवति। श्रीमद्भागवत में इसी बीज का विस्तार लक्षित होता है। समस्त वैष्णव संप्रदायों में रससिद्धांत का कुछ न कुछ वर्णन मिलता है, परंतु गौडीय वैष्णव संप्रदाय का यह तो सर्वस्व है।

'रस' एक समग्र मानसिक वृत्ति है और 'भाव' उसी का प्रारंभिक आधार है। 'रस' भाव की ही एक दशा है और वह भावमयी अवस्था एक अनन्य अखण्ड मनोऽवस्था है। रस के उन्मेष के निमित्त मुख्य आधार को बाह्य वस्तुओं के परिपोष की आवश्यकता होती है। उसमें अंदर की वस्तु है—भाव और बाहरी वस्तुएँ हैं—विभाव, अनुभाव आदि। रस के उन्मीलन के निमित्त 'भाव' ही मुख्य आधार है। 'भक्ति रसामृत सिंधु' में 'भाव' की यह परिभाषा है—

> शुद्धसत्त्व-विशेषात्मा प्रेमसूर्यांशु-साम्यभाक्।
> रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते॥

विशेष शुद्धसत्त्व से संपन्न जीव प्रेम सूर्य के किरण के समान है। रुचि (अर्थात् भगवत्प्राप्ति की अभिलाषा, भगवान् के अनुकूल होने की इच्छा) के द्वारा चित्त को स्निग्ध बनानेवाली जो इसकी भक्ति है वही 'भाव' कहलाती है।

भाव एक मनःस्थिति है जो परब्रह्म परमात्मा की चिच्छक्ति की दिव्य अभिव्यक्तियों का प्राकृतिक गुण होने के कारण स्वभावतः तथा स्वरूपतः शुद्ध चित् ही है। इस स्थिति में भगवत्-संबंधी नानाविध तदनुकूल इच्छायें मन को मृदु तथा शांत बना देती हैं जिससे वह अनेकविध भावों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। भाव की इस परिभाषा के अनुसार श्रीकृष्ण के नित्य सहचरों तथा सहचरियों के मन के भाव को ही 'भाव' कहते हैं। और जब यही भाव चित्त में अचल हो जाता है तब उसे 'स्थायी भाव' कहते हैं। वैष्णव शास्त्रों के अनुसार रस का स्थायी भाव कृष्ण रति' ही है। 'अलंकार कौस्तुभ' के अनुसार यह स्थायी भाव चित्त का आस्वाद के अंकुर का मूलस्थानीय कोई धर्म है अर्थात् यह भगवान् की ही आनंदमयी शक्ति है जो जीव के अंदर सूक्ष्म तथा अप्रकट रूप से अवस्थित रहती है, पर है यह सनातन। इसका आविर्भाव मन में तभी होता है जब वह रज तथा तम से रहित होकर शुद्धसत्त्व में प्रतिष्ठित होता है—

> आस्वादाङ्कुर-कन्दोऽस्ति धर्मः कश्चन चेतसः।
> रजस्तमोभ्यां हीनस्य शुद्धसत्त्वतया मनः।
> स स्थायी कथ्यते विज्ञैर्विभावस्य पृथक्तया॥
> (अलंकार कौस्तुभ, किरण ५. श्लोक २)

कृष्णरति वस्तुतः एकरूपा ही है, फिर भी एक ही व्यापक भाव चित्तभेद से विभिन्न रूपों में उदित हो सकता है। और इसीलिए यह 'कृष्णरति' वैष्णव ग्रंथों में पाँच प्रकार की मानी गई है—शांति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता (अथवा माधुर्य) और इन्हीं से तत्तद् नामक पाँच रसों का उदय होता है।

(१) 'शांति रति' से शांतिरसका उदय होता है। रूप गोस्वामी की इस रस की व्याख्या आलंकारिकों की व्याख्या से नितांत भिन्न है। शांति का अर्थ शम और भागवत के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण में निरंतर अनुराग होना ही 'शम' है[१]। और जहाँ भगवान् में चित्त अनुरक्त हो जाता है वहाँ वह सांसारिक विषयों से विरक्त हो जाता है। शांतरस के अनुयायी भक्तों का प्रधान लक्षण है भगवान् में चित्त का अबाध गति से अनुरक्त होना। इनकी पहिचान भी कई चिन्हों से होती है—(१) नासाग्र दृष्टि, (२) तपस्वी का सा ऊपरी व्यवहार, (३) अभक्तों से द्वेष नहीं और भक्तों से राग नहीं, (४) सांसारिक बातों में रागद्वेष का अभाव आदि। जिस प्रेम से शांतरस के परमानंद की प्राप्ति होती है उसमें एक बड़ा दोष यह है कि वह भगवान् के साथ किसी वैयक्तिक संबंध के ऊपर आश्रित नहीं रहता है और इसी लिए वैष्णव शास्त्र में रस के आरोहण क्रम में शांतरस का स्थान बहुत ही नीचा है।

(२) **प्रीतिरस** या **दास्यरस** का स्थायीभाव भक्त की यह संतत भावना ही है कि मैं भगवान् का अनुग्राह्य हूँ और वे मेरे अनुग्रहकर्ता हैं। मैं उनका सेवक हूँ और वे मेरे स्वामी हैं[२]। प्रीति दो प्रकार की होती है—(१) **संभ्रम प्रीति** और (२) **गौरवप्रीति**। 'संभ्रमप्रीति' में भक्त का भगवान् में परभाव होता

---

१ भक्ति रसामृत सिन्धु २।५।१३—१४

२ स्वस्माद् भवन्ति ये न्यूनास्तेऽनुग्राह्या हरेर्मताः।
आराध्यत्वात्मिका तेषां रतिः प्रीतिरितीरिता ॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु २।५।२३

है; भक्त अपने को भगवान् से अत्यंत हीन तथा दीन समझता है और भगवान् के अनुग्रह की इच्छा रखता है। 'गौरवप्रीति'-संपन्न भक्त सदा भगवान् के द्वारा रक्षित तथा पालित होने की इच्छा रखता है। भक्त के चित्त में जो यह भावना निरंतर जाग्रत रहती है कि श्रीकृष्ण ही मेरे प्रभु तथा रक्षक हैं इसी को शास्त्र में 'गौरव' कहा जाता है और 'गौरव प्रीति' में इसी भावना से भक्त को आनंद मिलता है। इस 'प्रीति रस' में भक्त के चित्त में हीनता, दीनता तथा मर्यादा का भाव सदा जाग्रत रहता है। मर्यादा के अंतर्गत होने से 'दास' भक्त के कार्यों से भगवान् को विशेष आनंद की प्राप्ति नहीं होती। दास भक्तों के चार भेद होते हैं:—

(१) अधिकृत, (२) आश्रित, (३) पारिषद् और (४) अनुग। अधिकृतदास भक्तों में ब्रह्मा, इंद्र, कुबेर आदि मुख्य माने जाते हैं। आश्रित भक्त तीन प्रकार के होते हैं—

(क) शरणागत—भगवान् के शरण में आये हुए सुग्रीव, बिभीषण आदि भक्त।

(ख) ज्ञाननिष्ठ—भगवान् के तत्त्व को जानकर जिन लोगों ने मोक्ष की इच्छा छोड़कर कर केवल भगवान् का ही आश्रय ग्रहण किया है, जैसे सनक, शुकदेव आदि।

(ग) सेवानिष्ठ—भुक्ति-मुक्ति की सकल स्पृहा को छोड़कर केवल भगवान् की सेवा ही जिनका-जीवन व्रत है जैसे हनुमान्, पुण्डरीक आदि

जो सारथि आदि के कार्यद्वारा भगवान् की सेवा करते हैं और समय समय पर साथ रहकर सलाह आदि भी दिया करते हैं उनकी गणना पारिषदों में की जाती है जैसे उद्धव, भीष्म,

विदुर, संजय आदि। अनुगभक्तों का कार्य भगवान् का सदा अनुगमन करना तथा सेवा करना होता है। ये भी अपने स्थान के कारण 'पुरस्थ' तथा 'व्रजस्थ' भेद से दो प्रकार के माने गये हैं।

दास्यरस का स्थायी भाव है संभ्रमप्रीति जो प्रेमा, स्नेह तथा राग का रूप धारण कर उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जब संभ्रमप्रीति इतनी बद्धमूल होती है कि इसमें साधक को ह्रास की तनिक भी आशंका नहीं होती, तब इसे प्रेमा कहते हैं। यही प्रेमा गाढ़ होने पर चित्त को द्रवीभूत करता है तब स्नेह की पदवी पाता है। स्नेह का प्रधान चिह्न है—क्षणिक भी वियोग को न सहना[1]। प्रिय के विरह में भक्त की आकुलता का कारण यही स्नेह होता है। 'राग' स्नेह के ही उत्कर्ष का अभिधान है।

'राग' दशा में भक्त भगवान् श्रीकृष्ण के साक्षात्कार से या तत्तुल्य स्फुरण से या कृपालाभ से भगवान् का अंतरंग बन जाता है और तब दुःख भी सुख बन जाता है और भक्त अपने प्राणनाश की तनिक भी चिंता बिना किये हुए उनकी प्रीति के अर्जन में आसक्त रहता है। इस प्रकार 'राग' 'प्रीति' की चरमावस्था का अभिधान है।

(३) प्रेयोरस—'दास्य रस' में एक प्रतिबंध रहता है जिससे भक्त भगवान् के सामने मर्यादा का पालन करता हुआ उनके प्रति गौरव भाव तथा आदर भाव से विजृम्भित रहता है। उनके सामने अपना हृदय खोल कर दिखलाने से सदा पराङ्मुख रहता

---

१ सान्द्रश्चित्तद्रवं कुर्वन् प्रेमा स्नेह इतीर्यते।
क्षणिकस्यापि नेह स्याद् विश्लेषस्य सहिष्णुता॥
—भक्ति रसामृतसिंधु ३।२।४५

है। 'दास्य' की यह विलक्षण भावना 'संभ्रम' शब्द के द्वारा व्यक्त की जाती है। 'सभ्रम' का अर्थ है गौरव के द्वारा उत्पन्न व्यग्रता (गौरवकृत-वैयग्रम्)। सख्य रति का मुख्य चिन्ह है विश्रम्भ अर्थात् किसी प्रकार के प्रतिबन्ध से रहित गाढ़ विश्वास[1]। सखा अपने सखा से अपने हृदय की गोपनीयतम घटना को भी स्पष्ट शब्दों में प्रगट करने में तनिक भी आनाकानी नहीं करता। सख्य है एक वर्ण, एक वेश, एक से ही गुण, एक से ही पद तथा एक ही सी स्थिति वाले दो मनुष्यों का अपनी गुह्य से गुह्य वस्तु को न छिपा रखना। यही सख्यरति विभाव आदि उचित उपकरणों के द्वारा परिपुष्ट होने पर सख्य रस में परिणत हो जाती है। दास्यरस की अपेक्षा सख्यरस (प्रेयोरस) की महनीयता बहुत ही अधिक है। यहाँ भक्त भगवान् के सामने अपने मनोगत भावों को, गुह्य से गुह्य होने पर भी, निर्भयता तथा स्वच्छंदता के साथ प्रकट करता है। अतः आदर्श प्रेमस्वरूप भगवान् के साक्षात्कार की इसमें बहुत अधिक संभावना रहती है। विश्रंभ का गाढविश्वास-विशेष आपस में सर्वथा अभेद प्रतीत रूप होता है अर्थात् मित्रों में किसी प्रकार की भेद-भावना को स्थान नहीं मिलता। इसलिए इसमें किसी प्रकार की 'यंत्रणा' (बंधन, प्रतिबंध या संकोच) नहीं रहती और इसी कारण सख्य की भूयसी महत्ता है।

---

१ विमुक्तसंभ्रमा या स्याद् विश्रम्भात्मा रतिर्द्वयोः ॥ ५४ ॥
प्रायः समानयोरत्र सा सख्यं स्थायिशब्दभाक् ।
विश्रम्भो गाढविश्वासविशेषो यन्त्रणोज्झितः ॥ ५५ ॥
—भक्तिरसामृतसिन्धु, पश्चिमविभाग, तृतीय लहरी

सख्यरस के भक्तों के दो प्रकार होते हैं—

(१) पुरसंबंधी जैसे अर्जुन, भीम, द्रौपदी आदि—

(२) व्रज-संबंधी में चार अवांतर भेद माने जाते हैं—

(क) **सुहृत् सखा**—श्रीकृष्ण से उम्र में कुछ अधिक, वात्सल्य भाव से युक्त सदा श्रीकृष्ण की रक्षा में तत्पर सुभद्र, बलभद्र आदि।

(ख) **सखा**—उम्र में श्रीकृष्ण से कुछ कम और उनके सेवा-सुख के आकांक्षी देवप्रस्थ, मरन्द, मणिबन्ध आदि।

(ग) **प्रिय सखा**—उम्रमें श्रीकृष्ण के समान, श्रीकृष्ण के साथ सदा निः संकोच भावसे खेलने वाले श्रीदाम, सुदाम आदि।

(घ) **प्रियनर्म सखा**—इनसे भी अधिक भाववाले, अत्यंत अंतरंग, गोपनीय लीलाओं के सहचर सुबल, उज्ज्वल, अर्जुन गोप आदि।

सख्यरति में विश्रम्भ के विद्यमान होने पर भी उसमें एक त्रुटि लक्षित होती है। देश, काल तथा परिस्थिति-जन्य ऐसे प्रतिबंध उत्पन्न हो जाते हैं कि भक्त का पूरा समय इसी भाव में पूरा पूरा निमग्न नहीं रहता। फलतः रस की पूर्णता के निमित्त जिस आह्लादमयी दशा की आवश्यकता होती है, उसका यहाँ नितांत अभाव रहता है। इसी से 'वात्सल्यरति' की श्रेष्ठता तथा ग्राह्यता इसकी अपेक्षा अधिक होती है।

(४) **वात्सल्यरस** का स्थायिभाव वात्सल्यरति है। इसमें न तो 'संभ्रम' के लिए स्थान रहता है न विश्रम्भ के लिए, प्रत्युत इनसे भी ऊपर उठकर अनुकंपा करने वाले व्यक्ति का अनुकम्प्य व्यक्ति

के लिए स्वाभाविकी रति या प्रेम रहता है इसी का नाम वात्सल्य है[1]। 'कृष्ण मेरा है,' 'मेरा प्यारा दुलारा है' यह 'ममता' के नाम से प्रसिद्ध भावना वात्सल्य का ही रूप है। इस संबंध की विशेषता यह होती है कि इसमें भगवान् का ऐश्वर्य-भाव बहुत कुछ दबा रहता है। माता यशोदा श्रीकृष्ण के अद्भुत ऐश्वर्य को अपनी वात्सल्य-भावना के सामने भूल सी जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण समय समय पर अपनी भगवत्ता दिखलाते हैं, परंतु न नंदबाबा को उसकी सुधि रहती है और न यशोदा मैया को। दोनों श्रीकृष्ण को अपना प्रिय पुत्र मानते हैं और उसके लिए आनंद देने वाली सब वस्तुएँ इकट्ठा किया करते हैं। उनका हृदय कृष्ण की चिंता तथा भय से व्याकुल हो उठता है। बाल कृष्ण का कल्याण चिंतन ही उनके जीवन की मंगलमयी भावना है।

पूर्व वर्णित तीनों रसों में वात्सल्य ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होता है। इसका मुख्य कारण मनोवैज्ञानिक है। भगवान् तथा भक्त के हृदय का परस्पर आकर्षण सर्वत्र एक समान नहीं है। भगवान् हमारी ओर प्रेम भाव रखते हैं; इस बात का निर्णय न होने पर प्रीति पुष्ट नहीं होती, और प्रेयोरस का सर्वथा तिरोभाव हो जाता है, परतु वात्सल्यरति को इससे कुछ भी क्षति नहीं होती। माता का हृदय पुत्र के प्रति संतत दयार्द्र तथा प्रेमसिक्त होता है चाहे वह पुत्र माता के प्रति स्नेह रखे या न रखे। श्रीकृष्ण प्रेम रखें या न रखें, यशोदा के प्रेम में किसी प्रकार की कमी नहीं

---

१ संभ्रमादिच्युता या स्यादनुकम्प्येऽनुकम्पितुः।
रतिः सैवात्र वात्सल्यं स्थायी भावो निगद्यते ॥ २४ ॥

—भक्तिरसामृत सिंधु
पश्चिमविभाग, ४ लहरी

रहती है। इसी वैशिष्ट्य के कारण वात्सल्य पूर्व दोनों रसों से आनंद वृद्धि की दृष्टि से विशेष महत्त्वशाली है—

अप्रतीतौ तु हरिरतेः प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य न क्षतिः॥
—भक्तिरसामृतसिंधु ३।४।२८

वात्सल्यरस का विशिष्ट लक्षण 'स्तन्यस्राव' है जिसे प्रसिद्ध स्तम्भ स्वेदादि अष्टविध सात्त्विक भावों के अतिरिक्त नवम सात्त्विक भाव मानना चाहिए। श्रीकृष्ण के प्रति माता यशोदा का जो वात्सल्यभाव है 'स्तन्यस्राव' उसी का प्रतीक है। यशोदा के चित्त की जो भावमयी स्थिति है उस में अंगभूत भाव अनेक हैं और जिस समय जिस भाव का प्राधान्य होता है उस समय उसी के अनुकूल सात्त्विक भाव का उदय होता है। इन में सब भावों की जो समष्टि है उससे 'स्तन्यस्राव' होता है। दशरथ, नन्द, कौशल्या, यशोदा, देवकी आदि गुरुवर्गीय जन वात्सल्यरस के भक्त हैं। इन भक्तों की शुद्ध वात्सल्यमयी भक्ति है, अन्यत्र दास्य, सख्य तथा वात्सल्य का भाव-मिश्रण भी अन्य भक्तों में दृष्टिगोचर होता है। संकर्षण का सख्य भाव प्रीति तथा वात्सल्य से युक्त था, तो युधिष्ठिर का वात्सल्य प्रीति और सख्य से संपुटित था। नारद का सख्य प्रीति से युक्त था, तो उद्धवजी की प्रीति सख्य से मिश्रित थी। इस प्रकार 'भाव मिश्रण' के भी अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

(५) माधुर्यरस के स्थायीभाव का नाम है प्रियता जो श्रीकृष्ण तथा मृगनयनी सुंदरियों के संभोग का आदि कारण माना जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण को कांतभाव से उपासना करना माधुर्य-

भाव के नाम से अभिहित होता है। यह भक्ति की चरमावस्था माना जाता है क्योंकि इस अवस्था में सब प्रकार की मर्यादा तथा संकोच दूर हो जाते हैं और भगवान् की निरन्तर सेवा अबाधगति से होती है और इस प्रकार सुख का समास्वादन प्रगाढ़ रूप से होता है। यह मधुररस लौकिक दाम्पत्यरस से सर्वथा भिन्न है। लौकिक रस के जितने संबंध हैं वे सब स्वार्थमूलक होते हैं अर्थात् अपने ही सुख के लिए होते हैं। परंतु श्रीकृष्ण के प्रति जो यह स्नेहभाव है वह स्वार्थभावना से सर्वथा उन्मुक्त अथच अलौकिक है। लौकिक दाम्पत्य-प्रेम अहंकारमूलक है और भगवत्सम्बन्धी माधुर्यरस परसुखमूलक होता है। एक की संज्ञा 'काम' है, तो दूसरे का नाम 'प्रेम' है और दोनों में आकाश-पाताल का, अंधकार-प्रकाश का अंतर है। माधुर्यभाव ही जब इतना प्रगाढ़ तथा बद्धमूल हो जाता है कि अत्यन्त प्रतिकूल दशा में पड़ने पर भी भक्त का चित्त उससे विचलित नहीं होता, तब उसे 'प्रेम' कहते हैं। प्रेम बराबर आगे बढ़ता हुआ स्नेह, मान, प्रणय, राग और अनुराग की अवस्था को पार कर अंत में 'महाभाव' की चरम सीमा को पहुँच जाता है। यही सर्वसमाहारिणी इन्द्रियातीत भावमयी परा स्थिति है जो परमभक्तरूपिणी श्रीराधिका के जीवन तथा आत्मा का स्वरूप है। भक्त का यही परम ध्येय है जिसकी प्राप्ति प्रत्येक साधक का कर्तव्य है और जिसके लिए पूर्वोक्त भावों में से किसी एक भाव का आश्रयण श्रेयस्कर माना जाता है।

—o—

(४)

गोपी-भाव

गोपीभाव रस-साधना की उच्चतम कोटि का नाम है। कुछ लोगों की यह भ्रांत धारणा बनी हुई है कि गोपीभाव की उपासना का अधिकार स्त्री-समाज के भीतर ही सीमित है, गोपीभाव के पूर्ण निर्वाह के लिये पुरुषों को स्त्रियों की वेशभूषा का पूर्ण ग्रहण करना नितांत आवश्यक है और इसी धारणा को कार्य रूप में चरितार्थ करने के लिये हम कतिपय पुरुष भक्तों को मूँछ मुड़ाकर तथा चटकीली लाल साडी, तथा कड़ा छड़ा पहन कर भगवान् के सामने नाचने का स्वांग भरते हुए भी पाते हैं परंतु यह धारणा नितांत भ्रांत है। गोपीभाव स्त्री-सुलभ बाह्य-वेष के ऊपर आश्रित नहीं होता, प्रत्युत एक उदात्त आंतरिक भाव की संज्ञा है। वह भक्ति-साधना की उदात्त-कोटि का उज्ज्वलतम प्रतीक है। भगवान् व्रजनन्दन श्रीकृष्ण के चरणारविन्द में अपने समस्त आचार-व्यवहार, कार्य-कलाप, धर्मकर्म का पूर्ण समर्पण तथा उनके विरह में परम व्याकुलता की भावना—गोपीभाव के ये ही दो परिचायक लक्षण हैं। महर्षि नारद की सम्मति में भक्ति का पूर्ण आदर्श व्रज-गोपिकाओं के जीवन में विकसित तथा प्रफुल्लित हुआ था और भक्ति का पूर्ण आदर्श है क्या ? 'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विरहे परम-व्याकुलता च' अर्थात् भगवान्‌को अपने समग्र आचारोंका समर्पण तथा उनके विरह में परम व्याकुलता। संसार के समग्र निजी कर्मों, व्यापारों तथा नाना प्रपंचों को छोड़कर चित्त को रसिक-शिरोमणि किशोर-मूर्ति श्रीकृष्ण में सन्तत लगाना जिसमें एक

क्षण का व्यवधान न जनमे और यदि किसी प्रकार उनसे विरह हो, तो इसमें इतनी तड़पन हो, इतनी व्याकुलता हो कि संसार के कार्यों से चित्त निमिट कर उसी व्याकुलता की दशा में आत्म-विभोर हो उठे।

भक्ति शास्त्र में व्रज गोपिकायें प्रेम की धवल ध्वजा मानी गई हैं तथा उनकी प्रेम गरिमा के चित्रण में भक्तों की तथा कवियों की वाणी ने मूक भाव को ही अपना अलंकार समझा है। भक्ति-शास्त्र का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ-रत्न श्रीमद्भागवत गोपिकाओं की प्रेम-माला गूँथने में सबसे अधिक रूपवान् तथा सरस शास्त्र है। भागवत में 'गेह शृंखला' दुर्जर मानी गई हैं। गृहस्थाश्रम की नाना संबंधों की शृंखला मानव को इतनी दृढ़ता से जकड़ी हुई रहती है कि उसे तोड़ देना एक टेढ़ी खीर है—दुर्गम व्यापार है। कलितकलेवरा कामिनी की मंद मुसुकान पर बिकने वाला प्राणी क्या कभी अपने हित का चिंतन करता है? अपने सुकुमार शिशु की तोतली बोली पर रीझकर वह संसार को ही व्यर्थ का ढकोसला समझ बैठता है। रसिया मित्रों की संगति को ही वह जगत् का सार समझकर उसी में चित्त रमाये रहता है। सद्गुरु के उपदेशामृत का एक कण भी किसी क्षण में उसके कर्ण-पुट में यदि पड़ जाता है तो वह अपने को इन प्रपचों से छुड़ाने के लिए जी तोड़ परिश्रम करता है, परन्तु इनके तोड़ने में उसे चाहिये अश्रान्त अध्यवसाय, अक्लांत-परिश्रम तथा सर्वाधिक भगवद्-रसिक हृदय। विना इस साधना सामग्री के वह गेह-शृंखला को कभी नहीं तोड़ सकता। व्रज गोपियाँ इस दुर्जर गेह शृंखला को अच्छी तरह से तोड़ कर भगवान् की ओर अग्रसर हुई थीं। पति, पिता, माता, भाई, बंधु आदि समस्त संबंधों को तिलांजलि देकर ही ये भगवान् के चरणारविंद के मकरंदपान के लिये

भ्रमरी बनीं थीं। इसलिए श्रीकृष्ण ने स्वयं उनकी स्तुति में कहा था—

> न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
> स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
> या माभजन् दुर्जरगेह-श्रृंखलाः
> संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥
> भागवत १०।३२।२२

भगवान् का कथन है कि *गृहस्थी* की दुर्जर श्रृंखलाओं को अच्छी तरह काटकर तुम लोगों ने मेरा भजन किया है, आपकी मैत्री दोषहीन है। उसमें किसी प्रकार के स्वार्थ का गंध नहीं है। देवताओं की आयु पाकर भी मैं इसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता। इसलिए आप लोग स्वयं अपनी उदारता तथा उदराशयता से मुझे इस ऋण से उन्मुक्त कर दें।

उद्धव जी को व्रज भेजते समय श्रीकृष्ण ने प्रेम-गद्गद कंठ से गोपीभाव की विशुद्धता तथा उच्चता का परिचय दिया है। वे कहते हैं कि उद्धवजी, गोपियों का मन मुझमें रमा हुआ है। उनका प्राण मैं ही हूँ, मेरे लिए उन्होंने समस्त देह-कार्यों का विसर्जन कर दिया है तथा लोकधर्मों का भी परित्याग कर दिया है। मैं उनका आभरण-पोषण करता हूँ। मैं उनके लिए प्रियतमों का भी प्रिय हूँ। जब मैं व्रज से दूर चला जाता हूँ तब ये विरह की उत्कंठा से विह्वल होकर मेरी स्मृति में मूर्च्छित होकर गिर जाती हैं । मेरे व्रज-प्रत्यागमन के संदेशों से ही वे किसी प्रकार अत्यन्त क्लेश से अपना प्राण धारण कर रही हैं। तत्त्व की बात है—वल्लव्यो मे मदात्मिकाः । गोपियों की आत्मा

मेरे साथ एकाकार है तथा मैं गोपियों के साथ एकाकार हूँ। (भागवत १०।४६।४-६)। 'वल्लव्यो मे मदात्मिकाः' (भागवत) की 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' से तुलना यही बताती है कि व्रज की गोपियाँ उक्त ज्ञानी भक्ति का प्रतिनिधि हैं जिसे गीता भक्त-चतुष्टय में शिरोमणि मानती है।

सोलहो आने सच्ची बात यह है कि स्वजन का परित्याग नितांत दुष्कर है। भगवान् की मोहिनी माया का पाश इतना ढीला नहीं है कि कोई अपना गला छुड़ाकर झाड़कर अलग हट जाय। वह प्राणी-मात्र के ऊपर इतनी दृढ़ता से रक्खा गया है कि उसको हटाना एक दूभर व्यापार है और इसी पाश को काट डाला गोपियों ने। इसीलिए स्वयं उद्धव जी ने अपनी हृदयगत अभिलाषा प्रकट करते हुए कहा था कि मैं चाहता हूं कि वृंदावन के इस बीहड़ कानन में मैं लता, ओषधि या झाड़ियों में किसी रूप रहता जिससे मुझे गोपियों के चरण रजःकण के स्पर्श से से पवित्र होने का अवसर मिलता। इन गोपियों की स्तुति हीं क्या की जाय जिन्होंने कठिनता से छोड़ने योग्य अपने सगे संबन्धियों को तथा आर्यपथ को छोड़कर वेदों के द्वारा खोजे गये मुकुंद की चरण सेवा को स्वीकार किया था:—

> आसामहो चरणरेणु-जुषामहं स्याम्
> वृंदावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
> याः दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
> भेजे मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

आत्म-विस्मृतिकी दशामें भी भगवान् के माहात्म्यकी विस्मृति कभी न होनी चाहिए। गोपियाँ प्रेम की अधिकता के कारण आपा भले ही भूल जाय, परंतु यह याद उन्हें भूल नहीं सकती

कि हमारे प्रेम का आधार, हमारी कामना का निकेतन, हमारे स्नेह का आश्रय वह किशोरमूर्ति श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् है, अखिल घट में वास करनेवाला नित्य नूतन प्रेमागार है, जगत् का नियमन करनेवाला अंतर्यामी है। उनका प्रेम किसी मानव के प्रति नहीं है, किसी भौतिक देहधारी के प्रति नहीं है, प्रत्युत जगन्नियंता के प्रति है, षड् ऐश्वर्य से मंडित भगवान् के प्रति है। तभी तो गोपियों ने श्रीमुख से कहा था—

> न खलु गोपिका-नन्दनो भवा-
> नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
> विखनसार्थितो विश्व-गुप्तये
> सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ॥

आप गोपिका यशोदा के नन्दन नहीं हैं, प्रत्युत संपूर्ण प्राणियों के अंतरात्मा के साक्षी तथा द्रष्टा हैं। यादव कुल में आप का उदय ब्रह्मा की निरंतर प्रार्थना करने पर विश्व की रक्षा के निमित्त हुआ है। अतः आनंदातिरेक की दशा में भी गोपियाँ कृष्ण के अंतर्यामी रूप तथा लोकसंग्रहकारी स्वरूप से भली भाँति परिचित हैं। यदि ऐसा नहीं होता, तो यह प्रेम जार के प्रेम से अधिक महत्व का नहीं होता। जो महिला अपने धर्म पति के प्रेमको तिलांजलि देकर किसी उपपतिको वरण करती है वह समाज में हेय तथा अग्राह्य आदर्श प्रस्तुत करती है। गोपियों के विशुद्ध प्रेम पर छींटाकशी करने वाले आलोचकों का टोटा नहीं है, परंतु उन्हें ध्यान में रखना चाहिए कि गोपियों ने अपना हृदय समर्पण किया था किसी परपुरुष को नहीं बल्कि उस परमपुरुष को जो अंतर्यामी रूप में हृदय के कोने में बैठा हुआ हमारा संचालन किया करता है तथा हमारे समग्र व्यापारों का निरीक्षक

बन कर हमारे पुण्य-पाप का लेखा जोखा किया करता है। इसीलिए महर्षि नारद जी का कहना है—

'तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः' 'तद्विहीनं जाराणामिव'

नारद-भक्तिसूत्र २२, २३

प्रेम तथा काम का तारतम्य

प्रेम तथा काम का तारतम्य समझ लेना इस प्रसंग में नितांत आवश्यक है। प्रेम में त्याग की भावना का प्राबल्य रहता है और काम में स्वार्थ की भावना का प्राधान्य रहता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के लिए अपने सौख्य तथा सम्पत्ति को न्योछावर करने के लिए उद्यत रहता है, परंतु कामी की दृष्टि अपने ही सौख्य की ओर लगी रहती है। वह केवल अपना ही स्वार्थ चाहता है, अपनी इच्छा की पूर्ति की कामना करता है; उसका दृष्टिबिन्दु प्रियपात्र न होकर स्वयं अपना ही क्षुद्र आत्मा होता है। वह अपने प्रिय की ओर कभी फूटी नजरों से भी नहीं देखता। वह देखता है केवल अपने को, अपने क्षुद्र स्वार्थ को तथा अपने व्यक्तिगत सौख्य को। नारदजी की सम्मति में प्रेम की प्रधान पहिचान है—तत्सुखसुखित्वम्=प्रियतम के सुख में अपने आपको सुखी मानना। परंतु काम में इस भावना का एकदम अभाव रहता है। गोपियों के जीवन में हम प्रेम की ही प्रधानता पाते हैं। उनका एक ही उद्देश्य था कि किसी न किसी प्रकार से कृष्णचंद्र को अपने कार्यों से आनंद पहुँचाना। इसी सेवा से ही उन्हें अपार आह्लाद प्राप्त होता था; उनके हृदय में और किसी भी स्वार्थमूलक वासना का अस्तित्व नहीं था।

भगवान् के प्रति समर्पित जीवन में स्वार्थवासना के लिए कहीं स्थान नहीं होता। भक्त भगवान् से इतना तादात्म्य रखता है कि उसके पृथक् अस्तित्व का कोई मूल्य ही नहीं होता। वह केवल भगवान् की ही सेवा को अपने जीवन का चरम अवसान मानता है। काम दूसरों के द्वारा अपनी तृप्ति चाहता है, परंतु प्रेम अपने द्वारा प्रेमपात्र की तृप्ति चाहता है और उसीके आनन्द से स्वयं आनन्द का अनुभव करता है। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्यचरितामृत' में प्रेम तथा काम के इस परस्पर पार्थक्य का बड़ा ही सुंदर विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उनका कहना है—

आत्मेन्द्रियप्रीति इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रियप्रीति इच्छा, धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संभोग केवल।
कृष्ण सुख तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
आत्म दुःखसुख गोपी ना करे विचार।
कृष्ण सुख हेतु करे सब व्यवहार॥
लोकधर्म, वेदधर्म, देहधर्म कर्म।
लज्जा धैर्य देह सुख आत्मसुख मर्म॥
सर्व त्याग करये करे कृष्णेर भजन।
कृष्णसुख हेतु करे प्रेमेर सेवन॥
इहाके कहिये कृष्णे दृढ़ अनुराग।
स्वच्छ धौत वस्त्र जैछे नाहि कौन दाग॥
अत एव काम प्रेमेर बहुत अन्तर।
काम अन्धतम प्रेम निर्मल भास्कर॥
अत एव गोपी गणे नाहि काम गन्ध।
कृष्णसुख हेतु-मात्र कृष्णेर सम्बन्ध॥

आशय है कि अपनी ही इंद्रियों की जो इच्छा होती है उसी का नाम है काम और श्रीकृष्ण की इंद्रियों को प्रसन्न करने की इच्छा की संज्ञा है प्रेम। काम हृदय की सकुचित वृत्ति है जिसका तात्पर्य केवल अपने ही सुख तथा संयोग की भावना रहती है। इसके विपरीत प्रेम हृदय की उदात्त वृत्ति है जिसका अभिप्राय केवल प्रेमपात्र श्रीकृष्ण को ही सुख पहुँचाना होता है। गोपियों का जीवन प्रेम का उज्ज्वल प्रतीक है। इसलिए गोपियाँ कभी अपने सुख की ओर ध्यान ही नहीं देतीं। उन्होंने लोकधर्म वेदधर्म, लज्जा, धैर्य आदि समस्त वस्तुओं को छोड़कर केवल भगवान् श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने का दृढ़ नियम तथा निश्चय ले रखा था। प्रेम उस स्वच्छ धोए हुए वस्त्र के समान है जिसके ऊपर एक भी काला छीटा या दाग नहीं रहता। काम अंधा होता है, परंतु प्रेम सूय के समान प्रकाशमान तथा निर्मल होता है। गोपियाँ प्रेम की ध्वजा थीं। अतः उनके जीवन में काम का गंध भी देखने को नहीं मिल सकता। कृष्ण के साथ उनका संबंध इतना ही था कि वे व्रजनन्दन कृष्ण के हृदय में आनद उत्पन्न करने का कारण बनती थीं।

इस प्रकार गोपीभाव के परिचायक चार गुणों की सत्ता माननी चाहिए—(१) समग्र स्वत्व तथा संपत्ति को भी कृष्ण के प्रति समर्पण कर देना; (२) एक क्षण के लिए भी कृष्ण की विस्मृति में नितांत व्याकुलता, (३) श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा यश की गरिमा का पूर्ण ज्ञान, (४) श्रीकृष्ण के सुख में अपना सुख मानना तथा उनके आनंदित होने पर स्वतः आनंदित होना। इन चारों महनीय गुणों का विलास जिस प्रेम में झलकता है वही गोपीभाव का चरम आदर्श है। अष्टछाप के मान्य कवि परमानन्ददास की यह श्लाघनीय स्तुति सचमुच यथार्थ है—

ये हरिरस ओपी गोपी सब तिय तें न्यारी।
कमल नयन गोविंद चँद की प्रान पियारी।
निरमत्सर जे संत तिनहिं चूड़ामनि गोपी।
निर्मल प्रेम प्रवाह सकल मरजादा लोपी।
जे ऐसे मरजाद मेटि मोहन गुन गावैं।
क्यों नहिं परमानंद प्रेम-भगती-सुख पावैं॥

इस प्रकार गोपीभाव साधनाके एक उत्कट कोटि का नामांतर है। वह बाह्य आलंबन पर आश्रित न होकर आंतरभाव ऊपर अवलंबित होता है।

---

(५)

रससाधना

साधना के विविध मार्गों को सुभीते के लिए तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रवर्तक दशा, (२) साधक दशा तथा (३) सिद्ध दशा। ये तीनों दशायें साधक की विशिष्ट स्थिति की द्योतिका हैं। प्रवर्तक दशा में साधक अपनी साधना का प्रारंभ करता है। इसके भी साधन की विभिन्नता से दो भेद होते हैं—नामसाधना और मन्त्र साधना। भगवान् के स्वरूप के समान ही उनका नाम भी चिन्मय, विशुद्ध तथा अप्राकृत होता है। भगवन्नाम प्राकृतिक वस्तु नहीं है, वह अप्राकृतिक वस्तु है और अचिन्त्य शक्ति-संपन्न है। नाम तथा नामी का नित्य संबंध होता है। साधक अपने उपास्य-देवता के अभीष्ट नाम का सन्तत उच्चारण तथा जप करता हुआ नामी की प्राप्ति में कृतकार्य होता है। स्फोट शब्द से ही अर्थ की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, परंतु स्फोट 'अन्त्यबुद्धि-निर्ग्राह्य' होता है अर्थात् अन्तिम ध्वनि के उच्चारण के साथ स्फोट शब्द की पूर्णता होती है और तब अर्थ की अभिव्यक्ति स्वतः बिना किसी बाह्य कारण की सहायता से होती है। उदाहरण के लिए 'राम' शब्द की पूर्णता तभी संपन्न होती है जब रेफ, आकार और मकारके अनन्तर अकारका भी उच्चारण किया जाता है। जब तक इस अंतिम ध्वनिका उच्चारण नहीं होता, तब तक राम शब्द के द्वारा द्योत्य अर्थ की स्फूर्ति नहीं होती। इसी प्रकार नाम-साधक का कर्तव्य है कि वह नाम की साधना में पूर्ण निष्ठा से लगा रहे। जब अन्तिम नाम का उच्चारण पूर्ण होगा, तब नामी की अभिव्यक्ति आप से आप एक क्षण में हो

जावेगी। नामोच्चारण में भी साधक का कर्तृत्वाभिमान किसी प्रकार कृतकार्य नहीं होता, अपि तु नामी की कृपा से ही किसी भाग्यशाली पुण्यवान् के कण्ठ से नाम फूट उठता है।

दीर्घकाल तक नियमित रूप से नाम साधना करते रहने से यथासमय भगवान् की करुणा का उद्रेक होता है और वे पथ-प्रदर्शक गुरु के रूप में नाम-साधक भक्त के सामने आविर्भूत होते हैं और मंत्रोपदेश करते हैं। मंत्र की यथावत् साधना से बीज-मंत्र की अभिव्यक्ति होती है तथा साधक का चित्त मलिनता का पूर्ण परिहार कर नितांत शुद्ध सात्त्विक रूप में विद्योतित हो जाता है। साधक का पूर्वसंचित अशुद्ध काम विगलित हो जाता है तथा वह अपने भाव के अनुसार शुद्ध सात्त्विक देहको धारण करता है। इस विशुद्ध शरीर का पारिभाषिक नाम होता है—भाव देह। यह देह निर्मल, अजर तथा अमर होता है। भौतिक-देह से संबद्ध भूख-प्यास, काम-क्रोध, आदि प्राकृत धर्म इसे स्पर्श तक नहीं करते। इस भावदेह का उदय प्रवर्तक दशा के अवसान तथा साधक दशा के आरंभ का सूचक होता है। अब सच्ची साधना का आरंभ होता है, क्योंकि अब तक की गई साधना साधक को केवल आरंभिक योग्यता प्रदान करने के लिए ही कृतकार्य होती है। स्थूल देह में अभिनिवेश या तादात्म्यपूर्वक जो उपासना साधारण रीति से की जाती है, वह वस्तुतः साधना ही नहीं है। सच्ची साधना तो भाव का साधन है। इस साधन को अग्रसर करने के लिए नाम तथा मंत्र दोनों साधक की आरंभिक चेष्टायें होती हैं।

साधक दशा में भावभक्ति का उदय होता है। इस भक्ति के आविर्भाव के कारण की समीक्षा करते समय आचार्यों ने दो कारण बतलाये हैं। भाव का उदय कर्म से या कृत्रिम उपायों से

होता है अर्थात् स्मरण, कीर्तन, आत्मनिवेदन आदि उपायों के अवलंबन करने से साधन-भक्ति भाव-भक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। परंतु कर्मकी अपेक्षा भगवत्कृपा ही इस परिणाम का समर्थ कारण मानी गई है। कभी कभी भक्तों के हृदय में साधन-भक्ति के अनुष्ठान के विना ही भावभक्ति का आविर्भाव देखा जाता है। ऐसे कर्म के अभाव में भाव का उदय भगवान् की अथवा उनके भक्तों की कृपा का परिणत फल माना जाता है। कुछ आचार्य लोग प्रथम को कारण मानते नहीं। वे तो केवल कृपा को ही भावोदय में जागरूक कारण मानते हैं। इसका एक हेतु है। भक्ति ह्लादिनी शक्ति की एक विशेष वृत्ति है। ह्लादिनी शक्ति महाभावरूपा होती है। अतः भाव-भक्ति चाहे वह साधनपूर्वक हो या कृपापूवक हो महाभाव का ही एक अंश है। जीव कर्म कर सकता है, क्योंकि वह इस कर्म-लोक का प्राणी है। यह संसार कर्मभूमि है—कर्मों की भूमि है जहाँ मनुष्य स्वेच्छया नाना कर्मों को करता है, परंतु वह भाव के लिए या भक्ति के निमित्त भगवत्कृपा पर ही आश्रित रहता है। कर्ममूल में जीव रहता और भावमूल में भगवान् रहता है। भक्ति स्वरूपशक्ति का विलास होने से भगवत्स्वरूप से ही संवद्ध रहती है। इसीलिए जीव कर्म तो कर सकता है, परंतु कृत्रिम उपायों से भक्ति या भाव को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वह भावमय नहीं होता। इसीलिए वैष्णव आचार्यों का पूर्ण आग्रह है कि भाव का भक्त-हृदय में स्फुरण भगवत्कृपाकटाक्ष से ही होता है।

भावदेह और वाह्यदेह

विना योग्य आधार के आधेय की सत्ता नहीं हो सकती। विना विशुद्ध देह के भाव का उदय नहीं हो सकता। यह प्राकृत

देह अशुद्धियों के आगार होने से नितांत मलिन, दोषपूर्ण तथा अशुद्ध होता है। इसमें भाव जैसे विशुद्ध पदार्थ के धारण करने का सामर्थ्य ही नहीं रहता। इसीलिए भावदेह की आवश्यकता होती है। प्राकृत मालिन्य आदि दोषों से विरहित शुद्ध देह ही 'भाव देह' के नाम से अभिहित किया जाता है। भावदेह आंतर विशुद्ध देह होता है और बाह्यदेह बाहरी अशुद्ध देह होता है। दोनों देहों में प्रथमतः योग या परस्पर सामञ्जस्य नहीं होता। मातृभाव के साधक का भाव-देह शिशु के आकार का ही होता है चाहे उसका बाह्य प्राकृत शरीर भले ही जीर्ण-शीर्ण, जरा-पलित तथा विगलित-दंत हो। सिद्धांत का मूल है प्रकृति तथा आकृति की एकरूपता। जो साधक प्रकृतितः शिशु है (अर्थात् मातृभाव का उपासक है) वह आकृतितः शिशु ही है (अर्थात् उसका भावदेह शिशु के आकार का ही होता है); इसमें तनिक भी संदेह नहीं। सारांश है कि भावदेह के सिद्ध होने पर ही साधक के हृदय में 'भाव' का उदय होता है और यही भाव नाना साधनों से विकसित होकर 'प्रेम' के रूप में परिणत हो जाता है। बिना प्रेम के उदय हुए भगवान् के अपरोक्ष ज्ञान का उदय नहीं होता है। भाव तथा रस में अंतर यही है कि भाव होता है अपक्व दशा तथा रस होता है पक्व दशा।

भाव दो प्रकार का होता है—स्थायीभाव तथा संचारीभाव। संचरणशील होने के कारण संचारीभाव कतिपय क्षण स्थायी रहता है और अपना कार्य समाप्त कर तिरोहित हो जाता है। रसका उन्मेष संचारी भाव के द्वारा नहीं होता, अपि तु स्थायी भाव के द्वारा होता है। भक्त लोग नाम तथा मंत्र की साधना को इसीलिए उपादेय मानते हैं कि इसके द्वारा भाव को संचारी दशा से स्थायी दशा में पहुँचाया जा सकता है। भाव के विकास

के साथ साथ भक्त हृदय प्रदेश में प्रवेश पाता है। यह अंतरंग कमल अष्टदलों में विभक्त रहता है जिसके एक एक दल के ऊपर एक एक भाव की स्थिति मानी जाती है। स्थायी भाव के अष्ट प्रकार होने का यही कारण है। भिन्न भिन्न दल तो भाव के प्रतीक तथा स्वरूप होते हैं और कर्णिका में महाभाव की स्थिति अंगीकृत की जाती है। साधक का चरम लक्ष्य है महाभाव की प्राप्ति और इसके लिए आठों भावों में से प्रत्येक भाव को क्रमशः एक एक कर उसे जगाना पड़ता है, नहीं तो कोई भी भाव अपने चरम विकाश की अवस्था तक प्रस्फुटित नहीं किया जा सकता। विभिन्न अष्ट भावों का समष्टिरूप ही 'महाभाव' होता है। जिस प्रकार हाथ, पैर, आँख, कान आदि अवयवों को छोड़कर स्वतंत्र रूप से शरीर का अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार अष्टभावों का परिहार कर 'महाभाव' की स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। श्रीकविराज जी के शब्दों में "अष्टदल की कर्णिका के रूप में जो बिंदु है, वही अष्टदल का सार है। इसी का दूसरा नाम 'महाभाव' है। वस्तुतः अष्टदल महाभाव का ही अष्टविध विभक्त स्वरूपमात्र है। इसे महाभाव का काय-व्यूह भी कहा जा सकता है। ये आठ भाव महाभाव के स्वगत आठ अंगमात्र हैं और महाभाव का स्वरूप ही इन अष्टभावों की समष्टि है[1]।"

वैष्णव शास्त्र में अष्टदल कमल का एक एक दल भाव का प्रतीक होकर सखी का भी प्रतिनिधि है। कर्णिकागत बिंदु महाभाव का प्रतीक बनकर श्रीराधा का प्रतिनिधित्व करता है। सखियाँ महाभावरूपा श्रीराधा की ही काव्यव्यूह हैं। सखियों की समष्टिरूपा राधा उनके बिना नितांत अपूर्ण है।

---

१ भक्तिरहस्य पृ० ४४६.

इसीलिए सखियों के सहयोग से ही साधक राधारूप की उपलब्धि कर सकता है। श्रीराधा तत्त्व का विवेचन भक्ति-ग्रंथों में बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रेमरूपिणी राधा आनंद-विग्रह श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति है। आनंद तथा प्रेम का नितांत घनिष्ठ संबंध रहता है। आनंद न तो प्रेम के अभाव में जी सकता है और न प्रेम ही आनंद के अभाव में रह सकता है। आनंद के घनीभूत विग्रह श्रीकृष्ण हैं, तो प्रेम की घनीभूत मूर्ति श्रीराधिका हैं। दोनों का साहचर्य नित्य है। न कृष्ण के बिना राधा की स्थिति रह सकती है और न राधा के बिना कृष्ण रह सकते हैं। श्रीकृष्ण ही राधा के जीवन हैं। श्रीकृष्ण भोक्ता हैं; श्रीराधा भोग्या हैं। पुरुष सेव्य तथा आराध्य है। प्रकृति सेव्या तथा आराधिका है। इसीलिए प्रेमस्वरूपिणी राधिका अपने प्राण और मन को अर्पण कर श्रीकृष्णको सदा प्रसन्न किया करती है।

ह्लादिनी शक्तिके रूप-निर्देश के अवसर पर कृष्णदास कविराज कहते हैं कि ह्लादिनी कृष्ण को आनंद का अनुभव कराती है। ह्लादिनी के द्वारा ही भगवान् भक्तों का पोषण करते हैं। ह्लादिनी का सार है प्रेम और प्रेम का सार है भाव और भाव की परमकाष्ठा का अभिधान है 'महाभाव'। श्रीराधा ठकुरानी महाभाव-स्वरूपा हैं। वह सब गुणों की खानि होने से श्रीकृष्ण की कांताओं में शिरोमणि हैं:—

ह्लादिनी कराय कृष्णेर आनन्दास्वादन।
ह्लादिनी द्वाराय करे भक्तेर पोषन॥
ह्लादिनीर सार प्रेम, प्रेमसार भाव।
भावेर परमकाष्ठा नाम महाभाव॥

महाभावस्वरूपा श्रीराधा ठाकुरानी।
सर्वगुणखानि कृष्णकान्ताशिरोमनी॥

"कृष्ण के द्वारा आराधना किये जानेवाली अथवा कृष्ण की आराधना करनेवाली ही 'राधा' है। महिषी, गोपियाँ तथा लक्ष्मी इन्हीं की कायव्यूह हैं। राधा तथा श्रीकृष्ण रससागर महाविष्णु के देह से ही दो रूप हो गये हैं"। राधिकोपनिषद् के इस कथन[1] से राधा तथा सखियों के परस्पर संबंध की कल्पना का निर्णय हो सकता है। सखियाँ राधा की कायव्यूहरूपा हैं[2]। अतः वे भी नित्य सखी तथा सहचरी रूप से श्रीराधा-कृष्ण की निरंतर सेवा, भजन तथा उपासना कर उन्हें आनंदरस-निर्भर बनाती हैं। पहिले वर्णन किया गया है कि गोपियों का जीवन परार्थ की एक दीर्घ परंपरा है। कृष्ण की आनंदोद्भूति ही उनके जीवन का लक्ष्य है। वे प्रेम की जीवित प्रतिमायें हैं। इनका जीवन ही श्रीकृष्ण के सुख तथा आनंद के लिए होता है। सखी भाव को प्राप्त कर कृष्ण की निरंतर उपासना तथा आनंदातिरेक ही साधक का परम कर्तव्य होता है।

---

१ कृष्णेन आराध्यते इति राधा। कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका। अस्या एव कायव्यूहरूपा महिष्यो गोप्यः श्रीश्चेति। येयं राधा यश्च कृष्णो रसाब्धिर्देहेनैकः क्रीडार्थं द्विधाऽभूत्।
—राधिकोपनिषत्।

२ महाभाव चिन्तामणि राधार स्वरूप।
ललितादि सखी तार कायव्यूहरूप॥
—चैतन्यचरितामृत।

भगवान् श्रीकृष्ण के 'गोपरूप' का रहस्य यही है कि वे आनंदरूप से जगत् के रक्षक तथा स्रष्टा हैं। आनंद के बिना कोई एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि आनंदमय भगवान् श्रीकृष्ण निजानंद के किंचित् आभास के द्वारा अखिल जगत् के गोप, गोप्ता अथवा रक्षक है। 'विष्णुर्गोपा अदाभ्यः' इस श्रुतिवाक्य का यही तात्पर्य है। 'उपजीवंति मात्रां हि तस्यानंदस्य सर्वदा भूतानि सकलानि' अर्थात् समस्त जीवगण उस एकमात्र अद्वितीय परमानंद के आभासमात्र के आश्रय से जीवित रहते हैं। फलतः जगत् के संतत रक्षक होने के कारण श्री कृष्ण ही नित्य गोप हैं तथा उनकी सेवा करने वाली श्रीराधा आदि सहचरियाँ नित्य गोपियाँ है।

भाव से महाभाव की प्राप्ति के दो मार्ग हैं—प्रकट मार्ग तथा गुप्त मार्ग। एक है आवर्तक्रम से और दूसरा है साक्षात् तथा सरल रूप से। आवर्तमार्ग के अवलंबन करते समय प्रदक्षिण तथा परिक्रमा के द्वारा साधक भाव से भावांतर में जाता है और अंततः महाभाव में पहुँच जाता है। इस मार्ग से चलने पर महाभाव का पूर्ण स्वरूप प्राप्त होता है। सरलमार्ग से महाभाव की प्राप्ति संभव है- परंतु उसके पूर्ण विकास की संभावना नहीं है। वैष्णवों की भाषा में हम कह सकते हैं कि कृष्ण का प्रकट रूप से मिलन राधा के साथ ही होता है। ललिता या चंद्रावली के साथ श्रीकृष्ण का मिलन गुप्तरूप से ही होता है।

इसका आशय यह है कि साधक का जिस भाव का उपासक है उस भाव की पूर्णता होने पर वह साक्षात् रूप से महाभाव के साथ संपर्क स्थापित कर सकता है तथा तद्रूप बन सकता है। परंतु आवर्तक्रम से चलने में पूर्णता आती है। साधक एक

भाव को पूर्ण कर दूसरे भाव में जाता है और फिर भावांतर में। इस प्रकार प्रतिभावों के आवर्तन करने पर वह स्वयं अपने भाव की ओर जब लौट कर आता है तब वह भाव के पूर्ण विकाश से संपन्न होकर सीधे 'महाभाव' में प्रवेश करता है। इस प्रकार स्थायीभाव आवर्तक्रम से रसरूप में परिणत हो जाता है। जीव इसी क्रम से गोपी भाव का आश्रय करता हुआ अपनी पूर्णता से संपन्न होकर राधा की सेवा में उपस्थित हो जाता है और उसे अखंड आनंद की अनुभूति करने में तब तनिक भी विलंब नही लगता[1]।

(६)

लीला-तत्त्व

भगवान् की लीला भी उन्हीं के समान नित्य, अनंत तथा चिन्मय होती है। लीला साम्यभाव, सख्यकी भावना पर, आश्रित रहती है, असमानता या वैपम्यभाव के उदय होने पर लीला का प्रादुर्भाव कथमपि नहीं हो सकता। लीला के विपय में वैष्णव मतों में पर्याप्त मत विभिन्नता लक्षित होती है। श्रीवैष्णव तथा माध्व भक्त दास्यभाव का साधक होता है। वह भगवान् के ऐश्वर्य भाव का उपासक होता है। भगवान् के माधुर्यभाव के प्राधान्य होने पर तद्रूप लीलाका प्रसंग उठता है। भगवान् ऐश्वर्य-

---

१ महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराजजी के गम्भीर लेख 'भक्तिरहस्य' के ऊपर आधारित। द्रष्टव्य कल्याण का 'हिन्दू संस्कृति-अंक,' वर्ष १६५०; पृष्ठ ४३६—४४४।

भावकी पुष्टि होने पर लीलाका प्रसंग सामान्यतः उठता ही नहीं। भगवान्के ऐश्वर्य भावका उपासक श्रीवैष्णव तथा माध्वमतमें बड़ी ही श्रद्धा, बड़ी ही निष्ठासे भगवान् से कुछ दूर पर ही रहकर अपनी भक्ति प्रकट करता है। बहुत हुआ तो अवसर पर वह उनका चरण स्पर्श करके ही अपने को कृतार्थ तथा अपनी दास्यभक्ति को चरितार्थ मानता है। वल्लभ संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना का प्राधान्य है, क्योंकि वह वात्सल्य भक्ति को ही साधक के लिए आदर्श मानता है। बालकृष्ण की यथार्थ सेवा की बड़ी ही सुंदर व्यवस्था इस पुष्टिमार्ग में की गई है। प्रातः काल से लेकर रात्रिकाल तक के समय को ८ भिन्न भिन्न भागों में बाँटकर अष्ट प्रकार के शृंगार, वेषभूषा और भोगराग का विधान यहाँ किया गया है। मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या तथा शयन—वल्लभ संप्रदायकी यही अष्टांगिक सेवापद्धति बालकृष्ण को आश्रय मानकर प्रवर्तित की गई है। वात्सल्य भाव का यह पूजन सर्वसाधारण के निमित्त है, परंतु इस संप्रदाय में कैशोर भाव की भी उपासना है जो सामान्यतः गुप्त तथा रहस्यमयी मानी जाती है। वल्लभ संप्रदाय में माना जाता है कि मधुर भाव से उपासक भक्त सखीरूप होते हैं और सख्यभाव से उपासक भक्त सखारूप होते हैं। सर्वानंद की सिद्धिरूपा राधिका सब सखियों में मुख्य होने से 'स्वामिनी जी' के नाम से अभिहित की जाती हैं। मुख्य सखियाँ आठ होती हैं और मुख्य सखा भी संख्या में आठ ही होते हैं। इन सखियों तथा सखाओं के अलग अलग यूथ होते हैं जिन में सखियाँ तथा सखायें सैकड़ोंकी संख्या में होते हैं। अष्टछाप के कवि गोचारणलीला के तो सखा और रात्रिकालीन कुंजलीला के सखीरूप माने जाते हैं। इन कवियों के काव्यों में गोपियों के दो रूप स्वीकृत किये गये हैं—

(क) भगवान् की आनंदरूपा तथा सृष्टि करने वाली शक्ति का रूप; (ख) कान्ताभाव से भगवान् के उपासक अनन्य भक्तों का प्रतीक।

निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभी सम्प्रदायों में भगवल्लीला के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। चैतन्य मतानुसार भगवान श्री कृष्ण अपनी ही स्वरूपशक्ति के साथ लीला किया करते हैं। जीव का लीला में प्रवेश का अधिकार केवल द्रष्टा रूप से ही है, क्योंकि वह तटस्थ शक्ति ठहरा। ताटस्थ्यवृत्ति के आश्रय होने वाले जीव के साथ भगवान् की लीला कथमपि नहीं हो सकती। भगवान् आह्लादिनी शक्तिभूता श्री राधारानी तथा उनकी सेविका गोपीजनों के साथ ही लीला किया करते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार इस लीला की तुलना बालक की क्रीडा के साथ की जा सकती है। बालक दर्पण में प्रतिबिंबित अपने ही प्रतिबिंबों से खेलता है। भगवान् भी अपनी स्वरूप-शक्ति के साथ स्वाभाविक रीति से लीला किया करते हैं, तब जीव केवल साक्षी या द्रष्टा रूप से अवलोकन करता है। दूसरे प्रकारसे जीवके साथ भगवल्लीला हो भी सकती है। जीव मंजरी[1]

---

१ मंजरी गोपियों की सेविकायें मानी जाती हैं। एक एक सखी के साथ एक एक मंजरी रहती है। चैतन्य मतानुसार इन मंजरियोंके नाम ये हैं—रूपमंजरी, जीवमंजरी, अनंगमंजरी, रसमंजरी, विलासमंजरी, प्रेममंजरी, रागमंजरी, लीलामंजरी तथा कस्तूरीमंजरी। अष्ट सखियों के नाम, रूप तथा काम में भी पर्याप्त मतभेद है।

पुराणों में भी इस विषय में विशेष मतभेद है। चैतन्यमतानुसार इन अष्टसखियों के नाम ये हैं—ललिता, विशाखा, सुमित्रा, चंपकलता, रंग-

भावकी पुष्टि होने पर लीलाका प्रसंग सामान्यतः उठता ही नहीं। भगवान्‌के ऐश्वर्य भावका उपासक श्रीवैष्णव तथा माध्वमतमें बड़ी ही श्रद्धा, बड़ी ही निष्ठासे भगवान् से कुछ दूर पर ही रहकर अपनी भक्ति प्रकट करता है। बहुत हुआ तो अवसर पर वह उनका चरण स्पर्श करके ही अपने को कृतार्थ तथा अपनी दास्यभक्ति को चरितार्थ मानता है। वल्लभ संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना का प्राधान्य है, क्योंकि वह वात्सल्य भक्ति को ही साधक के लिए आदर्श मानता है। बालकृष्ण की यथार्थ सेवा की बड़ी ही सुंदर व्यवस्था इस पुष्टिमार्ग में की गई है। प्रातः काल से लेकर रात्रिकाल तक के समय को ८ भिन्न भिन्न भागों में बाँटकर अष्ट प्रकार के शृंगार, वेषभूषा और भोगराग का विधान यहाँ किया गया है। मंगला, शृंगार, ग्वाल, राजभोग, उत्थापन, भोग, संध्या तथा शयन—वल्लभ संप्रदायकी यही अष्टांगिक सेवापद्धति बालकृष्ण को आश्रय मानकर प्रवर्तित की गई है। वात्सल्य भाव का यह पूजन सर्वसाधारण के निमित्त है, परंतु इस संप्रदाय में कैशोर भाव की भी उपासना है जो सामान्यतः गुप्त तथा रहस्यमयी मानी जाती है। वल्लभ संप्रदाय में माना जाता है कि मधुर भाव से उपासक भक्त सखीरूप होते हैं और सख्यभाव से उपासक भक्त सखारूप होते हैं। सर्वानंद की सिद्धिरूपा राधिका सब सखियों में मुख्य होने से 'स्वामिनी जी' के नाम से अभिहित की जाती हैं। मुख्य सखियाँ आठ होती हैं और मुख्य सखा भी संख्या में आठ ही होते हैं। इन सखियों तथा सखाओं के अलग अलग यूथ होते हैं जिन में सखियाँ तथा सखायें सैकड़ोंकी संख्या में होते हैं। अष्टछाप के कवि गोचारणलीला के तो सखा और रात्रिकालीन कुंजलीला के सखीरूप माने जाते हैं। इन कवियों के काव्यों में गोपियों के दो रूप स्वीकृत किये गये हैं—

(क) भगवान् की आनंदरूपा तथा सृष्टि करने वाली शक्ति का रूप; (ख) कान्ताभाव से भगवान् के उपासक अनन्य भक्तों का प्रतीक।

निम्बार्क, चैतन्य तथा राधावल्लभी सम्प्रदायों में भगवल्लीला के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। चैतन्य मतानुसार भगवान श्री कृष्ण अपनी ही स्वरूपशक्ति के साथ लीला किया करते हैं। जीव का लीला में प्रवेश का अधिकार केवल द्रष्टा रूप से ही है, क्योंकि वह तटस्थ शक्ति ठहरा। तादस्थ्यवृत्ति के आश्रय होने वाले जीव के साथ भगवान् की लीला कथमपि नहीं हो सकती। भगवान् आह्लादिनी शक्तिभूता श्री राधारानी तथा उनकी सेविका गोपीजनों के साथ ही लीला किया करते हैं। श्रीमद्भागवत के अनुसार इस लीला की तुलना बालक की क्रीडा के साथ की जा सकती है। बालक दर्पण में प्रतिबिंबित अपने ही प्रतिबिंबों से खेलता है। भगवान् भी अपनी स्वरूपशक्ति के साथ स्वाभाविक रीति से लीला किया करते हैं, तब जीव केवल साक्षी या द्रष्टा रूप से अवलोकन करता है। दूसरे प्रकारसे जीवके साथ भगवल्लीला हो भी सकती है। जीव मंजरी[1]

---

[1] मंजरी गोपियों की सेविकायें मानी जाती हैं। एक एक सखी के साथ एक एक मंजरी रहती है। चैतन्य मतानुसार इन मंजरियोंके नाम ये हैं—रूपमंजरी, जीवमंजरी, अनंगमंजरी, रसमंजरी, विलासमंजरी, प्रेममंजरी, रागमंजरी, लीलामंजरी तथा कस्तूरीमंजरी। अष्ट सखियों के नाम, रूप तथा काम में भी पर्याप्त मतभेद है।

पुराणों में भी इस विषय में विशेष मतभेद है। चैतन्यमतानुसार इन अष्टसखियों के नाम ये हैं—ललिता, विशाखा, सुमित्रा, चंपकलता, रंग-

के पास पहुँच कर उन्हीं के समान गोपिकायों की सेवा में संलग्न होने से उनका कृपापात्र बन सकता है और गोपियों की कृपा से वह राधा के पास पहुँच सकता है। महाभावमयी राधा की कृपा से ही जीव भगवल्लीला का आस्वाद ग्रहण कर सकता तथा उसमें सम्मिलित भी हो सकता है परंतु तब वह जीव नहीं रहता—ताटस्थ्यशक्ति का प्रतीक नहीं रहता; अपि तु राधा की कृपा से वह स्वरूपशक्ति के रूप में ही परिणत हो जाता है। ऐसी ही दशा में जीव भी लीलारस के आस्वादन का अधिकारी बनता है, अन्यथा नहीं।

भगवान् श्रीकृष्णचंद्र की सब अवस्थायें—बाल्य, पौगण्ड, कैशोर तथा यौवन—एक साथ ही होती हैं और ये सबही नित्य होती हैं। तथापि अधिकांश भक्तगण भगवान् के कैशोर रूप के उपासक होते हैं। अनादि होने के कारण भगवान् प्रत्नतम हैं, किन्तु दर्शन में नित्य नवीन हैं। ऋग्वेद में इसीलिए विष्णु को 'नवीयस्' अर्थात् अत्यन्त नवीन बतलाया गया है—

यः पूर्व्याय वेधसे नवीयसे।
समुज्जानये विष्णवे दिदाशति॥
(ऋ० १।१५६।२)

भगवान सदा कैशोर वय में रहते हैं; भागवत इसका स्पष्टतया समर्थक है—

देवी, सुन्दरी, तुंगदेवी, इन्दुरेखा। विशेष के लिए देखिए भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र लिखित 'युगल सर्वस्व' (प्रकाशक खड्गविलासप्रेस, पटना; १९११)

सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रह–कातरम् ।
(भाग० ३।२८।१७)

जहाँ भगवान् 'तरुण' बतलाये गये हैं (भाग० ४।८।४६), वहाँ भी इसी कैशोर वय से ही तात्पर्य मानना चाहिए । क्योंकि यौवन से भी अधिक माधुर्य इस कैशोर में है । यौवन में पूर्णता की सिद्धि अवश्य है, परंतु उसमें नव-नवोन्मेषशालिता कहाँ है जो हमें कैशोर में दृष्टिगोचर होती है । भगवान् के समान भगवद्धाम के निवासी भगवत्पार्षद भी 'नूतनवयसः' अर्थात् कैशोर वयः प्राप्त हैं[1] । यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य ने भगवान में 'नित्य यौवन' के द्वारा कैशोर का ही संकेत किया है[2] । रूप गोस्वामी ने तो स्पष्ट ही कहा है कि श्री भगवान प्रायः किशोर रूप में ही सब भक्तों को दिखलाई पड़ते हैं—प्रायः किशोर एवायं सर्वभक्तेषु भासते ।

किशोर कृष्ण की दो लीलायें मुख्य हैं—कुंजलीला तथा निकुंजलीला, जिनमें पहिली की अपेक्षा दूसरी लीला अंतरंगतम है । व्रजलीला के सभी उपासकों ने गोपीभाव से अपने को अनुभावित कर व्रजवधूवल्लभ श्रीकृष्ण को परमाराध्य तथा परमोपास्य माना है । कुंजलीला में स्थायिभाव श्रीकृष्ण रति है; विषयालंबन श्रीकृष्ण है तथा आश्रयालंबन व्रजगोपिकायें हैं

---

१ सर्वे च नूतनवयसः सर्वे चारुचतुर्भुजाः ।
—भाग० ६।१।३५

२ अचिन्त्यदिव्याद्भुत–नित्ययौवनम्
—स्तोत्ररत्न

अर्थात् श्रीकृष्ण-चरण की ही प्रधान उपासना है। यहाँ रसकी समृद्धि तथा परिपक्वता के लिए विरह स्वीकार किया गया है। अतः विप्रलंभ श्रृंगार की मुख्यता है। गोपियों को कुछ आचार्य परकीया मानते हैं। किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने नित्य संयोग श्रृंगार की उपासनामें स्वकीयाका भी विधान किया है, परंतु इष्ट तत्त्व श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया है।

निकुंजलीला उपर्युक्त कुंजलीलासे रस की दृष्टि से तथा उपकरणकी दृष्टिसे नितांत भिन्न तथा अंतरंग है। इस निकुंजोपासना को राधावल्लभीय आचार्य श्रीहित हरिवंश जी 'वृंदावन रस' के नाम से अभिहित करते हैं। यह लीला नितांत गुह्य, गोप्य तथा रहस्यभुत है और इसीलिए यहाँ न तो नंद यशोदा का और न सुबल सुबाहु आदि सखाओं का भी प्रवेश है; न शुक आदि महावैष्णवों को गोचर है। और तो क्या? स्वयं व्रज-गोपिकाओं का भी वहाँ प्रवेश नहीं है। श्री गोस्वामी दामोदर वर की 'हस्तामलक' में यह उक्ति है--

गोपी जन सब भक्तन में श्रेष्ठ हैं। काहे ते जु किशोर रूप को भजी हैं अरु उद्धव, विधि उनकी चरणरज वांछी हैं, ते ब्रज देवी श्री जुगल किशोर के स्वरूप को जो 'निजु विहार' है ताके दरसवे को अधिकारी नाहीं[1]।

---

१ नारदादि सनकादि सब ऊद्धव अरु ब्रह्मादि।
गोपिन को सुख देखि किय भजन आपनो बादि॥

तिन गोपिन कौं दुर्लभ माई।
नित्य विहार सहज सुखदाई॥

—श्रीध्रुव वाणी।

परमरसामृतमूर्ति सकल सौंदर्य-निकेतन श्री रसरूप भगवान् रसास्वादन के निमित्त दो रूप धारण करते हैं जिनमें एक रूप है श्रीकृष्ण तथा दूसरी है राधा। इनका रंग, रुचि, वय, स्नेह, शील तथा स्वभाव एक ही होता है। ये दोनों रसिककिशोर निकुंज में आनंदार्णव में गोते लगाते हुए रसकेलि में निमग्न रहते हैं। कभी प्रियतम प्रिया बन जाता है और कभी प्रिया प्रियतम बन जाती है और दो रूप होकर भी एकाकार संपन्न होकर रस में प्रतिष्ठित बन जाते हैं। निकुंजोपासनाके इस नित्य वृंदावन की रसकेलि में मान, विरह तथा वियोग का गंध तक नहीं है। यहाँ एक अखण्ड माधुर्य-रस अपनी भव्य शुभ्रता के साथ उच्छलित होता रहता है। इस निकुंजलीला में चैतन्य वैष्णव लोग श्री कृष्ण को विषय तथा श्री राधिका को आश्रय मानते हैं।

परंतु श्रीराधावल्लभी संप्रदाय के अनुसार इस 'वृंदावन-रस' में राधारति ही स्थायीभाव है; श्रीराधा विषय तथा श्रीकृष्ण आश्रय हैं। तात्पर्य यह है कि राधा जी आराध्य है और लालजी उनके अनन्य आराधक हैं। इस प्रकारकी उपासनामें श्रीराधाचरण प्रधान है, कृष्ण-चरण नहीं। संयोग में प्रेम की चटपटी चाह तो रहती है, परंतु वेदना का भय लगा रहता है। उधर वियोग में हृदय की विचित्र गति रहती है। नित्य लीला का यह रस संयोग तथा वियोग उभय दशाओं से भिन्न अथच उदात्ततर है। हितहरिवंश जी ने चकई तथा सारस के परस्पर कथोपकथन के द्वारा अपने सिद्धांत को पुष्ट करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अनवरत रसपान की दशा में भी रसपान की चिरपिपासा रस की चरमोत्कृष्ट दशा है और इसी का प्राधान्य रहता है इस निकुंजलीला में। इस उपासना का अधिकारी वही भाग्यशाली

अर्थात् श्रीकृष्ण-चरण की ही प्रधान उपासना है। यहाँ रसकी समृद्धि तथा परिपक्वता के लिए विरह स्वीकार किया गया है। अतः विप्रलंभ शृंगार की मुख्यता है। गोपियों को कुछ आचार्य परकीया मानते हैं। किन्हीं किन्हीं आचार्यों ने नित्य संयोग शृंगार की उपासनामें स्वकीयाका भी विधान किया है, परंतु इष्ट तत्त्व श्रीकृष्ण को ही स्वीकार किया है।

निकुंजलीला उपर्युक्त कुंजलीलासे रस की दृष्टि से तथा उपकरणकी दृष्टिसे नितांत भिन्न तथा अंतरंग है। इस निकुंजोपासना को राधावल्लभीय आचार्य श्रीहित हरिवंश जी 'वृंदावन रस' के नाम से अभिहित करते हैं। यह लीला नितांत गुह्य, गोप्य तथा रहस्यभूत है और इसीलिए यहाँ न तो नंद यशोदा का और न सुबल सुबाहु आदि सखाओं का भी प्रवेश है; न शुक आदि महावैष्णवों को गोचर है। और तो क्या? स्वयं व्रज-गोपिकाओं का भी वहाँ प्रवेश नहीं है। श्री गोस्वामी दामोदर वर की 'हस्तामलक' में यह उक्ति है—

गोपी जन सब भक्तन में श्रेष्ठ हैं। काहे ते जु किशोर रूप को भजी हैं अरु उद्धव, विधि उनकी चरणरज वांछी हैं, ते व्रज देवी श्री जुगल किशोर के स्वरूप को जो 'निजु विहार' है ताके दरसवे की अधिकारी नाहीं[1]।

---

१ नारदादि सनकादि सब ऊदव अरु ब्रह्मादि।
गोपिन की सुख देखि किय भजन आपनौ वादि॥
तिन गोपिन कौं दुर्लभ माई।
नित्य विहार सहज सुखदाई॥
—श्रीध्रुव वाणी।

परमरसामृतमूर्ति सकल सौंदर्य-निकेतन श्री रसरूप भगवान् रसास्वादन के निमित्त दो रूप धारण करते हैं जिनमें एक रूप है श्रीकृष्ण तथा दूसरी है राधा। इनका रंग, रुचि, वय, स्नेह, शील तथा स्वभाव एक ही होता है। ये दोनों रसिककिशोर निकुंज में आनंदार्णव में गोते लगाते हुए रसकेलि में निमग्न रहते हैं। कभी प्रियतम प्रिया बन जाता है और कभी प्रिया प्रियतम बन जाती है और दो रूप होकर भी एकाकार संपन्न होकर रस में प्रतिष्ठित बन जाते हैं। निकुंजोपासनाके इस नित्य वृंदावन की रसकेलि में मान, विरह तथा वियोग का गंध तक नहीं है। यहाँ एक अखण्ड माधुर्य-रस अपनी भव्य शुभ्रता के साथ उच्छलित होता रहता है। इस निकुंजलीला में चैतन्य वैष्णव लोग श्री कृष्ण को विषय तथा श्री राधिका को आश्रय मानते हैं।

परंतु श्रीराधावल्लभी संप्रदाय के अनुसार इस 'वृंदावन-रस' में राधारति ही स्थायीभाव है; श्रीराधा विषय तथा श्रीकृष्ण आश्रय हैं। तात्पर्य यह है कि राधा जी आराध्य है और लालजी उनके अनन्य आराधक हैं। इस प्रकारकी उपासनामें श्रीराधाचरण प्रधान है, कृष्ण-चरण नहीं। संयोग में प्रेम की चटपटी चाह तो रहती है, परंतु वेदना का भय लगा रहता है। उधर वियोग में हृदय की विचित्र गति रहती है। नित्य लीला का यह रस संयोग तथा वियोग उभय दशाओं से भिन्न अथच उदात्ततर है। हितहरिवंश जी ने चकई तथा सारस के परस्पर कथोपकथन के द्वारा अपने सिद्धांत को पुष्ट करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अनवरत रसपान की दशा में भी रसपान की चिरपिपासा रस की चरमोत्कृष्ट दशा है और इसी का प्राधान्य रहता है इस निकुंजलीला में। इस उपासना का अधिकारी वही भाग्यशाली

हो सकता है जो अनन्यभाव से, विशुद्ध मन, विशुद्ध कर्म तथा विशुद्ध वचन से भी राधाजी के शरणापन्न होता है।

यहाँ महाभाव की पूर्णता रहती है और श्रीराधा और कृष्ण-चंद्र का नित्य मिलन संपन्न होता है जो पूर्ण रस तथा सामरस्य का सूचक होता है—

परस्परं प्रेमरसे निमग्नमशेषसंमोहनरूपकेलि।
वृन्दावनान्तर्नवकुञ्जगेहे तन्नीलपीतं मिथुनं चकास्ति॥
(राधासुधानिधि)

७

उपासना-तत्त्व

उपासक उपासना के द्वारा ही भगवत्प्राप्ति में कृतकार्य होता है। उपासना एक महनीय शक्ति है जिसका उपयोग सद्यः फल-प्रद तथा अवश्यमेव कार्यसाधक होता है। उपासना शब्द का अर्थ है 'उप समीपे आसनं स्थितिः' अर्थात् भगवान् के पास में उपासक की स्थिति वा अवस्थान। भगवान् अनंत अलौकिक शक्तियोंका निकेतन है। उसी अलौकिक शक्तिकेन्द्रके साथ अपना साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करना 'उपासना'का लक्ष्य है। बिजुलीका बल्ब पासमें विद्यमान भले ही, परंतु यदि विद्युत्-गृहके साथ संपर्क नहीं स्थापित होता, तो वह बल्ब क्या प्रकाश करने में समर्थ हो सकता है ? अल्पशक्ति-संपन्न जीव को सर्वशक्तिमान् विभु परमात्मा के साथ विना साक्षात् संपर्क स्थापित किये उसका न तो ऐहिक मंगल सिद्ध हो सकता है और न आमुष्मिक कल्याण।

साधक को अपने विशिष्ट भाव के अनुसार ही देवता का निर्वचन तथा ध्यानादिका विधान करना सर्वथा उचित होता है।

परंतु वैष्णव शास्त्रों का एक मान्य सिद्धांत है कि शक्ति-विशिष्ट शक्तिमान् की ही उपासना अपने कार्य में सफल तथा जागरूक होती है। संमोहनतंत्र के अनुसार किशोरी राधारानी के संग में ही कृष्णचंद्र के ध्यान का विधान है। जो साधक गौर तेज के विना केवल श्याम तेज का ही ध्यान धरता है, उसे वैष्णव तंत्र पातकी बतलाते हैं—

गौरतेजो विना यस्तु श्यामतेजः समर्चयेत्।
जपेद्वा ध्यायते वाऽपि स भवेत् पातकी शिवे॥
(सम्मोहनतंत्र)

श्रीनिंवार्कमतीय औदुंबराचार्य ने इस युगलमूर्ति की उपासना की ओर इस पद्य में संकेत किया है—

जयति जयति राधायुग्मतत्त्वं वरिष्ठं
व्रतसुकृत-निदानं यत् सदैतिह्यमूलम्।
विरल-सुजन-गम्यं सच्चिदानन्दरूपं
व्रजवलयविहारं नित्यवृन्दावनस्थम्॥

(१) अतः युगल उपासना के ऊपर वैष्णव शास्त्रों का परम आग्रह है। इस आग्रह का रहस्य यह है कि जीव स्वतः विभु परमात्मा के सामने उपस्थित होने पर उसके प्रकृष्ट तेज सहने की क्षमता नहीं रखता। भला अल्पशक्तिमान् अणु जीव आकाश में हजारों एक साथ चमकने वाले सूर्यों के प्रभापुंज के समान तेजस्वी ब्रह्म के सान्निध्य में जाकर कभी अपनी व्यक्तिगत सत्ता की रक्षा में सक्षम हो सकता है? इसकी रक्षा का एकमात्र उपाय है मातृशक्ति के द्वारा सुरक्षित होकर ही पितृस्थानीय भगवान्

के सान्निध्य में आना। ऐसी दशा में उभयतेज में परस्पर संमिलन कर एक दूसरे को सहिष्णु बनाते हैं तथा माता की गोद में हँसते हुए बालक के समान जीव अपनी सुरक्षा में कृत-कार्य होता है।

(२) शक्ति तथा शक्तिमान् में सर्वथा ऐक्य है। तुलसीदास के शब्दों में जानकी गिरा-रूपिणी हैं तथा राम अर्थरूप हैं। जिस प्रकार संगमर्मर के एक खंड के ऊपर कलावंत रामकृष्ण की मूर्ति गढ़ने में कृतकार्य होता है, उसी प्रकार अर्थ के ऊपर गिरा के प्रभाव से समग्र जगत् उद्भासित तथा उन्मीलित होता है। शब्द के द्वारा ही सृष्टि होती है, यह वैदिक धर्म का ही मूल तत्त्व नहीं है, अपि तु ईसाई धर्म का भी। बाइबिल के अनुसार ईश्वर ने कहा कि प्रकाश उत्पन्न होवे और प्रकाश तुरंत उत्पन्न हो गया—

God said let there be light and there was light.

शब्द तथा प्रकाश का अन्योन्याश्रय संबंध है। वाक्‌रूपा शक्ति, राधा या सीता के द्वारा ही अर्थमय आश्रय के ऊपर यह विराट विश्व उन्मीलित होता है। फलतः जगत् की सृष्टि में शक्तिरूपा सीता की कार्य-कारिता विशेषरूप से विद्यमान है।

(३) नारद पांचरात्र के अनुसार श्रीलक्ष्मी जी भगवान् की प्राप्ति में पुरुषकार का कार्य करती हैं अर्थात् घटक बनती हैं। लक्ष्मीपति भगवान् अपनी प्राप्ति में स्वयं उपायरूप हैं और उसकी प्राप्ति से योग करने वाली, घटक का कार्य करने वाली स्वयं श्रीलक्ष्मी जी हैं। वही जीवों के अपराध के क्षमापन के निमित्त नारायण से प्रार्थना किया करती हैं। माता का हृदय

अधिक आर्द्र तथा कोमल ठहरा। वह बालक के क्लेशों से अधिक उद्विग्न बन जाती है और लक्ष्मीपति से सद्यः प्रार्थना करती है[1]—

> पितेव त्वत्प्रेयान् जननि परिपूर्णागसि जने
> हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित् कलुषधीः ।
> किमेतद् ? निर्दोषः क इह जगतीति त्वमुचितै-
> रुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः ॥
> (भट्टार्यस्वामी—गुणरत्नकोष)

आशय है कि अपराधी जीव के ऊपर भगवान् के क्रोध करने पर लक्ष्मी स्वयं पैरवी करती है कि भगवन्! आप क्रुद्ध क्यों हैं ? क्या इस जगत् में कोई भी प्राणी अपराधरहित है ? इस प्रकार उन्हें समझा बुझाकर हम जीवों को अपनाती हो। माता का तो यही कार्य होता है।

भगवान् के शरण में जाना साधक की एक क्रिया है, परंतु जानकी जी के लिए किसी क्रिया की अपेक्षा नहीं होती। वह तो अपराधी जीवों को हरि-शरणागति का अधिकारी न देखकर अपने मृदुल चित्त से उनकी ओर से पैरवी (पुरुषकार) करती हैं। वह केवल प्रणामसे प्रसन्न होकर मनोरथ पूर्ण कर देती हैं—

---

१ अहं मत्प्राप्त्युपायो वै साक्षात् लक्ष्मीपतिः स्वयम् ।
लक्ष्मीः पुरुषकारेण वल्लभा प्राप्तियोगिनी ॥
—नारदपांचरात्र

प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।
अलमेषा परित्रातुं राक्षस्यो महतो भयात्।
—वाल्मीकीय सुंदर काण्ड।

गोस्वामी तुलसीदास जी जानकी जी के इसी कार्य की ओर यहाँ संकेत कर रहे हैं—

कबहुँक अंब अवसर पाई।
मोरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाई॥
—विनयपत्रिका

(४) सीता का स्वभाव निर्हेतुक क्षमामय तथा कृपामय है। वह उपासित होने पर श्रीराम जी से जीवों के ऊपर क्षमा करने के लिए स्वयं आग्रह करती हैं। श्री सीता जी का रूप भी तो यही है। 'सिनोति वशं करोति स्वचेष्टया भगवन्तं सा सीता' अर्थात अपनी चेष्टा से भगवान् को वश में करनेवाली। भगवान् सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होते हैं। फलतः वह जीवों के अपराधों को शीघ्र जान लेते हैं और उसे दंड देने के लिए झटसे उद्यत हो जाते हैं, परंतु श्री सीता जी ही अपने नैसर्गिक कारुण्यभाव से जीवों की ओर से इतना पुरुषकार करती हैं कि भगवान् के दोनों गुण—सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता—निरुद्यम हो जाते हैं। कृपालुता भगवान् का सहज गुण है। भगवान् सोचते हैं कि समग्र प्राणियों की रक्षा करने में मैं ही समर्थ हूँ। इस प्रकार अपने सामर्थ्य के अनुसन्धान को भगवान् की कृपा कहते हैं—

रक्षेयं सर्वभूतानामहमेव परो विभुः।
इति सामर्थ्यसन्धाना कृपा सा पारमेश्वरी॥

कृपा का निवास हृदय है, सर्वज्ञता का निवास मस्तिष्क तथा सर्वशक्तिमत्ता का निवास बाहु रहता है। समीपवर्तिनी होने से कृपादेवी हृदयस्थ भगवान् के ऊपर शीघ्रता से प्रभाव डालती है। अन्य दोनों शक्तियों के दूर वर्तिनी होने से उनका उतना प्रभाव नहीं होता[1]।

इस प्रकार जीवों के प्रति भगवान् की नैसर्गिकी कृपा को जागरूक होने के लिए जानकी जी सदा पुरुषकार करती हैं। वह राम के साथ सदा त्रिपाद विभूति साकेत नामक परमधाम में निवास करती हैं। अतः अपना कल्याण चाहने वाले उपासक को युगल मूर्ति की उपासना करनी चाहिए तथा दोनों का नाम-जप एक साथ करना चाहिए।



---

१ विशेष द्रष्टव्य कल्याण वर्ष २७; संख्या ५ तथा ६; मई तथा जून १९५३।

साहित्य-निर्देश

(मूल ग्रंथ के नाम ग्रंथ के भीतर निर्दिष्ट हैं। यहाँ प्रमुख आधुनिक ग्रंथों के नाम दिए जाते हैं।)

सामान्य ग्रंथ

R. G. Bhandarkar—Vaisnavism, S'aivism and Minor Sects, Poona, 1928

Rai Choudhary—Early History of the Vaisnava Sect (Calcutta University, Calcutta, 1920)

Bhagavat Kumar Goswami—Bhakti cult in Ancient India, Calcutta. 1922

दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री—वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती), बंबई, १९३९.

बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, काशी १९४५.

" —धर्म और दर्शन, काशी, १९४४.

Dr. J. N. Farquhar—An Outline of the Religious Literature of India, Oxford, 1920.

Ramananda to Ramatirtha (Natesan, Madras.)

J. P. Carpentar—Theism in Mediaeval India, Oxford.

गोपीनाथ कविराज—'भक्ति रहस्य'; 'कल्याण' का 'हिंदू संस्कृति—अंक', पृ० ४३६-४४४.

गोपीनाथ कविराज—'दीक्षा रहस्य' (कल्याण सं० १५, अंक ४)

रामानुज मत

J. S. M. Hooper—Hymns of the Alvars (Heritage of India Series, Calcutta 1929)

'Nammalvar' (Natesan, Madras)

A. Govindacharya—Life of Ramanuja-charya, Madras, 1906

Otto Schrader—Introduction to the Pancha-ratra and the Ahirbudhnya Samhita, Adyar Library, Madras, 1916.

V. Rangachary—Heritage of Indian Culture, (Vol II pp. 69-103) Calcutta

माध्वमत

Padmanabhacharya—Life and Teachings of Sri Madhva, Natesan, Madras.

Nagaraja Sharma—Reign of Realism in Indian Philosophy, Madras.

C. R. krishna Rao—Sri Madhva : Life and Teachings, Madras.

वल्लभसंप्रदाय

Bhai Manilal Parekh—Shri Vallabhacharya, Shri Bhagavata Dharma Mission, Rajkot, 1943.

,, —Shri Swami Narayan Rajkot, 1941.

दीनदयालु गुप्त—अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग, सं० २००४

सहजिया वैष्णवधर्म

Manindra Mohan Bose—Post - chaitanya Sahajia Cult of Bengal (Calcutta University, 1930)

Dr. S. Dasgupta—Obscure Religious Sects of Bengal (Calcutta University, 1940)

चैतन्यमत

D. C. Sen—Vaishnava Litrature of Mediaeval Bengal (Calcutta, 1917)

„ —Chaitanya and his Companions (Calcutta 1917)

Jadunath Sarkar—Chaitanya's Pilgrimages and Teaching (Calcutta, 1911)

M. T. Kennedy—The Chaitanya Movement, The Religions Life of India Series, Calcutta, 1925.

हरिदास दास—श्री गौड़ीय वैष्णव साहित्य (बँगला), हरिबोल कुटीर नवद्वीप, ४६२ चैतन्याब्द ।

G. N. Mallick—Philosophy of the Vaishnva Religion. Lahore, 1923,

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—चैतन्य चरितावली (५ भाग) , गीता प्रेस गोरखपुर ।

S. K. De.—Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal, General Printers and Publishers, Calcutta.

भक्ति विनोद—जैवधर्म (बंगला), श्री सनातन गौडीय मठ, कलकत्ता

उत्कल में वैष्णव धर्म

Nagendra Nath Vasu—Modern Buddhism and its followers in Orissa, Calcutta 1911.

Prabhat Mukerjee—Mediaeval Vaishnavism in Orissa, Calcutta. 1940

प्रो० चित्तरंजन दास—उत्कल साहित्य में पंचसखा, जनवाणी पत्रिका काशी, १९५० अप्रैल।

महापुरुषिया धर्म

Harmohan Das—Shankerdeva : A Study

नेवी—'असम के ब्रजबुलि साहित्य का दार्शनिक स्वरूप'—संमेलन पत्रिका, भाग ३०, सं० ६-७ और ११-१२। सं० १९९९ तथा सं० २०००, प्रयाग।

महाराष्ट्र में वैष्णव धर्म

R. D. Ranade—Mysticism in Maharashtra, Poona, 1933.

पांगारकर—ज्ञानेश्वर चरित्र, गीताप्रेस, गोरखपुर

„ —एकनाथ चरित्र „

„ —तुकाराम चरित्र „

यशवन्त देशपांडे—महानुभावीय मराठी वाङ्मय
" "—महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, भाग १८
(महानुभाव पंथ)
दाण्डेकर—महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, भाग २० (वारकरी पंथ)
Baldeva Upadhyaya—Varkaris, the foremost Vaishnava Sect of Maharashtra.
(I. H. Q. Vol XV, 1939)

———

नामानुक्रमणिका

—:❀:—